१६वीं सदी में बिहार

(१५०१-१५६६)

इतिहास विषय में पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री :

प्राची मालवीय

Forwarded
Shefali Banerjee
15/5/90

निर्देशिका :

डॉ० शेफाली बैनर्जी

प्रवक्ता, इतिहास विभाग

सामाजिक विज्ञान संकाय

D. Shefali Banerjee
Lecturer in History
Banaras Hindu University
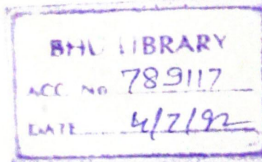
Forwarded
J. P. Misra
7.8.90

विभागाध्यक्ष :

प्रो० जे० पी० मिश्रा

इतिहास विभाग

सामाजिक विज्ञान संकाय

इतिहास विभाग

सामाजिक विज्ञान संकाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी-२२१००५

पंजीयन संख्या-१५२६१४

१९९०

इतिहास विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि प्राची मालवीय, शोध-छात्रा इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, ने 16वीं सदी में बिहार (1501-1599) विषय पर पी-एच.डी. आर्डिनेन्स की धारा 3.1 के अनुसार पूर्ण समय तक कार्य करते हुये शोध-प्रबन्ध मेरे निर्देशन में पूर्ण कर लिया है तथा पी-एच.डी. शोध छात्रा के रूप में किये गये अनुसंधान का प्रारूप इनके व्यक्तिगत अनुशीलन एवं परीश्रम पर आधृत है तथा पूर्णतया मौलिक है ।

Shefali Banerjee
15/5/90

डा० शेफाली बैनर्जी
निर्देशिका,
इतिहास विभाग
Dr. Shefali Banerjee
Lecturer in History
Banaras Hindu University

अग्रसारित
प्रो० जे.पी. मिश्रा 7.8.90
विभागाध्यक्ष
इतिहास विभाग

प्राक्कथन

प्राक्कथन

भारतीय ऐतिहासिक परिवेश में बिहार राज्य की भूमिका अति प्राचीन काल से ही महत्वपूर्ण रही है। इसकी प्रमुख विशेषता यहाँ गंगा की पावन धारा का प्रवाह है, जिसके उत्तर में प्रसिद्ध मिथिला (तिरहुत), चम्पारन, मुजफ्फरपुर जैसे स्थल हैं, तो दूसरी ओर पटना, दरभंगा, रोहतासगढ़, भागलपुर, सासाराम, बक्सर जैसे प्रमुख स्थल भी हैं। सभ्यता एवं संस्कृति का केन्द्र होने के कारण प्राचीन काल से ही यह इतिहासकारों के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र रहा है।

यद्यपि भारतीय इतिहास में विभिन्न क्षेत्रों (राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक) में इसकी अपनी प्रमुख भूमिका रही है, परन्तु प्राचीन बिहार के इतिहास लेखन की अपेक्षा मध्ययुगीन बिहार के इतिहास के प्रति इतिहासकार अन्य राज्यों के इतिहास लेखन की तुलना में मौन ही रहे हैं। सम्भवतः इसका प्रमुख कारण इतिहासकारों अथवा शोधकर्ताओं का केन्द्रीय साम्राज्य के इतिहास लेखन की ओर विशेष ध्यान देना था।

जहाँ तक बिहार के नामकरण की प्राचीनता का प्रश्न है, यह स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से ही इसका नाम "बिहार" नहीं था, बल्कि "बिहार" शब्द के रूप में इसका नामकरण मध्यकाल की ही देन है। 12वीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक बिहार हिन्दू राजाओं के आधिपत्य का केन्द्र था, परन्तु 13वीं शताब्दी के प्रारम्भ होने के पूर्व ही गुलाम वंश के प्रथम मुस्लिम शासक कुतुबुद्दीन ऐबक के सेनापति इख्तियारुद्दीन मुहम्मद-बिन-बख्तियार खिलजी ने बिहार-बंगाल के उपजाऊ प्रांतों को विजित कर सर्वप्रथम इस्लामी आधिपत्य का झण्डा 1197 ई. में

पूर्वी भारत में फहराया और ओदन्तपुरी के संघारामों को नष्ट कर ओदन्तपुरी बिहार के किले "हिसार-ए-बिहार" को अपने पड़ोसी क्षेत्रों से अलग कर इस पूरे क्षेत्र का नाम "विहार" अथवा "बिहार" रखा।

मध्यकालीन बिहार के इतिहास का प्रारम्भ यदि यहीं से माना जाय तो त्रुटि न होगी । यद्यपि मध्यकालीन बिहार के इतिहास के सम्बन्ध में पर्याप्त लेखन सामग्री का अभाव है, फिर भी प्राप्त जानकारी के आधार पर 16वीं सदी के अफगान तथा मुगल साम्राज्य के वैभव एवं समृद्धि में बिहार की भूमिका का उल्लेख तथा उसके क्षेत्रीय इतिहास के सम्बन्ध में लेखनी चलाने की दिशा में यह शोध-प्रबन्ध एक नवीन प्रयास है ।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस क्षेत्र का अत्यधिक महत्व होने के कारण यह सदैव ही केन्द्रीय शासकों के आकर्षण का केन्द्र बना रहा। राजनैतिक दृष्टि से मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् बिहार अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये रखने हेतु लगातार एक विद्रोही स्थल के रूप में उभरा और 16वीं सदी में यह संघर्षों एवं उथल-पुथल का राज्य बन गया, परन्तु 16वीं सदी में मुगल शासकों की कड़ी व्यवस्था व निगरानी तथा अफगान विरोधी दमन नीति अपनाये जाने के कारण यह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम नहीं कर सका और 16वीं सदी के अन्त तक मुगल साम्राज्य के प्रमुख अंग के रूप में मुगल साम्राज्य के विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की ।

प्रशासनिक दृष्टि से शासन व्यवस्था के क्षेत्र में शेरशाह के व अकबर के प्रयासों के फलस्वरूप प्राचीन परम्परा को क्रियान्वित कर सरकार जैसी नियमित परम्परा को स्थापित करने में इसने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी ।

सम्पन्नता की दृष्टि से यह समृद्धशाली राज्य था। असंख्य धन से परिपूर्ण केन्द्रीय कोष, जिसकी कोई गणना नहीं थी, रोहतास दुर्ग में सदैव रहता था ।

हिन्दू-मुस्लिम सहयोग व सद्भाव की दृष्टि से यह युग समन्वयवाद का प्रतीक था। भारत में मुगलों के आगमन के साथ ही सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में एक नयी प्रवृत्ति ने जन्म लिया। मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद हिन्दू-इस्लामी संस्कृतियाँ दो नदियों की भाँति अलग-अलग प्रवाहित होती रही हैं । 16वीं सदी दोनों संस्कृतियों का संगमकाल है। मुगल शासकों की उदारवादी नीति ने हिन्दू-मुस्लिम सहयोग की पृष्ठभूमि तैयार की, परिणामस्वरूप समन्वय के युग का प्रारम्भ हुआ। इस क्षेत्र की हिन्दू जनता ने मुस्लिम सभ्यता को समझने तथा अपनाने की ग्राह्य शक्ति का अद्भुत परिचय दिया। हिन्दू तथा मुस्लिम समाज ने एक-दूसरे के रीति-रिवाजों को अपनाकर समन्वयवाद का मार्ग प्रशस्त किया। सौहार्दपूर्ण वातावरण का सृजन तथा मुगलकालीन संस्कृति का विकास, हिन्दू-मुस्लिम सहयोग का ही परिणाम है ।

इतना ही नहीं प्राचीनकाल की भाँति इस युग में भी यह शिक्षा एवं साहित्य का प्रमुख केन्द्र था। इस युग के विद्यालय हिन्दुओं और मुसलमानों को एक ही रंगमंच पर खड़ा करने वाली सामाजिक प्रशाखा थी । शिक्षा के प्रमुख केन्द्र मकतब और मदरसे जैसी धार्मिक संस्थायें थीं । लम्बी अवधि तक भारत से घनिष्ट सम्पर्क के कारण फारसी भाषा ने हिन्दी एवं अन्य स्थानीय भाषाओं को गम्भीर रूप से प्रभावित किया, परिणामस्वरूप फारसी, हिन्दी के साथ-साथ लोकभाषा साहित्य (मैथली, भोजपुरी, मगही) के विकास में इसका योगदान प्रमुख था।

16वीं सदी में सौहार्दपूर्ण धार्मिक वातावरण के निर्माण में बिहार की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। यद्यपि इससे पूर्व धर्म के सम्बन्धमें बिहारवासी सामान्यतया रुढ़िवादी प्रवृत्ति के थे, परन्तु रामानन्द, चैतन्य, कबीर, रैदास, सूफी संतों के प्रभाव के फलस्वरूप बिहार की हिन्दू जनता में एकेश्वरवाद का संचार हुआ और

धर्मान्धता का अन्त हुआ। अकबर द्वारा स्थापित दीन-ए-इलाही सम्पूर्ण प्रजा के लिए एक राष्ट्रीय धर्म चलाने की दिशा में क्रान्तिकारी कदम था ।

इस प्रकार यह न केवल तत्कालीन शासकों की राजनैतिक गतिविधियों को ही प्रतिबिम्बित करता है, अपितु यह मुगलकालीन प्रशासनिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक गतिविधियों का भी प्रकाश स्रोत रहा है। बिहार के इन्हीं क्षेत्रीय महत्ता को ध्यान में रखकर मुगलकालीन बिहार को मैंने शोध-प्रबन्ध का विषय बनाने का प्रयास किया है ।

विषय-वस्तु के समुचित समीक्षण की दृष्टि से मैंने शोध विषय को उपसंहार के अतिरिक्त तीन खण्डों के अन्तर्गत सात अध्यायों में विभक्त किया है। यथा-

खण्ड "क"

<u>प्रथम अध्याय</u> के अन्तर्गत बिहार को पूर्वीय प्रदेशों का प्रवेश द्वार के रूप में उल्लिखित किया गया है, जिसमें बिहार के नामकरण की प्राचीनता, बिहार शब्द की उत्पत्ति, भौगोलिक स्थिति के साथ-साथ बिहार राज्य में मुस्लिम शक्ति का प्रवेश एवं स्थापना तथा 16वीं सदीसे पूर्व बिहार की स्थिति के बारे में विस्तृत विवेचन किया गया है ।

<u>द्वितीय अध्याय</u> में बिहार को अफगान एवं मुगल शक्ति के केन्द्र स्थल के रूप में दर्शाया गया है ।

<u>तृतीय अध्याय</u> के अन्तर्गत लोदी, फार्मुली, नूहानी आदि अफगानों का उत्कर्ष तथा मुगल शासक हुमायूँ को भारत से निष्कासित कर शेरशाह का सूर शासक के रूप में उदय उल्लिखित है ।

<u>चतुर्थ अध्याय</u> में बिहार की राजनीति में कर्रानी अफगानों का मुगल विरोधी शक्ति के रूप में उदय तथा पतन का उल्लेख किया गया है ।

पंचम अध्याय में अकबर कालीन मुगल साम्राज्य का, अफगानों का अन्त करने के पश्चात्, पूर्वीय क्षेत्र में विस्तार किये जाने का उल्लेख है ।

खण्ड "ख"

षष्ठ अध्याय, प्रशासनिक सुधार के अन्तर्गत शेरशाह के सुधारों व मुगलों के प्रशासन का वर्णन किया गया है ।

खण्ड "ग"

सप्तम अध्याय में बिहार के तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन का उल्लेख किया गया है ।

शोध-प्रबन्ध के अन्त में उपसंहार एवं सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची प्रस्तुत की गयी है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की पूर्णता की प्रक्रिया में जिन्होंने हमें समर्थनपूर्ण सहयोग दिया, उनके प्रति आभार प्रगट करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। इस शोध-प्रबन्ध के सकुशल समापन का श्रेय डॉ. शेफाली बैनर्जी, प्रवक्ता, इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, को है, जिनके कुशल निर्देशन में रहकर मैं प्रस्तुत विषय पर उत्साहपूर्वक कार्य कर सकी ।

श्रद्धेय गुरुवर प्रो. जे.पी. मिश्रा, विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रति आभारी हूँ, जिनके प्रोत्साहन से मैं यह कार्य पूर्ण करने में सफल हो सकी । पूज्य गुरू डॉ. झारखण्ड चौबे, रीडर, इतिहास विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, मेरे लिए शोधकाल में विशेष प्रेरणा-स्रोत रहे हैं ।

प्रस्तुत शोध को पूरा करने में मैंने जिन ग्रन्थालयों की सहायता ली, उनमें प्रमुख हैं - गायकवाड़ ग्रन्थालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; कार्लमाइकल लाइब्रेरी, वाराणसी; काशी विद्यापीठ, वाराणसी; अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डियन स्टडीज, रामनगर, वाराणसी ; खुदाबख्श पब्लिक ओरि-

येन्टल लाइब्रेरी, पटना ; राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली ; सी.एम.ई. लाइब्रेरी, पूना ; मैं इन ग्रन्थालयों के अधिकारियों व कर्मचारियों के प्रति उनके सहानुभूतिपूर्ण सहयोग के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ ।

मैं अपने पूज्यनीय माता-पिता एवं पति श्री अनिल शुक्ला के प्रति हृदय से आभारी हूँ, जिनकी प्रेरणा व प्रोत्साहन से मैं इस दुरूह कार्य को पूर्ण करने में सफल हो सकी ।

अन्त में, मैं अपनी घनिष्ठतम साधना शुक्ला, प्रतीची मालवीय, रश्मि-चौधरी एवं शुक्ला सरकार के प्रति भी विशेष कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ ।

प्राची मालवीय
(प्राची मालवीय)

विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ-संख्या

खण्ड §क§ बिहार का राजनीतिक इतिहास

पृष्ठ-संख्या

खण्ड {ग}

पृष्ठ-संख्या

--00--

प्रथम अध्याय

बिहार भारतीय प्रदेशों का पूर्वीय प्रवेश द्वार

1. बिहार के नामकरण का औचित्य
2. बिहार शब्द की उत्पत्ति
3. बिहार की भौगोलिक स्थिति
4. बिहार राज्य में मुस्लिम शक्ति का प्रवेश एवं स्थापना
5. 16वीं सदी से पूर्व बिहार की स्थिति ।

बिहार - भारतीय प्रदेशों का पूर्वीय प्रवेश-द्वार

भारत के गौरवशाली इतिहास की श्रृंखला में, ऐतिहासिक स्रोतों (पुराणों एवं महाकाव्यों) में जहाँ अन्य राज्यों का इतिहास दृष्टिगोचर होता है, वहीं प्राचीन युग से आधुनिक तक भारतीय ऐतिहासिक परिवेश में बिहार राज्य का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। पौराणिक ग्रन्थ रामायण में मिथिला के सीरध्वज जनक जैसे विनम्र एवं प्रतापी राजा, जिन्होंने संकाश्य के राजा को जीत लिया था, का उल्लेख बिहार राज्य की श्रेष्ठता को उजागर करने का पहला कदम परिलक्षित होता है। प्राचीन काल में बिहार के प्रमुख भाग मगध, अंग एवं वैशाली तथा मिथिला थे, जिनका विभिन्न युगों में विशेष तथा उल्लेखनीय योगदान रहा है।

बिहार के नामकरण का औचित्य

बिहार राज्य की प्राचीनता के विषय में विद्वानों में मतभेद है। प्राचीन काल से ही इसका नाम बिहार नहीं था, बल्कि "बिहार" शब्द के रूप में इसका नामकरण मध्यकाल की ही देन है ।

ए.एम. ब्रोडले के अनुसार - "इस प्रांत का बिहार नाम किसी प्राचीन नगर के नाम पर पड़ा है।"[1] परन्तु इस कथन के लिए हमारे पास ठोस प्रमाण नहीं है क्योंकि पालि तथा संस्कृत साहित्य में बिहार नामक किसी नगर का उल्लेख नहीं मिलता । आधुनिक इतिहासकार प्रो. रामशरण शर्मा का विचार है कि -

---

1. ए.एम. ब्रोडले : दि बुद्धिस्टिक रिमैंस ऑफ बिहार, पुनर्मुद्रित, भारतीय प्रकाशन, वाराणसी, 1979, पृ. 1.

"इस क्षेत्र का वर्तमान बिहार नाम 11वीं शताब्दी से प्राचीन नहीं है ।"[1] उनकी मान्यता है कि इस प्रान्त का बिहार नाम "बिहार शेरिफ" (ओदन्तपुरी) कस्बे के नाम पर बख्तियार खिल्जी के समय में पड़ा। आक्रमणकारियों को इस क्षेत्र में अधिक संख्या में बौद्ध विहार मिले थे, अतः यहाँ का सारा समीपवर्ती क्षेत्र बिहार कहलाया ।[2]

12वीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक बंगाल, बिहार, उड़ीसा में हिन्दू राजाओं का आधिपत्य रहा, परन्तु 13वीं शताब्दी प्रारम्भ होने से पूर्व ही गुलाम वंश के प्रथम मुस्लिम शासक कुतुबुद्दीन ऐबक के सेनापति इख्तियारुद्दीन-मुहम्मदबिन बख्तियार खिल्जी ने बिहार-बंगाल के उपजाऊ प्रान्तों को विजित कर सर्वप्रथम इस्लामी आधिपत्य का झण्डा पूर्वी भारत में (1197 ई. में) फहराया था ।[3] लगभग दो वर्षों तक वह बंगाल-बिहार की हिन्दू रियासतों में लूटमार करता रहा और नालन्दा विक्रमशिला (भागलपुर क्षेत्र में) तथा ओदन्तपुरी (बिहार-शेरिफ) के किले पर बड़ी ताकत के साथ आकस्मात् आक्रमण कर "बौद्ध संघारामों" को नष्ट कर दिया ।[4] तत्कालीन इतिहासकार मिनहाज लिखता है कि - "बख्तियार खिल्जी ने खिल्जियों के कबीलों की सहायता से बिहार शेरिफ पर आक्रमण

---

1. रामशरण शर्मा : सोर्सेज ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ बिहार, का.हि.वि.वि., जिल्द 1, खण्ड 1, पृ. 1 ; मिथिलाशरण पाण्डेय : टेरिटोरियल डिवीजन्स ऑफ बिहार, का.हि.वि.वि., जिल्द 1, खण्ड 1, पृ.99.
2. वही.
3. चार्ल्स स्टीवर्ट : दि हिस्ट्री ऑफ दि बंगाल, दिल्ली 1971, पृ. 38.
4. यदुनाथ सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल (1200-1757), भाग II, ढाका 1948, पृ. 3 ; उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, दरभंगा 1956, पृ. 392.

किया और ओदन्तपुरी के किले को 1199 ई. में अपने अधिकृत कर लिया।"[1] उसने किले में रहने वाले सभी व्यक्तियों का भीषण नरसंहार (1199ई. में) किया, जिनमें अधिकतर संख्या बौद्ध भिक्षुओं की थी। इनके पास अत्यधिक धन सम्पदा एवं पुस्तकें थीं ।[2] ये बौद्ध भिक्षु इस किले (ओदन्तपुरी) का प्रयोग "मदरसा" अथवा "विहार" के रूप में करते थे । फलतः यह किला उस समय तक "ओदन्तविहार" या "ओदन्तपुरा" अथवा "ओदन्दपुरा विहार"[3] के नाम से जाना जाता था । बख्तियार खिल्जी ने ओदन्तपुरी के बौद्ध संघारामों को नष्ट कर वहाँ एक दुर्ग का निर्माण किया और "ओदन्तपुरी विहार" के किले "हिसार-ए-विहार" को अपने पड़ोसी क्षेत्रों से अलग कर इस पूरे क्षेत्र का नाम "विहार" अथवा "बिहार" रखा ।[4]

दूसरे शब्दों में आक्रमणकारी को (बख्तियारुद्दीन) यहाँ पर अधिक संख्या में "बौद्ध विहार" अथवा "मदरसे" मिले थे, अतः मुसलमानों ने इस पूरे क्षेत्र का नामकरण "विहार" किया। यह नाम उस समय बिहार के दक्षिण हिस्सों के लिए प्रयुक्त किया जाता था।

एक बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार - जब कश्मीर के प्रसिद्ध संत शाक्य श्रीभद्र ने 1200 ई. में ओदन्तपुरी तथा विक्रमशिला संघारामों को देखा था तो वे

---

1. मिनहाजु स्सिराज : तबकाते नासिरी, बिब्लयोथिका इण्डिका, कलकत्ता 1884, पृ. 147 ; इलियट एण्ड डाउसन : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाईइद्स ओन हिस्टोरियन्स, भाग 2, लन्दन 1867, पृ. 306 ; जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसाइटी (जे.बी.आर.एस.), भाग 56, 1970, (जनवरी-दिसम्बर), पटना, पृ. 174 ; हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 392.
2. यदुनाथ सरकार : हिस्ट्री ऑफबंगाल, भाग II, पृ. 3.
3. गुलाम हुसैन सलीम : रियाजुस्सलातीन, अ.अनु. अब्दुल सलीम, बिब्लो. इण्डिका, कलकत्ता 1788, पृ. 61, 62, 64, फु.नो, 1, II ; यदुनाथ सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 3 ; हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 392.
4. आर.आर. दिवाकर : बिहार थ्रू द एजेस, कलकत्ता 1958, पृ. 54, 56.

खण्डहर हो चुके थे ।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि बख्तियार खिल्जी ने यहाँ किले का पुनर्निर्माण किया और पाँच परगनों को मिलाकर बिहार शेरिफ (ओदन्तपुरी) को इनकी राजधानी बनाया तथा पूरे क्षेत्र का नामकरण बिहार के रूप में किया ।

ऐतिहासिक स्रोतों में बिहार का "इक्ता" अथवा "विलायत" के रूप में सर्वप्रथम वर्णन तबकात-ए-नासिरी में मिलता है। मिनहाज "बिहार" को "इक्ता-ए-बिहार" अथवा "विलायत-ए-बिहार" के नाम से उल्लिखित करता है।[2] जो इस बात की ओर इंगित करता है कि बिहार 12वीं शताब्दी की ही देन है ।

बिहार के नामकरण के सम्बन्धमें मिनहाज लिखता हैकि - "तुर्क मुस्लिम आक्रमणकारियों ने ओदन्तपुरी के पड़ोसी क्षेत्रों में बड़ी संख्या में विहारों को देखा था, अतः पूरे क्षेत्र का नाम "विहार" रखा ।"[3]

"बिहार" शब्द की उत्पत्ति

"विहार" शब्द की "बिहार" के रूप में उत्पत्ति के विषय में सामान्य धारणा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुसलमानों से पूर्व "विहार" शब्द का प्रयोग बौद्ध मठ के लिए प्रयुक्त होता था। ओदन्तपुरी में कई एक बौद्ध मठ थे, क्योंकि उस समय उस स्थान पर बौद्ध धर्म अपनी पराकाष्ठा पर अथवा समृद्ध अवस्था में था। इस सम्बन्धमें रेवर्टी लिखते हैं कि - "जब कभी भी संस्कृत शब्दों

---

1. यदुनाथ सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 4.
2. मिनहाज, पृ. 139, 147, 242, 259 ; जे.बी.आर.एस., भाग 49, पटना 1963, पृ. 253.
3. मिनहाजु स्सिराज : तबकात-ए-नासिरी, (अ.अनु.) एच.जी. रेवर्टी, कलकत्ता 1897, पृ. 552.

का फारसी में अनुवाद हुआ है "व" शब्द के स्थान पर "ब" शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका स्पष्ट उदाहरण तत्कालीन इतिहासकार मिनहाज तथा उसके बाद के लगभग सभी फारसी इतिहासकार हैं, जिन्होंने "विहार" के लिए "बिहार" शब्द का प्रयोग किया है ।"[1]

इस प्रकार स्पष्ट होता हैकि "बिहार" शब्द प्रथम बार तुर्कों द्वारा अविष्कृत हुआ, जिसका मूल आधार ओदन्तपुरी क्षेत्र में अनेकानेक "विहारों" का अस्तित्व था ।[2]

आईन-ए-अकबरी में अबुलफजल लिखता है कि - "मुगल काल में साम्राज्य को सूबों में विभक्त कर दिया गया था। मुगल शासक अकबर का साम्राज्य प्रारम्भ में 15 सूबों में विभक्त था, जिसे सम्राट ने इलाही संवत् के 40वें वर्ष 12 सूबों में पुनः संगठित कर दिया और उन सूबों का नामकरण राजधानी के नाम पर ही किया गया था। ये सूबे थे - इलाहाबाद, आगरा, अवध, दिल्ली, काबुल, लाहौर, अजमेर, अहमदनगर, बिहार, बंगाल, मुल्तान तथा मालवा। प्रत्येक सूबा कई सरकारों में विभक्त था। बिहार सूबे में हाजीपुर, मुंगेर, सरन, तिरहुत, रोहतास, चम्पारन और बिहार नामक सात सरकारें थीं ।"[3]

---

1. मिनहाज सिराज : तबकात-ए-नासिरी (अं.अनु.), रेवर्टी, पृ. 552 ; जे.बी.आर.एस., भाग XXX, 1944, पृ. 21.
2. जे.बी.आर.एस., भाग 49, पृ. 253-54.
3. अबुल फजल : आईन-ए-अकबरी, भाग II, अं.अनु., एच.एस. जैरेट, पुनर्सम्पादित यदुनाथ सरकार, बिब्लो.इण्डिका, 1949,पृ.162,165,168 ; ब्रेडले, पृ.1 ; जे.बी.आर.एस., भाग 49,56 , पृ. 254,174.

इस प्रकार गूढ़ अध्ययन करने के पश्चात् यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि - वास्तव में प्राचीन काल में इसका नाम "बिहार" नहीं था, बल्कि यह नाम मुस्लिम आक्रमणकारियों की ही देन है, जिन्हें यहाँ पर बड़ी संख्या में विहारों ने ‌‌{बौद्ध मठों ने} प्रभावित किया, विशेषकर ओदन्तपुरी ने । चूँकि यहाँ बौद्धों के प्राचीन शिक्षालय हैं, जिन्हें विहार की संज्ञा दी जाती थी, सम्भवतः "बिहार" उसी का बिगड़ा रूप है ।

बिहार की भौगोलिक स्थिति

यह राज्य $21^{0}58'$ एवं $27^{0}31'$ उत्तर और $83^{0}20'$ तथा $88^{0}32'$ पश्चिम के मध्य पूर्व देशान्तर में स्थित है। पूर्व में पश्चिम बंगाल, पश्चिम में उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश से घिरा हुआ है। इसके दक्षिणमें उड़ीसा का राज्य तथा उत्तर में स्वतन्त्र देश नेपाल है ।[1]

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से राजनैतिक एवं प्रशासनिक क्षेत्र में बिहार सदैव से ही प्रभावकारी रहा है । इसकी प्रमुख विशेषता यहाँ गंगा की महत्वपूर्ण भूमिका है ।

मिथिला

गंगा के उत्तर में सुप्रसिद्ध मिथिला का राज्य है, जिसने वैदिक युग

---

1. जे.बी.आर.एस., भाग 49,पृ. 254 ; बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 23.

इस प्रकार गूढ़ अध्ययन करने के पश्चात् यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि - वास्तव में प्राचीन काल में इसका नाम "बिहार" नहीं था, बल्कि यह नाम मुस्लिम आक्रमणकारियों की ही देन है, जिन्हें यहाँ पर बड़ी संख्या में विहारों ने (बौद्ध मठों ने) प्रभावित किया, विशेषकर ओदन्तपुरी ने । चूँकि यहाँ बौद्धों के प्राचीन शिक्षालय हैं, जिन्हें विहार की संज्ञा दी जाती थी, सम्भवतः "बिहार" उसी का बिगड़ा रूप है ।

बिहार की भौगोलिक स्थिति

यह राज्य 21°58' एवं 27°31' उत्तर और 83°20' तथा 88° 32' पश्चिम के मध्य पूर्व देशान्तर में स्थित है। पूर्व में पश्चिम बंगाल, पश्चिम में उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश से घिरा हुआ है। इसके दक्षिणमें उड़ीसा का राज्य तथा उत्तर में स्वतन्त्र देश नेपाल है ।[1]

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से राजनैतिक एवं प्रशासनिक क्षेत्र में बिहार सदैव से ही प्रभावकारी रहा है । इसकी प्रमुख विशेषता यहाँ गंगा की महत्वपूर्ण भूमिका है ।

मिथिला

गंगा के उत्तर में सुप्रसिद्ध मिथिला का राज्य है, जिसने वैदिक युग

---

1. जे.बी.आर.एस., भाग 49,पृ.254 ; बिहार थ्रू द एजेस, पृ.23.

से ही संस्कृति शिक्षा के अन्यतम केन्द्र के रूप में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की थी[1] और आज भी यह उसी रूप में विद्यमान है ।[2] यह उत्तर में नेपाल, दक्षिण में मुंगेर, पश्चिम में मुजफ्फरपुर और पूर्व में सासाराम से घिरा हुआ केन्द्रीय क्षेत्र है ।[3] इसके अतिरिक्त इसके उत्तर में हिमालय, पूर्व में कोसी नदी, पश्चिम में गंडक नदी और दक्षिण में गंगा का प्रबल प्रवाह है ।[4] चम्पारन एवं उत्तरी मुजफ्फरपुर, जिसका दक्षिणी भाग वैशाली के छोटे से राज्य का निर्माण करता है, भी इसमें शामिल है ।[5]

1201-1203 ई. में यह कर्नाटक वंश के हिन्दू राजा नरसिंह महादेव के अधीन था, जिसे इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार खिल्जी ने जीतकर वहाँ मुस्लिम शक्ति की स्थापना की ।[6]

मुस्लिम इतिहासकारों की मान्यता है कि मिथिला अथवा तिरहुत पर पहला आक्रमण 1203 ई. में बख्तियार खिल्जी द्वारा किया गया था। बख्तियार ने न केवल मिथिला को जीता, बल्कि उसे अपने जीते हुये नवीन राज्य में भी मिला लिया ।[7]

---

1. इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया, डब्ल्यू. डब्ल्यू. हण्टर (न्यू एडीशन), जिल्द 8, आक्सफोर्ड 1908, पृ. 171-72.
2. जे.बी.आर.एस., भाग 59, पटना 1973, पृ. 196.
3. बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, दरभंगा, पटना 1964, पृ. 24.
4. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 2.
5. इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया, जिल्द 8, पृ. 171-72.
6. सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 2.
7. वुल्जले हेग : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग 3, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस 1965, पृ. 260.

जहाँ एक ओर मिथिला अथवा तिरहुत अपनी श्रेष्ठता के लिए प्रसिद्ध थे वहीं दूसरी ओर बिहार की भौगोलिक सीमा निर्धारित करने की दिशा में अन्य स्थलों का योगदान भी महत्वपूर्ण रहा है। इनमें मुसलमानों को अपनी ओर प्रभावित करने वाले प्रमुख स्थलों में से थे - पटना, दरभंगा, मनेर, रोहतासगढ़, गढ़ी, हाजीपुर, कहलगाम, मुंगेर, तिरहुत, भागलपुर, सासाराम, बक्सर आदि ।[1] इनका क्रमशः उल्लेख बिहार की भौगोलिक स्थिति की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है ।

पटना

प्राचीन काल से ही पटना का इतिहास सभ्यता के केन्द्र का इतिहास रहा है। विशिष्ट रूप में आर्थिक दृष्टि से यह सम्पन्न व महत्वपूर्ण नगर था, परन्तु पालवंश के पतन के पश्चात् इसका महत्व जाता रहा और यह मुसलमानों के स्थानीय प्रशासन बिहार शेरिफ पर आश्रित एक छोटा सा नगर मात्र ही रह गया[2], फिर भी बढ़ते हुये समय के क्रम में यह धीरे-धीरे विकसित होता रहा और आर्थिक क्षेत्र में सबसे अधिक सम्पन्न राज्य हो गया। 16वीं सदी के प्रारम्भिक काल में भारतीय यात्री लूडो विकेन्द्रीवर्थमा ने (1503-1508) वर्णन किया है कि - "पटना 16वीं सदी के प्रारम्भिक काल तक सभी मुख्य नगरों में से एक था ।"[3] उसने यहाँ तक देखा था कि इस नगर में सबसे अधिक धनी व्यापारी एकत्रित होते थे । सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी आर्थिक सम्पन्नता के कारण ही उसने मुस्लिम आक्रमणकारियों को अपनी ओर आकर्षित किया, जैसा कि स्पष्ट

---

1. बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, दरभंगा, पृ. 25.
2. अब्दुल्ला : तारीखे दाऊदी, सम्पादन प्रो. शेख अब्दुर रशीद, अलीगढ़ 1954, पृ. 150 ; इलियट एण्ड डाउसन : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, भाग IV, (हि. अनु.), आगरा 1979, पृ. 364.
3. जगदीश नारायण सरकार : ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पटना 1978, पृ. 46.

है कि - 1541 में जब शेरशाह ने अपने स्थानीय प्रशासन का मुख्यालय "बिहार-शेरिफ" से पटना किया यह "पट्टन" अर्थात् "बाजार" के नाम से जाना जाता था। यह वह नाम था जो व्यवसायिक महत्व को इंगित करता है ।[1]

तारीखे दाऊदी का लेखक अब्दुल्ला लिखता है कि - "शेरशाह जब 1541 (948 हि.) में बंगाल से बिहार की ओर लौटा तो वह पटना आया । यह उस समय बिहार नगर पर आश्रित था और यहाँ से स्थानीय शासन चलाया जाता था। शेरशाह ने गंगा के तट पर बहुत ठोस विचार के बाद और बुद्धिमानी से निश्चय करके पास खड़े लोगों से कहा - यदि इस स्थान पर एक दुर्ग का निर्माण करवाया जाये तो गंगा का जल उसके निकट होकर बहा करेगा और इस प्रदेश में पटना एक बड़ा नगर बन जावेगा, क्योंकि यह गंगा के पश्चिमी तट पर स्थित है और गंगा उत्तर से बहती हुयी आती है। यहाँ पर धारा टूट गयी है और यह उत्तर की ओर नहीं जा सकती ।"[2]

शेरशाह के आदेशानुसार पाँच लाख का तखमीना तैयार किया गया और उसे तुरन्त विश्वसनीय लोगों को सुपुर्द कर किला बनाने का भार सौंप दिया गया। यद्यपि शीघ्र ही सुदृढ़ किले का निर्माण कार्य पूर्ण हुआ, परन्तु बिहार रेगिस्तान हो गया और पटना 16वीं सदी में बिहार क्षेत्र का एक मुख्य नगर बन गया ।[3]

यह किला बाद में अकबर के शासनकाल में बंगाल के अन्तिम अफगान शासक दाऊद करानी द्वारा मरम्मत करवाया गया, जब 1574 ई. में अकबर ने इस

---

1. जगदीश नारायण सरकार, पृ. 46 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 364 ; कयामुद्दीन अहमद : पटना थ्रू द एजेस, दिल्ली 1988, पृ. 179.
2. अब्दुल्ला, पृ. 150 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 364.
3. वही.

पर आक्रमण किया था ।[1]

प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दू सिद्धान्तों ने बड़े नगरों को नदियों के करीब स्थापित करने की मान्यता को एक मत से स्वीकारा है। फलत: 1541 ई. में बिहार शेरिफ (ओदन्तपुरी) में पटना नगर का राजधानी के रूप में किया गया चुनाव और लखनौती, मुंगेर, भागलपुर का नदियों के किनारे स्थित होना इसी स्थिति को दर्शाता है, जबकि शासन की दृष्टि से न तो पटना और न भागलपुर ही तुर्क अफगान काल में प्रकाश में आया था। 16वीं शताब्दी से पूर्व पटना एक छोटा सा बिहार शेरिफ पर आश्रित नगर मात्र था ।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि 16वीं शताब्दी में बिहार शेरिफ का महत्व जाता रहा और गंगा नदी का लाभ उठाते हुये, पटना बिहार क्षेत्र का सबसे बड़ा विकसित नगर हो गया, जिसने बहुत से विदेशी यात्रियों को अपनी ओर आकर्षित किया। साथ ही आर्थिक सम्पन्नता से परिपूर्ण होने के कारण बहुत से विदेशी व्यापारियों का प्रमुख स्थल बन गया और इसके पूर्वी और पश्चिमी द्वार, पूर्वी तथा पश्चिमी द्वार के नाम से जाने,जाने लगे ।

दरभंगा

दरभंगा शहर मुजफ्फर पुर से 90 किलोमीटर, पटना से 200 किलोमीटर, बरौनी से 89 किलोमीटर दूर 26^0 08' उत्तर और 85^0 54' पूर्व में स्थित है ।[2]

इसके नामकरण के सम्बन्ध में सामान्य धारणा यह है कि - ओनिवारवंश के राजा महाराजा शिव सिंह ने 1406 ई. में सुल्तान इब्राहिम शाह को युद्ध

---

1. निजामुद्दीन अहमद : तबकाते अकबरी, अं.अनु. बी. डे, भाग II, कलकत्ता 1936, पृ. 430.
2. जे.बी.आर.एस. जिल्द 54, पृ. 345.

में पराजित कर उसकी राजधानी गजथपुरा को अधिकृत कर लिया। इसी स्थल का नाम दरभंगा रखा गया था ।[1]

कर्नाटक वंश के पश्चात् केन्द्रीय शक्ति कमजोर हो जाने के कारण "दरभंगा" यद्यपि मुसलमानों के हाथ में आ गया[2] परन्तु यह आगे चलकर 16वीं सदी में मुगलों के लिए फूलों की सेज साबित न हो सका, क्योंकि अफगानों ने मुगलों के विरुद्ध संघर्ष का इसे प्रमुख केन्द्र बना लिया ।

मनेर

मनेर प्रारम्भिक मुसलमानों के स्थापित होने से पूर्व, यहाँ तक कि बिहार शेरिफ (ओदन्तपुरी) से भी पुराना नगर था। अफगान तुर्क काल में यह बिहार शेरिफ के शासन का प्रमुख प्रशासनिक स्थल तथा धार्मिक केन्द्र था ।[3] हाफिज शमसुद्दीन अहमद अपने लेख में लिखते हैं कि - "यह पटना से 20 मील पश्चिम में एक ऐतिहासिक स्थल है, जिसके एक ओर पटना और दूसरी ओर सोन नदी है। यद्यपि इसका एक बड़ा भाग खण्डहर रूप में विद्यमान है, फिर भी देखने से स्पष्ट होता है कि यह प्राचीन काल से ही एक विस्तृत नगर रहा है।[4]

स्थानीय मान्यताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 1197 ई. में जब बख्तियार खिल्जी मनेर आया उस समय यहाँ "हजरत मोमिन आरिफ" नामक मुसलमान संत रहा करते थे। वे अरब से मनेर में आकर बस गये थे, परन्तु

---

1. जे.बी.आर.एस., जिल्द XLVIII, पृ. 31.
2. बिहार डि. गजेटियर, दरभंगा, पृ. 25.
3. ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार एकोनामी, पृ. 2.
4. शमसुद्दीन अहमद हाफिज : मनेर एण्ड इट्स हिस्टोरिकल रिमेंस, प्रोसीडिंग्स ऑफ आल इण्डियन ओरियन्टल कान्फ्रेंस , भाग VI, पटना 1930, पृ. 123.

मनेर के राजा के उत्पीड़न से ऊब कर ये मनेर छोड़कर चले गये और इसका लाभ बख्तियार खिल्जी ने अपनी अल्प सेना के बल पर बंगाल-बिहार को विजित कर उठाया और मनेर को अपनी राजधानी भी बनाया ।[1]

बिहार में अब भी अनेक ऐसे महत्वपूर्ण स्थल विद्यमान हैं, जिन्होंने समय के अनुरूप पीर और सूफी संतों को जन्म दिया है। इन सूफी संतों ने स्वतन्त्र रूप से ज्ञान का प्रचार प्रवचनों द्वारा, साहित्यिक रचनाओं द्वारा, मखतबों और मलफुजातों (आमने-सामने तर्क-वितर्क करके) द्वारा किया। इनके सन्देश प्रेम और शक्ति के प्रतीक थे, जिसने राजा तथा प्रजा सभी को अपनी ओर आकर्षित किया। इन संतों में 13वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध संत शेख याहिया मनेरी[2]की दरगाह मनेर में थी, जिसकी मध्यकालीन शासकों ने समय-समय पर यात्रा की । इनमें प्रमुख हैं - सिकन्दर लोदी, बाबर, हुमायूं एवं अकबर ।

बाबरनामा से यह स्पष्ट पता चलता है कि बाबर ने 1529 ई. में अफगानों के विरुद्ध कूच करते हुये 27 अप्रैल को शेख याहिया मनेरी की दरगाह के दर्शन किये ।[3] शेख मनेरी, मनेर के विजेता इमाम ताज मुहम्मद फैख के पोते थे, जिनका जन्म स्थानीय लोकमत के अनुसार 1180 ई. में हुआ था ।[4]

---

1. शमसुद्दीन अहमद हाफिज, पृ. 125-26.
2. शेख याहिया मनेरी , 14वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध सूफी संत शेख शरफुद्दीन मनेरी, जिन्होंने गयासुद्दीन बलबन से लेकर फिरोज तुगलक तक तीन राजवंशों के 11 सुल्तानों का शासनकाल देखा था, के पिता तथा इमाम ताज मुहम्मद फैख के पोते थे । - बाबरनामा (बाबर), अं.अनु. बेवरीज, 1979, लन्दन, पृ. 666, फु.नो.3 ; जे.बी.आर.एस., पटना 1948, पृ.87.
3. वही, पृ. 666 ; अतहर अब्बास रिजवी : मुगलकालीन भारत, अलीगढ़ 1960, पृ. 321.
4. करप्स ऑफ अरबिक एण्ड पर्शियन इन्सक्रिप्शंस ऑफ बिहार, भाग X, पटना 1973, पृ. 184.

ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकाल में उनकी दरगाह पाप से मुक्त होने का पवित्र स्थल बन गयी थी। जहाँ एक तरफ बाबर द्वारा 1529 ई. में मनेरी की दरगाह के दर्शन का उल्लेख मिलता है, वहीं दूसरी ओर हुमायूँ तथा अकबर द्वारा भी शेख मनेरी की दरगाह के दर्शन किये जाने का उल्लेख अकबरनामा में भी मिलता है। अबुल फजल लिखता है कि चौसा (1539 ई.) के निर्णायक युद्ध के समय बंगाल से लौटते समय हुमायूँ इस दरगाह के समीप ठहरा था। सम्राट अकबर ने भी पटना के घेरे के समय 1575 ई. में मनेर की दरगाह का दर्शन किया और मियां अली नकीब खाँ को एक बड़ी राशि के साथ दरगाह के रक्षकों को बाँटने तथा उनसे आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए भेजा ।[1]

अतः स्पष्ट है कि संतों द्वारा धर्म प्रचार व प्रेम की शिक्षा ने अपनी ओर लोगों को आकर्षित किया। फलतः मनेर और बिहार शेरिफ जैसे धार्मिक स्थल धीरे-धीरे विकसित होने लगे और कस्बे के रूप में परिवर्तित हो गये । ये स्थल मुस्लिम शासकों द्वारा दरगाहों के निर्माण व प्रश्रय दिये जाने के कारण महत्वपूर्ण स्थलों के रूप में विकसित होने लगे और धीरे-धीरे मध्यकाल में इस्लामिक केन्द्र के रूप में प्रकट हुये और 16वीं शताब्दी में विशेष प्रभावकारी रहे ।

इनके अतिरिक्त अन्य और भी महत्वपूर्ण नगर थे, जिन्होंने मुस्लिम आक्रमणकारियों को अपनी ओर आकर्षित किया। इनमें शाहाबाद जिले में रोहतासगढ़, बक्सर, गढ़ी, हाजीपुर, कहलगाम, मुंगेर, तिरहुत तथा सासाराम और भागलपुर प्रशासन एवं युद्ध कौशल सम्बन्धी योग्यता की दृष्टि से श्रेष्ठ नगर के रूप में प्रगट हुये जिनका निर्माण या तो स्थानीय सरदारों द्वारा अथवा अधिकारियों द्वारा समय-समय पर करवाया गया ।[2] क्रमशः इनके भौगोलिक स्थिति का उल्लेख अति आवश्यक है -

---

1. अबुल फजल : अकबरनामा (अं. अनु.) बेवरीज, भाग III, दिल्ली 1973, पृ. 132.
2. जे.बी.आर.एस, भाग 56 (LVI), पृ. 188.

रोहतासगढ़

रोहतासगढ़ बिहार के पुरातत्वों में से एक है। यह शाहाबाद जिले में 83^0 देशान्तर और 24' अक्षांस पर स्थित है। यह पूर्व से पश्चिम तक चार मील, उत्तर से दक्षिण तक 5 मील की दूरी में फैला हुआ है और इसका कुल घेरा अथवा परिमाप 28 मील है। यह सोन नदी के तट पर पर्वतीय क्षेत्र में एक त्रिकोण पहाड़ी पर स्थित है। इस किले का सम्बन्ध राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र राजकुमार रोहिताश्व से माना जाता है । 1538 ई. में इसे शेरशाह ने राजा हरिश्चन्द्र से अकीर्तिकर अपहरण द्वारा छीन लिया था ।[1]

बक्सर

बक्सर शाहाबाद जिले में गंगा के दक्षिणी किनारे पर स्थित महत्वपूर्ण धार्मिक एवं ऐतिहासिक स्थल है ।[2]

गढ़ी

गढ़ी से तात्पर्य संकरी गली या वेलियागढ़ी से है। यह स्थान दक्षिण में राजमहल की पहाड़ियों और उत्तर में गंगा नदी के मध्य स्थित है ।[3]

कहलगाम

कहलगाम बिहार के भागलपुर जिले में गंगा नदी के किनारे पर $25^0$13'

---

1. दि हिस्ट्री एण्टीक्यूटिज टोपोग्राफी एण्ड स्टेटिस्टकल एकाउण्ट ऑफ इस्टर्न इण्डिया, भाग 1, दिल्ली 1976, पृ. 434-35.
2. जे.बी.आर.एस., भाग 49, पृ. 107.
3. परमात्मा शरण : मुगलों का प्रांतीय शासन, लखनऊ 1970, पृ. 23-24.

उत्तर एवं 27°17' पूर्व में स्थित यह भागलपुर से 23 मील दूर पूर्व में है। मुंगेर तथा उसके आस-पास के स्थलों से पृथक कहलगाम वह स्थल है, जहाँ बाबर, अफगानों के विरुद्ध कूच करते हुये चार दिन ठहरा था।[1]

मुंगेर

मुंगेर पटना से 100 मील की दूरी पर दक्षिण पूर्व में स्थित है। मुंगेर तथा भागलपुर 16वीं सदी में व्यूह रचना की दृष्टि से तथा शाहनफा की दरगाह व खनकाह के लिए महत्वपूर्ण स्थल थे।[2]

तिरहुत

तिरहुत बिहार में उत्तर में हिमालय, दक्षिणमें गंगा,पश्चिम में गंडक नदी और पूर्व में कोसी नदी द्वारा घिरा हुआ है।[3]यह चावल उत्पादन का प्रमुख केन्द्र था।[4]

उपर्युक्त नगरों में रोहतास 16वीं शताब्दी से पूर्व हिन्दू सत्ता के अस्तित्व के लिए प्रसिद्ध था, परन्तु 16वीं शताब्दी में शेरशाह के शासनकाल (1540-45 ई.) में यह धार्मिक इमारतों के रूप में विशेष प्रसिद्ध हुआ। यहाँ की जामी मस्जिद, जिसे "आलमगिरि मस्जिद" कहा जाता है, 1543-44 ई. में हब्शखान द्वारा बनवायी गयी थी। यह 16वीं शताब्दी की प्रसिद्ध मस्जिदों में से एक थी, साथ ही 16वीं शताब्दी में यह शेरशाह व अकबर के काल में विशेष प्रभावकारी अजेय दुर्ग रहा।[5]

---

1. गुलबदन बेगम : हुमायूँनामा, अं.अनु., बेवरीज, दिल्ली 1973, पृ. 133; बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, भागलपुर, पृ. 16 ; अवध बिहारी पाण्डेय : फर्स्ट अफगान एम्पायर, कलकत्ता 1956, पृ. 129.
2. ईश्वरी प्रसाद : दि लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, इलाहाबाद 1976, पृ. 127 ; जे.बी.आर.एस., भाग 56, पृ. 174.
3. बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, दरभंगा, पृ. 157.
4. पटना थ्रू द एजेस, पृ. 180.
5. ग्लिम्पसेज ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ. 57.

बिहार राज्य में मुस्लिम शक्ति का प्रवेश एवं स्थापना

गुप्त साम्राज्य की राज-शक्ति के ह्रास के साथ ही बिहार की स्वाधीनता जाती रही । यद्यपि 12वीं सदी के प्रथम भाग में पाल व सेन वंश के उदय से इसे अपना पूर्व गौरव पुनः प्राप्त हुआ फिर भी योग्य शासकों के अभाव में यह अधिक व्यापक न हो सका ।

12वीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा में हिन्दू राजाओं का आधिपत्य था, परन्तु 13वीं शताब्दी के प्रारम्भ होने से पूर्व ही गुलाम वंश के प्रथम मुस्लिम शासक कुतबुद्दीन ऐबक (1206-1210) के सेनापति इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार खिल्जी ने बंगाल-बिहार के उपजाऊ प्रान्तों को विजित कर (1197 ई.) सर्वप्रथम इस्लामी आधिपत्य का झण्डा पूर्वी भारत में फहराया और प्रथम बार मुस्लिम शक्ति की नींव रखकर भारतीय इतिहास के ऐतिहासिक पृष्ठों में नया अध्याय प्रारम्भ किया ।[1]

बख्तियार खिल्जी से पूर्व कोई अन्य मुस्लिम आक्रमणकारी ऐसा नहीं था, जिसने मगध जैसी पावन भूमि पर अपने कदम रखे हों ।[2] उसने इस पवित्र भूमि में एक मुस्लिम आक्रमणकारी के रूप में स्वयं पदार्पण कर आगे आने वाले मुस्लिम आक्रमणकारियों का मार्ग सुलभ कर दिया। कन्नौज के गहरवार साम्राज्य के पतन काल में जो विविध छोटे राज्य पूर्वीय भारत में कायम हो गये थे, उनमें से बहुतों के साथ मुहम्मद बिन बख्तियार खिल्जी के युद्ध हुये और धीरे-धीरे उसने चुनार के पूर्व से प्रारम्भ कर गंगा नदी के साथ मगध और गौड़ पर भी

---

1. स्टीवर्ट, पृ. 38.
2. प्रोसीडिंग्स ऑफ आल इण्डियन ओरियण्टल कान्फ्रेंस, भाग VI, पृ. 124.

§पश्चिमी बंगाल§ अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और पाटलीपुत्र तथा लखनौती को राजधानी बनाया ।

यद्यपि पाटलीपुत्र का प्राचीन गौरव एवं वैभव इस समय तक समाप्त हो चुका था और इस काल में खण्डहरों के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं बचा था, यहाँ तक कि राजनीतिक महत्व का भी सर्वथा लोप हो चुका था, फिर भी प्राचीन प्राच्य देश में बख्तियार खिल्जी ने पहले पहल मुस्लिम शक्ति की नींव 1197 ई. में रखी ।[1]

मुस्लिम आक्रमणकारियों के समय बिहार क्षेत्र के प्रमुख नगरों की स्थिति के बारे में डॉ. एस.एम. करीमी ने 1965 ई. में नैनीताल में अपने लेख में स्पष्ट किया है कि - "ऐसे समय में जब मुस्लिम शासक बिहार में अपनी शासन सत्ता स्थापित कर रहे थे, पटना या पाटलीपुत्र, राजगिरि या कुसाग्रपुरा, वैशाली और चम्पा जैसे सभी बड़े नगरों के केवल खण्डहर मात्र ही विद्यमान थे ।[2] यदि लड़खड़ाते हुये छोटे-छोटे कस्बे जीवित भी थे तो स्थानीय सरदारों के कारण व व्यापार के लघु केन्द्र होने के कारण । बहुतायत में बौद्ध स्मारक व मठ अथवा पवित्र स्थल जो कभी श्रेष्ठता की पराकाष्ठा पर थे, जहाँ किसी समय भगवान् बुद्ध जैसे महापुरुषों ने ज्ञान की ज्योति जलायी थी, भी 12वीं सदी तक अपनी शोभा पूर्णतया खो चुके थे ।[3]

वस्तुस्थिति को देखते हुये बख्तियार खिल्जी के लिए उचित सुअवसर था जबकि वह अपने शौर्य का सिक्का पूर्वीय क्षेत्र में जमा सकता था। फलतः मुस्लिम

---

1. आर.सी. मजूमदार : हिस्ट्री ऑफ मेडिकल बंगाल, कलकत्ता 1973, पृ. 1.
2. जे.बी.आर.एस., भाग 56, 1970 §जनवरी-दिसम्बर§, पटना, पृ. 172.
3. वही, पृ. 170.

शक्ति को स्थापित करने का पूर्ण प्रयास किया और उसे इस क्षेत्र में सफलता भी मिली। इसके प्रयासों का ही फल था कि पूर्वीय क्षेत्र विशेषकर बिहार प्रान्त शताब्दियों तक प्रमुख राजनीतिक गढ़ व अफगानों के उत्कर्ष का साधन बना रहा।

निजामुद्दीन अहमद इस सन्दर्भमें लिखता है कि - "बख्तियार खिल्जी ने 1197 ई० में बिहार के राजनीतिक क्षेत्र में अपना पहला कदम रखा। छुट-पुट आक्रमणों के पश्चात् सन् 1200 में जब वह बिहार के प्रशासन व सैन्य संगठन में व्यस्त था, दिल्ली के सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक ने उसे बिहार व लखनौती प्रान्त की प्रभुसत्ता सौंपी ।"[1]

निजामुद्दीन अहमद के इस कथन का स्पष्टीकरण तत्कालीन इतिहासकार मिनहाज के लेखों से भी होता है कि - "बख्तियार खिल्जी के पूर्वीय प्रान्तों में आधिपत्य के कारण उसकी वीरता एवं साहस से प्रभावित होकर उसे मनेर से 20 मील पश्चिम में भगवत[2] तथा भीवली[3] की इक्ता प्रदान की गयी । उसकी वीरता के कारण प्राप्त प्रसिद्धि से हिन्दुस्तान के चारों ओर से खिल्जियों के कबीले उसके पास एकत्र हो गये और इनकी सहायता से मुहम्मद बिन बख्तियार खिल्जी बड़ी ताकत व धृष्टता के साथ बिहार के किले बिहार शेरिफ पर आक्रमण किया और ओदन्दपुरी को कब्जे में कर लिया ।"[4] वह आगे फिर लिखता है कि - "बख्तियार खिल्जी ने इस किले को छुट-पुट आक्रमणों के पश्चात् 1199 ई. में अपने अधिकृत किया था"।[5]

---

1. तबकाते अकबरी, भाग 1, अं.अनु., पृ. 50 ; हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० 392.
2. मिनहाज, पृ० 146-47.
3. वही.
4. वही, पृ. 147 ; हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 392 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग II, पृ. 306 ; जे.बी.आर.एस., भाग 56, पृ. 174.
5. वही.

ओदन्तपुरी पर आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात् उसकी विजय आकांक्षा प्रबल हो उठी और धीरे-धीरे उसने अपना ध्यान विजय अभियान की ओर केन्द्रित किया ।

16वीं शताब्दी के मुल्ला तकैया के अनुसार - "बख्तियार खिल्जी ने तिरहुत पर भी मुस्लिम आक्रमण का सर्वप्रथम झण्डा फहराया और 1204 ई॰ में इसे अपने अधिकृत कर लिया ।" धार्मिक व दार्शनिक शिक्षा के केन्द्र नालन्दा पर आक्रमण करने से पूर्व इसके शासक को सहयोगी बनाकर पूरा दक्षिणी बिहार तथा कुछ उत्तर के हिस्से में भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया, यद्यपि कुछ अर्द्ध स्वतन्त्र शासक भी थे ।[1]

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो स्पष्ट परिलक्षित होता है कि बिहार प्राचीन काल से ही राजनीति एवं प्रशासनिक क्षेत्र में प्रमुख व प्रभावकारी स्थल रहा है। यही कारण था कि मुहम्मद बिन बख्तियार खिल्जी ने बिहार बंगाल के हिन्दू शासकों की अयोग्यता का लाभ उठाकर पूर्वीय भारत में ‖बिहार-बंगाल‖ सर्वप्रथम इस्लामी आधिपत्य के शौर्य का सिक्का जमाया और 1197 ई॰ से लेकर 1206 ई॰ तक मुस्लिम सत्ता का निर्विरोध रूप से उपभोग किया।

इस प्रकार मध्यकालीन भारतीय इतिहास में बिहार राज्य की स्थापना का प्रारम्भ 12वीं शताब्दी में मुसलमानों द्वारा किये गये आक्रमणों से होता है ।

---

1. बिहार थ्रू द एजेस, पृ॰ 56 ; जे.बी.आर.एस., भाग 49, पृ॰ 253.

16वीं सदी से पूर्व बिहार प्रान्त की स्थिति

समकालीन रचनाओं में यद्यपि बिहार-बंगाल के विभिन्न प्रान्तों की वास्तविक सीमा का वर्णन नहीं मिलता, फिर भी बलवनी शासकों के समय में लिखे गये अभिलेख, जिनका समय खिल्जी काल से भी मिलता है, से यह पता चलता है कि प्रयोग रूप में बिहार-बंगाल का एक हिस्सा था और 12वीं सदी तक पूर्वीय क्षेत्र में §बंगाल, बिहार, उड़ीसा§ हिन्दू राजाओं का ही आधिपत्य रहा।

1206 ई. में बख्तियार खिल्जी की मृत्यु[1] के पश्चात् खिल्जी सरदारों के आपसी द्वेष का लाभ उठाकर 13वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही मुस्लिम शासकों ने इन्हें अपने अधिकार में कर लिया और क्रमशः बाद में आने वाले सुल्तानों ने भी इन्हें अपने प्रभुत्व का केन्द्र बना लिया।[2]

ऐतिहासिक स्रोतों के अध्ययन से यह परिलक्षित होता है कि पूर्वीय क्षेत्र का दिल्ली से अत्यधिक दूर होने और आवागमन के सुलभ साधनों का अभाव होने के कारण दिल्ली से सेना भेजने में अधिक समय लग जाता था §लगभग तीन माह§, फलतः दिल्ली सुल्तानों का बंगाल-बिहार पर आधिपत्य केवल नाममात्र का रहा। बख्तियार खिल्जी की मृत्यु के पश्चात् बिहार की इक्ता कुतुबुद्दीन-ऐबक के हाथों में आ गयी[3] और इसे बंगाल का एक हिस्सा बना दिया गया।[4]

---

1. बख्तियार खिल्जी की हत्या बंगाल के सुल्तान अलीमदीन खिल्जी ने की.
2. वी.एन. लूनिया : अकबर महान्, इन्दौर 1972, पृ. 38.
3. सरकार ,, हिस्ट्री ऑफ बंगाल भाग II, पृ. 15.
4. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 395.

ऐबक के समय (1206-1210 ई.) बंगाल-बिहार की शासन सत्ता अलीमर्दान - खिल्जी जिसने सुल्तान अलाउददीन की उपाधि धारण की थी, के हाथों सौंपी गयी । इसके पश्चात् सुल्तान गयासुददीन खिल्जी ने बंगाल बिहार का शासन भार सम्भाला और लगभग 12 वर्षों तक लखनौती (बंगाल) और बिहार में शक्ति का साम्राज्य छाया रहा, परन्तु 1225 ई. में सुल्तान इल्तुतमिश के प्रथम बंगाल अभियान ने इस शान्ति को भंग कर दिया ।[1] इल्तुतमिश (1210-36 ई.) बिहार को बंगाल से अलग प्रान्त बनाने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहा, फलतः उसने 1225 ई. में लखनौती के साथ-साथ बिहार पर भी आधिपत्य जमाया और बिहार को बंगाल से अलग कर "अलाउददीन जानी" को बिहार का गवर्नर नियुक्त किया ।[2] इल्तुतमिश के दिल्ली की ओर प्रस्थान करते ही गयासुद्दीन एवाज ने अलाउददीन जानी को हटाकर स्वयं बंगाल बिहार की इक्ता अपने हाथों में ले ली ।[3] यह गयासुददीन तुगलक के काल तक बंगाल का एक हिस्सा रहा, (परन्तु गयासुददीन तुगलक द्वारा बंगाल बिहार विजय के पश्चात् फिर इसे अलग कर दिया गया) ।[4]

इस प्रकार इल्तुतमिश ने बिहार को बंगाल से अलग कर एक नया प्रांत बनाया, परन्तु 1242 ई. के तुगरिल तुधान के अभिलेख से यह पता चलता है कि बिहार को उसके पश्चात् दिल्ली से अलग कर बंगाल में मिला लिया गया था ।[5]

---

1. सरकार, हिस्ट्री ऑफ़ बंगाल भाग II, पृ. 20.
2. अतहर अब्बास रिजवी : आदि तुर्ककालीन भारत, अलीगढ़ 1956, पृ. 20.
3. मिनहाज, पृ. 163 ; रियाजुस्सलतिन, पृ. 59, फु.नो. 1.
4. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 398.
5. इल्तुतमिश के समय तुगरिल तुधान को बदायूँ से स्थानान्तरित कर बिहार की इक्ता सौंपी गयी थी। इस समय तक बिहार में तिरहुत शामिल नहीं था। 1236 से 1245 ई. तक उसने बिहार में शासन किया ।
   -बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 56 ; हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 399.

जबकि बाद के बारहदरी अभिलेख §1265 ई. का अभिलेख§ से यह पता चलता है कि - "मुहम्मद अस्लम खान §1259-63 ई.§ का बिहार और इसकी राजधानी बिहार शेरिफ पर स्वतन्त्र प्रभुत्व रहा ।"[1]

खिलजी शासनकाल में पूर्वी क्षेत्र बंगाल बुगरा खाँ और उसके पश्चात् उसके पुत्रों के हाथ में 1322 ई. तक रहा। इन्होंने पूर्वीय भारत के बचे हुये प्राचीन राजवंशों के साथ युद्ध जारी रखा और धीरे-धीरे बंगाल और बिहार पर अपना सुदृढ़ शासन स्थापित कर लिया ।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय सम्भवत: दिल्ली के अफगान सुल्तान विविध सेनापतियों से लड़ने और राजपूत राजाओं तथा दक्षिणी भारत के विविध स्वतन्त्र राज्यों के साथ युद्ध में व्यस्त थे, फलत: उन्होंने पूर्वीय प्रदेशों के मुस्लिम राज्यों को जीतकर अपने अधीन करने के लिए विशेष प्रयास नहीं किया, दूसरी तरफ राजधानी से सीधा नियन्त्रण भी उस समय की विद्रोहात्मक स्थिति को देखते हुये कठिन प्रतीत होता था।

गुलामवंश व खिल्जी वंश की अपेक्षा, तुगलुकों के शासन काल में पूर्वीय प्रान्तों में बिहार तेजी से उभरा और लम्बे समय तक तुगलक शासकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किये रहा ।

लखनौती के स्वतन्त्र शासक शमसुद्दीन के चार पुत्रों में लखनौती की राजगद्दी पर किसका अधिकार हो? के प्रश्न को लेकर आपस में भ्रातृ युद्ध प्रारम्भ हो गया, अन्तिम दो भाइयों ने राजगद्दी प्राप्त करने की लालसा से दिल्ली के

---

1. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, 1873, पृ. 247.

सुल्तान से सहायता की याचना की । इस समय तक खिल्जी वंश का अन्त हो चुका था और सेना की सहायता से गयासुद्दीन तुगलक ने दिल्ली के राज सिंहासन पर अपना आधिपत्य (1320 ई.) स्थापित कर लिया था। उसने पूर्वीय क्षेत्र में हस्त-क्षेप करने के स्वर्णिम अवसर को देखकर 1324 ई. में पूर्व की ओर प्रस्थान किया ।[1] इस विजय यात्रा से न केवल उसका लखनौती पर अधिकार हुआ, बल्कि सारे बंगाल और बिहार को जीतकर दिल्ली सल्तनत के अधीन कर लिया ।[2] बसातीनुल-उन्स के अनुसार - "सुल्तान लखनौती पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् तिरहुत की ओर बढ़ा। तिरहुत के राजा ने अभी तक दिल्ली सल्तनत की अधीनता स्वीकार नहीं की थी, किन्तु शाही सेना के अपने क्षेत्र में प्रवेश की सुचना पाकर वह पहाड़ियों में छिप गया और इस प्रकार तिरहुत पर उसका आसानी से अधिकार हो गया ।"[3] उसने कर्नाटा वंश के प्रभुत्व को समाप्त कर दिया और वहाँ का भार सुल्तान वीर तलबगा के पुत्र को सौंपा और राजधानी की ओर रवाना हुआ ।

1325 ई. में गयासुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् मुहम्मद बिन तुगलक (जूना खाँ) के शासनकाल में साम्राज्य में चारों तरफ विद्रोह की अग्नि भड़क उठी।[4] साम्राज्य की प्रतिष्ठा जिसे गयासुद्दीन ने स्थापित किया था समाप्त हो गयी, विभिन्न प्रान्तीय शासक अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होने लगे, फलतः स्वतन्त्रता की इस होड़ में बिहार भी पीछे न रहा और 1339 ई. में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया ।[5] इस विद्रोह का नेता शमसुद्दीन इलियास नामक कुशल सेनापति

---

1. जियाउद्दीन बरनी : तारीखे फिरोजशाही, सर सैय्यद अहमद खाँ द्वारा सम्पादित, कलकत्ता 1860, पृ.451, रिजवी, तुगलक कालीन भारत, अलीगढ़ 1956, पृ.24.
2. रिजवी : तुगलक कालीन भारत, पृ. 24, 90.
3. बरनी, पृ.451; रिजवी : तुगलक कालीन भारत, पृ.24, 90, फु.नो. 3.
4. आगा मेंहदी हुसैन : तुगलक डाइनेस्टी, कलकत्ता 1963, पृ.195, 257.
5. वही.

था, जिसने लखनौती के साथ-साथ काशी से पूर्व तक सारे पूर्वीय भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। मुहम्मद बिन तुगलक ने इस विद्रोह को शांत करने का असफल प्रयास किया, फलतः बिहार में केवल तिरहुत ही उसके अधिकार क्षेत्र में रहा ।[1]

मुहम्मद बिन तुगलक का शासनकाल भारत के प्रथम मुस्लिम साम्राज्य का मध्यान्ह युग था। उसके काल में विभिन्न भागों में होने वाले विद्रोहों ने उसकी प्रतिष्ठा समाप्त कर दी थी ।[2] वास्तव में किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की कसौटी उसकी विजय करने की शक्ति नहीं बल्कि प्रशासन की सुव्यवस्था होती है, जबकि प्रशासन अपने आप में कभी भी पूर्ण नहीं होता । उसका स्वरूप तत्कालीन परिस्थितियों में कार्यान्वित नीतियों द्वारा निर्धारित होता है, परन्तु मुहम्मद बिन तुगलक के व्यक्तिगत, राजनैतिक व प्रशासनिक क्षेत्रों में दुर्बलताओं के कारण ही उसे साम्राज्य में व्याप्त विद्रोहों का सामना करना पड़ा। यद्यपि उसके शासनकाल में सल्तनत की सीमाओं का विस्तार तो हो गया था परन्तु उन पर वास्तविक प्रभुत्व स्थापित न हो सका था। सल्तनत के खण्डित होने का यह क्रम कुछ समय के लिए उसके चचेरे भाई फिरोजशाह तुगलक के सिंहासनारूढ़ होने के बाद रूक गया ।

फिरोज तुगलक के 1351 ई. में गद्दी पर बैठने के पश्चात् पूर्वीय क्षेत्र के विरोधियों को जो अलग-अलग अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम करने में लगे थे, दिल्ली सल्तनत के अधीन करना एक प्रमुख समस्या थी ।

साम्राज्य विस्तार की दृष्टि से फिरोजशाह तुगलक बंगाल-बिहार को अपने अधीन करने के लिए 1354 ई. में एक बड़ी सेना के साथ लखनौती के शमसुद्दीन-

---

1. बरनी : तारीखे फिरोजशाही, पृ. 467 ; रिजवी : तुगलक कालीन भारत, पृ. 37.
2. मेंहदी हुसैन, पृ. 195, फु.नो. 2,3,4.

इलियाज पर आक्रमण कर दिया और कई वर्षों के लम्बे संघर्ष के पश्चात् फिरोज पूर्णतया शमसुद्दीन को परास्त तो न कर सका पर तिरहुत सहित बिहार के प्रदेशों को जीतने में सफल रहा। बिहार का प्रदेश दिल्ली सल्तनत के अधीन हो गया और मलिक वीर अफगान को उसने वहाँ का मुक्ता चुना । उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र दाउद खान बिहार विलायत अथवा इक्ता का मुक्ता हुआ।[1]

यद्यपि फिरोजशाह के दीर्घकालीन (1351-88) और समृद्धशाली शासन ने यों तो जनता के कष्टों को कोसों दूर किया था, किन्तु राजसत्ता को शक्ति प्राप्त नहीं हुयी थी। परिणाम स्वरूप अमीरों ने पुनः अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र सत्ता की ताक में विद्रोह करना प्रारम्भ कर दिया। इसका महत्वपूर्ण कारण शासन के अन्तिम दिनों में फिरोजशाह का विलासी हो जाना था। उसकी इसी प्रवृत्ति ने दिल्ली सल्तनत के पतन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। फलतः इसकी मृत्यु के पश्चात् ही पतन-चक्र एक युग के रूप में प्रारम्भ हो गया ।

ऐसा प्रतीत होता है कि फिरोज की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली को कोई भी निपुण एवं योग्य शासक प्राप्त न हुआ, जो इस विश्रृंखलता को नियंत्रित करता। परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु से उत्पन्न अराजकता का लाभ उठाकर अफगान अमीर सल्तनत के समानान्तर अपनी शक्ति में वृद्धि करने में संलग्न हो गये । स्मिथ का कथन है कि - "प्रत्येक प्रांत का गवर्नर स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहा था ।"[2] स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्ति की इस श्रृंखला में पूर्वीय प्रांत भी अछूते न रहे।

फिरोज का उत्तराधिकारी पौत्र महमूद तुगलक शांति एवं सुव्यवस्था

---

1. याहिया बिन अहमद सरहिन्दी : तारीखे मुबारकशाही, सम्पादन एम. हिदायत हुसैन, (बिब्ल.इण्डिका), कलकत्ता 1931, पृ. 123-24.
2. वी.ए. स्मिथ : दि आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, आक्सफोर्ड 1919, पृ. 260.

कायम करना चाहता था। इस दृष्टि से उसने मलिक सरवर ख्वाजा जहाँ ﴾यह पहले वजीर था﴿ को मलिक उस शर्क की उपाधि प्रदान कर कन्नौज से बिहार तक के सारे हिन्दुस्तान का शासन भार सौंप दिया, ताकि वह विद्रोहों को दबा सके ।[1] इसी बीच फिरोज का एक अन्य पौत्र नुसरतशाह सिंहासन ﴾दिल्ली﴿ के दूसरे दावेदार के रूप में प्रगट हुआ और राजमुकुट एक गेंद की भाँति दोनों के मध्य नृत्य करने लगा ।[2] प्रांत पतियों ने इस युद्ध में सक्रिय रूप से भाग नहीं लिया ।[3]

ऐसी अराजकतापूर्ण स्थिति का लाभ उठाकर 1398 ई. में तैमूरलंग[4] ने भारत पर आक्रमण कर दिया । इस समय दिल्ली की सत्ता महमूद तुगलक के हाथ में थी। जब वह भारत आया उसने पाया कि प्रत्येक नगर में एक हाकिम पैदा हो गया है। दिल्ली सल्तनत के विषय में कहा जाता है कि उस समय दिल्ली सल्तनत दिल्ली से पालम तक ही सीमित थी । जैसा कि स्पष्ट है -

हुकुम-ए-खुदावन्द-ए-आलम

अज देहली वा पालम ।[5]

अर्थात् संसार के बादशाह का राज्य दिल्ली से पालम तक ही था ।

---

1. इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV ,पृ. 22.
2. स्मिथ, पृ. 260.
3. तुगलक डाइनेस्टी, पृ. 459.
4. तैमूरलंग,तुर्कों की एक जाति बरलास से सम्बन्धित था। एक पैर जख्मी होने के कारण उसे तैमूरलंग कहा जाता है। यूरोपीय इतिहासकारों ने इसे तैमूर लेन के रूप में परिवर्तित कर दिया ।

   -दिल्ली सल्तनत, भारतीय विद्याभवन, द्वितीय संस्करण, जिल्द VI,बम्बई 1967, पृ. 116.
5. रिजवी : उत्तर तैमूर कालीन भारत, जिल्द I, अलीगढ़ 1959,पृ. 242.

अमीर वर्ग सल्तनत की वास्तविक सत्ता को हस्तगत करने की दृष्टि से तटस्थ बना रहा। फलतः उसने भयानक रक्तपात मचाया । उसका प्रतिरोध करने वाला कोई न था। परवर्ती तुगलक सुल्तानों की अशक्त नीति के कारण साम्राज्य की जड़ें कटे वृक्ष के समान गिर पड़ी, जिसका फल पूर्वीय क्षेत्र जौनपुर में शर्की सल्तनत की स्थापना के रूप में सामने आया ।

वास्तव में यह तैमूर आक्रमण की घटना तुगलक वंश के अन्त और बाबर के सिंहासनारोहण के मध्य की महत्वपूर्ण घटना थी। इसने सल्तनत की शक्ति को इतना क्षीण कर दिया कि अब इसके पूर्व स्थिति को बनाये रखना असम्भव सा हो गया। यद्यपि लोदी शासकों ने पूर्व अस्तित्व को बनाये रखने का हर सम्भव प्रयास किया, पर अपनी बुद्धिहीनता, क्रूरता व अमीरों के प्रति दुर्व्यवहार के कारण सल्तनत को अधिक समय तक सुरक्षित न रख सके । फलतः एक बार फिर अन्तिम रूप से दिल्ली सल्तनत विदेशी आक्रमण का केन्द्र बिन्दु बन गयी, जिसका परिणाम हुआ 16वीं सदी में मुगल वंश की स्थापना ।

तैमूर आक्रमण के पश्चात् उत्पन्न हुयी विश्रृंखलता का लाभ उठाकर मलिक सरवर ख्वाजा जहाँ, जिसे महमूद तुगलक ने पूर्वीय प्रान्तों के अमीरों के विद्रोहों को दबाने के लिए भेजा था, जौनपुर (यह प्रांत पूर्वीय सीमा की सुरक्षित दीवार समझा जाता था) में एक स्वतन्त्र राजवंश की नींव 1394 ई. में डाली, जो इतिहास में शर्की राजवंश के नाम से प्रसिद्ध है ।[1]

तैमूर आक्रमण के फलस्वरूप सल्तनत का प्रशासन विभिन्न भागों में विभाजित हो गया, जिनमें ख्वाजा जहाँ मलिक सरवर के अन्तर्गत कन्नौज, कड़ा,

---

1. अवध बिहारी पाण्डेय : फर्स्ट अफगान एम्पायर, पृ. 69.

अवध, डालमऊ, संडीला, बहराइच, बिहार और जौनपुर रहा ।[1]

शर्की वंश के शासकों का दिल्ली के सुल्तानों[2] के साथ घनिष्टतम सम्बन्ध होने के कारण पूर्वीय भारत में लगभग 80 वर्षों तक स्वतन्त्र राज्य कायम रहा। कठपुतली शासक अपनी अवशिष्ट शक्ति को ही समेटने में संलग्न रहे । उन्होंने इन स्वतन्त्र प्रांतों को अपने अधीन करने का कोई प्रयास नहीं किया । दिल्ली सल्तनत के इन ध्वंसावशेषों पर प्रांतीय राज्यों के भव्य इमारत का निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ और इस श्रृंखला में शर्की वंश ने एक शताब्दी तक पूर्वीय क्षेत्र में राजनीतिक क्षितिज को सर्वाधिक उज्ज्वल नक्षत्र के रूप में आलोकित किया।[3]

मलिक-उस-शर्क ने पूर्वीय प्रांत के शासक के रूप में सुल्तान-उस-शर्क की उपाधि धारण की और उन विद्रोहियों का दमन किया जिन्होंने इस क्षेत्र के प्रशासन को निकट परिस्थितियों में ला खड़ा किया था। उसने प्रांतों को सुव्यवस्थित किया तथा उनका नये सिरे से पुनर्निर्माण किया ।[4] इसकी पुष्टि बदायूँनी के इस कथन से भी होती है कि - "उसने कड़ा, अवध, संडीला, मलूटा, बहराइच एवं तिरहुत के किलों का पुनर्निर्माण किया ।[5]

---

1. याहिया बिन अहमद, पृ. 157,169.
2. इस समय दिल्ली पर सैय्यद वंश का शासन था.
3. रियाजुस्सलातीन, पृ. 114 ; ई. थामस : क्रानिकल्स ऑफ दि पठान किंग्स ऑफ देलही, लन्दन 1871, पृ. 365.
4. फरिश्ता : तारीखे फरिश्ता, अं.अनु. जॉन ब्रिग्स : हिस्ट्री ऑफ दि राइज ऑफ मुहम्मडन पावर इन इण्डिया, भाग 1, कलकत्ता 1908, पृ. 304.
5. अब्दुल कादिर अल बदायूँनी : मुन्तखब-उत-तवारीख, अं.अनु. रैकिंग, जिल्द 1, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता 1884, पृ. 349.

इस प्रकार सुल्तान-उस-शर्क ने अल्पकाल में ही अपनी उच्च स्तरीय राजनीतिक प्रतिभा प्रदर्शित करके एक विशाल क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया, जिसके अन्तर्गत अवध, गंगा की घाटी, पश्चिम में कोल से पूर्व में बिहार तक का प्रदेश शामिल था। उसके समय में बिहार में विशेषकर शाहाबाद जिले में उज्जैनियाँ राजपूतों का बोलबाला था ।[1] उसने 1384 ई. में भोजपुर पर भी आक्रमण किया, वहाँ का राजा सोमराज था। शर्की के मुस्लिम सैनिकों ने नगर में प्रवेश कर मन्दिरों को विध्वंस किया और भोजपुर को नष्ट-भ्रष्ट कर अपना अधिकार स्थापित कर लिया ।[2]

1399 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका दत्तक पुत्र मुबारकशाह 1401 ई. तक और उसकी मृत्यु के पश्चात् क्रमशः इसका छोटा भाई मलिक-अकरम शमसुद्दीन इब्राहिम शाह शर्की की उपाधि से शर्की सल्तनत पर आसीन हुआ। इनके शासनकाल में भी कन्नौज से लेकर दक्षिणी बिहार तक का सारा क्षेत्र इनके अधीन था, परन्तु उज्जैनिया राजपूत अपनी स्वतन्त्र सत्ता चाहते थे, फलत: उन्होंने इब्राहिम शर्की के दक्षिण बिहार से प्रस्थान करते ही, सुअवसर देखकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम कर ली । इसी समय दिल्ली की राजनीतिक परि-स्थिति में अचानक नया मोड़ आया। यह था, दिल्ली सल्तनत के राजनीतिक पटल पर बहलोल लोदी का शासक के रूप में अवतरित होना ।

---

1. शाहाबाद 24^{0} 31' 25^{0} 46' उत्तर तथा 83^{0}19' 84^{0}51' पूर्व के मध्य पटना के पश्चिमी भाग में स्थित है। इसके नामकरण के सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि 1529 ई. में आरा के अफगान शासकों पर विजय पाने के पश्चात् सम्राट बाबर ने यहाँ शिविर स्थापित किया था। इसे स्मरणीय बनाने के लिए इस स्थान का नाम "शाहाबाद" अथवा "सम्राट का शहर" रखा गया ।

   -डि.ग. शाहाबाद, पटना 1966, पृ. 1.

2. जे.बी.आर.एस., भाग 1, पटना 1955, पृ. 122.

1445 ई. में मुहम्मदशाह (सैय्यद शासक) के पुत्र फरीदशाह की मृत्यु के पश्चात् अमीर एवं सरदारों ने फरीदशाह के पुत्र को उलाउद्दीन की उपाधि से विभूषित कर दिल्ली सल्तनत का दावेदार घोषित किया। समस्त अमीरों एवं सरदारों ने उसके प्रति निष्ठा एवं राजभक्ति प्रदर्शित की । इनमें लाहौर का गवर्नर बहलोल लोदी भी था, परन्तु थोड़े ही समय में सुल्तान की अयोग्यता प्रकट हो जाने के कारण बहलोल लोदी की साम्राज्य प्राप्ति की आकांक्षा प्रबल हो उठी।[1] उसकी इस महत्वाकांक्षा को आगे बढ़ाने में तत्कालीन परिस्थितियाँ भी सहयोग दे रही थीं ।

सैय्यद शासकों की राजनीतिक एवं प्रशासनिक दुर्बलतायें दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही थीं । फलतः अन्तिम सैय्यद शासक अलाउद्दीन आलमशाह की प्रशासन के प्रति उदासीनता व शान्तिपूर्वक जीवन बिताने की लालसा तथा लम्बे समय तक बदायूँ में निवास करने के कारण सुअवसर देखकर बहलोल लोदी ने जिसे वजीर हामिद खाँ ने लाहौर से निमंत्रित किया था, बिना किसी रक्तपात के दिल्ली सल्तनत पर आसानी से अधिकार कर लिया और मोहर्रम की तारीख 27, 855 हि. (1 मार्च, 1451) को सिंहासन पर बैठा और अपनी उपाधि "अबुल मुजफ्फर बहलोल शाह" रखी तथा अपने नाम का खुतबा पढ़वाया।[2]

---

1. इलियट एण्ड डाउसन, भाग । ,पृ. 64.
2. अहमद यादगार : तारीखे शाही, सम्पादन एम. हिदायत हुसैन, बिब्लो. इण्डिका, कलकत्ता 1939, पृ. 10 ; अब्दुल्ला : तारीखे दाऊदी, पृ. 11-12 ; युसुफ हुसैन : इण्डो-मुस्लिम पालिटी, शिमला 1971, पृ. 170;

बहलोल के गद्दी पर बैठते ही उसके साम्राज्य विस्तार की नीति के अन्तर्गत पूर्व का प्रश्न (शर्की शासकों का प्रश्न) एक महत्वपूर्ण प्रश्न था, क्योंकि इस समय जहाँ अन्य प्रांतों में अलग-अलग दावेदार मौजूद थे, वहीं दूसरी ओर गुजरात, मालवा, जौनपुर में स्वतन्त्र सत्ता कायम थी ।[1] बहलोल के विस्तारवादी नीति में पूर्व में जौनपुर के शक्तिशाली शर्की शासकों एवं अमीरों का विद्रोह सबसे अधिक बाधक था। शर्की शासक दिल्ली की गद्दी प्राप्त करने के पूर्ण प्रयास में लगे हुये थे, इनमें प्रमुख थे - महमूद शाह, मुहम्मद शाह, सुल्तान-हुसैनशाह शर्की (1451-1500)। इसने दो बार दिल्ली पर आक्रमण किया परन्तु दोनों बार पराजित हुआ। यद्यपि हुसैनशाह शर्की बहलोल की शक्ति के आगे न टिक सका, फिर भी उसने हिम्मत न हारी और बहलोल लोदी के साथ संघर्ष-रत रहा । संघर्ष के इस क्रम में शर्की वंश के अन्तिम शासक हुसैनशाह शर्की से लगातार युद्ध करने के पश्चात् 1486 ई. तक सम्पूर्ण शर्की राज्य (जौनपुर व अन्य आसपास के प्रमुख स्थल) पर अपना आधिपत्य स्थापित कर, हुसैनशाह को जौनपुर से बिहार में शरण लेने को बाध्य किया ।[2] यद्यपि साम्राज्य विस्तार की दृष्टि से लोदी साम्राज्य को सम्पूर्ण भारत में विस्तृत करने में बहलोल सदैव प्रयत्नशील रहा, परन्तु अपने जीवन के अन्तिम समय (1488 ई.) तक बिहार को वह अपने अधिकृत न कर सका और बिहार (1486 ई.) शर्की शासकों का शरण स्थल बन गया ।

---

1. फर्स्ट अफगान एम्पायर, पृ. 52.
2. तबकाते अकबरी, भाग 1, पृ. 311 ; विलियम अर्सकीन : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया अण्डर दि टू फर्स्ट सावरेन्स ऑफ दि हाउस ऑफ तैमूर, बाबर एण्ड हुमायूँ, भाग 1, लन्दन 1854, पृ. 405 ; इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : सम आसपेक्ट्स ऑफ अफगान डिस्पोटिज्म इन इण्डिया, अलीगढ़ 1969, पृ. 23.

मुश्ताकी लिखता है कि - जब बहलोल पूर्व की विलायत में था 894 हि. {1488-89 ई.} में उसकी मृत्यु हो गयी ।[1] उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र निजाम खाँ 17 जुलाई, 1489 ई. को सुल्तान सिकन्दरशाह की उपाधि से विभूषित हो दिल्ली की गद्दी पर बहलोल के उत्तराधिकारी शासक के रूप में सिंहासनारूढ़ हुआ ।[2] अब्दुल्ला लिखता है कि - निजामखाँ बहलोल के पुत्रों में सबसे योग्य था, इसलिए अमीरों ने निजाम को ही दिल्ली से बुलवाकर सुल्तान का ताज पहनाया ।[3]

सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् अपने पिता की भाँति अफगान शक्ति को विस्तृत करने का पूर्ण प्रयास उसने किया। उसकी पूरी इच्छा थी कि वह भारत में अफगान साम्राज्य को विस्तृत करने की, अपने पिता की इस इच्छा को अपनी शक्ति के बल पर पूर्ण करे । उसने इच्छापूर्ति हेतु महत्वपूर्ण कदम भी उठाये पर पूर्वीय क्षेत्र में शर्की शासकों की प्रतिस्पर्धा अभी भी बरकरार थी । वे किसी भी कीमत पर दिल्ली की गद्दी प्राप्त करने के लिए सतत् प्रयत्नशील थे और लोदी साम्राज्य के विस्तार में ये काँटे की तरह रास्ते में खड़े होकर बीच-बीच में अफगान साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया करते थे, फलतः शासन के तीन वर्षों के अन्दर ही उसने अपने सभी विद्रोहियों को अपनी शक्ति एवं क्षमता के बल पर दबाया और पूर्व के शर्की शासकों की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया। शर्की सुल्तानों का राज्य इस समय केवल मगध तक ही सीमित रह गया था ।

---

1. मुश्ताकी : वाकयाते मुश्ताकी, ब्रिटिश म्यूजियम मैनस्क्रिप्ट, रि पु , भाग 2, पृ. 12.
2. निजामुद्दीन अहमद , भाग 1, पृ. 314 ; मुश्ताकी, पृ. 12,24.
3. अब्दुल्ला, पृ. 21.

फरिश्ता लिखता है कि - बहलोल की मृत्यु के पश्चात् हुसैन शाह शर्की ने बारबक शाह (बदायूँ का शासक) को सिकन्दर लोदी के विरुद्ध भड़काया ।[1] परन्तु जब बारबक शाह पराजित हो गया तो उसने अपनी दूसरी चाल के अन्तर्गत पूर्व के हिन्दू जमींदारों को भी भड़काना प्रारम्भ किया । ये जमींदार हुसैन-शाह शर्की के प्रति वफादार थे और उसकी सहायता के लिए पूर्णतया इच्छुक थे, यहाँ तक कि उन्होंने सिकन्दर के विरोध में 1 लाख सवार भी एकत्र कर लिये थे और हुसैनशाह शर्की जो इस समय बिहार में था, लोदी अफगान के विरुद्ध आमंत्रित भी किया था ।[2] जब सिकन्दर को इसकी सूचना मिली उसने इन विरोधियों के विरुद्ध दिल्ली से कूच किया और उन्हें पराजित किया, परन्तु दिल्ली की अव्यवस्था की खबर सुनकर उसे पुनः दिल्ली जाना पड़ा।[3] वहाँ पहुँचकर उसे पुनः बारबक शाह व हुसैनशाह के एक साथ सम्मिलित होकर उसके विरुद्ध विद्रोह की सूचना मिली। अपने विरोधियों को अपने रास्ते से पूर्णतया हटाने का दृढ़ निश्चय कर सिकन्दर लोदी एक बार फिर अन्तिम रूप से (1495 ई॰ में) पूर्व की ओर अग्रसर हुआ। जौनपुर पहुँचकर उसने अपनी सैनिक तैयारी प्रारम्भ की। जिस समय सुल्तान सिकन्दर जौनपुर में अपनी सैनिक तैयारी में व्यस्त था, राजा भेदचन्द्र (भाटा के शासक) के ज्येष्ठ पुत्र राजा लक्ष्मीचन्द्र एवं उस स्थान के अन्य जमींदारों ने हुसैनशाह को जो इस समय बिहार में अवसर की प्रतीक्षा में था, सिकन्दर की सैनिक दुर्बलता एवं परेशानी से अवगत कराया और बतलाया कि सुल्तान की सेना में न तो सामग्री है और न ही घोड़े ।[4]

---

1. फर्स्ट अफगान एम्पायर, पृ॰ 121-22.
2. सम अफगान डिस्पोटिज्म इन इण्डिया, पृ॰ 31.
3. फर्स्ट अफगान एम्पायर, पृ॰ 123, 24.
4. फर्स्ट अफगान एम्पायर, पृ॰ 127 में अवध बिहार पाण्डेय लिखते हैं कि - "लगातार अभियान करते रहने के कारण सिकन्दर की सैन्य स्थिति काफी कमजोर हो गयी थी। उसके 90 प्रतिशत घोड़े समाप्त हो चुके थे .

यह सूचना प्राप्त करते ही हुसैनशाह शर्की तुरन्त ही बिहार से एक विशाल सेना एवं 100 हाथियों सहित युद्ध के लिए प्रस्थान किया। इस संकटमय स्थिति में सिकन्दर ने भाटा के शासक शालवाहन[1] को हुसैनशाह के विरुद्ध अपने पक्ष में मिलाकर, हुसैनशाह को पराजित करने में उसका सहयोग प्राप्त कर लिया। स्वार्थ से प्रेरित शालवाहन द्वारा सिकन्दर के साथ सम्मिलित हो जाने से उसकी शक्ति में काफी वृद्धि हुयी। फरिश्ता लिखता है कि -"मेदल नामक स्थान पर दोनों में 1495 ई. में युद्ध हुआ ।"[2] दो माह तक निरन्तर संघर्ष चलता रहा। मुबारक खाँ नूहानी के पुत्र दरिया खाँ नूहानी ने सिकन्दर का साथ दिया । परिणामस्वरूप हुसैनशाह शर्की पूर्णरूप से पराजित हुआ और पटना की ओर पलायन किया। सिकन्दर ने एक लाख सेना के साथ हुसैनशाह का पीछा किया। 9 दिन तक पीछा करते रहने के पश्चात् उसे सूचना मिली कि हुसैनशाह बिहार की ओर गया है, अतः सिकन्दर ने भी बिहार की ओर प्रस्थान किया।

जब सुल्तान हुसैनशाह को सिकन्दर द्वारा उसका बिहार तक पीछा किये जाने की सूचना मिली तो उसने मलिक कण्डू को बिहार के किले में छोड़ा[3] और स्वयं कहलगाम[4] की ओर चला गया, परन्तु सिकन्दर के आगमन से भयभीत होकर मलिक कण्डू किला छोड़कर भाग गया और बिहार आसानी से सिकन्दर के हाथों में आ गया। सिकन्दर ने मुहब्बत खाँ को कुछ अमीरों के साथ बिहार के

---

1. शालवाहन, भाटा के राजा भेदचन्द्र का भाई था .
   -के. एस. लाल : टु वाइलाइट ऑफ दि सल्तनत, एशिया पब्लिशिंग हाउस, लन्दन 1963, पृ. 171, फु.नो. 52.
2. फरिश्ता, पृ. 181.
3. निजामुद्दीन अहमद, भाग 1, पृ. 319.
4. इस समय यहाँ बंगाल का शासक अलाउद्दीन का शासन था, उसने हुसैनशाह का स्वागत किया.

किले में छोड़कर स्वयं दरवेशपुर आया[1] और खानेजहाँ को सुल्तान हुसैन के मुकाबले के लिए छोड़ा।

हुसैनशाह बिहार छोड़कर बंगाल की ओर पलायन किया और भागलपुर में शरण लेने को बाध्य हुआ। इस समय बंगाल पर अलाउद्दीन शाह का आधिपत्य था। भागलपुर उस समय गौड़[2] राज्य के अन्तर्गत समझा जाता था। सिकन्दर ने बंगाल पर भी आक्रमण की तैयारी की, परन्तु दोनों में (अलाउद्दीन के पुत्र दनियाल व सिकन्दर के बीच) 28 जून 1496 ई. को शान्ति सन्धि हुयी[3], जिसके आधार पर सिकन्दर लोदी ने हुसैनशाह शर्की के भाग्य का सदैव के लिए निर्णय कर दिया। सन्धि में यह निश्चय किया गया कि दोनों पक्षों में से कोई पक्ष एक-दूसरे के क्षेत्रीय प्रदेश पर हस्तक्षेप नहीं करेगा और सिकन्दर के शत्रुओं को अलाउद्दीन अपनी शरण में नहीं रखेगा ।[4]

---

1. दरवेशपुर पटना जिले की शेरपुर तहसील में मनेर से करीब 4 मील पूर्व में स्थित है .

   -होदीवाला , शाहपुर हुरमज़जी, स्टडीज इन इण्डो-मुस्लिम हिस्ट्री, भाग II, बम्बई 1957, पृ. 184.

2. गौड़,व लखनौती मालदा जिले में बंगाल की राजधानी थी । यह $24^0 52'$ उत्तर एवं $88^0 10'$ पूर्व में स्थित है। इसका पुराना नाम लक्ष्मणसेन के नाम पर लक्ष्मणावती था जो लखनौती में बदल गया.

   -हण्टर : इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया, जिल्द V ,आक्सफोर्ड 1908, पृ. 35-36.

3. निजामुद्दीन अहमद, भाग 1, पृ. 320.

4. अब्दुल्ला, पृ. 58-60 ; निजामुद्दीन अहमद, भाग 1, पृ. 319-20 ; इलियट ऐण्ड डाउसन, भाग IV ,पृ.351.

सन्धि वार्ता के अनुसार अब दिल्ली का सीधा अधिकार पटना, बिहार, तिरहुत, सारन तथा चम्पारन पर हो गया ।[1] अवध बिहारी पाण्डेय लिखते हैं कि - "सिकन्दर ने इस सन्धि के पश्चात् आजम हुमायूँ को दरवेशपुर का गवर्नर बनाया, दरिया खाँ नूहानी को बिहार का गवर्नर बनाया। बंगाल बिहार, उड़ीसा की सीमायें उससे सम्बन्धित थी ।"[2] तिरहुत व सरन के अमीरों से उनकी भूमि का बड़ा भाग छीनकर अफगान साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार बिहार की पूर्ण व्यवस्था करने के पश्चात् सिकन्दर जौनपुर होता हुआ दिल्ली लौट आया ।[3] इस सन्धि के परिणामस्वरूप बंगाल का पश्चिमी सीमा-प्रांत दिल्ली सुल्तानों के आक्रमण से सुरक्षित हो गया और हुसैनशाह राजनीति से सन्यास लेकर जीवन के अन्तिम समय तक गौड़ में ही रहा जहाँ 1500 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी ।[4]

---

1. मुश्ताकी चम्पारन को तिरहुत का एक भाग बताता है।
   -मुश्ताकी, पृ. 78 ; अर्सकीन , भाग 1, पृ. 407 ; इलियट ऐण्ड डाउसन, भाग IV ,पृ. 351.
2. निजामुद्दीन अहमद, भाग 1, पृ. 320 ; मुश्ताकी, पृ. 80 ; युसुफ हुसैन, पृ. 177, अवध बिहारी पाण्डेय, फर्स्ट अफगान एम्पायर, पृ. 130 ; रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग 1, पृ. 215, 375 ; रमाशंकर अवस्थी : मुगल सम्राट हुमायूँ, इलाहाबाद, 1967, पृ. 12.
3. फर्स्ट अफगान एम्पायर, पृ. 130.
4. यदुनाथ सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 145-146 ; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग III, पृ. 271 ; जर्नल ऑफ बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग 28, पृ. 290-95.

मुंगेर और बिहार के शिलालेखों से पता चलता है कि -। हुसेन का आधिपत्य दक्षिण व उत्तर बिहार तक फैला था ।[1] इसका स्पष्टीकरण सारण अभिलेखों से होता है ।

इस प्रकार बिहार, जिसने वर्षों से अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम कर ली थी, लम्बे समय पश्चात् पुनः 1395 ई. में दिल्ली सल्तनत का अंग बन गया और लगभग 1521, 1522 ई. तक लोदी वंश के अधिराज्य में सम्मिलित रहा । बहलोल लोदी जिस प्रदेश को लाख प्रयत्नों के बावजूद भी अपने जीवनकाल में अधिकृत न कर सका, सिकन्दर लोदी ने हर सम्भव प्रयासों द्वारा अपने अधिकृत कर मगध पर एक बार फिर दिल्ली सुल्तानों का आधिपत्य स्थापित कर दिया। अन्तिम शर्की सुल्तानों के गलत पदपेक्षों ने पूर्वी क्षेत्र में एक शताब्दी पश्चात् पुनः अफगानों के प्रभुत्व को प्रतिस्थापित कर दिया, जिसका परिणाम हुआ, लोदी शासकों ने न केवल अपनी शक्ति का ही विस्तार किया, बल्कि अपने देश की अफगान जातियों जैसे - लोदी, फार्मुली, नूहानी, जैसी अफगान शाखाओं को भी जागीरें प्रदान की । ये अफगान शाखायें जागीरों पर अपना पूर्व अधिकार समझकर स्थायी रूप से यहीं बस गयीं (भारत में बस गये) ।

अन्ततः स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि - पूर्व में बिहार प्रांत ही ऐसा क्षेत्र था, जिसने सदैव ही अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये रखने का प्रयास किया और शासकों की दुर्बलताओं का लाभ उठाकर भारतीय ऐतिहासिक परिवेश में एक संघर्षरत शक्ति के रूप में विकसित होता रहा, पर इसकी जड़ें यहीं समाप्त नहीं हुयी, बल्कि 16वीं शताब्दी में भी अफगान शक्ति के

---

1. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, 1875, पृ. 304.

रूप में मुगलों को प्रभावित करती रही और स्वतन्त्र अस्तित्व की होड़ में अफगान मुगल शक्ति के आपसी विद्रोह का कारण बनी रही । लम्बी अवधि के बाद महान् मुगल सम्राट अकबर के शासन काल में इन विद्रोहात्मक शक्तियों पर विजय प्राप्त की जा सकी ।

द्वितीय अध्याय

बिहार - अफगान एवं मुगल-शक्ति का केन्द्र स्थल

1. बाबर नवीन मुगल-शक्ति के रूप में
2. केन्द्रीय शक्ति का ह्रास
3. पूर्व का प्रश्न - बिहार में नूहानी प्रभुत्व
4. बंगाल के शासक नुसरतशाह द्वारा अफगानों को सहयोग , घाघरा का युद्ध
5. नूहानी व अन्य अफगानों का आत्मसमर्पण ।

बाबर नवीन मुगल शक्ति के रूप में

16वीं सदी में इस्लाम और संसार के इतिहास में मुगल शासक जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर का भारतीय भूमि पर एक नयी शक्ति के रूप में प्रवेश न केवल एक महत्वपूर्ण घटना थी, बल्कि बाहरी और आन्तरिक शक्तियों के दबाव के कारण अपने आखिरी दिन गिन रहे मध्ययुगीन भारत को जीवित रखने का एक साहसिक कदम भी था ।

यद्यपि मुगलों की (बाबर) भारतीय विजय रचनात्मक शक्ति नहीं सिद्ध हुयी, फिर भी एक ओर जहाँ इस्लाम की शक्तियों ने संसार के दूसरे भागों में प्रसिद्ध विजय हासिल की थी, वहीं दूसरी ओर भारतवर्ष में भी मुगल साम्राज्य की स्थापना (20 अप्रैल, 1526 ई.) से इस्लाम के पक्ष में एक नयी जीत हुयी और नवीन सभ्यता एवं संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ ।[1]

बाबरनामा में बाबर ने अपने भारतीय अभियान के सम्बन्धमें स्वयं लिखा है कि - "907 हि. (1501-1502 ई.) में दिखकाट के मुखिया की 111 वर्षीय माता से मैंने जब हिन्दुस्तान में तिमुर द्वारा किये गये आक्रमण के बारे में सुना और 910 हि. (1504 ई.) में काबुल का राज्य प्राप्त किया, तभी से मेरी भारतवर्ष को विजित करने की तीव्र लालसा थी, परन्तु अनेक प्रकार की विकट परिस्थितियों के कारण शीघ्र ही ऐसा न हो सका ।"[2] फलतः भारतीय सीमा तक

---

1. अवस्थी, पृ. 1.
2. बाबरनामा, अ,अनु., पृ. 150 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, (हि.अनु.), पृ. 174 ; रशब्रुक विलियम्स : ऐन एम्पायर बिल्डर ऑफ दि सिक्सटींथ सेंचुरी, लन्दन 1918, पृ. 113.

पहुँचने में बाबर को 1502 ई.-1525 ई. के बीच की एक लम्बी अवधि व्यतीत करनी पड़ी।

जहाँ एक ओर बाबर भारत विजय के स्वप्न को पूरा करने में लगा हुआ था, वहीं दूसरी ओर भाग्यविधाता भी उसके साथ था। दिल्ली के अफगान सुल्तान सिकन्दर लोदी की 1517 ई. में मृत्यु और इब्राहिम लोदी के सिंहासनारोहण के साथ ही मध्यकालीन इतिहास ने एक नये युग में प्रवेश लिया।

सिकन्दर लोदी की असामयिक मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र इब्राहिम लोदी दिल्ली की गद्दी का अधिकारी बना और उसके भाई जलालखाँ को पूर्वीय क्षेत्र का शासन भार सौंपा गया।[1] इसकी पुष्टि अहमदयादगार व अब्दुल्ला के लेखों से स्पष्ट रूप में होती है। वे लिखते हैं कि, "जब सुल्तान सिकन्दर की मृत्यु हुयी (1517 ई.) तो उसके योग्य पुत्र जो एक ही माता से उत्पन्न थे उस समय आगरा में उपस्थित थे। उनमें एक इब्राहिम व दूसरा जलालुद्दीन था। समस्त अमीरों तथा राज्य के उच्च पदाधिकारियों की सहमति से राज्य का महत्वपूर्ण कार्य दोनों भाईयों में इस आधार पर विभाजित किया गया कि इब्राहिम अपनी वीरता, बुद्धिमत्ता, तथा सदाचारिता के लिए प्रसिद्ध है और सुल्तान सिकन्दर का ज्येष्ठ पुत्र है। अतः उसे दिल्ली के राजसिंहासन पर आरूढ़ किया जाये और जौनपुर की सीमा तक के प्रदेश उसके अधीन किये जायें। जौनपुर के राजसिंहासन पर (पूर्व में) शाहजादा जलालखाँ को सिंहासनारूढ़ किया जाय। पूर्वीय क्षेत्र की सीमायें उसके शासन से सम्बन्धित हो। इस निर्णय के आधार पर जौनपुर के अमीरों तथा जमीदारों सहित जलाल खाँ पूर्वीय प्रदेश की ओर रवाना हुआ और उन प्रदेशों में स्वतन्त्र रूप से बादशाह हो गया। दूसरी ओर इब्राहिम लोदी 10 जिलहिज्जा 923 हि. (24 दिसम्बर 1517 ई.) में दिल्ली की सत्ता का दावेदार हुआ।[2] यद्यपि इब्राहिम लोदी ने दिल्ली की अफगान सत्ता तो प्राप्त

---

1. अर्सकीन, भाग 1, पृ. 409.
2. अहमदयादगार, पृ. 66 ; अब्दुल्ला, पृ. 85. नियामत उल्लाह हरवी, इब्राहिम लोदी के सिंहासनारोहण की तिथि 8 जीकदा, 923 हि. (22 नवम्बर) स्वीकार करता है। तारीखे खाने जहाँनी, डॉ. इमामुद्दीन द्वारा सम्पादित, भाग 1, ढाका 1960, पृ. 119. अवध बिहारी पाण्डेय भी यही लिखते है। फर्स्ट अफगान एम्पायर, पृ. 165.

कर ली थी परन्तु अपने सम्पूर्ण शासनकाल में §1517-1526 ई.§ वह अपने पितामह तथा पिता §बहलोल व सिकन्दर लोदी§ की तरह योग्य शासक सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकती, ठीक उसी प्रकार एक साम्राज्य में दो व्यक्ति मिलकर राज्य नहीं कर सकते, फलतः साम्राज्य प्राप्ति की लालसा ने दोनों भाइयों के मध्य विरोधाभास के रूप में इस युक्ति को चरितार्थ कर दिया।

मुश्ताकी लिखता है कि इब्राहिम लोदी सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् सर्वप्रथम अपने भाइयों से दुर्व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया।[1] भाइयों के प्रति सुल्तान द्वारा किये गये इस दुर्व्यवहार को देखकर जलाल खाँ ने अपनी सुरक्षा की दृष्टि से 1518 ई. में अपने को पूर्व का राजा घोषित कर दिया और कालपी में सुल्तान जलालुद्दीन की उपाधि धारण की । इसके अतिरिक्त उसने अपने नाम का खुतबा पढ़वाया, सिक्के चलवाये, व सेना का विस्तार किया।[2]

जब यह सूचना इब्राहिम को मिली तो उसे यह बात रास नहीं आयी। उसने अफगान साम्राज्य को विभाजित होने से बचाने के लिए और जलाल खाँ को अपने साथ शामिल करने के उद्देश्य से हैबत खाँ को अपना दूत बनाकर जलाल खाँ के पास भेजा। जलाल खाँ द्वारा, हैबत खाँ को दिये गये नकारात्मक उत्तर को सुनकर इब्राहिम ने क्रोधित हो जलाल खाँ के विरुद्ध कार्यवाही करने का निश्चय किया।[3] साम्राज्य को निष्कंटक बनाने की दृष्टि से उसने जलाल खाँ का ग्वालियर, मालवा होते हुए गढ़ा-कंटका तक पीछा कर गिरफ्तार कर लिया । गढ़ा-कंटका से हांसी के

---

1. मुश्ताकी, पृ. 81 ; रिजवी : उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग 1, पृ. 159.
2. अर्सकीन, भाग 1, पृ. 409.
3. तबकाते अकबरी, भाग 1, पृ. 342 ; रिजवी : उत्तर तैमूर कालीन भारत, पृ. 232-33 ; यूसुफ हुसैन, इण्डो मुस्लिम पालिटी, पृ. 182-83.

किले में भेज दिया गया जहाँ इब्राहिम के आदेश से उसकी हत्या करवा दी गयी।[1]

मुश्ताकी लिखता है कि – उसने अन्य भाइयों को भी बन्दी बना लिया और हिसार फिरोजा के किले में कैद करवा दिया।[2] इब्राहिम के इस दुर्व्यवहार से साम्राज्य में असन्तोष का वातावरण फैलने लगा । परिणामस्वरूप जब बहुत से सरदारों व अमीरों को पता लगा कि सुल्तान के स्वभाव में स्थिरता नहीं है तो उन्होंने विरोध की पताका ﴾सुल्तान के विरुद्ध﴿ बुलंद कर दी।[3] अमीरों द्वारा इब्राहिम के विरुद्ध सिर उठाये जाने के कारण स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी कि साम्राज्य में गृह युद्ध प्रारम्भ हो गया। गृह युद्ध की स्थिति से निबटने के लिए शासक के कर्तव्य को भूलकर अपने को सुल्तान के रूप में गौरवान्वित महसूस करते हुये उसने थोड़ा भी सिर उठाने वाले अमीरों को मौत के घाट उतारना प्रारम्भ कर दिया, जिनमें अमीरुल उमरा आजम हुमायूँ तथा मियां भुवा ﴾सिकन्दर के काल में यह अधिकार सम्पन्न वजीर था﴿ की अकारण हत्या प्रमुख थी।[4] इसके अतिरिक्त उसने अन्य अमीरों जैसे आजम हुमायूँ के पुत्र फतह खाँ को बन्दी बनाया, सईद लोदी खाँ को बन्दी बनाकर उसकी हत्या करवा दी और कबीर खाँ लोदी को भी बन्दी बना लिया।[5]

ऐसा प्रतीत होता है कि इब्राहिम लोदी अमीरों के प्रति शंकालू स्वभाव का हो गया था इसलिए वह तनिक भी सर उठाने वाले अमीरों व अधिकारियों को मौत के घाट उतारकर अन्य अमीरों में भय व्याप्त करना चाहता था, परन्तु उसके बर्बरतापूर्ण व्यवहार और निर्मम हत्या जैसी कठोर नीति ने न केवल अमीरों व उच्च अधिकारियों के भविष्य को असुरक्षित किया बल्कि केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध एक जुट

---

1. अहमदयादगार, पृ. 74 ; तबकाते अकबरी, भाग 1, पृ. 348 ; फरिश्ता, ब्रिग्स, भाग 1, पृ. 591-95 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V , पृ. 13.
2. मुश्ताकी, पृ. 81.
3. अहमदयादगार, पृ. 76 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V , पृ. 14.
4. वही, पृ. 22; मुश्ताकी, पृ. 81.
5. मुश्ताकी, पृ. 82.

होकर समूचे देश में विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित कर दी । परिणामस्वरूप सम्पूर्ण देश विरोध व विद्रोह की आग में जलने लगा।[1]

यदि यह कहा जाय कि इब्राहिम लोदी ने अमीरों के प्रति विरोधी नीति अपनाकर स्वयं अपने ही हाथों से साम्राज्य को अंतिम चरण में पहुँचाने का जघन्य अपराधपूर्ण कार्य किया[2], तो अतिशयोक्ति न होगी।

इब्राहिम के इस निर्दयतापूर्ण व्यवहार से जहाँ एक ओर देश के अन्य भागों में उसके प्रति विद्रोहात्मक अग्नि प्रज्वलित हो रही थी वहीं दूसरी ओर पूर्वी प्रांत विशेषकर बिहार भी, जो बहुत समय पश्चात् एक स्वतंत्र राज्य के रूप में विकसित हुआ था, इससे अछूता न रहा।[3] इसका प्रमुख कारण था बिहार के हाकिम दरिया खाँ नूहानी[4] को इब्राहिम लोदी द्वारा समाप्त किये जाने की योजना।[5] यह खबर सुनकर दरिया खाँ सशंकित हो गया। चूँकि भय तथा आतंक के कारण अपनी-अपनी सुरक्षा का दायित्व स्वयं पर आ गया था, इसलिए दरिया खाँ नूहानी ने भी अपनी सुरक्षा की पूर्ण तैयारी कर ली और सुल्तान से असन्तुष्ट अमीरों जैसे- खाने-जहाँ लोदी, मियां हुसैन फार्मुली की सहायता से विद्रोह की पताका बुलंद कर दी।[6]

---

1. फर्स्ट अफगान एम्पायर, पृ. 165, युसूफ हुसैन : इण्डो मुस्लिम पालिटी, पृ. 183.
2. इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 13.
3. फर्स्ट अफगान एम्पायर, पृ. 165.
4. सिकन्दर लोदी के काल में इसे बिहार की इक्ता (विलायत) (901 हि., 1496 ई. में) प्रदान की गयी थी। बिहार, बंगाल, उड़ीसा की सीमायें उसके शासन क्षेत्र से सम्बन्धित थी.
5. मुश्ताकी, पृ. 82 पर कमलखान कम्बो, हुसैनखान सूर का नाम स्पष्ट लिखता है, जिनके सहयोग से इब्राहिम दरिया खाँ नूहानी को समाप्त करना चाहता था.
6. इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 22, फु. नो. 4; फर्स्ट अफगान एम्पायर, पृ. 194, इक्तदार हुसेन सिद्दिकी : सम आस्पेक्टस ऑफ अफगान डिस्पोटिज्म इन इंडिया, पृ. 50.

अफसानये-शहान का लेखक शेख कबीर लिखता है कि पूर्व में गाजीपुर का गवर्नर नासिर खाँ नूहानी भी दरिया खाँ नूहानी के साथ इब्राहिम के विरुद्ध मिल गया था।[1]

इब्राहिम के आंतक से असन्तुष्ट अमीरों ने दरिया खाँ नूहानी जैसे विशिष्ट नेता की छत्रछाया के अन्तर्गत सम्मिलित होकर सुल्तान की आज्ञाकारिता त्याग दी और इब्राहिम लोदी के विरुद्ध विरोधी शस्त्र उठा लिया । परिणामस्वरूप देखते ही देखते विद्रोह ने शीघ्र ही उग्र रूप धारण कर लिया।[2] यद्यपि इब्राहिम ने इस विद्रोह को दबाने का पूरा प्रयास किया पर उसे सफलता न मिल सकी।

कुछ दिनों पश्चात् दरिया खाँ नूहानी की अचानक मृत्यु के बाद भी क्रांतिकारी नेताओं ने सुल्तान के विरुद्ध अपना विरोध जारी रखा और दरिया खाँ के स्थान पर उसके पुत्र बिहार खाँ नूहानी को "सुल्तान मुहम्मदशाह" की उपाधि प्रदान कर बिहार का सुल्तान घोषित कर दिया।[3] पिता के अस्तित्व को बनाये रखने के उद्देश्य से बिहार खाँ ने सुल्तान मुहम्मदशाह की पदवी के साथ-साथ

---

1. शेख कबीर : अफसानये शहान, ब्रिटिश म्यूजियम पांडुलिपि संख्या 24409, पृ. 49 ब ; रिजवी : उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग 1, पृ.381.
2. मुश्ताकी, पृ. 82 ; डार्न बैन्हार्ड, हिस्ट्री ऑफ अफगान्स, भाग 1, 1829, लंदन, पृ. 76 ; अर्सकीन, भाग 1, पृ. 412 ; इक्तदारहुसैन सिद्दिकी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ अफगान डिस्पोटिज्म इन इण्डिया, पृ. 50.
3. बाबर बिहार खाँ का पूर्व के अफगानों के सरदार व पादशाह के रूप में उल्लेख करता है , बाबरनामा, अ. अनु., पृ. 523.
   फरिश्ता लिखता है कि उसने सुल्तान मुहम्मदशाह की उपाधि धारण की थी, फरिश्ता, ब्रिग्स, भाग II, पृ. 65.

अपने नाम का खुतबा पढ़वाया और सिक्के भी जारी करवाये ।[1] इसके अतिरिक्त उसने सुल्तान इब्राहिम से असंतुष्ट अमीरों का समर्थन प्राप्त कर लगभग एक लाख[2] घुड़सवारों की एक बड़ी सेना एकत्र कर ली और बिहार से लेकर सम्भल तक का सारा क्षेत्र अपने अधिकार में कर लिया।[3]

पूर्व में इस प्रकार दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुयी विद्रोही प्रवृत्ति को साम्राज्य व स्वयं के हित में घातक समझकर इब्राहिम ने मुस्तफा फारमुली तथा फिरोज-खान सारंगखानी व अन्य प्रमुख अधिकारियों सहित एक बड़ी सेना, इस विद्रोही प्रवृत्ति का दमन करने के उद्देश्य से पूर्व की ओर भेजी ।[4] निजामुद्दीन अहमद लिखता है कि सुल्तान मुहम्मद, इब्राहिम लोदी की सेनाओं से युद्ध करके उसका मुकाबला करता रहा।[5]

दिल्ली के सुल्तान इब्राहिम लोदी के जिद्दी व हठी स्वभाव तथा अमीरों के प्रति विरोधात्मक नीति के कारण जहाँ साम्राज्य में चारों ओर अराजकता,

---

1. अब्बास : तारीखे शेरशाही, ढाका, 1964, पृ. 47.
2. अहमदयादगार, पृ. 87 में लिखता है कि सुल्तान मुहम्मद ने 80 हजार सैनिक एकत्र किये थे, परन्तु अन्य तत्कालीन इतिहासकारों ने 1 लाख सेना की संख्या का ही वर्णन किया है, जैसे फरिश्ता, भाग 1, पृ.191 ; अब्दुल्ला, पृ.99 ; मुश्ताकी, पृ. 82 ; तबकाते अकबरी, पृ. 351 ; रिजवी : उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग 1, पृ. 161 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V , पृ. 106.
3. निजामुद्दीन अहमद स्पष्ट लिखता है कि उसने बिहार से सम्भल तक का क्षेत्र अपने अधीन कर लिया था, परन्तु अब्दुल्ला लिखता है कि -बिहार खाँ ने बिहार से बंगाल तक की विलायत अपने अधिकार में की थी. तबकाते अकबरी, भाग 1, पृ. 351 ; अब्दुल्ला, पृ. 99.
4. बाबरनामा, पृ. 527.
5. तबकाते अकबरी, पृ. 527 , अफ्सानये शहान का लेखक शेख कबीर लिखता है कि इब्राहिम और सुल्तान मुहम्मद के मध्य यह युद्ध हसुआ नामक ग्राम में हुआ था । अफ्सानये शहान, रियु भाग 1, पृ. 49 ब.

अव्यवस्था एवं अस्थिरता का साम्राज्य छाया हुआ था[1], वहीं पूर्वी क्षेत्र के साथ-साथ पंजाब भी इससे प्रभावित हुये बिना न रह सका । इसका प्रमुख कारण था, पंजाब का गवर्नर दौलत खाँ लोदी भी अन्य अमीरों की तरह अपने पुत्र दिलावर खाँ को इब्राहिम लोदी द्वारा कैद कर लिये जाने के कारण, सुल्तान लोदी से असंतुष्ट था, फलतः दिल्ली की सुरक्षा और अमीरों के हित को ध्यान में रखते हुये, इब्राहिम की कैद से भागकर आये अपने पुत्र दिलावर खाँ को भारत की तत्कालीन परिस्थिति से निबटने व इब्राहिम के अतिरिक्त किसी अन्य की संप्रभुता स्वीकार करना श्रेयस्कर समझकर फरगना के शासक जहीरूद्दीन मुहम्मद बाबर के पास काबुल भेजा और भारत पर शीघ्र आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया (930 हि॰ , 1522-23 ई॰ में)।[2]

बाबर के लिये यह स्वर्णिम अवसर था, जबकि वह अपनी वर्षों की भारत विजय की लालसा को पूर्ण कर सकता था, क्योंकि भारतीय राजनीतिक परिवेश में इस समय ऐसी कोई शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता व संगठित प्रशासन प्रणाली नहीं थी, जो विदेशी आक्रान्ता-बाबर को परास्त कर भारतीय सीमा से बाहर रखने की

---

1. अब्दुल्ला, पृ॰ 100॰
2. बाबरनामा जो सही जानकारी प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण साधन है, से स्पष्ट पता चलता है कि दौलत खाँ लोदी ने 930 हि॰ (1522-23 ई॰) में अपने पुत्र दिलावर खाँ को काबुल बाबर के पास भेजकर इब्राहिम के दुर्व्यवहार से अवगत कराया और बाबर को हर तरह से सुयोग्य समझकर भारत पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया था। बाबरनामा, पृ॰440 । बाबरनामा के इस लेख की पुष्टि अन्य लेखों से भी होती है - अहमदयादगार, पृ॰ 87 ; फरिश्ता गल्ती से दिलावर खाँ को गाजी खाँ लिखता है, फरिश्ता, ब्रिग्स, भाग II, पृ॰ 24-25 ; फर्स्ट अफगान एम्पायर, पृ॰ 202 ; इण्डो मुस्लिम पालिटी, पृ॰ 186॰ कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि दौलत खाँ लोदी बाबर के पास काबुल स्वयं गया था, उसका पुत्र दिलावर खाँ नहीं । इनमें प्रमुख हैं - निजामुद्दीन अहमद : तबकाते अकबरी, पृ॰ 351 ; मुश्ताकी, पृ॰ 84 ; रिजवी : उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग 1, पृ॰ 162॰

क्षमता रखती हो, फलतः सुअवसर देख बाबर ने बिना समय नष्ट किये ही इस निमंत्रण को स्वीकार कर लिया और अन्ततः भारत अभियान का दृढ़ निश्चय कर काबुल से 17 नवम्बर 1525 ई. को भारत की ओर अंतिम रूप (पाँचवीं बार) से प्रयाण किया ।[1]

केन्द्रीय शक्ति का ह्रास

बाबर ने भारत की सरहद में प्रवेश कर लगभग 12 हजार[2] सवारों की सहायता से 8 रजब 932 हि. (20 अप्रैल 1526 ई.) को पानीपत के मैदान में लोदी वंश के अंतिम शासक इब्राहिम लोदी की एक बड़ी अफगान सेना (1 लाख)[3] के बावजूद भी तुगलुमा रणनीति द्वारा पराजित कर गौरवशाली विजय प्राप्त की

---

1. बाबरनामा, बेवरीज, पृ. 445 ; फरिश्ता, ब्रिग्स, भाग II , पृ.26.
2. बाबरनामा, पृ. 480 ; फरिश्ता, ब्रिग्स II, पृ. 31 ; हुमायूँनामा, अ.अनु., पृ. 74 से पता चलता है कि बाबर की सैन्य संख्या 12 हजार थी, परन्तु अब्दुल्ला पृ. 176 में लिखता है कि "बाबर के सवारों की संख्या 15000 थी ।" रशब्रुक विलियम बाबर की सैन्य संख्या 8000 बताते हैं । उनका कहना है कि इन्हीं की सहायता से उसने पानीपत के युद्ध में विजय प्राप्त की । ऐन एम्पायर बिल्डर ऑफ दि सिक्सटींथ सेंचुरी, पृ.127,132.
3. बाबर लिखता है कि "पानीपत के युद्ध में इब्राहिम की सेना में 1 लाख सैनिक व 1 हजार हाथी थे।" बाबरनामा, पृ. 470. बाबरनामा की इस संख्या की पुष्टि अब्दुल्ला एवं फरिश्ता द्वारा भी होती है, अब्दुल्ला, पृ. 134 ; फरिश्ता, पृ. 204 परन्तु गुलबदन बेगम हुमायूँनामा में इब्राहिम की सैन्य संख्या इन सबसे अलग बताती है। वह लिखती है कि "इब्राहिम के सेना की संख्या में 1 लाख 80 हजार घोड़े व 1500 हाथी थ, हुमायूँनामा, अ.अनु., पृ. 94 ; अहमदयादगार, पृ. 95 में 50 हजार घोड़े व 2 हजार हाथियों का जिक्र करता है जबकि डार्न, भाग 1, पृ. 78 में 1 हजार हाथियों के स्थान पर 500 हाथियों का वर्णन करता है.

और हिन्दुस्तान का राज्य लगभग 75[1] वर्षों बाद लोदी वंश से निकलकर शक्तिशाली मुगलवंश के अधीन होगया ।[2] जिसने कई शताब्दी तक भारत के राजनीतिक प्रशासनिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र को प्रभावित किया। दूसरे शब्दों में केन्द्रीय शक्ति (अफगान सत्ता) का सदैव के लिए अन्त हो गया।

बाबर स्वयं इस विजयश्री के बारे में लिखता है कि "जब युद्ध प्रारम्भ हुआ तो सूर्य भाले के बराबर ऊँचा चढ़ चुका था। यह मध्यान्ह तक चलता रहा । शत्रु की सेना में भगदड़ मच गयी । उन्हें पराजय का आलिंगन करना पड़ा जबकि मेरे मित्र हर्ष एवं विजयोल्लास से भरे हुये थे । सर्वशक्तिमान ईश्वर की अनुकम्पा से यह कठिन कार्य मेरे लिये सरल हो गया और वह शक्तिशाली सेना आधे दिन में ही मिट्टी में मिल गयी।"[3]

गुलबदन बेगम इस युद्ध के सम्बन्ध में लिखती हैं कि -"बड़े प्रयास के पश्चात् इसने देश के एक बादशाह इब्राहिम लोदी का सदैव के लिए अंत कर दिया"।[4]

एच.जी.कीन इस विजय के सम्बन्ध में लिखते हैं कि -"बड़े प्रयास के पश्चात् देश के एक बादशाह का अंत व दूसरे बादशाह का सिंहासनारोहण हुआ।"[5]

---

1. अब्दुल्ला, पृ. 104, 74 वर्ष, 1 मास, 8 दिन तक लोदी सुल्तानों के शासनकाल का वर्णन करता है।
2. बाबरनामा, पृ. 472-74 ; तबकाते अकबरी, 1, पृ. 352 ; रिजवी : उत्तर कालीन भारत, भाग 1, पृ. 239 ; स्टेनली लेनपूल, बाबर, दिल्ली 1971, पृ. 166 ; ऐन एम्पायर बिल्डर ऑफ सिक्स्टींथ सेंचुरी, पृ. 137.
3. बाबरनामा, पृ. 474 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV , पृ. 192.
4. हुमायूँनामा (अ.अनु.), पृ. 78-79 ; फरिश्ता के द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है - फरिश्ता, ब्रिग्स, भाग II, पृ. 31.
5. एच.जी. कीन, दि टर्क्स इन इंडिया, दिल्ली 1977, पृ. 31.

रशबुक विलियम्स इस विजय के सम्बन्ध में लिखते हैं कि -"पानीपत का युद्ध बाबर के भारत विजय की योजना के द्वितीय चरण का अंत था। वे आगे पुनः लिखते हैं कि यदि कोई भौतिक कारण उसके भारत विजय में सहायक था तो वह था उसका शक्तिशाली तोपखाना।"[1]

वास्तव में इस युद्ध ने प्रथम अफगान साम्राज्य का अंत कर मुगल साम्राज्य की स्थापना द्वारा मध्ययुगीन इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ कर दिया। इसके मूल कारणों पर यदि हम दृष्टि डालें तो स्पष्ट परिलक्षित होता है कि - "भारतीय राजनीतिक पटल पर मुगल सत्ता को अधिष्ठित कराने में इब्राहिम की स्वयं की कठोर नीति व उसके अपने ही अनुयायियों का उसके प्रति निष्ठावान न होना था।"

एक लम्बे प्रयास के पश्चात् किस प्रकार बाबर ने यह हिन्दुस्तान का साम्राज्य प्राप्त किया। इस सम्बन्ध में वह स्वयं लिखता है कि -"925 हि. से लेकर 932 हि. {1519-26 ई.} तक मैं लगातार हिन्दुस्तान के मामलों से विशेष रूप से जुड़ा रहा । इन सात-आठ वर्षों में मैंने सेना लेकर भारतीय सीमा तक पहुँचने के लिए 5 बार प्रवेश किया {1519, 20, 24, 24, 25 ई.} । पाँचवीं बार महाप्रभु ने अपनी कृपा एवं दया से सुल्तान इब्राहिम जैसे शक्तिशाली शत्रु को पराजित किया और मुझे हिन्दुस्तान के सबल शक्तिशाली साम्राज्य का विजेता और मालिक बना दिया"।[2]

पूर्व का प्रश्न

बिहार में नूहानी प्रभुत्व

यद्यपि बाबर ने दिल्ली की गद्दी प्राप्त तो कर ली थी, परन्तु साम्राज्य-

---

1. ऐन एम्पायर बिल्डर ऑफ सिक्स्टींथ सेंचुरी, पृ. 111, 137 ; फर्स्ट अफगान एम्पायर, पृ. 211.
2. बाबरनामा, पृ. 478-79 ; फरिश्ता भी इसका समर्थन करता है फरिश्ता, ब्रिग्स, भाग II, पृ. 31 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 194.

वादी नाटक का अभी तक न तो अंत हुआ था और न ही मुगल समस्याओं का हल निकल पाया था। पराजित हो जाने के बाद भी अफगानों (लोदी, फार्मुली, नूहानी) ने इब्राहिम की पराजय को अपनी पराजय मानने से इन्कार कर दिया फलतः देश में मुगल साम्राज्य की स्थापना से अराजकता एवं अशान्ति का वातावरण उत्पन्न हो गया। भारतीयों को पूरा विश्वास था कि बाबर भी अन्य आक्रमणकारियों की तरह लूट-पाट कर वापस स्वदेश चला जायेगा, परन्तु यह जानकर कि बाबर स्वयं भारत में अपनी सत्ता कायम करना चाहता है, उनमें असन्तोष की लहर फैलने लगी । अफगानों और मुगलों के आपसी द्वेष के सम्बन्ध में बाबर स्वयं लिखता है कि -"जब मैं विजय के पश्चात् आगरा पहुँचा तो मेरे आदमियों में और वहाँ के निवासियों में गहरी शत्रुता थी। ये लोग एक दूसरे को बिल्कुल पसंद नहीं करते थे । इस देश के किसान और सैनिक मेरे आदमियों से बचते थे और यहाँ तक कि देखकर भाग भी जाते थे। दिल्ली और आगरे के अलावा सर्वत्र लोगों ने विभिन्न स्थलों पर किलेबन्दी कर ली और कस्बों के हाकिमों ने अपने किलों को अपनी पूर्ण सुरक्षा के लिए तैयार कर लिया था। इन्होंने मेरे अधीन होने या मेरी आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। .... कन्नौज और गंगा के दूसरी ओर का सारा बिहार सहित पूर्वीय क्षेत्र नासिर खाँ नूहानी, बिहार खाँ नूहानी, मारूफ-फार्मुली आदि कई अन्य अमीरों जैसे विद्रोही अफगानों के कब्जे में था। इब्राहिम की मृत्यु के 3-4 वर्ष पूर्व से ही ये लोग खुले तौर पर विद्रोह कर रहे थे । जब मैंने इब्राहिम को हराया तो इन लोगों ने कन्नौज और उसके आस-पास के इलाकों को जीतकर अपने कब्जे में कर लिया था। वर्तमान समय में कन्नौज से 2,3 कदम हमारी ओर बढ़कर इन्होंने डेरे लगा दिये थे और दरिया खाँ नूहानी के पुत्र बिहार खाँ को सुल्तान मुहम्मद की उपाधि से विभूषित कर अपना पादशाह बना लिया था।"[1]

---

1. बाबरनामा, पृ. 523 ; फरिश्ता, पृ. 205 , ब्रिग्स, भाग II, पृ. 31 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV , पृ. 198 ; रशब्रुक विलियम्स, पृ. 140, राधेश्याम, बाबर, पटना 1974, पृ. 283.

उपर्युक्त लेख से यह स्पष्ट होता है कि -"पानीपत के युद्ध में पराजित होने के बावजूद भी अफगानों ने अपनी पराजय को गले नहीं लगाया था। इन्होंने इस हार को अपनी हार मानने से इन्कार कर दिया था। वे अभी तक ये नहीं भूल पाये थे कि अफगान कुछ समय पूर्व दिल्ली के बादशाह थे । वास्तव में यह समय अफगान मुगल सम्बन्ध की दृष्टि से एक कठिन समय था और बाबर जैसे सकुशल सेना-नायक के परीक्षा की घड़ी थी।"

ऐसी विकट परिस्थिति ने बाबर के समक्ष एक प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दिया। बाबर के सामने केवल दो उपाय ही शेष थे - एक तो वह स्वदेश वापस चला जाय, अथवा इन विषम परिस्थितियों से समझौता कर उनका डट कर मुकाबला करें। लम्बे संघर्ष के पश्चात् उसने अपनी भारत विजय लालसा को पूर्ण किया था, जिसे वह किसी भी कीमत पर खोने को उद्यत नहीं था, परिणामस्वरूप उसने अपने अधिकारियों और सलाहकारों के निर्णय के आधार पर विरोधी तत्वों से डटकर सामना करने व स्वदेश वापस न जाने का दृढ़ निश्चय किया। इतिहास साक्षी है कि उसे उस कठिन-परीक्षा में पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुयी।

बाबर ने अपने दृढ़ निश्चय के आधार पर विरोधियों से (राजपूतों और अफगानों से) निबटने का साहसिक कदम उठाया। यद्यपि पूर्व में अफगानों की मुगलों के प्रति उग्र विरोध की समस्या, बाबर के सामने अत्यधिक जटिल थी, पर इनके अतिरिक्त और भी महत्वपूर्ण शक्तियाँ ऐसी थी जो अपना सिर उठाये खड़ी थीं और बाबर के साम्राज्यवादी नीति में बाधक थी जिनमें दक्षिण पश्चित में राजपूत-शक्ति (मेदनीराय, राणा संग्रामसिंह) प्रमुख थी। बाबर ने पूर्वीय क्षेत्र के अफगानों से पूर्व दक्षिण पश्चिम की शक्तियों से निबटने का निश्चय किया और खानवा (1527 ई. में राणा संग्राम सिंह के साथ) तथा चन्देरी (1528 ई. मेदनीराय के साथ) के युद्ध में इन वीर बाकुड़ों को पराजित कर अपना ध्यान उन अफगान शक्तियों की ओर 1528 ई. के पश्चात् पूरी तरह लगाया जो उत्तरी क्षेत्रों से बेदखल कर दिये जाने के कारण पूर्व में जाकर बस गये थे और छुट-पुट आक्रमणों द्वारा पूर्वीय प्रदेश के

छोटे-छोटे स्थलों पर अधिकार जमाकर मुगलों को हतोत्साहित किया करते थे और उसे मुगलों के विरोध का प्रमुख गढ़ बना लिया था, जिनमें प्रमुख थे - बिहार एवं बंगाल ।

नूहानी प्रभुत्व

बिहार में इस समय नूहानी[1] अफगानों का प्रभुत्व कायम था । इब्राहिम की अमीरों के प्रति विरोधी नीति से निबटने के लिए पानीपत के युद्ध §1526 ई.§ से पूर्व ही इन अफगान सरदारों ने दरिया खाँ नूहानी की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र बिहार खाँ को अपना नेता चुना और उसे सुल्तान मुहम्मद की पदवी देकर जौनपुर और बिहार का स्वतंत्र शासक 1521 ई. में घोषित कर दिया।[2] इस प्रकार पानीपत

---

1. "नूहानी" अफगानों की ही एक कौम थी। भारतीय मध्यकालीन इतिहास में नूहानियों का आगमन बहलोल लोदी के शासनकाल से ही प्रारम्भ होता है। नूहानियों के इतिहास में प्रथम मुबारक खाँ नूहानी का उल्लेख मिलता है जो बहलोल लोदी और सिकन्दर लोदी के काल में कड़ा का गवर्नर था। मुबारक खाँ के पश्चात् खाने खानन नूहानी, मियरा खाँ नूहानी, दरिया खाँ नूहानी, नासिर खाँ नूहानी व वर्तमान मुहम्मद खाँ नूहानी का क्रमशः उल्लेख मिलता है। दरिया खाँ, नासिर खाँ नूहानी, मुबारक खाँ के पुत्र थे ।

   अफगानों में सर्वप्रथम जिस नाम को श्रेष्ठता प्राप्त हुयी, वह लोदी था। न्याजी, शाहूखेल, सूर, नूहानी, बेनी अथवा सरक ये सब लोदी की सन्तानें हैं, यद्यपि इनकी अनेक किस्में हैं । अफसानये शहान, रियु भाग 1, पृ. 5 ब ; रिजवी : उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग 1, पृ. 359 ; फरिश्ता, ब्रिग्स, भाग 1, पृ. 332.

2. अफसानये शहान, 49 ब, बाबरनामा, पृ. 523, 684 ; तबकाते अकबरी, भाग II, §अ.अनु.§, पृ.92 ; अर्सकीन, भाग II, पृ. 120, ब्रिग्स, भाग II, पृ. 31, 65 ; रिजवी : उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग 1, पृ.38 ; डॉ. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय §हि.अनु.§, पृ. 73.

के युद्ध से पूर्व ही पूर्वी क्षेत्र विशेषकर बिहार अफगान विद्रोहियों का प्रमुख केन्द्र बन चुका था। इन अफगान विद्रोहियों का प्रमुख उद्देश्य इब्राहिम लोदी की केन्द्रीय सत्ता को शक्तिहीन बना देना था।[1] इस उद्देश्य से अफगान नेता सुल्तान मुहम्मद ने शीघ्र ही 50 हजार सैनिक एकत्र किये और जौनुपर पर आक्रमण कर उसे विजित कर लिया।[2] तत्पश्चात् सुल्तान इब्राहिम लोदी से असन्तुष्ट पूर्व के अमीरों का भी उसे पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ । इनमें प्रमुख थे - गाजीपुर के गवर्नर नासिर खाँ नूहानी और कन्नौज का मुक्ता मारूफ फारमुली । इन्होंने अपनी सेना एकत्र कर एक साथ संयुक्त कर ली ।[3]

सुल्तान मुहम्मद को इन दोनों नेताओं का पूर्ण समर्थन प्राप्त हो जाने से उसकी शक्ति का विस्तार हुआ और अब उसने नासिर खाँ व मारूफ फारमुली के नेतृत्व में 40 से 50 हजार तक सैनिक भेजकर 1526 ई. में ही कन्नौज पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया।[4] इसकी पुष्टि बाबरनामा से भी होती है। बाबर

---

1. अवस्थी, पृ. 12 ; राधेश्याम, बाबर, पृ. 289.
2. सुल्तान मुहम्मद ने जौनुपुर के सुल्तान फिरोजखान पर आक्रमण कर उसे भागने को विवश कर दिया और जौनपुर विजित कर मुगलों को परेशानी में डाल दिया - अवस्थी, पृ. 12.
3. मखजन-ए-अफगाना में नियामतउल्लाह ने यह बात स्पष्ट रूप से कही है कि- "नासिर खाँ नूहानी सुल्तान इब्राहिम की सेना से पराजित होने के पश्चात् बहादुर खाँ (सुल्तान मुहम्मद) के साथ शामिल हो गया - नियामतउल्लाह, पृ. 137.

   मुश्ताकी लिखता है कि -"मियाँ मुश्तफा ने इब्राहिम की ओर से गाजीपुर को लूट लिया और नासिर खाँ को निर्वासित कर दिया, फलतः नासिर खाँ नूहानी सुल्तान मुहम्मद के पास शरण लेने को बाध्य हुआ - मुश्ताकी, पृ. 83 ; इलियट एण्ड डाउसन, भागV , पृ. 105 ; अवस्थी, पृ. 30.
4. राधेश्याम : बाबर, पृ. 289.

लिखता है कि -"पूर्व के प्रतिष्ठित अमीर नासिर खाँ नूहानी व मारूफ फारमुली के नेतृत्व में 40 से 50 हजार सैनिकों को भेजकर सुल्तान मुहम्मद ने कन्नौज तक के पूरे क्षेत्र पर अपना अधिपत्य स्थापित कर लिया था जबकि स्वयं वह ﴾बिहारखाँ﴿ बिहार में ही रूका रहा।"[1] इस प्रकार जौनपुर से लेकर कन्नौज तक का सारा प्रदेश बिहार खाँ के हाथों में आ गया।[2] कुछ अन्य इतिहासकारों की धारणा है कि उसने सम्भल से लेकर बिहार तक का सारा क्षेत्र इस समय तक अपने अधिकार में कर लिया ।[3]

डॉ॰ कालिका रंजन कानूनगो लिखते हैं कि -"1526 ई. में जब अफगानों को यह सूचना मिली कि पंजाब में दौलत खाँ लोदी को एक ओर रखकर बाबर दिल्ली की ओर प्रयाण कर रहा है तो पूर्वी प्रान्तों में आंतक छा गया। इस आंतक के कारण पूर्वीय क्षेत्र की नूहानी, फार्मुली और अन्य दूसरी अफगान जातियों का एक संघ बन गया । देखते ही देखते बिहार खाँ के झंडे के नीचे एक लाख सेना एकत्र हो गयी।[4]

ऐसा प्रतीत होता है कि इतनी बड़ी संख्या में अपनी शक्ति को विस्तृत करने का उनका एकमात्र उद्देश्य था अपनी नूहानी सत्ता को स्थापित करना जबकि इस समय लोदी अफगान सत्ता का प्रभुत्व कायम था। लोदी सुल्तान की अत्याचार-पूर्ण नीति से उबकर ये उसकी समाप्ति की कामना करने लगे थे और पानीपत के युद्ध में उनकी इस कामना की पूर्ति भी हुयी, जिससे नूहानी व फार्मुली अफगान जातियों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी परन्तु उनकी यह प्रसन्नता उस समय निराशा में बदल गयी जब उन्हें पता चला कि मुगल भारत में स्थायी रूप से बसने

---

1. बाबरनामा, पृ॰ 530॰
2. राधेश्याम : बाबर, पृ॰ 289॰
3. तबकाते अकबरी, भाग 1, पृ॰ 351 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V ,पृ॰ 106॰
4. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ॰ 73॰

के लिए कटिबद्ध है । उन्हें पूर्ण विश्वास था कि मुगल युद्ध कर स्वदेश वापस लौट जायेंगे परन्तु मुगलों के दृढ़ निश्चय[1] को देखकर इब्राहिम लोदी की पराजय को अपनी पराजय न स्वीकार कर इन्होंने बाबर की अधीनता मानने से इन्कार कर दिया और अपनी शक्ति (1 लाख सैनिक शक्ति) के बल पर मुगलों से लड़कर अफगान प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प लिया।[2]

अफगानों द्वारा मुगलों के विरुद्ध इस प्रकार के दृढ़ निश्चय व बढ़ती हुयी उनकी शक्ति तथा राजपूतों (राणा संग्रामसिंह, मेदनीराय आदि) के बढ़ते हुये चरणों को देखकर बाबर चिंतित हुआ । बाबर द्वारा इस प्रकार की चिंता तत्कालिक परिस्थितियों को देखते हुए स्वाभाविक भी थी, क्योंकि एक विदेशी के रूप में दूसरे देश में प्रवेश व उसकी सार्वभौमिकता को सामान्य जनता द्वारा स्वीकार कर लेना स्वयं में एक अनूठा प्रश्न है । किसी भी विदेशी की सार्वभौमिकता को वहाँ की जनता के द्वारा सहजता से स्वीकार लेना किसी देश महान् की श्रेष्ठता के लिए धब्बा सा प्रतीत होता है। अतः बाबर जैसे विदेशी आक्रान्ता को भारत जैसे महान् देश की जनता द्वारा शासक के रूप में स्वीकारना सहजपूर्ण कार्य नहीं था। इस दृष्टि से एक ओर जहाँ बाबर जैसे विदेशी को भारत की जनता अपना नेता सहर्ष स्वीकार करने को तैयार नहीं थी वहीं दूसरी ओर बाबर को इस विरोध की स्थिति में दो तरफ से युद्ध की भी आशंका थी। एक पूर्वीय अफगानों से और दूसरा राजपूत शक्ति राणा संग्रामसिंह से । फलतः बाबर ने इस स्थिति से निबटने के लिए तुर्कों तथा हिन्दुस्तानी अमीरों को बुलाकर उनसे परामर्श लिया कि -"जबकि वह भारत में स्थायी रूप से रहना चाहता है और राजपूत तथा अफगान विद्रोह उसकी आकांक्षा को पूरा करने में बाधक सिद्ध हो रहे थे, ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए ? पहले

---

1. बाबर ने दिल्ली में रहकर जब 1 महीने कुछ दिन ही व्यतीत किये थे, तो अफगानों ने उसकी उपस्थिति को अपने लिए घातक समझकर सिर उठाना प्रारंभ कर दिया ।-इलियट एण्ड डाउसन, भागV , पृ. 34.
2. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 73.

अफगानों के विरुद्ध बढ़ना चाहिये या राजपूतों के विरुद्ध । सभी तुर्की तथा अमीरों ने सर्व सम्मति से अफगानों के विरुद्ध प्रथमतः बढ़ने का परामर्श दिया । इस अवसर पर हुमायूँ ने स्वयं पूर्वीय क्षेत्र की ओर बढ़कर अफगानों पर आक्रमण करने की इच्छा प्रकट की जबकि बाबर स्वयं इस अभियान का नेतृत्व करना चाहता था। बाबर तथा अमीरों ने सर्वसम्मति से हुमायूँ की इस इच्छा का स्वागत किया और उसे पूर्वीय अभियान के लिए नियुक्त किया । उसकी सहायता के लिए सुल्तान जुनैद-बरलास, मेंहदी ख्वाजा, सुल्तान मुहम्मद मिर्जा इत्यादि को अपनी सेना सहित जाने की आज्ञा दी गयी।[1] हुमायूँ भी आज्ञानुसार अफगानों के विरुद्ध कूच किया।

डॉ. हरिशंकर श्रीवास्तव ने हुमायूँ द्वारा किये गये पूर्वीय अभियान की इस श्रृंखला की, भारत में अफगानों के विरुद्ध, उसके द्वारा किया गया प्रथम नेतृत्व माना है । उनका कहना है कि -"यह भारत में उसका अफगानों के विरुद्ध प्रथम स्वतंत्र नेतृत्व था।"[2]

बाबर लिखता है कि -"आगरे से तीन कुरोह की दूरी पर (एटा जिले में) जलेसर नामक गाँव में हुमायूँ एक रात 21 अगस्त को ठहरा । वहाँ उससे सुल्तान मुहम्मद, सुल्तान मिर्जा तथा मेंहदी ख्वाजा मिले और 29 अगस्त 1526 ई. को हुमायूँ उनके साथ होता हुआ शत्रु की ओर रवाना हुआ।[3] नासिर खाँ नूहानी और मारूफ फार्मुली के नेतृत्व में अफगानों ने कन्नौज तथा जाजमऊ[4] पर अधिकार कर

---

1. बाबरनामा, पृ. 530-31 ; रिजवी : मुगलकालीन भारत, बाबर, पृ. 210 ; हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल सम्राट हुमायूँ, पृ. 17 परन्तु अहमदयादगार लिखता है कि मिर्जा कामरान को अमीर कुली बेग के साथ अफगान विद्रोहियों को दबाने के लिए भेजा गया था, उद्धृत : मुगलकालीन भारत, बाबर, पृ. 455.
2. अवस्थी, पृ. 17.
3. बाबरनामा, पृ. 531 ; अवस्थी, पृ. 30.
4. जाजमऊ गंगा के तट पर स्थित कानपुर के दक्षिण पश्चिम में है। वर्तमान समय में यह चमड़े की फैक्ट्री के लिए प्रसिद्ध है । -अवस्थी, पृ.30, फु.नो. 71.

लिया था और जाजमऊ के निकट ही 40-50 हजार की सेना के साथ डटे हुये थे ।[1]

मुगल सेना के पहुँचते ही अफगानों का साहस टूट गया, और वे भाग खड़े हुये । सुल्तान इब्राहिम के अमीर फतेहखाँ सरवानी ने डालमऊ[2] में आत्मसमर्पण कर दिया । उसे हुमायूँ ने बाबर के पास भेज दिया। वहाँ से गंगा नदी पार कर हुमायूँ ने जौनपुर पर आक्रमण किया और सरलता से दिसम्बर 1526 ई. (933 हि.) में उस पर अधिकार कर लिया।[3] यहाँ से हुमायूँ गाजीपुर की ओर अग्रसर हुआ, जहाँ अफगान सरदार नासिर खाँ नूहानी अपना पड़ाव डाले हुये था। यहाँ भी अफगानों ने युद्ध नहीं किया और घाघरा को पार कर पीछे की ओर हट गये । हुमायूँ ने एक टुकड़ी उनका पीछा करने के लिए भेजी और दूसरी टुकड़ी ने सुअवसर पाकर हुमायूँ के नेतृत्व में खरीद तथा बिहार को बुरी तरह लूटा।[4]

सुल्तान मुहम्मद नूहानी को, जो हुमायूँ का सामना करने के लिए जौनपुर तक बढ़ आया था, जौनपुर से भगाकर, हुमायूँ ने सुल्तान जुनैद बरलास तथा ख्वाजा शाह मीर हुसैन को जौनपुर का संयुक्त गवर्नर नियुक्त किया और फिरोज सारंगखानी, महमूदखान, काजी अब्दुल जब्बार खाँ इत्यादि को उनकी सहायता के लिए छोड़

---

1. बाबरनामा, पृ. 530,33.
2. डालमऊ बरेली के निकट गंगा नदी के दक्षिण पूर्व में है । - बाबरनामा, पृ. 534, फु.नो. 2 ; इम्पीरियल गजेटियर, भाग II, पृ. 127.
3. बाबरनामा, पृ. 544 ; तबकाते अकबरी, (अ.अनु.) (बी.डे.), भाग II, पृ. 31 ; अकबरनामा, भाग 1, पृ. 105 ; ऐन एम्पायर बिल्डर ऑफ सिक्स्टींथ सेंचुरी, पृ. 142.
4. बाबरनामा, पृ. 544 ; अवस्थी, पृ. 18.

दिया।[1] शेख बायजिद को अवध में नियुक्त कर दोआब होता हुआ वह कालपी पहुँचा । कालपी को आलमखाँ से छीनकर अपने अधीन करता हुआ 6 जनवरी 1527ई. को राजधानी आगरा वापस बाबर के पास पहुँचा ।[2]

यद्यपि हुमायूँ को पूर्व में अफगान विद्रोहियों के विरुद्ध निरंतर सफलता प्राप्त हुयी, जिसके फलस्वरूप मुगलों की प्रतिष्ठा भी दिन प्रतिदिन बढ़ती रही किन्तु इस अभियान का मुख्य लक्ष्य कदापि पूर्ण न हुआ । मुगल न तो अफगान समस्या को सुलझा पाये न पूर्ण रूप से अफगानों की विद्रोही प्रवृत्ति को ही कुचल पाये और न ही पूर्वीय क्षेत्र में अपनी स्थिति ही सुदृढ़ कर पाये । दूसरे शब्दों में वे पूर्णतया अफगानों को अपने पक्ष में नहीं कर पाये इसकी पुष्टि ईश्वरी प्रसाद के इस कथन से भी होती है । वे लिखते हैं कि -"पूर्वीय क्षेत्र के अफगानों को यद्यपि पराजित करने में हुमायूँ को सफलता प्राप्त नहीं हुयी फिर भी उसने उनका दर्प-चूर्ण कर उन्हें उन प्रदेशों से भगा दिया जहाँ उन्होंने गड़बड़ी मचा रखी थी।"[3]

डॉ. कानूनगो के लेख से भी इसी बात का संकेत मिलता है । वे लिखते हैं कि -"पूर्व में मुगलों की प्रतिष्ठा में वृद्धि तो हुयी परन्तु न तो वे अपनी स्थिति ही सुदृढ़ कर सके और न ही पूर्ण रूप से अफगानों को ही अपने पक्ष में कर सके ।"[4]

---

1. बाबर, काजी अब्दुल्ल जब्बार खाँ तथा फिरोज सारंगखानी का उल्लेख न कर, काजी जिया, जिसे शाहमीर हुसैन व जुनैद बरलास की सहायता के लिए छोड़ दिया गया था, का उल्लेख करता है - बाबरनामा, पृ. 544 परन्तु अकबरनामा (अनु.) भाग 1, पृ. 105 ; तारीखे जौनपुर, कलकत्ता मैनुस्कृप्ट, 15 ए में इन दोनों का नाम अंकित है, उद्धृत अवस्थी, पृ. 12, 31.
2. बाबरनामा, पृ. 544 ; अकबरनामा, भाग 1, पृ. 106.
3. ईश्वरी प्रसाद : दि लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 18.
4. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 292.

इससे स्पष्ट होता है कि यद्यपि मुगलों को अफगानों को शक्तिहीन करने का अपना लक्ष्य पूरा करने में पूर्ण सफलता तो प्राप्त नहीं हुयी थी, फिर भी हुमायूँ के नेतृत्व में मुगलों ने अफगानों को खदेड़कर, पूर्वी प्रदेश में कड़ा, जौनपुर, अवध, बहराइच के इलाकों को अपने अधिकृत कर लिया और उन्हें पुनः बिहार में शरण लेने को बाध्य किया । वास्तव में अफगानों की पराजय का प्रमुख कारण, सरदारों में सैनिक नेतृत्व एवं दूरदर्शिता का पूर्णतया अभाव प्रतीत होता है। उचित नेतृत्व एवं संगठन के अभाव के परिणामस्वरूप पूर्वीय क्षेत्रों में मुगलों का आधिपत्य हो जाने से नूहानी राज्य संकुचित होकर पूर्वी उत्तर प्रदेश के कुछ इलाकों तथा बिहार की सीमावर्ती क्षेत्र के कुछ परगनों तक ही सिमट कर रह गया ।[1]

जैसे ही हुमायूँ ने पूर्वी प्रदेशों की ओर से पीठ फेरी (और खानवा के युद्ध की ओर सक्रिय हुआ) हुमायूँ द्वारा खरीद[2] तथा सरन में बड़े पैमाने पर की गई सैनिक कार्यवाही ने बंगाल के शासक नुसरतशाह को सचेत कर दिया कि वह स्वयं अपने राज्य के सीमावर्ती क्षेत्रों की सुरक्षा का प्रबन्ध करें । फलतः नुसरतशाह ने खुल्लम-खुल्ला पूर्व के अफगानों का पक्ष लेना प्रारम्भ कर दिया । अपनी इस नीति को उचित ठहराने के लिए उसके पास मुगलों के विरुद्ध एक बहाना भी था कि मुगलों ने अनावश्यक ही उसके राज्य में घुसने की चेष्टा की है ।[3] इस दृष्टि से उसने सेनाध्यक्ष कुतुबशाह को बहराइच तक भेजा। कुतुबशाह ने हुमायूँ की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर अनिर्णयात्मक युद्ध किये ।इस प्रकार जौनपुर की छावनी में मुगलों को बहुत

---

1. इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 24.
2. वर्तमान समय में खरीद उत्तरप्रदेश के बलिया जिले में घाघरा नदी के दायें तट पर स्थित परगना है । - बाबरनामा, पृ. 544, फु.नो. 3.
   1527 ई. तक खरीद नुसरतशाह के अधीन रहा । सुल्तान मुहम्मद ने नुसरतशाह को खरीद और सरन का सूबा प्रदान किया था । - राधेश्याम : बाबर, पृ. 293, डि.ग. यूनाइटेड प्राविंसेज यू.पी. xxx, पृ. 44.
3. राधेश्याम : बाबर, पृ. 293.

कठिनाई के साथ अपना समय व्यतीत करना पड़ा। सुल्तान मुहम्मद, जिसके हाथों में गंगा नदी के दाहिनी ओर के प्रदेश (शाहाबाद, पटना, गया आदि) थे और सुल्तान नुसरतशाह जिसके हाथों में बंगाल के अतिरिक्त भागलपुर और मुंगेर के प्रदेश थे, दोनों मिलकर मुगलों को हिन्दुस्तान के पूर्वीय प्रदेशों से निकालने की योजना बनाने लगे। संक्षेप में हुमायूँ के पूर्वी प्रदेश से आगरा लौटने के पश्चात् पूर्वीय शक्तियों ने बिहार में मुगलों के विरुद्ध एक शक्तिशाली मोर्चा स्थापित कर दिया। दूसरे शब्दों में बिहार को मुगलों के विरोध का मुख्य केन्द्र बना लिया।[1]

पूर्वीय क्षेत्र में मुगलों की स्थिति अभी सुदृढ़ नहीं हो पायी थी कि पश्चिमी प्रदेशों में होने वाली घटनाओं की ओर बाबर का ध्यान आकर्षित हुआ। इस समय राणा सांगा भी मुगलों के विरुद्ध अपनी सेना तथा सहयोगियों के साथ बढ़ रहा था, जिसका परिणाम 17 मार्च, 1527 ई. में खानवा[2] के युद्ध के रूप में मुगलों के पक्ष में हुआ। खानवा के युद्ध के पश्चात् राजनीतिक क्षेत्र में अब बाबर का कोई शक्तिशाली विरोधी शेष न बचा, केवल चन्देरी के मेदनीराय को छोड़कर। बाबर को अब मेदनीराय की शक्ति क्षीण करनी बाकी थी और इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तान में अभी उसको बहुत सा कार्य करना शेष था। इसी बीच उसे सूचना मिली कि अनेक स्थानों से स्थानीय अधिकारियों ने मुगलों को भगा कर उन स्थानों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और बिहार में सुल्तान मुहम्मद नूहानी ने बाबर की व्यस्तता का लाभ उठाते हुये विद्रोही कार्यवाहियाँ प्रारम्भ कर दी हैं। सुल्तान मुहम्मद ने हिन्दाल पर आक्रमण कर उसे जौनपुर से भगा दिया और कुछ दूरी तक उसका पीछा भी किया तथा उसके सैनिकों को मार डाला। हिन्दाल प्राण बचाकर

---

1. राधेश्याम : बाबर, पृ. 293 ; प्रो. हसन अस्करी का शोध निबन्ध : बिहार अण्डर बाबर एण्ड हुमायूँ, करेन्ट स्टडीज, पटना कालेज, 1957, पृ. 2-3.
2. खानवा फतेहपुर सीकरी से 16 कि.मी. दूर स्थित है .

कठिनाई से आगरा पहुँचा और बाबर को परिस्थिति से अवगत कराया। यह सुनते ही बाबर ने पूर्वी अफगानों की शक्ति को कुचलने की दृष्टि से जुनैद बरलास, तथा जहाँगीर कुली बेग को अफगानों के विरुद्ध भेजा। मुगलों ने इन दोनों के नेतृत्व में अफगानों पर आक्रमण किया और उन्हें बुरी तरह परास्त कर खदेड़ दिया। सुल्तान जुनैद बरलास और सुल्तान मुहम्मद में मुकाबला हुआ और जुनैद ने जौनपुर जीत लिया। इस युद्ध की विभीषिका के सम्बन्ध में अहमदयादगार लिखता है कि - "इन दोनों के बीच जैसा यह युद्ध हुआ, वैसा इससे पूर्व कभी देखने को नहीं मिला। अफगान वीर मुगलों को रोकने में असफल रहे और वे तितर-बितर हो गये । जौनपुर सुल्तान मुहम्मद के हाथ से §1527 ई. में§ निकल गया और वह शाही दरबार में भेजा गया। सुल्तान जुनैद बरलास को जौनपुर की व्यवस्था करने की आज्ञा दी गयी, परन्तु उसने अपने दुर्व्यवहार से विरोधी अफगानों में आतंक एवं भय भर दिया। उसका भय इतना अधिक व्याप्त था कि जब तक सुल्तान जुनैद वहाँ रहा अफगानों की इतनी हिम्मत न हुयी कि वे जौनपुर पर पुनः आक्रमण करते ।"[1]

मुगलों द्वारा अफगानों के पराजय की घटना को सुल्तान मुहम्मद नूहानी अधिक दिनों तक सहन न कर सका, फलतः कुछ समय पश्चात् ही उसकी मृत्यु हो गयी । उसकी मृत्यु से नूहानी प्रतिष्ठा एवं शक्ति को काफी आघात लगा ।[2]

सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु की स्पष्ट तिथि के सम्बन्धमें सभी विद्वान् एक मत नहीं हैं। तत्कालीन इतिहासकार सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु की तिथि व समय का वर्णन नहीं करते । तारीखे शेरशाही का लेखक अब्बास, अब्दुल्ला, नियामतउल्लाह, निजामुद्दीन अहमद, फरिश्ता आदि इतिहासकारों ने केवल इतना ही लिखा है कि -"चन्देरी अभियान §1528 ई.§ के पश्चात् मुगलों से निराश व भयभीत होकर शेरखाँ §शेरशाह सूरी§ अपनी जागीर की सुरक्षा हेतु सुल्तान मुहम्मद की सेवा में शामिल हुआ और सुल्तान मुहम्मद ने पुनः उसे अपने पुत्र जलाल खाँ का शिक्षक एवं

---

1. अहमदयादगार, पृ. 119-20 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 37 ; राधेश्याम : बाबर, पृ. 320 ; रिजवी : मुगलकालीन भारत, बाबर, पृ. 457.
2. अवस्थी, पृ. 12, 86, फु. नो. 20.

संरक्षक नियुक्त किया और इसके कुछ दिन पश्चात् दुर्भाग्य से उसकी मृत्यु हो गयी।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु 1528 ई. की घटना है, परन्तु लताएफए-कुधसी का लेखक दत्त सरवानी जो प्रत्यक्षदर्शी था, के द्वारा इस बात की पुष्टि होती है कि - बिहार का शासक सुल्तान मुहम्मद नूहानी 1527 ई. के बाद किसी भी कीमत पर जीवित नहीं था। उसने यह भी लिखा है कि - जब वह मसनदे आली आइसारवान सरवानी अफगान के साथ बिहार 1527 ई. में गया तो सुल्तान मुहम्मद नहीं था, बल्कि उसकी जगह बिहार का शासक महमूद लोदी था। इससे यह स्पष्ट होता है कि वास्तव में उसकी मृत्यु 1527 ई. की घटना है।[2] बेवरीज लिखती है कि - वह सुल्तान मुहम्मदशाह की उपाधि धारण करने के पश्चात् 1 वर्ष के अन्दर ही मर गया ।[3]

मुश्ताकी सुल्तान मुहम्मद के मृत्यु की चर्चा तो करता है पर उसके मृत्यु की सही तिथि नहीं देता। वह केवल इतना ही लिखता है कि - सुल्तान मुहम्मद नूहानी की मृत्यु लोदी साम्राज्य के पतन (1526 ई.) के बाद ही हो गयी थी ।[4] डॉ. अवस्थी लिखते हैं कि - "सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु अनिश्चित है, फिर भी इनकी मान्यता है कि जब हुमायूँ के द्वारा दिसम्बर 1526 ई. में यह जौनपुर से भगाया गया था तो अवश्य ही जीवित था।" ये आगे लिखते हैं कि -"1527 ई. में खानवा के युद्ध (मार्च 1527 ई.) के कुछ दिनों पश्चात् सितम्बर के महीने में इसकी मृत्यु हो गयी"।[5] इक्तदार हुसैन सिद्दिकी लिखते हैं कि - सुल्तान मुहम्मद नूहानी

---

1. अब्बास, पृ. 58 ; अब्दुल्ला, पृ. 115 ; नियामतउल्लाह, पृ. 276 ; फरिश्ता, पृ. 223, ब्रिग्स , भाग 11, पृ. 65.
2. इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 28, 32, फु. नो. 3.
3. बाबरनामा, पृ. 664, फु. नो. 2.
4. मुश्ताकी, पृ. 48ब, उद्धृत इक्तदार हुसैन सिद्दिकी, हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 28. मुश्ताकी 1527 ई. में उसकी मृत्यु का उल्लेख करता है.
5. अवस्थी, पृ. 12, 86, फु. नो. 20.

की मृत्यु 1527ई. के मध्य में ही होनी चाहिये, क्योंकि बाद की घटनाओं में उसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इनका कहना है कि 1527 ई. के अन्त आते-आते बिहार की विलायत सिकन्दर लोदी के पुत्र महमूद लोदी के हाथों चली गयी।[1]

डॉ. कानूनगो लिखते हैं कि - दरियाखाँ के पुत्र मुहम्मदशाह नूहानी उपनाम बिहार खाँ ने बिहार की सल्तनत पर केवल 2 वर्ष ही राज्य किया था और अभी ही उसकी स्थापना की थी, कि पानीपत के पश्चात् अनेक घटनायें घटीं । इसी समय अफगानों में राष्ट्रीयता की लहर दौड़ गयी, जिसमें वह नेता और फिर शासक बन गया था, परन्तु यह अफगान अधिक दिनों तक टिका नहीं । लोदी शासनकाल से ही कौमी झगड़े उठ खड़े हुये, जिसमें वह विलीन हो गया। बिब्बन लोदी और बायजिद फार्मुली अफगान राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए जीवनपर्यन्त संघर्षरत रहे पर सुल्तान मुहम्मद नूहानी तो इतना भी नहीं कर सका और मर गया ।[2]

यदि हम उपर्युक्त वक्तव्यों से हटकर तत्कालीन इतिहासकारों के लेखों की ओर ध्यान दें तो स्पष्ट परिलक्षित होता है कि - सुल्तान मुहम्मद नूहानी की मृत्यु 1528 ई. की ही घटना है, क्योंकि सभी तत्कालीन इतिहासकारों ने चन्देरी अभियान (29 जनवरी, 1528 ई.) में शेरखाँ (शेरशाह सूर) की उपस्थिति व उसके पश्चात् सुल्तान मुहम्मद की सेवा में शेरखाँ के शामिल होने तथा सुल्तान मुहम्मद द्वारा उसे अपने पुत्र का संरक्षक बनाने की घटना को एकमत से स्वीकारा है। वे यह भी लिखते हैं कि - सुल्तान मुहम्मद द्वारा शेरखाँ को जलालखाँ का शिक्षक व संरक्षक बनाये जाने के कुछ दिनों पश्चात् दुर्भाग्यवश उसकी मृत्यु हो गयी । इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि वास्तव में सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु 1528 ई. में ही हुयी । इसकी पुष्टि रिजवी व डॉ. हलीम ने भी की है। डॉ, हलीम का कथन

---

1. इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 28, 32, फु.नो. 3. डॉ. अवस्थी महमूद लोदी को सुल्तान मुहम्मद लोदी लिखते हैं । -अवस्थी, पृ. 87.
2. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 93.

है कि – सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु अप्रैल 1528 ई. में हुयी ।[1]

1528 ई. में सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् बिहार की सत्ता का दावेदार उसका अल्पवयस्क पुत्र जलाल खाँ, जो अभी बालक था, बनाया गया ।[2]

अचानक मुहम्मद की मृत्यु से अफगानों में निराशा के बादल छा गये । अब उनके सामने मुगलों से विरोध लेने के लिए एक सुयोग्य नेता के छत्रछाया की आवश्यकता थी । यद्यपि पुत्र जलाल खाँ सुल्तान मुहम्मद के पश्चात् दक्षिणी बिहार का दावेदार था फिर भी अल्पायु होने के कारण अफगानों के मुगलों को देश से निष्कासित करने के स्वप्न को पूरा करने में अल्पवयस्क बालक सुल्तान जलालुद्दीन उत्तम नहीं था। फलतः नूहानी सत्ता की प्रतिष्ठा अब गर्त में जाने लगी । अफगानों ने अपनी खोती हुयी प्रतिष्ठा को बचाने तथा मुगलों को निष्कासित करने की इच्छा को पूर्ण करने की दृष्टि से बंगाल के शासक नुसरतशाह की शरण ली । बंगाल के शासक नुसरतशाह ने अफगानों के साथ मुगलों के विरुद्ध समझौता कर लिया ।[3] यह खबर सुन-कर बाबर ने पूर्व तथा पश्चिम की वर्तमान स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए अफ-गानों को दबाने का कार्य अपने अमीरों के हाथ में छोड़कर धौलपुर तथा कोल (अलीगढ़) से लेकर सम्भल तक की सैर की और अन्त में तत्कालीन स्थिति से अवगत होकर पहले चन्देरी पर ही आक्रमण करने का निश्चय किया।[4]

29 जनवरी, 1528 ई. को चन्देरी के युद्ध में मालवा के शासक मेदनीराय को पराजित कर 30 जनवरी, 1528 ई. को वहाँ से प्रस्थान कर बाबर ने मालवा

---

1. रिजवी, मुगल कालीन भारत, बाबर, पृ. 319 ; डॉ. हलीम : हिस्ट्री ऑफ लोदी सल्तनत ऑफ देलही एण्ड आगरा, दिल्ली 1974, पृ. 30 ; मुहीबुल-हसन : फाउण्डर ऑफ दि मुगल एम्पायर इन इण्डिया, दिल्ली, 1988, पृ. 104.
2. अब्बास, पृ. 59 ; फरिश्ता, पृ. 223 ; अब्दुल्ला, पृ. 115.
3. राधेश्याम : बाबर, पृ. 325.
4. बाबरनामा, पृ. 587, 589 ; फरिश्ता, ब्रिग्स, भाग II, पृ. 29

मालवा के अमीर मल्लूखान के तालाब पर पड़ाव डाला ।[1] चन्देरी की ओर अग्रसर होने का उसका मुख्य उद्देश्य न केवल मेदनीराय को पराजित करना ही था, बल्कि रायसीन, भिलसा, सारंगपुर को भी विजित करना था, जो इस समय सलालुद्दीन के हाथ में थे । बाबर राणा संग्रामसिंह की राजधानी चित्तौड़ पर भी आक्रमण करना चाहता था, किन्तु पूर्वीय प्रदेशों से चिन्ताजनक समाचार प्राप्त होने के कारण वह चित्तौड़ पर आक्रमण न कर बेगों के परामर्श से पूर्व में अफगानों के विरुद्ध जाने को विवश हुआ और चन्देरी के दुर्ग को अहमदशाह के प्रभार में सौंपकर 2 फरवरी, 1528 ई. को पूर्व के लिए कूच किया। इसी समय बाबर ने सुना कि अफगानों ने कन्नौज और शम्साबाद ले लिया है। यह सुनते ही बाबर शीघ्रतापूर्वक पूर्वीय क्षेत्रों की ओर बढ़ने का निश्चय किया और 25 फरवरी को वह कन्नौज पहुँच गया।[2]

बाबर के आगमन का समाचार पाकर अफगान, जिनमें बायजिद, फार्मुली, बिब्बन, मारूफ फारमुली प्रमुख थे, गंगा के पूर्वीतट पर चले गये और मुगलों के विरोध की तैयारी करने लगे ।[3] मुगल सेना के आगे, कड़े विरोध करते रहने के बावजूद भी अफगान न टिक सके, फलतः सब विरोध को व्यर्थ समझकर अफगान पलायित हो गये । चीन तिमुर सुल्तान को उनका पीछा करने का आदेश दिया गया। पटना से 36 मील दूर बिहार से लेकर गोरखपुर, बहराइच, अवध तक का क्षेत्र मुगलों के आधिपत्य में आ गया। इस अवसर पर बाबर ने अपने विश्वासपात्र अफगान सैनिकों को पुरस्कृत किया ।[4] चीन तिमुर सुल्तान को अफगानों का पीछा करने के लिए भेज दिये जाने के बावजूद भी बाबर शांत न बैठा बल्कि उसने पूर्वी क्षेत्रों की ओर अपनी यात्रा

---

1. बाबरनामा, पृ. 597 .
2. वही, पृ. 598 ; त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान औरपतन , इलाहाबाद 1963, पृ. 44. रिजवी : मुगलकालीन भारत, बाबर, पृ. 406.
3. त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ. 44.
4. बाबरनामा, पृ. 601.

जारी रखी । 21 मार्च, 1528 ई. को उसने लखनऊ की सैर की और गोमती नदी को पार कर पड़ाव डाला । इसके पश्चात् 28 मार्च, 1528 ई. को अवध के लिए रवाना हुआ। 2 अप्रैल, 1528 ई. तक वह वहाँ रूका रहा। 3 अप्रैल से लेकर 17 सितम्बर 1528 ई. तक की घटनाओं का बाबरनामा में उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी यदि हम उन घटनाओं पर दृष्टि डालें जिनका उसने 17 सितम्बर के बाद उल्लेख किया है तो स्पष्ट होता है कि बाबर ने अफगानों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाहियाँ जारी रखीं और पूर्व तथा दक्षिण बिहार में उनका पीछा करता रहा । साढ़े पाँच मास उसने जौनपुर, चौसा, बक्सर तथा अन्य स्थानों में व्यतीत किये और अफगानों को पराजित कर उन्हें बाध्य कर दिया कि वे दक्षिणी बिहार तथा बंगाल में शरण लें ।[1]

अफगानों को बिहार-बंगाल में खदेड़ने तथा पूर्वीय प्रदेशों का प्रबन्ध करने के पश्चात् अफगानों से निश्चिन्त होकर बाबर सितम्बर 1528 ई. के अन्त तक ग्वालियर होता हुआ आगरा लौट गया ।[2]

अफगानों के विरुद्ध इस अभियान में शेरखाँ ने बाबर की बहुत सहायता की थी, अतएव बाबर ने उसे सम्मानित किया और बिहार में परगने प्रदान किये, जिनमें पैतृक जागीर सासाराम भी थी । दूसरे शब्दों में बाबर ने उसे शक्तिशाली बना दिया। अब शेरखाँ इस स्थिति में था कि वह अपना प्रभुत्व बिहार के एक विशाल क्षेत्र में स्थापित कर और भी शक्तिशाली बन जाये । उसने इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु बिहार के अल्पवयस्क सुल्तान जलालुद्दीन की आयु का पूरा-पूरा फायदा उठाया ।[3] इसका महत्वपूर्ण कारण था, सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् उसकी

---

1. त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ. 44 ; राधेश्याम, बाबर, पृ. 332.
2. प्रो. हसन अस्करी का शोध निबन्ध : बिहार अण्डर बाबर एण्ड हुमायूँ, पृ. 5 ; रश ब्रुक विलियम्स : ऐन एम्पायर बिल्डर ऑफ सिक्सटींथ सेंचुरी, पृ. 165.
3. राधेश्याम : बाबर, पृ. 338.

पत्नी बीबी दद्दू,ने जो जलाल खाँ की संरक्षिका थी, शेरखाँ को अपने पुत्र का संरक्षक बनाकर राज्य का पूरा भार शेरखाँ के हाथों में सौंप दिया। कुछ दिनों पश्चात् माता दद्दू की भी मृत्यु हो गयी, पर शेरखाँ एक संरक्षक की भाँति ही कार्य करता रहा और बिहार का सारा शासन उसी पर निर्भर रहा ।[1]

बिहार प्रदेश में इस प्रकार उसके बढ़ते हुये प्रभाव को देखकर जिलवानी तथा नूहानी सरदार व प्रांतीय गवर्नर उससे द्वेष रखने लगे, इस कारण उसे शक्ति-हीन बनाने का निश्चय किया। अफगान, शेरखाँ द्वारा मुगलों के साथ मैत्री सम्बन्ध किये जाने व मुगलों के बिहार में बढ़ते हुये चरण को सहन न कर सके । शेरखाँ के प्रति विरोधी प्रवृत्ति अपनाने वालों में नूहानी, अफगान प्रमुख थे । अब्बास खाँ सरवानी लिखता है कि - शेरखाँ की दिन प्रतिदिन बढ़ती हुयी स्थिति से शेरखाँ और नूहानियों में गहरी शत्रुता हो गयी थी, पर उन्होंने इसे स्पष्ट नहीं किया।[2] शेरखाँ की लगातार बढ़ती हुयी स्थिति से ईर्ष्या रखने वाले अफगानों ने (फतहखाँ, आजम खाँ सरवानी, बिब्बन, बायजिद आदि अमीर) अपने को असुरक्षित महसूस करते हुये, एक जुट होकर महमूद लोदी को (सुल्तान सिकन्दर के पुत्र) जो इब्राहिम की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली का दावेदार था और इस समय बुन्देलखण्ड में पन्ना नामक स्थान में था, बिहार आने का निमन्त्रण दिया ।[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि महमूद लोदी को आजमखाँ सरवानी, बिब्बन, बायजिद आदि अफगानों द्वारा दिया गया निमन्त्रण नूहानियों को निकाल भगाने

---

1. अब्बास, पृ. 59 ; डॉ.एस.बी.पी. निगम : सूरवंश का इतिहास, भाग 1, दिल्ली 1973,पृ.151.
2. वही, पृ. 60 ; निगम, पृ. 151.
3. डॉ. नुरुलहसन का शोध निबन्ध : लतैफ-ए-कुधसी, ए कन्टेम्प्रेरी अफगान सोर्स, मेडिवल इण्डिया क्वाटर्ली, जुलाई, अलीगढ़ 1950, पृ. 53 ; अर्सकीन, भाग II पृ.126 ; कानूनगो लिखते हैं कि इस समय वह बंगाल सल्तनत के किसी स्थान पर उत्तरी बिहार में छिपा हुआ था। -शेरशाह और उसका समय,पृ.94.

का एक षड्यन्त्र था, जिसके लिए अफगानों को बंगाल के सुल्तान नुसरतशाह का समर्थन व सहयोग प्राप्त था।

महमूद लोदी के लिए यह उचित अवसर था, जबकि वह बिहार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर शासन कर सकता था। यह देखकर कि राजनीतिक दाँवपेच के मामले में नूहानी अफगान पृष्ठभूमि में चले गये हैं और नूहानियों में अब कोई शक्ति ऐसी नहीं रही जो अकेले उसका विरोध करती । नूहानी शासक जलालखाँ अभी अल्पवयस्क है, यद्यपि शेरखाँ उसका संरक्षक अवश्य है पर वह भी अभी अधिक शक्तिशाली नहीं है। बंगाल का शासक नुसरतशाह बिहार के अफगानों का हितैषी है, महमूद लोदी ने बिब्बन बायजिद, फतह खाँ, आजम खाँ सरवानी का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। इन अफगानों की सहायता से उसने बिहार में प्रवेशकिया और बिना किसी विरोध के सम्पूर्ण बिहार पर दिसम्बर 1528 ई. में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।[1]

तारीखे शेरशाही का लेखक अब्बास लिखता है कि - अफगान अमीरों आजम हुमायूँ, आइसारवान, उमरखान, इब्राहिम खान, मियाँ बायजिद, बिब्बन आदि ने सुल्तान महमूद लोदी को पटना आने का निमन्त्रण दिया। महमूद लोदी ने इस निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया और पटना आने के पश्चात् उसे अमीरों ने अपना राजा घोषित किया ।[2] अब्बास के इस कथन की पुष्टि अन्य तत्कालीन इतिहासकारों के लेखों से भी होती है। जिनमें अब्दुल्ला, निजामुद्दीन अहमद, नियामतउल्लाह प्रमुखहैं । इनके अतिरिक्त ईश्वरी प्रसाद, अवस्थी आदि आधुनिक इतिहासकारों ने भी इसका समर्थन किया है ।[3]

---

1. अर्सकीन, भाग 1, पृ. 497 ; त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ. 46 ; कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 94.
2. अब्बास, पृ. 86.
3. अब्दुल्ला, पृ. 119 ; तबकाते अकबरी, भाग 1, पृ. 228 ; तारीखे सलातीने अफगाना, भाग 1, पृ. 284 ; दि लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 113 ; अवस्थी, पृ. 87 ; फु.नो. 21 ; डार्न : हिस्ट्री ऑफ अफगान्स, भाग 1, पृ. 101.

महमूद लोदी पटना से सैनिक दल के साथ बिहार आया और नूहानी शासक जलाल खाँ तथा उसके सहायकों को हाजीपुर में शरण लेने को बाध्य किया। हाजीपुर के गवर्नर मखदूमे-आलम ने उन्हें शरण प्रदान की ।

सुल्तान के रूप में महमूद लोदी के आगमन से प्रत्येक अफगान अब राष्ट्रीयता की भावना से भर गया और सभी ने अपना पूर्ण सहयोग देने का निश्चय किया। अफगानों का इस प्रकार महमूद लोदी का साथ देना तथा मुगलों को हिन्दुस्तान से बाहर निकालने के बारे में सोचना कोई नयी बात नहीं थी। उनके बढ़ते हुये प्रभाव के कारण लोदी सुल्तान के पक्षमें लगभग 10 हजार अफगान एकत्र हो गये ।[1]

निजामुद्दीन अहमद लिखता है कि - सुल्तान महमूद लोदी के सामन्तों ने महमूद को बिहार का सुल्तान घोषित कर समस्त बिहार आपस में बाँट लिया और कुछ भाग शेरखाँ (नूहानियों) के लिए छोड़ दिया। उसे यह सान्त्वना दी कि जब जौनपुर का राज्य हम मुगलों से छीन लेंगे तो पहले की भाँति बिहार का राज्य तुमको वापस कर देंगे ।[2] परन्तु लोदी अफगानों की निरन्तर बढ़ती हुयी शक्ति को देखकर नूहानी अफगानों में निराशा फैल गयी । इसी बीच अपने वायदे को भूलकर फतहखाँ सरवानी ने (महमूद लोदी का ससुर तथा वजीर) महमूद लोदी को बिहार का सुल्तान घोषित कर दिया ।[3]

बाबरनामा में बाबर लिखता है कि - जब मैं ग्वालियर में था (935 हि. में), 13 जनवरी 1529 ई. को आगरे से खलीफा ने मेरे पास पत्र भिजवाये कि

---

1. बाबरनामा, पृ. 651 ; रिजवी: मुगल कालीन भारत, बाबर, पृ. 309.
2. तबकाते अकबरी, भाग 1, पृ. 228.
3. अब्बास, पृ. 87 ; अर्सकीन, भाग 1, पृ. 497 ; कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 94 ; त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ. 46 ; राधेश्याम : बाबर, पृ. 339.

सिकन्दर के पुत्र महमूद लोदी ने बिहार जीत लिया है। यह सूचना मिलते ही मैं पूर्वी सेना से युद्ध का दृढ़ निश्चय कर आगरे आया और अमीरों के परामर्शानुसार 935 हि. 10 जुमादुउलअव्वल ⁅20 जनवरी, 1529 ई.⁆ को आगरे से अफगानों के विरुद्ध पूर्वकी ओर कूच किया ।[1] बाबर की पूर्व ओर अग्रसर होने की गति बहुत मन्द रही, क्योंकि मार्ग में वह राजदूतों का स्वागत करता हुआ तथा राज्य में अधिकाधिक मामलों को निपटाते हुये आगे की ओर बढ़ा ।[2] उसकी धीमी गति का महत्वपूर्ण कारण यह था कि वह राजकुमार अस्करी को पहले ही पूर्वीय समस्याओं के निराकरण हेतु ⁅20 दिसम्बर, 1528 ई. को⁆ भेज चुका था, परन्तु सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु, महमूद लोदी द्वारा अपने को सुल्तान घोषित किये जाने तथा बंगाल के शासक नुसरतशाह की मुगलों के प्रति वफादारी की सन्देहास्पद भूमिका व अस्करी को इन जटिल परिस्थितियों से निपटने में अनुभवहीन समझकर बाबर स्वयं इस पूर्वीय अभियान की ओर अग्रसर होने को बाध्य हुआ।

जलेसर, अनवर, आबपुर, रापरी, कालपी, आदमपुर आदि स्थानों को पार करता हुआ 17 जमादि-उस-सानी 935 हि. ⁅26 फरवरी, 1529 ई.⁆ को कड़ा परगने के डुगडुगी नामक स्थान पर गंगा के किनारे पहुँचा जहाँ उसकी मुलाकात उसके पुत्र अस्करी से ⁅28 फरवरी, 1929 ई. में⁆ हुयी । बाबर ने उसे आदेश दिया कि वह अपनी सेना सहित गंगा नदी के दूसरे तट से उसकी ⁅बाबर⁆ सेना के सामने शिविर लगाये ।[3] इसी स्थान पर बाबर को सूचना प्राप्त हुयी कि सुल्तान महमूद लोदी ने 10 हजार[4] अफगान एकत्र कर लिये हैं और उसने मुगल

---

1. बाबरनामा, पृ. 639 ; रशब्रुक विलियम्स : ऐन एम्पायर बिल्डर ऑफ सिक्सटींथ सेंचुरी, पृ. 168 ; अर्सकीन, भाग1, पृ.498 ; त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ.46.
2. बाबरनामा, पृ.640-651 ; अकबरनामा, भाग1, पृ.271.
3. वही.
4. बाबरनामा⁅पृ.651⁆ में 10 हजार उल्लिखित है, परन्तु अन्य तत्कालीन

सेनाओं पर तीन ओर से आक्रमण करने का प्रबन्ध कर लिया है। उसने शेख बायजिद तथा बिब्बन को एक विशाल सेना के साथ सरवर ﴾गोरखपुर﴿ की ओर भेज दिया है और स्वयं महमूद फतहखान सरवानी के साथ गंगा के किनारे चुनार की ओर अग्रसर हो रहा है। इसके अतिरिक्त शेरखाँ सूर जिसे बाबर ने 1527 ई॰ में आश्रय प्रदान किया था तथा बहुत से परगने ﴾ख्वासपुर टाँडा, सासाराम आदि﴿ उसे देकर इस क्षेत्र में नियुक्त किया था, इन अफगानों से मिल गया है[1] और गंगा नदी पार कर बनारस में जलालुद्दीन शर्की तथा उसके अधिकारियों को बनारस से भगा कर, बनारस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है ।[2]

पूर्व में इस समय साम्राज्य प्राप्ति के लिए त्रिकोणात्मक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी । साम्राज्य प्राप्ति की लालसा में तीन दावेदार राजनीतिक मंच पर प्रकट हो चुके थे । उनमें एक जलालुद्दीन शर्की भी था, जो शर्की साम्राज्य का उत्तराधिकारी प्रतिनिधि था। दूसरा दावेदार सुल्तान् जलालुद्दीन बिहार खाँ नूहानी था तथा तीसरा दावेदार स्वयं सिकन्दर का पुत्र महमूद लोदी था,

---

इतिहासकार स्पष्ट संख्या का उल्लेख न कर विशाल सेना ही लिखते हैं। कुछ आधुनिक इतिहासकार यह संख्या 1 लाख बताते हैं । इनमें प्रमुख हैं - अवस्थी, पृ॰ 13॰ अर्सकीन, भाग 1, पृ॰498 ; रिचर्डबर्न, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग IV, 1937, पृ॰ 17॰

1. अब्बास, पृ॰ 87 ;तबकाते अकबरी, भाग 1, पृ॰ 228 ; अब्दुल्ला, पृ॰ 119 ; नियामतउल्लाह, भाग 1, पृ॰ 284 : में लिखते हैं कि - जब सुल्तान महमूद लोदी पटना से बिहार आया तो शेरखाँ ने देखा कि अफगानों को सुल्तान महमूद की अधीनता स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है, फलतः विवश होकर शेरखाँ भी सुल्तान महमूद की सेवा में आया॰

2. बाबरनामा, पृ॰ 651-52॰

जिसे बड़ी संख्या में अफगानों का समर्थन प्राप्त था, ताकि वह केवल पूर्व में बिहार की ही नहीं बल्कि दिल्ली की भी सुरक्षा कर सके ।[1]

इन उपर्युक्त परिस्थितियों तथा गतिविधियों को देखते हुए बाबर के लिए यह आवश्यक था कि वह सावधानी से काम ले, फलतः बाबर ने समय एवं स्थिति को ध्यान में रखकर सतर्कतापूर्वक यात्रा करने का निश्चय किया । यह तय किया गया कि बाबर गंगा के एक किनारे से होता हुआ यात्रा करे और अस्करी दूसरे किनारे से । दोनों सेनाओं को एक ही समय कूच करना था और पड़ाव डालना था। 1 मार्च 1529 ई. को बाबर डुगडुगी से चलकर 4 मार्च को कड़ा पहुँचा, जहाँ जलालुद्दीन शर्की द्वारा उसका शानदार स्वागत किया गया।[2] कड़ा में रूककर उसने शत्रु के बारे में जानकारी प्राप्त की । शनिवार 24 जमादि-उस-सानी 935 हि. (5 मार्च 1529 ई.) को सुल्तान मुहम्मद बख्शी ने उसे सूचित किया कि सुल्तान महमूद लोदी की सेनाओं ने पहले चुनार पर आक्रमण किया, किन्तु दुर्ग को जीतने में उन्हें तनिक भी सफलता नहीं मिली और उसकी सेना तितर-बितर हो गयी।[3] उसने बाबर को यह भी सूचना दी कि जिस समय अफगान बनारस के निकट गंगा नदी पार कर रहे थे उनकी अनेक नौकायें डूब गयी और बहुत धन जन की भी क्षति हुई।[4] कड़ा से चलकर बाबर प्रयाग पहुँचा, वहाँ उसे ताजखान द्वारा ज्ञात हुआ कि

---

1. अर्सकीन, भाग 1, पृ. 499.
2. बाबरनामा, पृ. 652.
3. वही, पृ. 653-654 ; रिजवी, बाबर, पृ. 311 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV , पृ. 212.
4. बाबरनामा, पृ. 654 ; रिजवी : बाबर, पृ. 311. इस अभियान के सम्बन्ध में वर्णन करते हुये लतैफ-ए-कुद्सी का लेखक शेख-रूकनुद्दीन लिखता है कि - मुगलों के आने की खबर पाकर अफगान पस्त हो गये और जहाँ चाहते थे, भागने लगे । स्खानी अफगान बाबर से मिल गये । कुछ समय पश्चात् सुल्तान महमूद लोदी मुगलों के विरुद्ध सामने आया। उसके आने से अफगानों में फिर उत्साह की लहर दौड़ गयी, फलतः एक बार फिर वे मुगलों के विरुद्ध महमूद लोदी की पताका के नीचे एकत्र हुये और उन्होंने बाबर के विरुद्ध युद्ध करने

सुल्तान महमूद लोदी सोन नदी के किनारे पर है, अतएव बाबर ने एक सभा द्वारा निश्चित कर उस ओर शीघ्रातिशीघ्र बढ़ना प्रारम्भ किया। 20 रजब 935 हि. (30 मार्च 1529 ई.) को वह गाजीपुर पहुँचा और दूसरे दिन प्रभावशाली अफगान महमूद खान नूहानी उसकी सेवा में गाजीपुर में उपस्थित हुआ और उसने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। उसी दिन बाबर को जलाल खाँ नूहानी (सुल्तान मुहम्मद का पुत्र), फरीद खान (नासिर खाँ नूहानी का पुत्र), आलमखान सूर और शेर खाँ सूर तथा अन्य प्रभावशाली अफगानों के प्रार्थना पत्र प्राप्त हुये।[1]

इस प्रकार यह संख्या नये नूहानी साम्राज्य को तथा सुल्तान महमूद व उसके अनुयायियों को युद्ध द्वारा समाप्त करने के लिए काफी थी, किन्तु अन्य अनेक अफगान सरदारों ने जो गंगा तथा घाघरा नदी के मध्य बलिया में खरीद नामक स्थान पर थे, अपने-अपने स्थानों पर मुगलों के विरुद्ध डटा रहना उचित समझा। इन प्रार्थना पत्रों का बाबर के मस्तिष्क पर क्या प्रभाव पड़ा यह कहना कठिन है परन्तु इसकी जो प्रतिक्रिया हुयी उसके सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि बाबर इन पत्रों की तनिक भी चिन्ता किये बिना और बिना किसी भी अफगान सरदार को उसके पत्र का उत्तर देते हुए वह आगे बढ़ता चला गया। उसके अग्रसर होने का समाचार पाते ही अफगान सरदारों ने बंगाल की ओर भागना प्रारम्भ किया और

का निश्चय किया। बिहार से वे बनारस की ओर बढ़े। अफगान युद्ध के परिणाम के बारे में बहुत अधिक चिंतित थे। शेख रूकनुददीन के द्वारा जब उन्हें बाबर बादशाह के विजय की निश्चितता पता चली तो यह सुनते ही अफगान बिहार की ओर भाग खड़े हुये और तितर बितर हो गये। सुल्तान महमूद लोदी भी भाग कर बिहार चला गया। - डॉ. नुरूलहक का शोध-निबन्ध. लतैफ-ए-कुधसी, ए कन्टम्प्रेरी अफगान सोर्स, मेडिवल इंडिया क्वाटर्ली, पृ. 53.

1. बाबरनामा, पृ. 655, 656, 658, 659 ; अर्सकीन, भाग 1, पृ. 500.

बंगाल की सीमाओं पर पहुँचकर उन्होंने सुल्तान नुसरतशाह से मुगलों के विरुद्ध अफ-गानों की सहायता की याचना की। इससे पूर्व कि बंगाल का शासक नुसरतशाह इन अफगानों को किसी प्रकार की सहायता देता, बाबर तब तक आगे बढ़ता रहा जब तक कि वह कर्मनासा नदी के निकट नहीं पहुँच गया। वहाँ पहुँचकर उसने पाया कि सुल्तान महमूद की सेना प्रतिदिन दोषपूर्ण युद्ध प्रणाली के कारण कष्ट सहन कर रही थी, फलतः 1 अप्रैल, 1529 ई० को मुगल सेना ने चौसा से आगे पड़ाव डाला और 3-4 दिन पश्चात् (4 अप्रैल, 1529 ई०) बाबर बक्सर पहुँचा। अगले दिन बाबर ने मुहम्मद अली और बाबा शेख को 200 आदमियों के साथ शत्रु के बारे में समाचार लाने के लिए भेजा ।[1]

मुहम्मद अली तथा अन्य मुगल सहयोगी काफिरों के एक दल को मार्ग में पराजित कर उस स्थान पर पहुँच गये जहाँ सुल्तान महमूद लोदी सम्भवतः 2000 आदमियों सहित डटा हुआ था। बाबर लिखता है कि - महमूद लोदी हमारी सेना के अग्रगामी दल की सूचना पाकर अपने दो हाथियों की हत्या करके बिना युद्ध किये ही भाग खड़ा हुआ, पर उसके कुछ आदमी पकड़े गये ।[2]

बंगालीशासक द्वारा अफगानों को सहयोग

घाघरा का युद्ध व नूहानी अफगानों का आत्मसमर्पण

मुगल अफगान संघर्ष के इस क्रम में बंगाल के शासक नुसरतशाह द्वारा अफ-गानों को मुगलों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान किया जा रहा था, जो बाबर के लिए एक बड़ी समस्या बनी हुयी थी । वह बंगालियों से इस समय विरोध मोल नहीं लेना चाहता था, बल्कि वह उनके साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के ही पक्ष में था, इसी लिए मुगलों के प्रति, नुसरतशाह का क्या दृष्टिकोण है यह जानने के लिए उससे

---

1. बाबरनामा, पृ० 659, 661.
2. वही, पृ० 662 ; रशब्रुक विलियम्स : ऐन एम्पायर बिल्डर ऑफ सिक्सटींथ सेन्चुरी, पृ० 169.

सन्धि का प्रस्ताव रखा। इसका प्रमुख कारण था कि बाबर इस समय अफगानों के विरुद्ध स्वयं संघर्ष करना चाहता था, इसलिए वह यह चाहता था कि बंगाल का शासक नुसरतशाह अफगानों को किसी प्रकार की सहायता प्रदान न करे। इस दृष्टि से उसने नुसरतशाह के साथ सन्धि की वार्ता चलायी ।

शर्तों के सम्बन्ध में सही-सही जानकारी प्राप्त नहीं होती । इतिहासकारों का ऐसा विश्वास है कि - "यदि आत्मकथा (बाबरनामा) से उन शर्तों का जिसका उसने उल्लेख किया था, नष्ट न हो गया होता तो हमें उन शर्तों की विशद जानकारी प्राप्त होती, फिर भी इतना निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि बाबर नुसरतशाह के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम करना चाहता था और यह जानना चाहता था कि उसका मुगलों व अफगानों के साथ कैसा दृष्टिकोण है।

अभी नुसरतशाह की ओर से सन्धि की शर्तों का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं मिला था कि इसी बीच कुछ ही दिन पश्चात् उसे बिहार के शेखजादों से पता चला कि अफगान अपनी सैनिक चौकियों से भाग खड़े हुये हैं और इधर-उधर बिखर गये हैं। यह खबर सुनकर बाबर ने मुहम्मद अली जंग जंग को (तारदी मुहम्मद का पुत्र) 2 हजार सैनिकों के साथ बिहार की ओर वहाँ की जनता के नाम पत्र देकर इस आशय से भेजा कि वो लोग मुगलों का साथ दें । 28 रजब, 935 हि. (6 अप्रैल, 1529 ई.)[1] को उसे भेजा गया था। ख्वाजा मुर्शिद ईराकी, जिसे बिहार का दीवान बनाया गया था, भी जंग-जंग के साथ शामिल हो गया ।[2] बाबर को इस समय तक पूरा विश्वास था कि अफगान अब आगे बढ़कर उसका मुकाबला नहीं करेंगे और मुगलों को बिहार पर शान्तिपूर्वक प्रभुत्व स्थापित हो जायेगा। अभी वह अपनी स्थिति की सुदृढ़ता के बारे में विचार कर ही रहा था कि उसे हाजीपुर के गवर्नर मखदूमे आलम के नेतृत्व में बंगाल की सेनाओं के मुगलों के विरुद्ध

---

1. इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV ,पृ. 214 ; रिजवी : बाबर, पृ. 318.
2. बाबरनामा, पृ. 661.

बढ़ने की सूचना मिली । अभी तक बाबर और नुसरतशाह के पारस्परिक पत्र व्यवहार (सन्धि प्रस्ताव) का भी कुछ परिणाम न निकला था, फलतः बाबर को अफगानों व बंगालियों के विरुद्ध नयी चाल चलनी पड़ी ।[1]

बाबर ने अपनी नयी योजना के अन्तर्गत बिहार का राज्य गर्वनर मुहम्मद जमान मिर्जा को सौंप दिया और उसे एक शाही सरोपा (खिलअत), एक तलवार तथा पेटी, एक तीपूचक घोड़ा तथा छत्र प्रदान किया, इसके साथ-साथ बिहार की मालगुजारी में से एक करोड़ 25 लाख दाम शाही खजाने के लिए भी सुरक्षित कर दिये गये ।[2] दीवान की हैसियत से मुर्शिद ईराकी को भी उसके साथ भेजा गया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कार्यवाही इसलिए की गयी थी कि उसके शत्रु भलीभाँति समझ लें कि यदि इस विरोध का संतोषजनक हल न निकला गया तो उन्हें दण्डित करने के लिए बाबर कहाँ तक अग्रसर हो सकता है। वास्तव में वह अपने शत्रुओं को यह दिखा देना चाहता है कि पूर्वी समस्या को सुलझाने के लिए वह कुछ भी कर सकता है। इन सब व्यवस्थाओं को पूर्ण करने के बाद 6 शाबान 935 हि. (14 अप्रैल, 1529 ई.) को बक्सर से आगे बढ़ने के लिए प्रबन्ध करना प्रारम्भ किया ।[3]

15 अप्रैल 1529 ई. को अचानक बंगाल की सेना में से दो गुप्तचरों के द्वारा अफगानों व बंगालियों के मिल जाने[4] तथा हाजीपुर के गवर्नर मखदूमे आलम

---

1. त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ. 47.
2. बाबरनामा, पृ. 662 ; रिजवी : बाबर, पृ. 318. अर्सकीन (भाग 1, पृ. 500) में राजस्व निश्चित किये जाने का उल्लेख तो करता है पर राजस्व की निश्चित राशि स्पष्ट नहीं करता.
3. वही.
4. सत्ता को लेकर नुसरतशाह और अफगानों के बीच गहरी शत्रुता थी । बाबर इस बात से पूर्णतया अवगत था। इसके बावजूद भी नुसरतशाह मुगलों के विरुद्ध अफगानों को सहयोग दे रहा था, इसका प्रमुख कारण था बंगाल को मुगल सत्ता से भय.

के नेतृत्व में बंगाली सेना के 24 स्थानों पर नियुक्त किये जाने व अपनी प्रतिरक्षा (सुरक्षा) का प्रबन्ध किये जाने की सूचना मिली ।[1] इस सूचना ने बाबर को आश्चर्यचकित कर दिया, परिणामस्वरूप युद्ध की पूर्ण आशंका व्यक्त की जाने लगी। स्थिति की गम्भीरता को समझते हुये बाबर ने सुल्तान मुहम्मद जमान मिर्जा को बिहार जाने से रोक लिया और शाह सिकन्दर को 300-400 आदमियों के साथ तात्कालिक स्थिति से निपटने के उद्देश्य से बिहार की ओर भेजा ।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि बाबर को यह आशा थी कि पूर्वी प्रदेश के शासकों (अफगान और नुसरतशाह) से उसका समझौता शान्तिपूर्ण ढंग से हो जायेगा, इसलिए उसने पहले न तो अफगानों को और न ही मखदूमे आलम को ही युद्ध प्रारम्भ करने के लिए उकसाया।

इसी मध्य 16 अप्रैल, 1529 ई. को जलालखाँ नूहानी के एक दूत के द्वारा भी बाबर को यह पता चला कि सुल्तान नुसरतशाह मुगलों के विरुद्ध हो गया है और वे स्वयं (नूहानी) बंगालियों के साथ युद्ध करके, किसी प्रकार बंगालियों के चंगुल से निकलकर बिहार के इलाके में पहुँच गये हैं और बाबर की अधीनता मानने को तत्पर हैं ।[3] यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि नुसरतशाह नूहानी अफगानों को अपना साम्राज्य छोड़ने से इस कारण रोक रहा था कि उनकी कमी (अफगानों की) मुगलों के विरुद्ध युद्ध स्तर को कमजोर बना देगी, जिसे उसने बहुत प्रयास के बाद मुगलों से खतरा लेकर बनाया था। यद्यपि इस सूचना से बाबर प्रभावित तो हुआ, परन्तु नुसरतशाह के कपटपूर्ण व्यवहार के कारण बहुत क्षुब्ध हुआ । फलतः उसने बंगाल के राजदूत इस्माइल मीता को 18 अप्रैल, 1529 ई. को शाही खिलअत व इनाम देकर एक बार फिर नुसरतशाह के पास सन्धि प्रस्ताव के साथ इस आशय से भेजा कि नुसरतशाह का व्यवहार मुगलों के प्रति शांति एवं मित्रता का है अथवा नहीं । यदि सुल्तान शान्ति एवं मित्रता का इच्छुक है तो उसे मुगल बादशाह से इस इच्छा को प्रकट करना

---

1. रशब्रुक विलियम्स : ऐन एम्पायर बिल्डर ऑफ सिक्सटींथ सेन्चुरी, पृ. 169.
2. बाबरनामा, पृ. 663-64 ; रिजवी : बाबर, पृ. 319; रशब्रुक विलियम्सः वही, पृ. 169.
3. इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV , पृ. 213.

चाहिये ।[1] उसने यह आश्वासन भी दिया कि मुगल सेना अफगानों के विरुद्ध इधर उधर कूच करेगी पर वह न तो बंगाल साम्राज्य को और न बंगालियों को ही कोई नुकसान पहुँचायेगी ।[2] इसके अतिरिक्त उसने मीता से यह भी कहलवा भेजा कि वह अपनी बंगाली सेना को खरीद से पीछे हटा ले ताकि तुर्की सेना को अफगानों के विरुद्ध आने-जाने में कोई परेशानी न हो । यहाँ बाबर का दृष्टिकोण कूटनीतिक दिखायी देता है। वह मैत्री पूर्ण व्यवहार सम्बन्धी कूटनीति का आश्रय लेकर बंगालियों से संघर्ष को टालना चाहता था। इसके अतिरिक्त उसने बंगाली सुल्तान पर अपना प्रभाव जमाते हुये यह भी कहा कि - "यदि सुल्तान (नुसरतशाह) रास्ता छोड़ने से इन्कार करता है तो ऐसी स्थिति में बंगाली साम्राज्य व सैनिकों पर जो भी विपत्ति आयेगी, उसका कारण स्वयं सुल्तान होगा, बाबर इसका उत्तरदायी नहीं होगा ।[3]

इस प्रकार बाबर को बंगाल के शासक से मुगलों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध की पूरी आशा थी । यहाँ तक कि उसे यह पूर्ण विश्वास भी हो गया था कि इस्माइल मीता शीघ्र ही सुल्तान से उसका सन्धि सम्बन्धी उत्तर लेकर वापस आयेगा, परन्तु शीघ्र ही इस्माइल मीता के वापस न आने पर बाबर पूर्णतया आश्वस्थ हो गया कि नुसरतशाह मुगलों के विरुद्ध अफगानों की सहायता कर रहा है, अतएव उसने अब अधिक विलम्ब न कर अफगानों व बंगालियों के विरुद्ध बढ़ना ही उचित समझा और गंगा पार कर पूर्व की ओर आगे बढ़ने का निश्चय किया।[4]

---

1. यहाँ यह स्पष्ट होता है कि बाबर बंगालियों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध ही बनाये रखना चाहता था। -अर्सकीन, भाग 1, पृ. 502 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV ,पृ.213.
2. रशब्रुक विलियम्स : ऐन एम्पायर बिल्डर ऑफ सिक्सटींथ सेन्चुरी,पृ.169. रिजवी : बाबर, पृ. 320.
3. बाबरनामा में शर्तों का उल्लेख नहीं किया गया है। -बाबरनामा,पृ.665; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV ,पृ.213 ; मुहीबुल हसन,पृ.6.
4. रशब्रुक विलियम्स : ऐन एम्पायर बिल्डर ऑफ सिक्सटींथ सेन्चुरी,पृ.169; त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ.47 ; अर्सकीन, भाग 1, पृ. 503.

अपने इस निश्चय के आधार पर 27 अप्रैल को वह आरा परगने में पहुँचा, वहाँ से मनेर गया, जहाँ उसने अपना शिविर लगाया ।[1]

बंगालियों ने एक विशाल सेना मुगलों के विरुद्ध एकत्रित कर ली थी, इसलिए बाबर ने भी विस्तृत रूप से युद्ध की तैयारी कर ली, जिसमें जुनैद बरलास द्वारा लाये गये 20,000 सैनिक भी शामिल थे ।[2] अब बाबर इस स्थिति में था कि वह अपनी विशाल सेना के साथ किसी भी प्रतिद्वन्द्वी से टक्कर ले सकता था। बाबर शत्रु पर आक्रमण करने के लिए एक निश्चित योजना के अन्तर्गत बढ़ रहा था। इस योजना को बनाते समय उसने समय तथा अपने सीमित साधनों दोनों का ही ध्यान रखा, किन्तु अफगानों के पास युद्ध करने के लिए न तो साधन थे और न ही उनकी कोई निश्चित योजना। यहाँ तक कि हाजीपुर का गवर्नर मखदूमे आलम भी मुगलों की सुदृढ़ स्थिति देखकर अफगानों की कोई सहायता न कर सका ।[3] अफगानों व बंगालियों की ताजा स्थिति देखते हुये, अपनी योजनानुसार बाबर ने अफगान तथा बंगाल की संयुक्त सेनाओं पर एक साथ आक्रमण करने का प्रबन्ध किया। उसने अपनी सेना को छः भागों में विभक्त किया। चार भागों का नेतृत्व अस्करी को नाममात्र के लिए सौंपा, पाँचवां भाग स्वयं संभाला और छठे भाग का नेतृत्व मुहम्मद जमान मिर्जा को सौंपा गया।

उपर्युक्त योजनानुसार मुगल सेना ने अफगानों व बंगालियों के विरुद्ध युद्ध करने की दृष्टि से 22 शाबान, 935 हि० (1 मई, 1528 ई०) को गंगा नदी पार किया और इसके तीन दिन पश्चात् घाघरा नदी भी पार करने का सफल प्रयास किया। अस्करी के दस्ते को सर्वप्रथम सफलता प्राप्त हुयी । 5 मई तक अफगानों सहित बंगालियों व मुगलों के बीच छुट-पुट आक्रमण बिना किसी योजना के होते रहे, जिसमें बंगाली सैनिक मुगलों द्वारा पराजित कर भगा दिये गये ।[4] यद्यपि

---

1. रशब्रुक विलियम्स: ऐन एम्पायर बिल्डर ऑफ सिक्सटींथ सेन्चुरी, पृ० 169; त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ०47; अर्सकीन, भाग1, पृ०503.
2. बाबरनामा, पृ० 666.
3. राधेश्याम: बाबर, पृ० 346.
4. बाबरनामा, पृ० 672-73; राधेश्याम : बाबर, पृ० 348 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ० 215.

बंगालियों ने वीरता से मुगलों का सामना किया, परन्तु वे जोरदार गोलाबारी के आगे न टिक सके और बाबर ने अपना आगे का मार्ग सुगम कर लिया। घाघरा के तट पर पहुँचकर - 6 मई, 1529 ई. को अपनी तोपों की वर्षा के बल पर, बिना अधिक प्रतिरोध के अफगानों सहित बंगाल की सेना को तितर-बितर कर दिया।[1] परिणाम बंगालियों व अफगानों के लिए विनाशक सिद्ध हुआ। दृढ़ संकल्प और शक्ति के इन प्रदर्शनों का मनोवांछित प्रभाव अन्ततः बाबर के हक में ही हुआ, जिसने अफगानों तथा बंगालियों को पराजित कर मैदान छोड़ने को विवश कर दिया और एक उत्तम सैन्य संचालक के रूप में विजयश्री प्राप्त की।[2]

अपनी उत्तम योजना, उत्तम संचालन और साहस तथा अपने सैनिकों के दृढ़ निश्चय के बल पर मुगल बादशाह को उन अफगानों {महमूद लोदी} पर विजय प्राप्त हुयी जो सुल्तान नुसरतशाह का सहारा लेकर मुगलों को भारत से निष्कासित करने व दिल्ली की गद्दी को पुनः प्राप्त करने का स्वप्न देख रहे थे। दूसरे शब्दों में भारत भूमि पर लड़ा गया घाघरा का युद्ध वास्तव में, अनुवांशिक रूप से लोदी वंश के उत्तराधिकारी होने का दावा करने वाले अफगानों के विरुद्ध था। आर.पी. त्रिपाठी लिखते हैं कि - "मध्य युग के इतिहास में यह प्रथम युद्ध था, जो जल और थल दोनों पर लड़ा गया। इसके साथ-साथ भारत में बाबर के शौर्यपूर्ण विजयों के अनुक्रम की यह तृतीय और अन्तिम विजय थी, जिसने उसे उत्तरी भारत का निर्विवाद स्वामी बना दिया।"[3] डॉ. अवस्थी इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि - "घाघरा के इस युद्ध में अफगान नेता महमूद लोदी बुरी तरह पराजित हुआ और उसकी शक्ति व प्रतिष्ठा कुछ समय के लिए नष्ट हो गयी। इसके अतिरिक्त नूहानी अफगान जलालखाँ व उसके समर्थकों की शक्ति

---

1. रशब्रुक विलियम्स : ऐन एम्पायर बिल्डर ऑफ सिक्सटींथ सेन्चुरी, पृ. 169; राधेश्याम : बाबर, पृ. 348 ; अर्सकीन, भाग 1, पृ. 505.
2. अर्सकीन, भाग 1, पृ. 505 ; त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ. 47 ; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग IV, पृ. 17 ; लेनपूल : रूलर्स ऑफ इण्डिया, बाबर, 1899, पृ. 192.
3. त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ. 47 ; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग IV, पृ. 17.

में पुनः वृद्धि हुयी ।[1]

यह स्पष्ट होता है कि घाघरा के युद्ध में मुगलों की विजय व अफगानों की पराजय का मुख्य कारण था, उनका आपसी मतभेद, आन्तरिक झगड़े व लोदी, नूहानी का आपस में सत्ता प्राप्ति को लेकर बँटवारा। यदि अपनी स्वार्थपरता को त्यागकर प्रत्येक अफगान एक-दूसरे की मदद करता तो सम्भव था कि भारतीय इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ता ।

अफगानों की पराजय ने बाबर के सामने से वह भय पूर्णतया समाप्त कर दिया, जिसके लिए सदैव वह चिन्तित तथा सशंकित रहता था। इसके साथ ही उसे ऐसे शत्रु से छुटकारा मिल गया, जो बंगाल के शासक नुसरतशाह के बल पर लड़ रहा था और मुगलों को दोनों सम्मिलित शक्ति के आधार पर आतंकित किये हुये था।[2]

विलियम अर्सकीन ने इस युद्ध को निर्णायक माना है। उनका कथन है कि- भारतीय भूमि पर लड़ा गया यह युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ, जिसने पूर्व में अफगानों की सत्ता को पुनर्स्थापित करने के स्वप्न को समाप्त कर दिया ।[3] इस युद्ध के सम्बन्ध में डॉ. कानूनगो का कथन है कि - घाघरा के युद्ध में मुगलों के विरुद्ध अफगान सुल्तान सिकन्दर के पुत्र सुल्तान महमूद लोदी की प्रथम चढ़ाई महज एक इत्तफाक थी, जिसमें उसे असफलता मिली, परिणामस्वरूप अधिकांश अफगानों को मुगलों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी ।[4]

डॉ. एस.आर. शर्मा ने इसके पराजय का कारण बतलाते हुए कहा है कि - यद्यपि बंगाली लोग तोपखाने के काम में चतुर होते हैं, इसमें उनकी प्रसिद्धि भी है, फिर भी इस युद्ध में किसी बिन्दु विशेष को लक्ष्य न बनाकर इधर-उधर गोलियाँ

---

1. अवस्थी, पृ. 246.
2. राधेश्याम : बाबर, पृ. 348.
3. अर्सकीन, भाग 1, पृ. 505.
4. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 91.

चलाते रहे, फलस्वरूप पराजित हुये ।[1]

मुहीबुल हसन लिखते हैं - "बाबर की अपेक्षा नुसरतशाह की घुड़सवार सेना संख्या में काफी कम थी और शक्तिशाली भी न थी, इसी कारण उन्हें पराजय का आलिंगन करना पड़ा ।" आगे वे और अधिक स्पष्ट रूप में लिखते हैं कि - "उनकी विजय सम्भव हो सकती थी, यदि वे अपनी पैदल सेना को मजबूत और संख्या में और अधिक रखते । उन्होंने मुगलों से मुकाबला करने के लिए सैनिक स्तर पर जो भी तैयारियाँ की थीं, युद्ध स्तर पर मुगलों के प्रतिउत्तर की दृष्टि से सक्षम न थीं । दूसरे शब्दों में मुगलों के सैन्य संगठन व युद्ध स्तर की दृष्टि से कमजोर थी ।"[2]

वास्तव में भारतभूमि पर मुगलों द्वारा अफगानों के विरुद्ध लड़ा गया यह निर्णायक युद्ध था, जिसने पूर्व में अफगान सत्ता (लोदी) को पुनर्स्थापित करने के स्वप्न को समाप्त कर दिया ।[3] मुगलों की जिन्हें वर्षों से भारत पर अधिकार करने की तीव्र इच्छा थी अन्ततः पूर्ण हुयी और पूरा हिन्दुस्तान उनके अधिकार क्षेत्र में आ गया।[4] यदि हम कहें कि घाघरा का युद्ध बाबर के आँधी तूफान से परिपूर्ण जीवन का अन्तिम वीरतापूर्ण कार्य था तो कोई अतिशयोक्ति न होगी ।

अफगानों को पराजित कर बाबर ने प्रमुख अफगान नेता बिब्बन, बायजिद सहित सुल्तान महमूद लोदी को पश्चिम (बहराइच) की ओर भागने को विवश कर दिया और खरीद में निरहुन परगना के कुन्दबह नामक स्थान पर 6 मई को ठहरकर कुछ महत्वपूर्ण कार्य किये, क्योंकि इस अभियान का बाबर का मुख्य उद्देश्य लगभग

---

1. एस॰आर॰ शर्मा : भारत में मुगल साम्राज्य, आगरा, 1965, पृ॰ 39.
2. मुहीबुल हसन : फाउण्डर ऑफ दि मुगल एम्पायर इन इण्डिया, पृ॰ 8.
3. अर्सकीन, भाग 1, पृ॰ 505.
4. इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ॰ 38.

पूर्ण हो चुका था ।[1]

घाघरा युद्ध में मुगलों की विजय और अफगान तथा नुसरतशाह की विफलता के कारण एक बड़ी संख्या में अफगान अमीर व सरदारों ने आकर बाबर की अधीनता स्वीकार की ।[2] मारूफ फारमुली का पुत्र शाह मुहम्मद पहला अफगान सरदार था, जो मुगल सम्राट बाबर की अधीनता स्वीकार करने के लिए युद्ध के तुरन्त बाद ही उपस्थित हुआ ।[3] इसके पश्चात् 8 रमजान, 935 हि• (16 मई, 1529 ई•) को दरियाखाँ नूहानी का पौत्र, सुल्तान मुहम्मद नूहानी का पुत्र जलालखाँ नूहानी अपने विश्वस्त अमीरों के साथ बाबर की सेवा में उपस्थित हुआ। इसी समय याहियाखान नूहानी ने अपने भाई को भेजकर आज्ञाकारिता प्रदर्शित की। बाबर ने याहियाखान की सेवायें स्वीकार की, तत्पश्चात् 7000, 8000 नूहानी अफगान बाबर की सेवा में उपस्थित हुये और उसकी अधीनता स्वीकार की।[4]

बाबर ने उन सरदारों व अमीरों को जो उसकी अधीनता स्वीकार करने के लिए उसके पास आये थे, उदारतापूर्वक उचित एवं उपयुक्त पारितोषिक प्रदान किया।

पराजय के पश्चात अफगानों की मनोदशा संयत और परिष्कृत हो गया थी, इसलिए बाबर ने पूरे बिहार को अपने साम्राज्य में मिला लेना उचित न समझा। वह स्वयं भी बिहार की उलझनों से मुक्त होना चाहता था, फलतः उसने नूहानी अफगानों द्वारा उसकी सेवा में आ जाने के व्यवहार से सन्तुष्ट होकर, बिहार पारितोषिक स्वरूप नूहानियों को वापस कर दिया। बाबर स्वयं लिखता है कि- अफगान आशा लेकर मेरे पास आये थे, मैं उन्हें निराश नहीं करना चाहता था, इसलिए मैंने बिहार की जागीर में से 1 करोड़ की जागीर को खालसा घोषित कर

---

1. बाबरनामा, पृ• 674; राधेश्याम : बाबर, पृ• 349•
2. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग 4, पृ• 18•
3. बाबरनामा, पृ• 675 ; रशब्रुक विलियम्स : ऐन एम्पायर बिल्डर ऑफ सिक्सटींथ सेन्चुरी, पृ• 169•
4. बाबरनामा, पृ• 676 ; अर्सकीन, भाग 1, पृ• 505•

दिया, 50 लाख की जागीर महमूद नूहानी को और शेष जलाल खाँ को प्रदान कर दिया। जलाल खाँ ने खराज के रूप में 1 करोड़ वार्षिक राजकर देना स्वीकार कर लिया। इस खराज का संग्रह करने के लिए 16 मई को मुल्ला गुलाम रसावल को बिहार भेजा।[1] आर.पी. त्रिपाठी लिखते हैं कि - "उसने बिहार के एक भाग को जलालखाँ के अधीन रहने दिया, शाही इलाके के रूप में उसने केवल उतना भाग अपने अधीन रखा, जिसकी वार्षिक आय 5 लाख थी।"[2]

निजामुद्दीन अहमद लिखता है कि - "बाबर ने नूहानियों को उनकी जागीरें इसलिए वापस कर दी, क्योंकि वे वहाँ बहुत अर्से से रहते चले आये थे।"[3] अब्दुल्ला के लेखों से भी इसकी पुष्टि होती है।

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि - बिहार के नूहानी राज्य को बिना औपचारिक रूप से अपने राज्य में मिलाये हुये, बाबर ने उस पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर दी, परिणामस्वरूप बिहार मुगल साम्राज्य का एक हिस्सा बन गया, जिसका राजा जलालखाँ नूहानी, एक अधिनस्थ शासक के रूप में बनाया गया।

16 मई, 1529 ई. तक बिहार की शासन व्यवस्था पूर्ण करने के पश्चात् अपने राज्य की पूर्वीय सीमाओं को पूर्ण रूप से सुरक्षित रखने के लिए, बंगाल के शासक नुसरतशाह के साथ शान्ति सन्धि की चर्चा की, जिसके अनुसार यह तय हुआ कि दोनों पक्ष एक दूसरे के राज्य पर चढ़ाई नहीं करेंगे और न ही एक दूसरे के शत्रु को शरण देंगे।[4] इस प्रकार नुसरतशाह ने बिहार में बाबर की सम्प्रभुता को स्वीकार कर लिया।

---

1. बाबरनामा, पृ. 676 ; रिजवी : बाबर, पृ. 329 ; कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 95.
2. त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ. 48.
3. तबकाते अकबरी, भाग 1, पृ. 320 ; अब्दुल्ला, पृ. 99.
4. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग 4, पृ. 18.

बंगाल के शासक के साथ शान्ति सन्धि करने के दो दिन पश्चात् ही ⟨21 मई⟩ अनेक अफगान सरदार जैसे - इस्माइल जिलवानी, अबुल खान नूहानी, औलिया खान इशराकी आदि बाबर की सेवा में उपस्थित हुये और उसकी अधीनता स्वीकार कर ली, परन्तु शक्तिशाली अफगान नेता ⟨बिब्बन वायजिद⟩ जो अफगानों में प्रभावशाली व प्रमुख सेनापति थे, पूर्वीय क्षेत्र विशेषकर बिहार में मुगलों की सम्प्रभुता को सहन न कर सके और अफगानों की पराजय को अपनी पराजय मानने से इन्कार कर दिया, परिणामस्वरूप बाबर ने जैसे ही बिहार बंगाल की राजनीति से निश्चिन्त हो अपना ध्यान वापस आगरे की ओर मोड़ा, सुअवसर देखकर, बाबर की अनुपस्थिति का लाभ उठाते हुये, इन दोनों नेताओं ने घाघरा व सरयू नदी पारकर लखनऊ की ओर प्रस्थान किया और मुगलों के विरुद्ध आक्रमणात्मक नीति अपनायी ।[1]

यद्यपि घाघरा के युद्ध ने अफगान विद्रोह की कमर तोड़ दी थी, किन्तु उसे पूर्णतया कुचल न सका था, परिणामस्वरूप बिब्बन, बायजिद वीर अफगान सेनानायकों ने घाघरा पार कर लखनऊ जीत लिया और जौनपुर तथा चुनार तक बढ़ आये थे । इस स्थिति को देखते हुये बाबर के लिए यह आवश्यक था कि वह पूर्वी प्रदेश के दो प्रादेशिक शक्तियों में ⟨नुसरतशाह व अफगान⟩ संतुलन स्थापित करने के पश्चात् इन विद्रोहियों को भी जड़ से समाप्त कर दे ताकि वे अपना सिर भविष्य में फिर न उठा सकें । इस दृष्टि से उसने कुन्दबह से 23 मई को विश्वासघाती इन अमीरों के विरुद्ध प्रस्थान किया ।[2]

बाबरनामा में स्पष्ट उल्लिखित है कि इन विद्रोहियों के विरुद्ध आगे बढ़ने से पूर्व बाबर ने उन अमीरों व सरदारों को पारितोषिक प्रदान किया, जो उसकी सेवा में आये थे । उसने मारूफ फारमुली के पुत्र शाह मुहम्मद को एक खिलअत

---

1. बाबरनामा, पृ. 677 ; रिजवी, बाबर, पृ. 329-330 ; अर्सकीन, भाग 1, पृ. 506.
2. वही . रिजवी , बाबर, पृ. 330.

तथा तीपूचक घोड़ा प्रदान किया और उसे अपनी वजह में जाने की अनुमति प्रदान की । इसके अतिरिक्त सरन की जागीर व कुण्डल की मालगुजारी (29 मई, 1529 ई.) भत्ते के रूप में प्रदान किया। उसी दिन उसने इस्माइल जिलवानी को सरवर की मालगुजारी में से 72 लाख का भत्ता और तीपूचक घोड़ा प्रदान किया। अहमद खान के पुत्र एशियन तिमुर को 36 लाख के कर पर नारनौल का परगना और उसके छोटे भाई तुख्ता बुगा को 30 लाख वार्षिक कर निश्चित कर शम्साबाद की जागीर प्रदान की गयी ।[1]

इसप्रकार पूर्ण व्यवस्था करने के पश्चात् इन दोनों नेताओं (बिब्बन, बायजिद) को कुचलने का दृढ़ निश्चय कर मुहम्मद जमान मिर्जा, सुल्तान जुनैद बरलास, महमूद खान नूहानी, ताजखान सारंगखानी आदि प्रमुख व्यक्तियों के नेतृत्व में एक सैनिक टुकड़ी को जलेसर से चुनार में उनका रास्ता रोकने के लिए भेजा। जब उन्हें बाबर के स्वयं आने की सूचना मिली तो अफगान भयभीत हो गये और डालमऊ भाग गये । इन दोनों अफगानों के डालमऊ की ओर भाग जाने की खबर सुनते ही बाबर ने डालमऊ में इनका पीछा करने के लिए ईसान तिमुर सुल्तान, मुहम्मद सुल्तान मिर्जा, तुख्ता बुगा सुल्तान, कासिम हुसैन सुल्तान, बीखूब सुल्तान, मुजफ्फर हुसैन सुल्तान, कासिम ख्वाजा जफर ख्वाजा, जाहिद ख्वाजा, जॉनी बेग, कालपी के आलमखान, मलिक दाद कर्रानी और राय सरवानी आदि प्रमुख नेताओं को 2 जून को नियुक्त किया ।[2]

मुगलों के इस सैन्य दल तथा स्वयं बाबर द्वारा उनके विरुद्ध आगमन की सूचना पाते ही, अपने को मुगलों से युद्ध करने में असमर्थ समझकर अफगान नेता 20 जून, 1529 ई. को महोबा पलायित हो गये, परन्तु शक्तिशाली मुगल सेना द्वारा उनका पीछा किये जाने के कारण उन्होंने शीघ्र ही इसे भी (महोबा) छोड़ दिया

---

1. बाबरनामा, पृ. 677, 679.
2. वही, पृ. 682 ; रिजवी : बाबर, पृ. 333.

और कुछ समय के लिए राजनीति से अलग एकान्तवास ग्रहण कर लिया।[1]

इस सैनिक अभियान को अन्तिम रूप प्रदान करने के पश्चात् उसने पूर्व की प्रशासनिक व्यवस्था की ओर भी ध्यान दिया। मुहम्मद जमान मिर्जा को जौनपुर का गवर्नर नियुक्त किया और चुनार तथा बिहार के जिले का शासन भार कड़ा, मानिकपुर के गवर्नर सुल्तान जुनैद बरलास को सौंपा ।[2] पूर्व में अफगानों की ओर से पूर्णतया निश्चिन्त होकर तथा प्रशासनिक व्यवस्था कर चुकने के बाद 29 जून, 1529 ई. को बाबर अन्तिम रूप से आगरे की ओर लौट गया और अपने जीवनकाल की समाप्ति तक पुनः दौरा नहीं किया।[3]

घाघरा के युद्ध के पश्चात् यद्यपि हिन्दुस्तान में बाबर का साम्राज्य भीरा से लेकर बिहार तक फैला था, जैसा कि उसने स्वयं स्वीकारा है कि - "भीरा से लेकर पूर्व में बिहार तक का क्षेत्र मेरे अधीन था ।"[4] परन्तु इस विस्तृत क्षेत्र को पूर्णतया विकसित देखने के लिए वह अधिक दिनों तक जीवित न रह सका। 26 दिसम्बर, 1530 ई.[5] को आगरे में इस महान योद्धा व योग्य सेनापति ने इस भौतिक संसार से सदा के लिए मुख मोड़ लिया ।

बाबर व नूहानी अफगानों के क्रियाकलापों को देखते हुए निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि - बाबर ने यद्यपि पूर्वी क्षेत्र में लम्बा समय व्यतीत किया

---

1. बाबरनामा, पृ. 685, (वर्तमान समय में महोबा हाजीपुर जिले में है)
   त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ. 48.
2. अर्सकीन, भाग 2, पृ. 131.
3. बाबरनामा, पृ. 686 ; अर्सकीन, भाग 2, पृ. 131 ; रशब्रुक विलियम्स: ऐन एम्पायर बिल्डर ऑफ सिक्सटींथ सेन्चुरी, पृ. 169.
4. वही, पृ. 686 ; अर्सकीन, भाग 1, पृ. 540-41.
5. अकबरनामा, भाग 1, पृ. 276 ; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग 4, पृ. 18.

था परन्तु वह अपने लक्ष्य (विजय योजना) को कभी नहीं भूला। उसने अफगान विद्रोहियों को पराजित कर उनकी बढ़ती हुयी शक्ति को रोका, बंगाल के शासक नुसरतशाह के साथ सन्धि की, और बिहार पर मुगल प्रभुत्व स्थापित किया। इस सम्बन्ध में बेवरीज लिखती हैं कि -घाघरा के युद्ध ने नूहानी अमीरों को बिहार में बाबर के खिराजदारों के रूप में पुनः स्थापित कर दिया।[1]

यह सत्य है कि उसके पूर्व से वापस जाने के पश्चात् बिहार पर मुगल शासन ठीक से न हो सका क्योंकि सुल्तान मुहम्मद मिर्जा जिसके कन्धों पर शासन का भार डाला गया था, उसको उस प्रदेश में अधिक समय तक नहीं रहने दिया गया, बल्कि उसे बिब्बन लोदी व बायजिद फारमुली का महोबा तक पीछा करने के पश्चात् बिहार न भेजकर जौनपुर भेज दिया गया । यद्यपि बिहार का प्रशासन सुल्तान मुहम्मद मिर्जा के हाथों न हो सका किन्तु बाबर ने स्वयं कुछ ऐसे ठोस पग उठायें थे कि बिब्बन तथा बायजिद पुनः बिहार की राजनीति में प्रवेश न कर सके, इसके अतिरिक्त नूहानी अफगान सरदारों से, जिन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी, यह आशा करता था कि वे भविष्य में विद्रोही अफगानों (जो मुगलों के विरोधी हैं) का मुकाबला करेंगे और उनकी शक्ति को नष्ट करने का प्रयास करेंगे । इस दृष्टि से उसने न केवल जलाल खाँ नूहानी को उसका राज्य वापस कर दिया बल्कि उसे अपना मातहती भी बना लिया, वह इस शर्त पर कि प्रतिवर्ष जलाल खाँ बिहार की मालगुजारी में से । करोड़ दाम मुगल राजकोष में जमा करेगा । इस प्रकार पुनः स्थापित नूहानी सुल्तान जलालुद्दीन अब मुगल साम्राज्य का एक सामन्त और करदायी बन गया, जिस पर एक बड़ी आर्थिक जिम्मेदारी डाल दी गयी थी, जबकि अभी वह अल्पायु शासक ही था। इतना होने के बावजूद भी बाद की घटनाओं को देखने से पता चलता है कि बिहार पर मुगलों का पूर्णरूपेण अधिकार बाबर भी स्थापित न कर सका और न ही अफगानों

---

1. बाबरनामा, पृ. 676, फु.नो. 2.

की विद्रोही प्रवृत्ति को ही दबा सका, क्योंकि जिन परिस्थितियों में वह साम्राज्य निर्माण का कार्य कर रहा था उन परिस्थितियों को देखते हुये उसके समक्ष केवल दो ही प्रश्न थे, एक तो बिहार को विजित कर मुगल साम्राज्य में अंतिम रूप से मिलाना असम्भव था और दूसरा बिना बंगाल की विजय किये हुये बिहार के अफगानों पर प्रभुत्व बनाये रखना भी असम्भव सा प्रतीत हो रहा था, ऐसी परिस्थिति में यदि वह बिहार को विजित कर मुगल साम्राज्य में मिला भी लेता, तो भी बिहार मुगल सम्राट के लिए सदैव एक समस्या बना रहता । अतः वस्तु स्थिति को देखते हुये मुगल साम्राज्य व सम्राट दोनों के हित में यह आवश्यक था कि बंगाल के शासक सुल्तान नुसरतशाह के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये जाये, बिहार के अफगान कबीलों की अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाये और अफगान विद्रोहियों को वहाँ से निकाल दिया जाये ।

यद्यपि बाबर को इस कार्य में सफलता मिली परन्तु वह स्वयं बिहार की उलझनों से निकलना चाहता था और केवल यही चाहता था कि बिहार पर मुगलों का नाममात्र का प्रभुत्व स्थापित हो जाये, इसलिए उसने नूहानी अफगानों को जो मुगलों के अधीन रहकर भी अपना प्रदेश वापस लेने के लिए ललायित थे, बिहार वापस कर दिया और नाममात्र को मुगल प्रभुत्व बिहार में कायम किया।

डॉ. बनर्जी ने बाबर के बिहार अभियान की आलोचना करते हुए लिखा है कि - बाबर ने बिहार के अफगानों को शक्तिहीन तो कर दिया किन्तु उनके साथ न तो वह संतोषजनक सम्बन्ध स्थापित कर सका न ही उन्हें अपने पक्ष में कर सका और न ही बंगाल के शासक के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर सका । वे आगे लिखते हैं कि - बाबर ने महमूद नूहानी को 50 लाख, जलालुददीन नूहानी को एक करोड़ की मालगुजारी की जागीर देकर, जौनपुर में (मुहम्मद जमान मिर्जा के पश्चात्) जुनैद बरलास को नियुक्त कर और बिहार को अफगानों के हाथों में सौंप-कर, बहुत बड़ी भूल का परिचय दिया। इसके अतिरिक्त शर्की वंश के वंशज जलालु-ददीन शर्की जिसने घाघरा के युद्ध में बाबर की सहायता की थी, उसके लिए कुछ

भी बाबर ने नहीं किया। आगे चलकर महमूद नूहानी ने जिसे उसने 50 लाख टंके की मालगुजारी वाली भूमि प्रदान की थी मुगलों की कोई सहायता न की। इस प्रकार उसने अफगानों को पूर्वी भारत में सर्वोपरि छोड़ दिया।[1]

डॉ॰ बनर्जी के तथ्य से ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्वयं न तो पूर्वी प्रदेश को समझ सके और न ही बाबर की नीति को । तत्कालीन परिस्थितियों में न तो बिहार को पूर्ण रूप से विजित करना उचित था और न ही मुगल साम्राज्य में मिलाना संभव था। घाघरा के युद्ध के पश्चात् जब उसने देखा कि अफगानों को समाप्त करना बहुत कठिन है तो उनके प्रति उसने सहृदयता की नीति अपनायी और कन्नौज से लेकर बिहार तक के प्रदेश में (केवल जौनपुर को छोड़कर) अफगान वजहदारों की सहायता से शासन किया, जिसका परिणाम सामने आया कि घाघरा के युद्ध से लेकर बाबर की मृत्यु (1530 ई॰) तक अफगानों ने पुनः मुगल साम्राज्य को चुनौती न दी और बिहार मुगल साम्राज्य का करदायी हिस्सा बना रहा।

---

1. डॉ॰ एस॰ के॰ बनर्जी का शोध निबन्ध, पोस्ट वारसेटिलमेंटस इन दोआब मालवा एण्ड बिहार, प्रोसिडिंग्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, पटना 1946, पृ॰ 296-98.

तृतीय अध्याय

अफगान उत्कर्ष एवं शेरशाह

1. फरीद का प्रारम्भिक इतिहास
2. फरीद जमालखाँ सारंगखानी की शरण में
3. फरीद हसन खाँ की जागीर के प्रबन्धक के रूप में
4. फरीद द्वारा जागीर का त्याग
5. फरीद सुल्तान मुहम्मद नूहानी की शरण में
6. शेरखाँ की महत्वाकांक्षा एवं संघर्षमय स्थिति
7. शेरखाँ बिहार का निर्विवाद स्वामी
8. रोहतास दुर्ग शेरखाँ के कब्जे में
9. चौसा का युद्ध एवं परिणाम
10. शेरखाँ द्वारा शाह आलम की उपाधि धारण करना ।

16वीं शताब्दी में भारत-भूमि पर अफगानों का एक शक्ति के रूप में उदित होना कोई नवीन बात नहीं थी, बल्कि यह शताब्दियों से चली आ रही उनके अस्तित्व की रूपरेखा थी, जिसे किसी भी कीमत पर कायम रखने की लालसा उनमें {अफगानों में} तीव्र हो चुकी थी, इसका प्रमुख कारण था, प्रारम्भ से ही प्रशासन में उच्च स्थिति को प्राप्त करते रहना। अधिक स्पष्ट रूप में यह कहा जा सकता है कि - "मुइजुद्दीन मुहम्मद साम" की सेना में शामिल होने के पश्चात् बलबन के राज्य काल में उन्हें महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप ये दोआब में हिन्दुओं के तीन प्रमुख केन्द्रों भोजपुर, कम्पिला और पटियाली में दुर्ग रक्षकों के रूप में नियुक्त किये जाने के बाद से ही एक शक्ति के रूप में दिल्ली सल्तनत के इतिहास में उदित होने लगे थे और सम्पन्नता का जीवन व्यतीत कर रहे थे ।[1]

सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल में अफगान अपने नेता मुल्तान के सरदार मलिक शाहू लोदी, गुजरात में क्वाजी जलाल और दक्षिण में इस्माइल मख़ के नेतृत्व में शास्त्रों की होड़ में अग्रसर हुये । उनके इस प्रकार अग्रसर होने और उभरने का मुख्य कारण बहलोल लोदी {1451-1489} था, जिसने इस जाति विशेष के मुख्य सरदारों को सन्धि के द्वारा एकता के सूत्र में बाँधा था, परन्तु बहलोल लोदी की मृत्यु के पश्चात् लगभग 1/4 शताब्दी के अन्दर ही अफगान

---

1. तारीखे फरिश्ता, 58 ; तारीखे कुतबी, पृ॰ 603 ; उद्धृत इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ॰ 36 ; सम आस्पेक्ट्स ऑफ अफगान डिस्पोटिज्म इन इण्डिया, पृ॰ 6 ; यदुनाथ सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ॰ 166.

स्वयं में विभाजित हो गये {लोदी, नूहानी, फार्मुली आदि}[1] और 1450 ई. के बाद से ही जो अस्थायी पुनर्जागरण हुआ था {लोदी शासन का} वह लोदी सरदारों के आपसी कलह एवं द्वेषतथा इस वंश के कुछ शासकों की प्रतिक्रियावादी एवं अत्याचारपूर्ण नीति के कारण दूषित हो गया, फलतः भारत की सत्ता चगताई तुर्क {बाबर} के हाथ में चली गयी[2], जिसने क्रमशः पानीपत, खानवा, घाघरा का युद्ध कर अफगान शक्ति को कमजोर बना दिया ।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह विदेशी आक्रमणकारी और पुनर्जागृत राष्ट्रीय शक्ति के बीच ताकत की आजमाइश थी । राष्ट्रीय शक्ति विदेशी शक्ति के आगे दब गयी और उसने विदेशी आक्रमणकारी के लिए नवीनवंश {मुगल-वंश} कायम करना और आसान कर दिया ।

यद्यपि मुगलवंश की सत्ता {1526 ई. में} कायम तो हो गयी थी, परन्तु मुगल शासन को सबसे अधिक खतरा पश्चिम में राजपूत शक्ति व पूर्व में अफगान शक्ति से था। साम्राज्य विस्तार में इन शक्तियों को बाधक समझकर मुगल आक्रान्ता ने इनसे निपटने का दृढ़ निश्चय कर राजपूत शक्ति पर अपनी प्रभुता स्थापित कर ली और अब अपना ध्यान पूर्व में बढ़ते हुये अफगानों की ओर केन्द्रित किया। पूर्व में विशेषकर बिहार में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम करने में अफगानों को अधिक समय नहीं लगा था। सुल्तान सिकन्दर लोदी के {1489-1517 ई.} शासनकाल में ही बिहार नूहानी साम्राज्य के अन्तर्गत शासन के अधीन कर लिया गया था[3] और दरिया खाँ नूहानी {मुबारक खाँ के पुत्र} को इसका गवर्नर बनाया गया, परन्तु सुल्तान सिकन्दर लोदी की मृत्यु के

---

1. यदुनाथ सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 166.
2. वही.
3. अर्सकीन, भाग II, पृ. 108.

बाद इब्राहिम लोदी के गलत पदपेक्षों के कारण ताज में नवीन परिवर्तन हुआ और इस परिवर्तन ने मुगल अफगान विरोध व कटुता को जन्म दिया। परिणामस्वरूप समस्त पूर्वी क्षेत्र में अफगान सत्ता को पुनः कायम रखने व अपना प्रभाव जमाने के लिए अशान्ति एवं विद्रोह की ज्वाला प्रचुर मात्रा में फैलने लगी ।[1] यहाँ तक कि अफगान अपना खोया हुआ साम्राज्य पुनः प्राप्त करने की लालसा में इधर-उधर सहायता की खोज में भटक रहे थे और उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे । इस समय अफगानों के समक्ष साम्राज्य प्राप्ति की समस्या, सबसे बड़ी समस्या थी। इस समस्या से उबरने का कोई स्पष्ट साधन दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था, इस-कारण वे निराशा एवं क्षुब्धावस्था की स्थिति में थे । कई वर्षों तक पूर्वी क्षेत्र युद्ध के केन्द्र व मानसिक अशान्ति का कारण बने रहे ।[2] पूर्वी क्षेत्र विशेषकर बिहार प्रांत आपसी संघर्ष व युद्धों के कारण उथल पुथल का राज्य हो चुका था, कि इसी बीच आठ महीने की लम्बी बीमारी के पश्चात् जमादि-उल-अव्वल 937 हि॰ ﴾26 दिसम्बर, 1530 ई॰﴿ को बाबर की आगरे में मृत्यु हो गयी ।[3]

तारीखे कुतबी का लेखक मुगल अफगान सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुये लिखता है कि - "अफगान जो मुगलों से पूर्व सम्पन्नता का जीवन व्यतीत कर रहे थे, मुगलों के आगमन से काफी क्षुब्ध एवं निराश थे, परन्तु जैसे ही उन्हें बाबर के मृत्यु की सूचना मिली उनमें हर्ष की लहर दौड़ गयी । उन्होंने सुअवसर देख साहस जुटाया और अपने खोये हुये साम्राज्य को पुनः प्राप्त करने के उद्देश्य से बिब्बन लोदी, बायजिद फार्मुली तथा अन्य प्रमुख अफगान सरदारों के संरक्षण में मुगलों के विरुद्ध एक जुट होकर लड़ने का दृढ़ निश्चय किया और अपने इस

---

1. अर्सकीन, भाग II, पृ॰ 108 ; यदुनाथ सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ॰ 166॰
2. वही॰
3. अकबरनामा ﴾अं॰अनु॰﴿ भाग I, पृ॰ 276 ; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग IV ,पृ॰18 ; अवस्थी, पृ॰ 248॰

उद्देश्य की पूर्ति के लिए बिहार को प्रमुख सैनिक केन्द्र बनाया ।[1]

डॉ॰ युसुफ हुसैन लिखते हैं कि - "बाबर के मृत्यु की सूचना पाते ही बहुत से अफगान, जिन्हें बाबर ने घाघरा के युद्ध में पराजित कर भागने को विवश कर दिया था और उनमें से कुछ जो भागकर बुंदेलखण्ड की पहाड़ियों में छिपे हुये थे, मुगल सत्ता को चुनौती देने के उद्देश्य से बाहर निकल आये । इन अफगानों में सिकन्दर लोदी का पुत्र महमूद लोदी प्रमुख था । अफगान सरदारों द्वारा महमूद लोदी को बुन्देलखण्ड की पहाड़ियों से पूर्वी क्षेत्र को विजित करने तथा डुबते हुये दिल्ली सल्तनत को अफगान सत्ता के अन्तर्गत पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से आमंत्रित किया गया ।"[2]

चूँकि समय की माँग यह थी कि छिट-पुट आक्रमण करने के बजाय एक जुट होकर तथा एक आदर्श से प्रेरित होकर किसी योग्य व्यक्ति के नेतृत्व में कार्य करना अधिक श्रेयस्कर है, अतः इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुये अफसानये शहान का लेखक शेख कबीर लिखता है कि - "बाबर की मृत्यु का समाचार पाकर बायजिद फार्मुली और बिब्बन खाँ लोदी ने शेरावां के पास ऐसे सही मौके पर मुगलों के विरुद्ध संघर्ष के लिए अन्य अफगान प्रमुखों सहित महमूद लोदी[3] के साथ शामिल

---

1. तारीखे कुतबी, पृ॰ 600 ;602, 603 ; उद्धृत इक्तदार हुसैन सिद्दिकी: हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ॰ 34.
2. युसुफ हुसैन : इण्डो-मुस्लिम पालिटी, पृ॰ 188.
3. मई 1529 ई॰ में घाघरा के युद्ध में पराजित हो जाने के पश्चात् अक्टूबर 1531 ई॰ तक सुल्तान महमूद लोदी के क्रियाकलापों की विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती । इस समय तक पूर्वी राजनीतिक मंच पर नूहानी वंश विशेष प्रभावकारी रहा । -अवस्थी, पृ॰ 246, 249 , फु॰नो॰ 72, 79.

होने के लिए लिखा, ताकि पहले उनसे (मुगलों से) जौनपुर राज्य और फिर अगर भाग्य साथ दे तो दिल्ली सल्तनत को दबाने का यत्न किया जाये।"[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय तक पूर्वी क्षेत्र के राजनीतिक मंच पर सासाराम के जागीरदार के रूप में शेर खाँ अफगानों में विशेष शक्तिशाली हो चुका था, अतः पहले शेर खाँ के प्रारम्भिक उत्कर्ष के सम्बन्ध में वर्णन आवश्यक है -

शेर खाँ

प्रारम्भिक इतिहास

अब्बास खान सरवानी द्वारा लिखित तारीखे शेरशाही जो शेरशाह कालीन इतिहास जानने का मूल स्रोत है, के द्वारा हमें शेरशाह के जीवन एवं उसके काल में घटित घटनाओं की पूरी जानकारी प्राप्त होती है। यद्यपि आधुनिक इतिहासकारों[2] की मान्यता है कि शेरशाह के सम्पूर्ण जीवन के घटनाक्रम का तारीखे शेरशाही द्वारा संतोषजनक रूप में मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। उनका विश्वास है कि तारीखे शेरशाही का लेखक अब्बास खान सरवानी, जिसने इस ग्रन्थ की रचना अकबर के शासनकाल में की थी, स्वयं अफगान जाति से सम्बन्धित था। अतः स्वाभाविक है कि वह अपनी जाति के ख्याति प्राप्त बन्धुओं से अधिक प्रभावित हुआ होगा, इस आधार पर शेरखाँ का अब्बास द्वारा किया गया वर्णन किसी हद तक भावुकतापूर्ण प्रतीत होताहै। डॉ॰ अवस्थी

---

1. मुहम्मद कबीर बिन शेख इस्माइल , एफ॰ 66 ए (एफ 66 ए) ; इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ॰ 35 ; अर्सकीन, भाग II, पृ॰ 132॰
2. अवस्थी, पृ॰ 231॰

का कथन है कि - "यह भी सम्भव है कि शेरशाह के पश्चात् किये गये {इनका संकेत अकबर के शासनकाल की ओर प्रतीत होता है} प्रशासनिक नियंत्रण एवं प्रशासनिक वृद्धि से अब्बास अनजानें में ही प्रभावित हो गया और इसका श्रेय उसने शेरशाह के शासन को दे डाला हो । डॉ. अवस्थी इस बात को स्वीकार करते हैं कि शेरशाह के प्रारम्भिक जीवन का वर्णन जो हमें इस ग्रन्थ से प्राप्त है, उसमें कहानी सी राजकीय शान-शौकत और वैभव की उज्ज्वलता-सी प्रगट होती है, फिर भी सूर शासन मुख्यतया शेरशाह के जीवन का इतिहास जानने का यह प्रमुख स्रोत है, क्योंकि अन्य समकालीन ग्रन्थों {तारीखे फरिश्ता, तबकाते अकबरा, वाकयाते मुश्ताकी, मुन्तख़ब-उत-तवारीख, तारीखे दाऊदी, तारीखे खाने जहाँना इत्यादि} के द्वारा भी लगभग उन्हीं घटनाओं की पुष्टि होती है, जिसका अब्बास खाँ सरवानी ने यथास्थान वर्णन किया है। अतः तारीखे शेरशाही के आधार पर शेरशाह के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में जो जानकारी प्राप्त होती है, उस आधार पर यह कहा जा सकता है कि - "शेरशाह इब्राहिम खाँ-सूर[1] का पोतातथा छोटे से जागीरदार हसन खाँ सूर का पुत्र था, जो सुल्तान बहलोल लोदी के शासनकाल में 1482 ई. में अफगानिस्तान के उस स्थान से जिसे पश्तो {अफगानी भाषा} भाषा में शर्गरी और मुल्तानी भाषा में रोहरी[2]कहते

---

1. इब्राहिम खाँ सूर हसन खाँ सूर का पिता व शेरशाह का दादा था। वह रोह के सूर कबीले की शेराखेल शाखा में से था। वह घोड़ों का व्यापारी था। इनकी अपनी जाति के लोगों में विशेष प्रसिद्धि नहीं थी । वृद्धावस्था में वह जीविका कमाने के उद्देश्य से अपना वतन {रोह} छोड़कर 1482 ई. में बहलोल के शासन के 30वें वर्ष में भारत आया था.-कानुनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 6-7.
2. "रोहरी" एक पहाड़ी नगर है, जो सुलेमान पहाड़ से निकला है। इसकी लम्बाई लगभग 6 - 7 कोस है। यह दक्षिणी अफगानिस्तान और सिन्धु घाटी के मध्य में "गोमलनदी" के किनारे बसा है . -इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV ,पृ.231; कानूनगो : वही, पृ. 3-4.

हैं, नौकरी की तलाश में भारतवर्ष आया था ।

इन लोगों ने भारत में प्रवेश करने के पश्चात् मुहम्मद खाँ सूर दाऊद शाहूखेल (यह अफगान कबीले से सम्बन्धित था और बहलोल लोदी के सेवकों में से एक था) की सेवा में प्रवेश किया। इब्राहिम अपने पुत्र के साथ बजवारा[1] में बस गया। वहाँ कुछ समय रहने के पश्चात् इब्राहिम खाँ सूर ने मुहम्मद खाँ की नौकरी त्याग कर हिसार फिरोजा[2] के जागीरदार जमालखाँ सारंगखानी की नौकरी कर ली ।[3] यही शेरशाह का जन्म 1486 ई. में हुआ ।[4] इसका बचपन

---

1. बजवारा जलन्धर में जिला होशियारपुर के दक्षिणपूर्व में दो मील दूर 31^{0} 31' उत्तर और $75^{0}57'$ पूर्व में स्थित है। प्राचीनकाल में इस नगर की नींव सुप्रसिद्ध गायक बैजूबावरा ने डाली थी । -एफ.एच. फिशर : होशियारपुर डि. गजेटियर, भाग XIII ए. , लाहौर 1905, पृ. 215.
2. हिसार वर्तमान हरियाणा राज्य का मुख्य जिला है। यह $31^{0}1'$ उत्तर और $76^{0}22'$ पूर्व में दिल्ली के पश्चिम में 102 मील दूर स्थित है। 1354 ई. में हिसार की नींव फिरोजशाह तुगलक ने डाली थी । इसी आधार पर इसका नाम हिसार फिरोजा अर्थात् "हिसार का किला" पड़ गया ।" -पी.जे. फागन : हिसार डि. गजेटियर, भाग ए,लाहौर1916, पृ. 1, 24.
3. अब्बास : तारीखे शेरशाही, पृ. 8-9.
4. अब्बास यद्यपि घटनाक्रम का वर्णन करते हुये फरीद के जन्म तक स्थान परिवर्तन का उल्लेख करता है, परन्तु फरीद के जन्म की तिथि व स्थान का उल्लेख नहीं करता । वह केवल इतना लिखता है कि "फरीद का जन्म बहलोल के शासनकाल में हुआ था" । -वही, पृ. 8.

   नियामत उल्लाह ने फरीद का जन्म स्थान हिसार फिरोजा बताया है, पर यह भी जन्मतिथि का उल्लेख नहीं करता । -नियामत उल्लाह : तारीखे-खाने जहाँनी, भाग 1, पृ. 262.

का नाम फरीद था। कुछ दिनों हिसार में रहने के पश्चात् जमाल खाँ सारंगखानी द्वारा इब्राहिम सूर को 40 घोड़े और इन अश्वारोही सैनिकों के निर्वाह के लिए नारनौल[1] परगने के कुछ गाँव प्रदान किये गये । शिमला या शामली अथवा शम्लू[2] ﴾आगरा प्रान्त में यह जिला था﴿ में इस परिवार ने अपना निवास स्थान बनाया । यद्यपि यहाँ ﴾नारनौल﴿ फरीद का जन्म नहीं हुआ था, परन्तु यहाँ पालन-पोषण होने के कारण फरीद इसे अपना जन्म स्थान मानता है ।[3]

कुछ वर्षों पश्चात् हसन के पिता इब्राहिम खाँ सूर की नारनौल में मृत्यु की सूचना पाकर मियाँ हसन जो उस समय शाहाबाद[4] ﴾सरहिन्द﴿ में था,

---

डॉ॰ कानूनगो ने भी फरीद का जन्म स्थल हिसार माना है और उसके जन्म की तिथि 1486 ई॰ बताते हैं . -शेरशाह और उसका समय, पृ॰ 10, 11; परन्तु डॉ॰ परमात्माशरण और डॉ॰ सतीश चन्द्र मिश्रा ने उसकी जन्मतिथि 1472 ई॰ मानी है । -पी॰ सरन : डेट एण्ड प्लेस ऑफ शेरशाह बर्थ ; जे.बी.ओ.आर.एस॰, 1934, भाग 21, पृ॰ 112 ; सतीशचन्द्र मिश्रा: पालिटिकल हिस्ट्री ऑफ दि सूर डायनेस्टी, बी.एच.यू॰, 1950, पृ॰4॰

1. नारनौल रिवाड़ी से 30 मील दूर 38°3' उत्तर 76°10' पूर्व में स्थित है। वर्तमान समय में यह अनाज की मण्डी है। यह सियालकोट से 35 मील दक्षिणपूर्व तथा दिल्ली से 86 मील दक्षिण पश्चिम में स्थित है । -इम्पीरियल गजेटियर, भाग 7, 18, पृ॰ 61, 380-81॰
2. अर्सकीन, भाग 2, पृ॰ 112॰
3. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ॰ 10॰
4. इब्राहिम खाँ सूर भारत आने के पश्चात् जमालखाँ सारंगखानी की सेवा में शामिल हुआ और हसन खाँ सूर मसनदे आली उमर खाँ सरवानी ककहूर, जिसकी अवधि आजम खाँ थी, की सेवा ग्रहण कर ली । उमर खाँ की जागीर, सरहिन्द की सरकार में बिन्नौर, शाहाबाद, तथा पायल थी । उमर खाँ ने मियाँ हसन को शाहाबाद के परगने में निहावली नामक ग्राम जागीर में दिया था । -अब्बास : तारीखे शेरशाही, पृ॰ 9॰

मसनदे आली उमर खाँ के पास आया, वहाँ से वह जमालखाँ सारंगखानी (1498-99 में) की सेवा में उपस्थित हुआ। उमर खाँ की संतुति पर हसन खाँ को अपने पिता की जागीर के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्राम और, जमाल खाँ ने उसे प्रदान किये। जमालखाँ हसन खाँ सूर की सेनाओं से बहुत संतुष्ट था। इसलिए उसने हसन खाँ को सासाराम, हाजीपुर, ख्वासपुर, टांडा[1] के परगने जो रोहतास के अधीन थे तथा जिनकी आय 500 घुड़सवार सैनिकों के लिए पर्याप्त थी, जागीर स्वरूप प्रदान की और इस प्रकार उसे 500 अश्वारोहियों का सरदार नियुक्त किया।[2]

---

1. नियामत उल्लाह, (भाग 1, पृ. 262); अब्दुल्ला, (पृ. 207); अब्बास : (तारीखे शेरशाही, पृ. 12); कानूनगो (शेरशाह और उसका समय, पृ. 15,46) ख्वासपुर टांडा, सासाराम का वर्णन करते हैं परन्तु मुन्तख़ब-उत-तवारीख में बदायूँनी ने केवल सासाराम और ख्वासपुर परगने का उल्लेख किया है। -मुन्तख़ब-उत-तवारीख, भाग 1, पृ. 357.
   आधुनिक इतिहासकार डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने सासाराम, हाजीपुर, ख्वासपुर का उल्लेख किया है। -दि लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ.97; डॉ. सतीशचन्द्र मिश्रा ने भी ईश्वरी प्रसाद का समर्थन किया है। -पालिटिकल हिस्ट्री ऑफ सूर डायनेस्टी, थीसिस, पृ. 5.
   ऐसा प्रतीत होता है कि ख्वासपुर और टांडा अलग-अलग स्थान नहीं हैं। ख्वासपुर टांडा का वास्तविक नाम मोहनिया पता चलता है। यह सासाराम के दक्षिण पश्चिम में स्थित है। -मार्टिन, मॉंटगोमरी, दि हिस्ट्री एण्टीक्यूटिज टोपोग्राफी एण्ड स्टेटिस्टिकल एकाउण्ट ऑफ ईस्टर्न इण्डिया, भाग 1, दिल्ली 1976, पृ. 455-460.
2. अब्बास, पृ. 12 ; अब्दुल्ला, पृ. 107 ; नियामतउल्लाह, भाग 1, पृ. 262-63.

सासाराम और ख्वासपुर टांडा के परगने एक सीमा पर स्थित थे। सासाराम एक छोटा सा कस्बा मात्र था, जो प्राचीन समय में हिन्दुओं का बहुत बड़ा स्थल था। 1498-99 ई. में यह हसन खाँ सूर की जागीर का प्रधान नगर हो गया था, जहाँ हसन खाँ सूर स्थायी रूप से रहने लगा था। सम्भवतः नवयुवक फरीद के उत्कर्ष व नवीन अध्याय की शुरूआत यहीं से हुयी।

फरीद जमाल खाँ सारंगखानी की शरण में

अब्बास लिखता है कि - "हसन खाँ सूर के आठ पुत्र थे। फरीद और निजाम अफगान माता से थे, अली युसुफ दूसरी माता से, खुर्रम और शादी खाँ तीसरी माता से तथा सुलेमान और अहमद चौथी माता से थे।"[1] सुलेमान और अहमद की माता का हसन खाँ पर विशेष प्रभाव था, परिणामस्वरूप जागीर के बंटवारे में फरीद को उचित भाग न मिलने के कारण फरीद अपने पिता को बिना बताये ही गृहकलह से ऊबकर 1501 ई. में जौनपुर, जो शर्की सुल्तानों के समय से ही संस्कृति एवं शिक्षा का प्रमुख केन्द्र तथा सौन्दर्य की दृष्टि से हिन्दुस्तान में दूसरा शिराज[2] माना जाता था, जाकर जमाल खाँ सारंगखानी की सेवा में शामिल हो गया और जौनपुर मदरसे में शिक्षा ग्रहण करने लगा। उसने काजी शिहाबुद्दीन की काफिया नामक पुस्तक का, टीका तथा अन्य उपांगों सहित गहरा अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त उसने गुलिस्ता, बोस्ताँ का (फारसी में) तथा निजामी के सिकन्दरनामा का गूढ़ अध्ययन किया। वह

---

1. लगभग सभी तत्कालीन व आधुनिक इतिहासकारों ने पुत्रों की इस संख्या को एकमत से स्वीकारा है, परन्तु अहमद यादगार 5 पुत्रों का ही उल्लेख करता है। ये हैं फरीद, निजाम, सुलेमान, अहमद तथा मया। -अहमदयादगार, पृ. 175 नियामत उल्लाह भाग 1, पृ. 263 में लिखता है कि - फरीद तथा निजाम अफगान माता से थे और अन्य 6 पुत्र एक दासी से उत्पन्न हुये थे.
2. होदीवाला : स्टडीज इन इण्डो-मुस्लिम हिस्ट्री, भाग 1, बम्बई 1939, पृ. 446-7.

नौकरी की तलाश में आये हुये विद्वानों से हिन्दी में कुरान की टीकाएँ पूछता और यदा कदा पिछले बादशाहों के इतिहास व आत्मकथाओं का भी अध्ययन करता ।[1]

डॉ॰ कानूनगो लिखते हैं कि - "फरीद 1501 ई॰ में, जब वह 15 वर्ष का था पैतृक गृह त्याग कर जौनपुर जमालखाँ की सेवा में पहुँचा और विद्याध्ययन करने लगा ।"[2]

पुस्तकों के प्रति विशेष रुचि व गूढ़ अध्ययन ने उसके व्यक्तित्व पर अमिट छाप छोड़ी और भविष्य में शेरशाह को अन्य सेनानायकों से पृथक बना दिया जो उस समय राजकीय शानोशौकत का जीवन व्यतीत कर रहे थे ।

यद्यपि फरीद ने अरबी एवं फारसी साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था और पिछले बादशाहों के इतिहास तथा पैगम्बरों के जीवनियों का अध्ययन कर विशेष प्रभावित भी हुआ था, फिर भी डॉ॰ कानूनगो उस पर यह आरोप लगाते हैं कि - "जौनपुर में अध्ययन के प्रति उसकी रुचि किसी विशिष्ट उद्देश्य व लक्ष्य की प्राप्ति का साधन थी । वह विद्वता को किसी उद्देश्य की प्राप्ति का साधन समझता था, ज्ञान के लिए ज्ञानोपार्जन नहीं ।"[3] आगे पुनः वे और अधिक स्पष्ट रूप में कहते हैं कि - "कल्पना पर चाहे कितना

---

1. अब्बास, पृ॰ 12, 13, 14.
2. डॉ॰ कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ॰ 17, 31 .
   इसके विपरीत सतीश चन्द्र मिश्रा लिखते हैं कि - फरीद 904 हि॰ (1495 ई॰) में जौनपुर गया था। इस समय उसकी आयु 23 वर्ष थी । -पालिटिकिल हिस्ट्री ऑफ सूर डायनेस्टी, थीसिस, पृ॰ 6, 7.
   वर्तमान समय में कानूनगो के विचार को एकमत से स्वीकार किया गया है.
3. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ॰ 34.

ओर डाला जाये तो भी शेरशाह जौनपुर की संस्कृति का उत्तम उदाहरण नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसमें न तो काजी शिहाबुद्दीन जौनपुरी की सी विद्वता थी और न सईद मोहम्मद का आदर्शवाद व कट्टरपन, बल्कि उसमें तो सांसारिक प्रवृत्ति व ममता थी ।"[1]

इसके विपरीत डॉ. एस.के. बनर्जी ने उसको जौनपुर की संस्कृति का एक नमूना चित्रित किया है और उसकी गणना मध्यकाल में भारतवर्ष की राजनीतिक कीर्ति को ऊँचा उठाने वाले राष्ट्रीय वीरों में की है। वे लिखते हैं कि - "उसकी शिक्षा का ही फल था कि उसने उच्च आदर्शों और सिद्धान्तों को बनाये रखा ।"[2]

फरीद जौनपुर में लगभग 3 वर्षों[3] तक अपने अध्यापन कार्य में लीन

---

1. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 34.
2. एस.के. बनर्जी : हुमायूँ बादशाह, 1, पृ. 180.
3. तत्कालीन इतिहासकारों द्वारा दिया गया समय संदिग्ध है। अब्बास [पृ. 14] बदाँयुनी [मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग 1, पृ. 356] लिखते हैं कि वह जौनपुर में कुछ वर्ष रहा। फरिश्ता [पृ. 221] लिखता है कि वह दो वर्ष रहा। नियामतउल्लाह [पृ. 264] लिखता है कि वह 2 या 3 वर्ष रहा । अब्दुल्ला [पृ. 108] भी इसी की पुष्टि करता है। डार्न [भाग 1, पृ. 82] लिखता है कि वह कुछ समय तक रहा, परन्तु आधुनिक इतिहासकारों ने एकमत से 3 वर्ष की अवधि को ही स्वीकारा है। इस सम्बन्ध में यह पूर्णतया स्पष्ट है कि उसकी यह 3 वर्ष की अवधि केवल विद्याध्ययन की है इसके बाद वह कुछ समय के लिए जमाल खाँ की सेवा में पहुँचा और प्रशासन सम्बन्धी प्रशिक्षण प्राप्त किया, जिसकी पुष्टि सासाराम में उसके द्वारा किये गये प्रशासनिक संचालन सम्बन्धी योग्यता से होती है। इतिहासकारों ने सामान्यतया उसके प्रशासनिक प्रशिक्षण के वर्णन में उपेक्षा बरती है और इसका उल्लेख नहीं करते, अतः डॉ. कानूनगो द्वारा दी गयी यह

रहा, इसके पश्चात् उसने जमालखाँ की सेवा में कुछ समय व्यतीत किया, जहाँ रहकर उसने प्रशासन का पहला पाठ सीखा। सैद्धान्तिक प्रशिक्षण को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान कर फरीद अपने सगे-सम्बन्धियों की नज़र में सूर कबीले का सबसे बुद्धिमान और तेजस्वी नवयुवक बन गया जैसा कि अब्बास के लेखों से स्पष्ट है कि - "कालांतर में जब मियां हसन जमाल खाँ के पास आया तो उसके कुटुम्बियों ने जो जौनपुर में उस समय रहते थे, एकत्रित होकर पिता-पुत्र के आपसी वैमनस्य को दूर करने तथा दोनों के बीच समझौते कराने के उद्देश्य से पिता के समक्ष शेरखाँ के विलक्षण व्यक्तित्व की सराहना की और कहा कि "उसमें एक महान् पुरुष के लक्षण विद्यमान हैं और वह ऐसा बुद्धिमान तथा तेजस्वी नवयुवक है कि सारे कबीले में उस जैसा परिश्रमी, योग्य, ज्ञानी तथा समझदार कोई अन्य नहीं दिखायी देता। वह प्रशासनिक विधा में इतना समर्थ हो गया है कि यदि उसे किसी परगने का शासन भार सौंप दिया जाये तो वह अपने कर्तव्य का पूर्ण योग्यता एवं सफलता से पालन करेगा ।"[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि पिता और पुत्र दोनों साथ-साथ कुछ समय तक जौनपुर में रहे । इस बीच हसन खाँ अपने पुत्र के क्रमशः उभरते हुये व्यक्तित्व, शिष्टता एवं बौद्धिक शक्ति को देखकर गौरवान्वित हुआ, फलस्वरूप उसने अपनी जागीर के परगनें का शासन भार पूरी शक्ति, ईमानदारी एवं सत्य-निष्ठा से करने की नियति से, अपनी जागीरों का शिकदार बनाकर फरीद को जौनपुर से विदा किया। फरीद भी एक सच्चे व पवित्र हृदय से शासन सम्बन्धी कार्यों को न्याय के आधार पर करने की लालसा से जागीर की ओर (पैतृक-

---

तिथि सही जान पड़ती है कि उसने 1501-1511 ई. तक का समय जौनपुर में अपने विद्याध्ययन व प्रशासनिक प्रशिक्षण (संगठन) सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने में व्यतीत किया । -कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 8, 14.

1. अब्बास, पृ. 15 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 234.

जागीर॥ अग्रसर हुआ ।[1]

फरीद हसन खाँ की जागीर के प्रबन्धक के रूप में

हसन खाँ की जागीर में सासाराम, ख्वासपुर, टाँडा नामक परगने थे । ये परगने बिहार में, वर्तमान शाहाबाद जिले में स्थित थे, जिसके दक्षिण तथा पूर्व में सोन नदी व उत्तर में गंगा नदी का प्रबल प्रवाह था ।[2] इन परगनों में ॥जौनपुर से॥ वापस आने के पश्चात् उसने जागीर के प्रशासन की ओर ध्यान दिया, परिणाम स्वरूप ॥आने के शीघ्र बाद ही॥ उसे शिथिल प्रशासन की बुराइयों व कमियों का सामना करना पड़ा। डॉ. कानूनगो लिखते हैं कि - "किसानों की दशा अत्यन्त ही शोचनीय थी । सैनिक जमींदार उनपर अत्याचार किया करते थे और वे हिन्दू किसानों को दिये गये वचनों को निभाते नहीं थे । जमींदारों के भारी से भारी अपराधों की ओर से जागीरदार आँखें बन्द कर लेता था, क्योंकि उसमें न उतनी शक्ति थी और न ही ऐसी प्रवृत्ति कि वह काफिर गुलामों के रक्षार्थ अपने साथियों के साथ कठोरता करे । किसानों को भेड़ों का एक रेवड़ माना जाता था, जिनका जीवन सैनिक रूपी भेड़ियों की दया पर निर्भर था । हिन्दू करग्राह, ग्रामाधिकारी, मुकद्दम और पटवारी सब लोमड़ियों की भाँति चालाक थे और दोनों पक्षों को ठगा करते थे । इसके अतिरिक्त चौधरियों और मुकादमों को भूमिकर पर प्रतिशत कमीशन मिलता आ रहा था, और इसमें ऐसी ही रकमें जोड़ दी जाती थीं, जिनका शासकों को भी पता नहीं होता था। परिणामस्वरूप अधिकांश भूमि जंगलों से ढकी हुयी थी और बहुत ही कम हिस्से पर काश्त की जाती थी । जब कृषकों को बहुत दबाया जाता था तो या तो वे हिम्मत करके लड़ने को तत्पर होते थे या फिर पड़ोस के किसी बलवा

---

1. नियामत उल्लाह, पृ. 264 ; अब्दुल्ला, पृ. 108 ; फरिश्ता, ब्रिग्स, अनु. भाग II, पृ. 63 ; मुन्तख़ब-उत-तवारीख, भाग 1, पृ. 357 ; ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 100-1.
2. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ.46.

करने वाले जमींदार की शरण में चले जाते थे । किसानों के जानमाल की सुरक्षा या प्रतिष्ठा का ख्याल नहीं रखा जाता था। दूसरे शब्दों में शक्तिशाली वर्ग शक्ति-हीनों का शोषण करता था। फरीद ने इन परिस्थितियों से अवगत हो जागीर में पहुँचते ही न्याय व कानून के आधार पर तात्कालिक स्थिति में परिवर्तन करना शुरू किया और अच्छे नियम भी जारी किये ।"[1]

फरीद ने यह अच्छी तरह जान लिया था कि किसी भी देश की सम्पन्नता का आधार कृषि है। जब तककृषि को सुव्यवस्थित नहीं किया जायगा कोई भी राष्ट्र, प्रदेश व गाँव समुन्नत नहीं हो सकेगा, इसलिए उसने अपना ध्यान सर्वप्रथम कृषि को विकसित करने की ओर लगाया । इसकी पुष्टि अब्बास के लेखों से स्पष्ट रूप में होती है। अब्बास लिखता है कि - "जैसे ही फरीद परगने में पहुँचा, उसने किसानों और मुकद्दमों को (जो देश की आबादी और कृषि तथा गाँव की समृद्धि के आधार हैं) तथा पटवारियों व सैनिकों को एकत्रित कर फरमान ज़ारी किया कि - "खेती और उद्योग की उन्नति तब तक नहीं हो सकती, जब तक प्रजा से नम्रता का व्यवहार न किया जाये, स्नेह और कृपा प्रदर्शित न की जाये और अत्याचार तथा अन्याय न त्यागा जाये । प्रजा से लगान निश्चित की गयी राशि के अन्तर्गत ही लेना चाहिये । प्रजा को जो वचन और आश्वासन दिये जायें, उनसे फिरना नहीं चाहिये । अपने कर्मचारियों एवं सिपाहियों को अत्याचार से रोकना चाहिए। यदि शासक स्वयं या उसके कर्मचारी तथा सिपाही कर वसूल करते समय अपने दिये गये वचनों से फिर जाते हैं और प्रजा के उपार्जित धन की ओर दृष्टिपात करते हैं तो प्रजा नष्ट हो जाती है और शासक को अपयश प्राप्त होता है, परिणामस्वरूप अगले वर्ष (आने वाले वर्ष में) कर कम वसूल होता है।"[2]

---

1. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 49.
2. अब्बास, पृ. 21-22 ; डार्न , भाग I, पृ. 82 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV ,पृ. 235.

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उसने सैनिकों को उनकी पदोन्नति की आवश्यकता के बारे में उन्हें संतोष दिलाकर उन पर प्रभाव डाला और इस बात पर जोर दिया कि उनकी पदोन्नति तभी सम्भव है, जबकि सैनिक प्रजा के प्रति कर वसूली में दया व नम्रता का व्यवहार करेंगे । उसने अवैध रूप से कर वसूली करने वालों तथा लालची व आज्ञा का उलंघन करने वाले कर्मचारियों को दण्डित करने की भी धमकी दी, चाहे वह उसका अपना सगा सम्बन्धी ही क्यों न हो ।

अवैध रूप से कर वसूली न की जा सके इसलिए उसने कर की वसूली माप के आधार पर की और यह भी दृढ़ता पूर्वक घोषित किया कि -"एक अधिकारी का कर्तव्य है कि वह जरीब के समय, चाहे रबी की फसल हो या खरीफ की फसल, अनाज की किस्म व उत्पादन का उचित मुआवजा करने के पश्चात् ही लगान की राशि निश्चित करे और उस समय प्रजा से नम्रतापूर्वक व्यवहार करे, पर जब लगान की वसूली की जाने लगे तब उसे (अधिकारी को) निश्चित की गयी लगान को अपनी दृष्टि में रखकर ही कर वसूलना चाहिये । कर वसूली के समय उनके साथ किसी प्रकार की नरमी न बरती जाये । यदि वह देखे कि प्रजा कर देने में कोई बहाना करती है तो उन्हें ऐसी सीख देनी चाहिए कि अन्य लोग भी डरने लगें और सदैव याद रखें ।"[1]

लगान की रकम निर्धारित करने के लिए उसने नाप के साथ-साथ फसल के बटाई की भी व्यवस्था की थी । कृषकों को छूट थी कि वे रबी एवं खरीफ के फसल की कर के रूप में अदायगी चाहे नाप के आधार पर करें अथवा फसलों का बँटवारा करके । राजस्व वसूली के समय दृढ़तापूर्वक कर निर्धारण के सिद्धान्तों को लागू करने पर जोर दिया। इसके लिए उसने प्रत्येक गाँव में एक अधिकारी की नियुक्ति की, जिसका कार्य यह देखना था कि कहीं जनता के अधिकारों का हनन तो नहीं हो रहा है। उनके साथ किसी प्रकार की जोर-जबरदस्ती तो नहीं की

---

1. अब्बास, पृ. 23 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 236.

जा रही है। फरीद के इस नियम का अपने तथा आस-पास के परगनों में क्रियान्वयन व उन्नति को देखकर दूसरे स्थानों से हजारों की संख्या में लोग बसने के लिए उसकी जागीर में आने लगे और कृषि कार्य में जुटने लगे ।[1]

धीरे-धीरे अपनी सूझ-बूझ व योग्यता के आधार पर फरीद उन्नति करता गया और बहुत से अफगान सैनिकों व जनता का प्रिय बन गया। इस प्रकार अपनी मजबूत स्थिति को देखते हुये कृषि के अतिरिक्त परगनों की उन्नति को ओर भी उसने ध्यान दिया। उसने अपना रूख उन विद्रोही जमींदारों की ओर भी मोड़ा, जिन्होंने फरीद की अधीनता व उसके द्वारा बनाये गये कृषि सम्बन्धी नियमों को मानने से इन्कार कर दिया था और सरकारी कर व बकाया धनराशि अदा न कर चोरी, डकैती व भाँति-भाँति के उपद्रव किया करते थे । इन विद्रोहियों को अपनी सैन्य शक्ति पर इतना अधिक गर्व था कि कभी-कभी तो कचहरी में भी उपस्थित नहीं होते थे । बहुत प्रयासों के बावजूद भी जब वे अपनी मनमानी ही करते रहे तो फरीद ने अपने विरोध का पहला कदम इन विरोधियों व विद्रोहियों के विरुद्ध उठाया और उनका वध कर उन्हें बन्दी बनाया । यहाँ तक कि उनकी जागीरें भी जब्त कर ली । परिणामस्वरूप फरीद के इन क्रियाकलापों से सभी विरोधी व विद्रोही उसके अधीन हो गये और फिर भविष्य में कोई भी उपद्रव न करने का निश्चय किया। देखते ही देखते कुछ ही समय में दोनों परगनें सम्पन्न हो गये और सैनिक तथा कृषक (प्रजा) सभी संतुष्ट हो सुखमय जीवन व्यतीत करने लगे ।[2]

विलियम अर्सकीन लिखते हैं कि - "फरीद द्वारा अपने पिता की जागीर के आंतरिक प्रशासन में हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप गाँवों में स्वतन्त्रता व शान्ति की

---

1. ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 100-1.
2. अब्बास, पृ. 26-29 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV ,पृ.238 ; ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 101-102.

लहर दौड़ गयी, परगनों का शासन सुव्यवस्थित हो गया और कृषकों का एक बड़ा समूह आस-पास के गाँवों से उसकी ओर खिंचता हुआ चला आया। उसने कष्टदायक अनुचित कर वसूली से कृषकों को मुक्त कर कृषक वर्ग की काफी सहायता की, जिसका परिणाम यह हुआ कि वे न तो स्वयं नाजायज वसूली ले सकते थे और न ही दे सकते थे। समस्त उपद्रवी वर्ग उसका आज्ञाकारी हो गया और कर देना प्रारम्भ कर दिया। उसके इस कार्य से जागीर का उत्पादन तीव्र गति से बढ़ने लगा और गाँवों की तरक्की दिन-प्रतिदिन होने लगी। प्रत्येक गाँव का निवासी अब शान्तिपूर्वक बिना किसी बाहरी दबाव व अत्याचार के अपनी जीविका-निर्वाह कर सकता था।[1]

तत्कालीन इतिहासकारों ने फरीद की प्रशंसा करते हुये लिखा है कि "एक प्रबन्धक के रूप में उसने (फरीद ने) अपनी कार्यकुशलता, दृढ़ता, ईमानदारी बुद्धिमानी तथा सूझ-बूझ द्वारा जनता से समदर्शिता का व्यवहार कर न्याय के आधार पर शासन प्रबन्ध आरम्भ किया और एक शिकदार अथवा सैनिक अधिकारी की हैसियत से किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित किया। इतना ही नहीं उसने उदण्ड व विद्रोही प्रवृत्ति के मुकद्दमों को दण्डित कर जागीर में महत्वपूर्ण सुधार कार्य किये"।[2]

वे आगे लिखते हैं कि - "उसकी कड़ी मेहनत एवं लगन का ही फल था कि जब कुछ समय पश्चात् हसन जौनपुर से (जमाल खाँ सारंगखानी के पास से) अपनी जागीर में वापस आया तो उसने चारों ओर आबादी तथा समृद्धि का साम्राज्य अपनी आँखों से देखा था।"[3]

---

1. अर्सकीन, भाग II, पृ. 116-117.
2. नियामतउल्लाह, भाग I, पृ. 265 ; अब्दुल्ला, पृ. 108 ; फरिश्ता, पृ. 221; ब्रिग्स, भाग II, पृ. 63 ; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग I, पृ. 357.
3. फरिश्ता, पृ. 221 ; ब्रिग्स भाग II, पृ. 63 ; अब्दुल्ला, पृ. 109; नियामतउल्लाह, भाग I, पृ. 266 ; अर्सकीन, भाग II, पृ. 117.

अब्बास लिखता है कि - "हसन खाँ इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि उसने स्वयं उसकी बहुत प्रशंसा की और दोनों भाइयों (फरीद, निजाम) को भाँति-भाँति की कृपाओं एवं स्नेह से सम्मानित कर परगनों एवं सैनिकों के पथ-प्रदर्शन का भार (वृद्धावस्था के कारण) दोनों भाइयों को सौंप दिया ।"[1]

अपने सासाराम के प्रशासन के समय फरीद को सुधारक और सिपाही दोनों का कार्य करना पड़ा था। अपनी आयु के 30 और 40 वर्ष में ही उसने अपने उम्मीदवारों की एक सेना तैयार कर ली और एक सैनिक के रूप में उचित प्रशासनिक कठोरता को ध्यान में रखते हुये उसने जमींदारों को दबाया, जिससे परगनों की शांति और सुरक्षा का खतरा टल गया। अब्बास के वृतान्तों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसकी प्रारम्भिक प्रशासनिक नीति सरल, कठोर व प्रभावपूर्ण थी । वास्तव में उसकी नीति कठोर न्याय की नीति थी, जिसमें दुष्ट व बलवान लोगों का उन्मूलन किया जाता था ।

डॉ॰ कानूनगो लिखते हैं कि -"उसकी यह नीति बुद्धिमत्तापूर्ण नीति थी, जो समझाने के लिए सिद्धान्त पर आधारित थी । इसमें मानवीय सहानुभूति थी और मानवीय निर्बलता के लिए कुछ नरमी थी ।"[2]

ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं कि - "अधिक समय नहीं बीता था कि युवक फरीद ने अपनी विलक्षण प्रतिभा से कृषकों से सीधा सम्पर्क स्थापित किया और शासन के क्षेत्र में सासाराम परगने की शीघ्र ही बड़े परगनों में गिनती की जाने लगी। दूसरे शब्दों में, ऐसे समय में जबकि हसन खाँ की प्रशासन की ओर से लापरवाही व एजेन्टों को शासन की जिम्मेदारी सौंप देने के कारण परगनों की काफी क्षति हुयी थी, फरीद ने अपनी मेहनत व लगन से उन परगनों की क्षतिपूर्ति की

---

1. अब्बास, पृ॰ 30॰
2. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ॰ 50॰

और शीघ्र ही उसका बड़े पैमाने पर विस्तार किया ।"[1]

इसप्रकार उपद्रवियों के विरुद्ध प्रथम सैनिक के रूप में साहसी कदम उठाकर फरीद ने अपनी सज्जनता, कार्यकुशलता, ईमानदारी व मेहनत के साथ पिता की जागीर को पुनः विकसित किया और थोड़े समय में दोनों परगने{सासाराम, ख्वासपुर टांडा} सम्पन्न व समृद्ध हो गये । अपने इन गुणों के कारण वह सेना तथा प्रजा का विश्वासपात्र व्यक्ति बन गया ।[2]

फरीद द्वारा जागीर का त्याग

जहाँ एक ओर फरीद प्रजा का चहेता बनता जा रहा था, वहीं दूसरी ओर उसकी अचानक बढ़ती हुयी शक्ति व दृढ़ स्थिति को देखकर उसकी सौतेली माता एवं भाइयों में ईर्ष्या-द्वेष की लहर फैल गयी । उन्होंने मिलकर उसके प्रति विद्रोहात्मक दृष्टिकोण अपनाना प्रारम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप अपने विरुद्ध किये जा रहे गुप्त षड्यन्त्र एवं पिता की व्यग्रता देख फरीद ने अपनी पैतृक जागीर अपने सौतेले भाइयों के लिए छोड़कर नौकरी की तलाश में कानपुर होता हुआ आगरा पहुँचा[3] {1522 ई. में} जहाँ उसने इब्राहिम लोदी के दरबार के विशिष्ट

---

1. ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 98-99.
2. अब्बास, पृ. 29.
3. तत्कालीन इतिहासकार फरीद के आगरा पहुँचने की तिथि स्पष्ट नहीं करते, वे केवल यही लिखते हैं कि - "वह अपने पिता की ओर से निराश होकर आगरे चला गया ।" परन्तु डॉ. कानूनगो लिखते हैं कि - "फरीद 1511 ई. से लेकर 1522 ई. तक पिता की जागीर में कठोर परिश्रम करता रहा और 1522 ई. में वह नौकरी की तलाश में सासाराम से आगरे रवाना हुआ ।" - कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 62.

अमीर दौलखाँ लोदी[1] की सेवा ग्रहण की । कुछ ही दिनों में अपने शिष्ट व्यवहार व दयालु स्वभाव के कारण वह दौलत खाँ का प्रिय बन गया और उसके साथ-साथ रहने लगा। इसी बीच 1524 ई. में (930 हि.) उसके पिता हसन खाँ की अचानक मृत्यु हो गयी ।[2] दौलत खाँ ने हसन खाँ के मृत्यु की सूचना सुल्तान इब्राहिम लोदी को दी और निवेदन किया कि पिता के परगनों को फरीद और उसके भाई निजाम को दे दिया जाये। इब्राहिम लोदी ने उसके निवेदन को स्वीकार कर पिता के परगने फरीद और उसके भाई निजाम को सौंप दिये। फरीद सासाराम, ख्वासपुर टांडा परगनों के शासन का फरमान लेकर शक्तिशाली अनुचरों के साथ 1524 ई. में सासाराम वापस लौटा और अपने परगनों पर अधिकार कर संयम एवं न्यायपूर्वक ढंग से पुनः शासन करने लगा ।[3]

फरीद के आगमन से जहाँ एक ओर सभी सम्बन्धियों व कुटुम्बियों ने उसका हार्दिक स्वागत किया और उसकी राजप्रभुता को स्वीकार कर लिया, वहीं दूसरी ओर उसके सौतेले भाई सुलेमान में वैमनस्य की अग्नि सुलग रही थी, भला वह कैसे फरीद की प्रभुता को स्वीकार कर सकता था। जब उसने खुल्लम-खुल्ला विरोध करने में अपने आपको असमर्थ पाया तो चौंध[4] परगने के

---

1. अब्बास(पृ.40-41) लिखता है कि "दौलत खाँ 12 हजार अश्वारोहियों का नायक था और सुल्तान इब्राहिम लोदी की उस पर विशेष कृपा थी इसलिए फरीद ने दौलत खाँ का सहारा लिया और उसकी सेवा ग्रहण की.
2. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 71.
   डॉ. सतीशचन्द्र मिश्रा : पालिटिकल हिस्ट्री ऑफ सूर डायेनेस्टी, थीसिस, पृ.32.
3. अब्बास, पृ. 43 ; नियामतउल्लाह, भाग 1, पृ. 268 ; अब्दुल्ला, पृ. 110; मुन्तखब-उत-तवारीख़, भाग 1, पृ. 358 ; फरिश्ता, ब्रिग्स, भाग 2,पृ.64; अर्सकीन विलियम्स, भाग II, पृ. 118 ; ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ,पृ.104;कानूनगो:शेरशाह और उसका समय,पृ.71.
4. चौंध बिहार सूबे में रोहतास सरकार का एक महाल (परगना) था। सासाराम

जागीरदार मुहम्मद खाँ सूर दाऊदशाह खैल के पास चला गया, जो 1500 अश्वारोहियों का सेनानायक था। मुहम्मद खाँ सूर हसन खाँ व उसके कुटुम्बियों से प्रतिशोध लेना चाहता था। सुलेमान का उसकी शरण में चले जाना उसके उद्देश्य की पूर्ति का प्रथम चरण था। यह सुनहरा मौका देख, वह भाई-भाई में क्लेश पैदा करवा कर उन्हें बरबाद कराने का इच्छुक था। इसके मूल में प्रमुख कारण था मुहम्मद खाँ सूर की हसन खाँ से व्यक्तिगत शत्रुता। वह भाइयों के बीच शत्रुता उत्पन्न कर दोनों ओर के लोगों (भाइयों) को अपने आश्रित बनाना चाहता था।[1] इसके लिए उसने कूटनीति का भी सहारा लिया। जब फरीद पूर्णतया निश्चिन्त हो गया कि चौंध के शासक मुहम्मद खाँ सूरी के इरादे उसके प्रति शत्रुतापूर्ण हैं और वह तलवार की शक्ति से पैतृक जागीर को सौतेले भाई सुलेमान को दिलवाना चाहता है तो वह शक्ति संतुलन के लिए एक रक्षक की तलाश में लग गया। पास-पड़ोस में दरिया खाँ नूहानी का पुत्र बिहारखाँ नूहानी ही एक ऐसा शक्तिशाली सरदार था, जिसका मुहम्मद खाँ सूरी को भय हो सकता था। फलतः अपनी जागीर को सुरक्षित रखने के लिए अब उसके सामने एक यही उपाय था कि वह बिहार खाँ नूहानी की शरण ले ।

फरीद सुल्तान मुहम्मद नूहानी की शरण में

इसी समय भारतीय राजनीतिक पटल पर अचानक मुगल आक्रांता बाबर के धावे का दौर प्रारम्भ हो गया। प्रतिदिन एक निर्णायक युद्ध की कामना की जाने लगी । फरीद को पूरा विश्वास था कि यदि सुल्तान इब्राहिम की विजय

के पश्चिम में सीधे 46 मील दूर कर्मनासा नदी के पार, चौंध का दुर्ग स्थित था। यह मुहम्मद खाँ सूरी का प्रधान स्थान था। -होदीवाला, भाग 1, पृ. 447 ; कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 46 .

1. अब्बास, पृ. 44 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV ,पृ. 244.

हुयी तो कोई उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता, क्योंकि उसके पास सुल्तान का दिया हुआ राजपत्र था और यदि मुगलों ने सुल्तान इब्राहिम को पराजित किया तो निःसन्देह मुझे बिहार खाँ से मिलकर उसकी सेवा करनी होगी ।[1]

फरीद अभी इन उलझनों में उलझा हुआ ही था कि कुछ समय पश्चात् उसे सूचना मिली कि इब्राहिम वीरगति को प्राप्त हुआ और दिल्ली पर 932हि. (20 अप्रैल 1526 ई.) को द्वितीय सुलेमान जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर बादशाह का आधिपत्य हो गया है। यद्यपि यह परिस्थिति फरीद के लिए शोचनीय थी पर उसने पूर्व योजनानुसार जून 1526 ई.[2] में बिहार खाँ की सेवा ग्रहण की ।[3]

---

1. अब्बास, पृ. 47 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग 1 , पृ. 244,45.
2. अवस्थी, पृ. 237.
3. फरीद द्वारा सुल्तान मुहम्मद की सेवा में शामिल होने की सही-सही तिथि सम्बन्धी जानकारी उपलब्ध नहीं है। तत्कालीन इतिहासकारों ने यद्यपि घटनाक्रम का वर्णन तो किया है, परन्तु तिथिक्रम की ओर ध्यान नहीं दिया है। वे केवल इतना ही लिखते हैं कि - "जब इब्राहिम की पराजय व बाबर के विजय की सूचना सर्वसाधारण को मिली तो फरीद विवश हो गया कि अपनी जागीर की सुरक्षा के लिए बिहार खाँ नूहानी की सेवा ग्रहण करे, अतः फरीद ने दूरदर्शिता से दरियाखाँ नूहानी के पुत्र बिहार खाँ (जिसने सुल्तान मुहम्मद का विरुद धारण किया था) की सेवा ग्रहण कर ली ।" -अब्बास, पृ. 47 ; अब्दुल्ला, पृ. 111 ; अहमद यादगार, पृ. 176. नियामतउल्लाह फरीद के बिहार खाँ की सेवा में शामिल होने का कारण बताते हुए लिखा है कि - "चूँकि फरीद के परगने बिहार से निकट थे और मुगल दरबार से सम्पर्क स्थापित करना सम्भव नहीं था, इसलिए वह बिहार खाँ से जा मिला ।" -नियामत उल्लाह, भाग 1, पृ. 270. डॉ. कानूनगो फरीद के सुल्तान मुहम्मद के सेवा में शामिल होने की तिथि 1522 ई. लिखते हैं। -शेरशाह और उसका समय, पृ. 31 ; परन्तु तत्कालीन इतिहासकारों के इन वक्तव्यों को देखते हुये डॉ. कानूनगो की तिथि पर

फरीद के बिहार खाँ की सेवा में आ जाने से बिहार खाँ को एक अच्छा सेवक मिल गया, क्योंकि वह विद्वान् होने के साथ-साथ भूमिकर प्रशासन

विश्वास करना न्याय संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सभी ने एक मत से पानीपत के पश्चात् ही उसके द्वारा सुल्तान मुहम्मद की सेवा को स्वीकारा है। अतः डॉ. अवस्थी द्वारा निर्धारित की गयी यह तिथि कि - "वह जून 1526 ई. में उसकी सेवा में शामिल हुआ" ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन इतिहासकारों के वक्तव्यों व तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुये सही जान पड़ती है। डॉ. अवस्थी फरीद द्वारा सुल्तान मुहम्मद की सेवा में शामिल होने का कारण देते हैं कि - "मुहम्मद खाँ सूर (चौंध के शासक) ने फरीद की विरासत को विभाजित करने का प्रयास किया था, इसलिए वह सुल्तान मुहम्मद की सेवा ग्रहण करना चाहता था, दूसरे यदि वह नूहानी के अलावा मुगलों से सम्पर्क स्थापित करता तो उसकी समस्या का स्थायी हल नहीं निकल पाता, क्योंकि एक तो मुगल अफगानों में अप्रसिद्ध थे और इसके अलावा यदि वह कुछ समय के लिए उनसे मदद ले लेता तो भी उसके सामने यह प्रश्न अवश्य रहता कि मुगलों के तोपों के समक्ष वह कितने दिन स्वतन्त्र रह सकता था। वह अपने सम्बन्धियों के साथ रहकर उनकी सहानुभूति भी प्राप्त करना चाहता था। बाबर इस समय दो-आब में अपने को सुसंगठित करने व पश्चिम के क्रिया-कलापों पर निगरानी रखने में व्यस्त था, इसके अतिरिक्त पूर्व में बाबर की शक्ति काफी कमजोर थी, इस दृष्टि से सुल्तान मुहम्मद नूहानी ही अफगानों का माना-जाना बादशाह था, फलस्वरूप फरीद ने सुल्तान मुहम्मद की सेवा ग्रहण की ।

-अवस्थी, पृ. 235, 236, 237.

के क्षेत्र में भी विशेष अनुभवी था। अब्बास लिखता है कि - "फरीद रात-दिन बिहार-खाँ की सेवा में लगा रहता था। इस सेवा के कारण वह बिहार खाँ का कृपापात्र व घनिष्ट मित्र बन गया और शीघ्र ही अपने उत्तम प्रबन्ध के कारण बिहार प्रदेश में प्रसिद्ध हो गया।"[1] उसके गुणों से प्रभावित हो बिहार खाँ ने उसे शेरखाँ की उपाधि प्रदान की और अपने पुत्र जलाल खाँ का संरक्षक एवं शिक्षक नियुक्त किया। इस प्रकार धीरे-धीरे शिक्षक, संरक्षक, व नायब के रूप में बिहार की राजनीति में उदित होता हुआ वह विशेष प्रभावकारी व शक्तिशाली बन गया। इसकी पुष्टि फरिश्ता के कथन से होती है कि - शेर खाँ एक छोटे से जागीरदार हसन खाँ (सासाराम, खवासपुर टांडा) के पुत्र के रूप में धीरे-धीरे सफलतापूर्वक आगे बढ़ता रहा और सुल्तान मुहम्मद की सेवा में शामिल होकर अपनी योग्यता एवं विशिष्ट सेवा के आधार पर उसने सुल्तान मुहम्मद द्वारा न केवल शेर खाँ की उपाधि प्राप्त की बल्कि अपने विश्वसनीय गुणों के कारण सुल्तान के पुत्र जलाल खाँ का संरक्षक व शिक्षक[2] (1526-1528 ई.) तथा नायब (1529-33 ई.) का उच्च पद प्राप्त कर बिहार की राजनीति में एक शक्ति के रूप में उदित हुआ।[3]

शेर खाँ की महत्वाकांक्षा एवं संघर्षमय स्थिति

यद्यपि 1530 से 1534 ई. तक का काल शेरखाँ के जीवन-मृत्यु से जूझने का संघर्षमय काल था, परन्तु धीरे-धीरे, दद्दू की मृत्यु के पश्चात (1529-30 ई. के मध्य) वह शक्ति संचय करता रहा और 1534 ई. तक पूर्णतया नूहानी राज्य

---

1. अब्बास, पृ. 47 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 245.
2. 1526 ई. में सुल्तान मुहम्मद ने उसे अपने पुत्र का शिक्षक व संरक्षक नियुक्त किया था, परन्तु 1528 ई. में जब वह मुगल शिविर से निराश होकर पुनः सुल्तान मुहम्मद के पास आया तो सुल्तान ने दोबारा उसे अपने पुत्र का शिक्षक तथा संरक्षक बनाया, इसके बाद 1529 ई. से 1533 ई. तक वह (सुल्तान की मृत्यु के बाद जलाल खाँ की माता ने उसे जलाल खाँ का नायब नियुक्त किया था) नायब बना रहा।
3. फरिश्ता, ब्रिग्स, II, पृ. 61, 65, 68.

का वास्तविक शासक बन बैठा ।[1] इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि - 1530 ई. में बाबर की अचानक मृत्यु ने अफगानों को अपनी पूर्व शक्ति पुनः प्राप्त करने का स्वर्णिम अवसर प्रदान किया। नूहानी वंश को अपनी कीर्ति के अयश एवं जागीरों के हाथ से निकल जाने के कारण गहरी चोट पहुँची थी, इसके अतिरिक्त महत्वाकांक्षी शेर खाँ सूर भी बिहार में अपने शासन को विकसित होते देखना चाहता था। इस दृष्टि से उसके लिए यह उपयुक्त अवसर था। दूसरी ओर बंगाल का शासक भी मुगलों को शक की नज़र से देखता था। अतः बाबर की मृत्यु बंगालियों के हित की दृष्टि से भी स्वर्णिम अवसर था, जबकि वे बंगाल क्षेत्र को मुगलों से सुरक्षित रखने के लिए एक साथ संयुक्त होकर (अफगान, बंगाल) अपनी आकांक्षा पूरी कर सकते थे, परिणाम स्वरूप नुसरतशाह और महमूद लोदी (घाघरा के युद्ध में पराजित हो एकान्तवास ग्रहण कर लिया था, सुअवसर देख पुनः सामने आया) को मुगल विरोधी षड्यन्त्र में जलालखाँ नूहानी व शेर खाँ को अपनी ओर मिलाने में अधिक कठिनाई नहीं हुयी और जून 1530 ई. में एक बार फिर अफगानों का मुगलों (हुमायूँ) पर आक्रमण प्रारम्भ हुआ, जिसकी परिणति दोराहा के युद्ध में (सितम्बर 1531 ई. में)[2], अफगानों की पराजय के रूप में हुयी । यह युद्ध मुख्यतः सुल्तान महमूद लोदी द्वारा मुगलों के विरुद्ध दोराहा की भूमि पर पूर्ण शक्ति से लड़ा गया युद्ध था, जिसमें बिब्बन बायजिद तथा अन्य अफगान अमीरों सहित महमूद लोदी को एक बार फिर घोर पराजय का आलिंगन करना पड़ा और मुगलों को एक शानदार विजय हासिल हुयी । यह पानीपत के बाद अफगानों की मुगलों को देश से निकालने की नियति से की गयी दूसरी बड़ी पराजय थी, जिसका महत्वपूर्ण कारण था शेरखाँ द्वारा अफगानों की सहायता न करना ।

---

1. यदुनाथ सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग 2, पृ. 166 ;
   इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 32.
2. अवस्थी, पृ. 96-97 में अक्टूबर 1532 ई. तिथि लिखते हैं ।

अब्दुल्ला लिखता है कि - "चूंकि शेरखाँ बिब्बन तथा बायजिद (जो सुल्तान सिकन्दर के पुत्र महमूद लोदी के निकटवर्ती थे) के नेतृत्व को सहन नहीं कर सकता था और चाहता था कि स्वयं वह एक बड़ा अमीर बन जाये, इसलिए उसने युक्तिपूर्वक एवं बुद्धिमानी से मुगल सेनापति हिन्दूबेग को पत्र लिखा और अवगत कराया कि युद्ध के समय वह अफगानों का साथ नहीं देगा, बल्कि जब दोनों सेना सामनें होंगी तो पीठ दिखाकर भाग जायेगा और उनकी पराजय का कारण बनेगा। अतः युद्ध के दिन उसने वैसा ही किया और सेना लेकर ठीक युद्ध के समय भाग निकला। सेना में भगदड़ मच गयी और सेना भाग खड़ी हुयी । अफगानों को पराजय का मुख देना पड़ा"।[1]

डॉ॰ ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं कि - "दोराहा के युद्ध में अफगानों की पराजय का श्रेय महमूद लोदी की क्षमताहीनता, असमर्थता एवं शेरखाँ की धोखेबाजी तथा छल को जाता है"।[2]

इस पराजय ने अन्ततः अफगान अमीरों को काफी निराश किया और उन्हें इधर-उधर भागने को विवश कर दिया। अपनी पराजय के पश्चात् बिहार की राजनीति को शून्य घोषित करते हुये अफगान अमीरों व सरदारों ने बिहार से अलग रहने का फैसला कर लिया ।[3] ये मालवा, गुजरात में बसने लगे और बिहार की राजनीति में इस शून्य को भरने के लिए शेरखाँ को अकेला ही छोड़ दिया। यह वह क्षण था जबकि इस कार्य के लिए उसे समय व मजबूत शक्ति दोनों की आवश्यकता थी, क्योंकि नूहानी अफगान बिहार की राजनीति में शेरखाँ की अचानक

---

1. अब्दुल्ला, पृ॰ 120॰ इस घटना द्वारा शेरखाँ की स्वार्थपरता स्पष्ट परिलक्षित होती है ।
2. ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ॰ 114-15॰
3. महमूद लोदी पटना चला गया और इसके बाद फिर कभी राज्य करने का विचार नहीं किया। 1542-43 ई॰ उड़ीसा में उसकी जीवन लीला समाप्त

बढ़ती हुयी शक्ति से खिन्न होकर उसे सदैव के लिए बंगाल के शासक की सहायता से समाप्त कर देना चाहते थे (इसका स्पष्टीकरण बाद की घटनाओं से स्पष्ट रूप में होता है) और इसके लिए वे उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में थे। 1531 ई. में दोराहा के युद्ध के पश्चात् हुमायूँ द्वारा जनवरी 1532 ई. में वापस आगरा चले जाने के बाद बंगाली सेना द्वारा दिसम्बर 1532 ई. अथवा जनवरी 1533 ई. में नुसरत शाह के मुक्ता (यह मुंगेर का मुक्ता था) कुतुबखान के संरक्षण में बिहार की तत्कालीन परिस्थिति का लाभ उठाते हुये शेरखाँ पर आक्रमण हुआ, जिसने शेरखाँ को अव्यवस्थित कर दिया।[1]

मुश्ताकी एवं शेख कबीर इस घटना के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी देकर हमारी मदद करते हैं। वे लिखते हैं कि - "जब शेरखाँ अपनी शक्ति की खोज में व्यस्त था, बंगाल के शासक नुसरतशाह ने, जो गौड़ से हाजीपुर यह देखने के लिए आया था कि बाबर के मृत्यु की अफगानों पर क्या प्रतिक्रिया हुयी है, सुअवसर देखकर राजकुमार कुतुबखान को बिहार में शेरखाँ के विरुद्ध नियुक्त किया। शेरखाँ अभी इस स्थिति में नहीं था कि इनका मुकाबला करे फलतः वह सूझ-बूझ द्वारा अधिक से अधिक प्रयास युद्ध की विभीषिका को सन्धि द्वारा टालने के लिए करता रहा और इस सम्बन्ध में कुतुबखान को पत्र भी लिखा, परन्तु कुतुबखाने ने एक न सुनी और उसकी शक्ति को कमजोर समझकर लगातार उसका पीछा करता रहा, शेरखाँ भागता ही रहा। शेरखाँ की इस पलायनवादी नीति को देखकर कुतुबखान ने यह महसूस किया कि शेरखाँ उससे लड़ने की स्थिति में नहीं है, इसलिए उसने उसे बिहार से बाहर खदेड़ने व बिहार को अपने अधीन करने का निश्चय किया। जैसे ही शेर खाँ को इस योजना की खबर मिली उसने कुतुबखान के घमण्ड को चूर करने का बेड़ा उठाया और अचानक शत्रु पर हमला बोलकर बुरी तरह पराजित

हो गयी। बिब्बिन वायजिद युद्ध में मारे गये और अन्य प्रमुख अमीर मालवा गुजरात में जाकर बसने लगे.

1. इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 38.

किया। कुतुबखान युद्ध स्थल में मारा गया (सोन नदी के पश्चिमी तट पर), शेरखाँ को विजयश्री हासिल हुयी।[1] यह घटना 1533 ई. की है ।

शेरखाँ ने बंगाल की सेना के हाथी, कोष आदि पर अधिकार कर बड़ी प्रतिभा संचित कर ली, परिणामस्वरूप उसकी शक्ति एवं वैभव में बड़ी उन्नति हुयी।[2] बिहार एवं पड़ोसी क्षेत्रों में उसकी गणना प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से एक के रूप में की जाने लगी ।

शेख कबीर व मुश्ताकी के उपर्युक्त लेखों के आधार पर यह कहाजा सकता है कि शेरखाँ व कुतुबखाँ के बीच सोन नदी के पश्चिमी तट पर लड़ा गया यह युद्ध अपने आप में परिपूर्ण था। इस युद्ध में तोपों, हाथियों के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण युद्ध सामग्रियाँ व सम्पत्ति जो भी उसके हाथ लगी उसे उसने ईमानदारी से अपने समर्थक सिपाहियों में बाँट दिया और नूहानियों को इसका एक अंश भी नहीं दिया ।[3] इस लूट की सम्पत्ति से शेरखाँ के पास एक बड़ी सैनिक साज-सज्जा एकत्रित हो गयी, परिणामस्वरूप अपनी इस विजय का लाभ उठाकर सूरजगढ़ तक का बंगाली इलाका उसने अपने राज्य में मिला लिया ।[4]

इस युद्ध के कारणों के सम्बन्ध में और अधिक स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है कि - बंगाल का सुल्तान नुसरतशाह अपने राज्य की पश्चिमी सीमा पर मुगलों के बढ़ते हुये प्रभाव को देखकर चिन्तित था। अतः बंगाल की सुरक्षा की दृष्टि से उसकी लालसा बिहार को अधिकृत करने की थी, इसके अतिरिक्त दोराहा के युद्ध

---

1. शेखकबीर, पृ. 68ब, 69अ ; मुश्ताकी, पृ. 95.
2. नियामतउल्लाह, भाग 1, पृ. 278.
3. शेरखाँ की बढ़ती हुयी शक्ति से नूहानी अफगान ईर्ष्या करने लगे थे, वे नहीं चाहते थे कि शेरखाँ अपनी सत्ता को बिहार में स्थापित करे। इसलिए नूहानी अफगानों (जलालखाँ नूहानी व समर्थक) ने बंगाल के शासक की सहायता से शेरखाँ की शक्ति का अन्त करने की कूटनीतिक चाल चली थी, शेरखाँ उनके इस चाल से खिन्न था.
4. अब्बास, पृ. 61 ; मुश्ताकी, पृ. 95.

में अफगानों की पराजय ने भी नुसरतशाह को बिहार अधिकृत करने के लिए बाध्य कर दिया था। दोराहा के युद्ध के बाद हुमायूँ की चुनार से वापसी और शक्तिशाली अमीरों का मालवा तथा गुजरात की ओर पलायन, शेरखाँ का बिहार को बफर स्टेट के रूप में अपने व मुगल साम्राज्य के बीच शक्तिशाली बनाने में सफल न हो सकना और 1526-27 में हाजीपुर, तिरहुत को बंगाल राज्य में मिला लिया जाना आदि ऐसे प्रमुख कारण थे, जिन्होंने नुसरतशाह को बिहार घेरने का सुनहरा मौका प्रदान किया था। बंगाल के हित में इन परिस्थितियों को उपयुक्त अवसर समझकर नुसरतशाह ने, कुतुबखान के नेतृत्व में शेरखाँ पर धावा बोलने का आदेश दिया, परन्तु शेरखाँ की विजय ने जहाँ एक ओर उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि की वहीं दूसरी ओर नुसरतशाह की प्रतिष्ठा को काफी आघात लगाया। कुतुबखान द्वारा लायी गयी धन सम्पत्ति, घोड़े हाथी भी उसे अधिक मात्रा में प्राप्त हुये, जिससे उसकी सैन्य शक्ति और अधिक मजबूत हुयी । शेरखाँ के लिए अब यह उचित अवसर था, जबकि वह अपने क्षेत्रों के शासन संगठन की ओर पूर्ण ध्यान देता। परिणामस्वरूप उसकी योग्यता, लगन एवं मेहनत के कारण उसकी सैन्य शक्ति शीघ्र ही पराकाष्ठा पर पहुँच गयी ।

उसकी सैन्य शक्ति के सम्बन्ध में अब्बास व मुश्ताकी ने विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं कि - "शेरखाँ ने कुतुबखाँ को पराजित करने के पश्चात् नये सिरे से सेना का संगठन करना प्रारम्भ किया और सबसे पहले उसने उन अफगानों से मुक्ति पायी जिनकी राज्य भक्ति पर उसे सन्देह था। ऐसे लोग या तो मार डाले गये अथवा भगा दिये गये । इसके पश्चात् उसने उन अनुयायियों को विभिन्न प्रकार से युद्धाभ्यास के लिए प्रशिक्षित किया और उन्हें कठिन सैन्य जीवन बिताने के योग्य बनाया। उसने उन लोगों को भी दण्डित किया, जिन्होंने उसकी सेना में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया था। उसकी यह नीति दूसरों के लिए एक सीख भी थी । इसके अतिरिक्त वह अफगानों की आवश्यकताओं को पूरा करने का

हर सम्भव प्रयास करता रहा। अपने अनुयायियों के प्रति शेरखाँ के इन क्रिया-कलापों को देखकर अफगान प्रभावित हुये बिना न रह सके, परिणामस्वरूप विभिन्न दिशाओं से अफगानों का समूह आकर्षित हो बड़ी संख्या में उसकी सेवा में उपस्थित होने लगा"।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि शेरखाँ नूहानियों की अपने प्रति कुदृष्टि को भलीभाँति पहचान गया था। उसने यह अच्छी तरह जान लिया था कि नूहानियों का उसके ऊपर से अब विश्वास हट गया है और वे कभी भी, किसी भी समय उसकी जड़ खोदने व उसे पूर्णतया समाप्त करने की कोशिश करेंगे । इसीलिए अपने बल पर ही अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने की दृष्टि से सेना को प्रशिक्षित करना प्रारम्भ कर दिया और एक शक्तिशाली सैन्य दल एकत्रित कर इस योग्य हो गया कि वह किसी भी शक्ति से मुकाबला कर सकता था। उसकी इस प्रकार दिनोंदिन बढ़ती हुयी शक्ति से जलाल खाँ नूहानी शेरखाँ के प्रति सशंकित हुये बिना न रह सका। बिहार जो नूहानियों का प्रमुख केन्द्र था, कहीं सूर वंश के अधीन न हो जाय, इस दृष्टि से बिहार को बंगाल के शासक सुल्तान महमूदशाह को सौंपने का निश्चय कर 1533 ई. में बंगाल के सुल्तान की शरण में चला गया ताकि बंगालियों की सहायता से शेरखाँ की बिहार में बढ़ती हुयी शक्ति को दबा सके । जलाल खाँ की इच्छा थी कि बिहार को बंगाल के सुल्तान को भेंट स्वरूप प्रदान कर दिया जाये और कुछ दिन तक उसकी सेवा में रहकर पुनः जागीर के रूप में बिहार को बंगाल से वापस ले लिया जाये ।[2]

बिहार पर इस समय किसका अधिकार हो? के प्रश्न को लेकर यह तीन शासकों (शेरखाँ, हुमायूँ, सुल्तान महमूदशाह) के मध्य होड़ का केन्द्र बना हुआ था।

---

1. अब्बास, पृ. 72 ; मुश्ताकी, एफ. 48 बी. उद्धृत - इक्तदार हुसैन सिद्दिकी: हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 40 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 255.
2. डार्न, भाग I, पृ. 96-97.

जलालखाँ व अन्य नूहानी समर्थक एक और शेरखाँ से ईर्ष्या रखते थे, दूसरी ओर मुगलों के अधीन रहने की अपेक्षा गौड़ के अधीन होना अधिक अच्छा समझते थे, इसलिए जलालखाँ के हित में यह उचित था कि वह बंगाल के सुल्तान की शरण ले और इन दोनों से अपने प्रदेश की रक्षा कर सके । बंगाली भी कुतुबखान की मौत से क्रोधाग्नि में धधक रहे थे और बिहार को किसी भी कीमत पर प्राप्त करने को उद्यत थे । कुतुबखान का पुत्र इब्राहिम भी शेरखाँ से अपने पिता की मौत का बदला लेना चाहता था। इसके अतिरिक्त शेरखाँ के अष्टभुज चंगुल से निकलने का नूहानियों के हित में यही एकमात्र उपाय था कि वे गौड़ के शासक की शरण में जायें और शेरखाँ की शक्ति को समाप्त कर पुनः नूहानी शक्ति का पूरे बिहार प्रदेश में विस्तार करें ।[1] इन तत्कालीन परिस्थितियों से वशीभूत जलालखाँ को बंगाल के शासक सुल्तान महमूदशाह की शरण में जाना पड़ा। जलालखाँ द्वारा बंगाल के सुल्तान की शरण में चले जाने से शेरखाँ एक नाजुक स्थिति से निकल कर बिहार के स्वातन्त्र्य संग्राम का नेता बन गया।

नूहानी अफगानों द्वारा मुगलों से घृणा व शेरखाँ से ईर्ष्या ने एक बार फिर जून 1534 ई. में बिहार को युद्ध की विभीषिका में ढकेल दिया, जिसका

---

1. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 140-145 .
   1533 ई. तक जलालखाँ केवल नाममात्र का शासक रहा, वास्तविक शासक उसका संरक्षक एवं नायब शेरखाँ ही रहा। शेरखाँ की अचानक बढ़ती हुयी शक्ति को देखकर नूहानी अफगान संशकित हो गये और जलाल खाँ के कान भरने शुरू किये । अपनी स्थिति को रसातल में जाते हुये देखकर युवक जलालखाँ ने नूहानी अफगानों की बात मानकर मुगलों द्वारा नष्ट होने तथा बन्दी बनाये जाने से बचने के लिए बंगाल के शासक की शरण में जाना अधिक उचित समझा। इसके अलावा एक कारण और भी था वह यह कि नूहानी अफगानों में भी शेरखाँ को लेकर आपसी फूट पड़ गयी थी । उनमें से बहुत से नूहानी अफगान शेरखाँ के समर्थक बन गये थे .

दावेदार प्रतिनिधि कुतुबखान का पुत्र इब्राहिम[1] था, जिसको अपनी बंगाली सेना व युद्ध सामग्री पर विशेष गर्व था और जो शेरखाँ को अपने आगे गौड़ व तुच्छ समझता था ।[2]

शेरखाँ बिहार का निर्विवाद स्वामी

अब्बास और शेख कबीर के लेखों के आधार पर हमें जो जानकारी प्राप्त होती है, उस आधार पर यह कहा जा सकता है कि - शेरखाँ ने जलालखाँ व बंगालियों की अपने प्रति विरोधी नीति को जान लेने के पश्चात् एक बड़ी सेना एकत्र की और सब प्रकार की तैयारी करके बिहार को पीछे रख, गयासपुर के निकट पुनपुन नदी के तट पर अपनी सेना एकत्र की । सेना के चारों ओर कच्चा गढ़ बनाकर बंगाल की सेना का सामना करने के लिए 30 हजार अश्वारोहियों सहित आगे बढ़ा। इब्राहिम खाँ एक लाख सैनिक, भारी तोपों, हाथी व अपार सम्पत्ति के साथ शेरखाँ को बरबाद करने के लिए बंगाली सुल्तान महमूदशाह के द्वारा भेजा गया। दोनों सेनाओं के मध्य छुट-पुट आक्रमण होते रहे, परन्तु एक समय ऐसा भी आया जबकि शेरखाँ की ओर से ईसा खाँ के नेतृत्व में अफगानों व बंगालियों में सूरजगढ़[3] की भूमि पर जून 1534 ई. में भीषण संग्राम हुआ। बंगाली सेना पराजित हुयी और शेरखाँ का भाग्यरूपी सूर्य पूर्व से उदय हुआ। इब्राहिम के लाख प्रयत्नों के बावजूद भी वह असफल रहा चूँकि उसकी आयु समाप्त हो गयी थी, अतः अन्त में मारा गया। जलालखाँ नूहानी ने भागकर बंगाल के शासक महमूदशाह की शरण

---

1. शेख कबीर, इब्राहिम का उल्लेख न कर हातिम खाँ का उल्लेख करता है. पृ. 73ब.
2. अब्बास, पृ. 73 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग 1 , पृ. 255.
3. डॉ. कानूनगो लिखते हैं कि - सूरजगढ़ मुंगेर दुर्ग से पश्चिम की ओर 12 कोस की दूरी पर स्थित है, जिसके उत्तर में गंगा और दक्षिण में खडगपुर की पहाड़ियाँ हैं। 5 मील चौड़ा यह स्थल सैनिक दृष्टि से एक आदर्श एवं उपयुक्त स्थल है. -शेरशाह और उसका समय, पृ. 148-149.

   एस.आर. शर्मा के अनुसार यह रणभूमि क्यूल नदी के तट पर बिहार कस्बे से पूर्व की ओर स्थित है . -भारत में मुगल साम्राज्य, पृ. 123.

ली। हाथी, घोड़े, कोष, रसद, तोपखाना तथा अन्य समस्त युद्ध सामग्री शेरखाँ के हाथ में आयी। शेरखाँ बंगालियों के हाथ से मारे जाने के अपयश से बच गया और बिहार के अधिकांश परगनों का वह निर्विवाद स्वामी हो गया ।[1]

इस युद्ध के परिणाम के सम्बन्ध में तत्कालीन इतिहासकार स्पष्ट वर्णन करते हुये लिखते हैं कि - "सूरजगढ़ के युद्ध में जहाँ एक ओर बंगालियों की घोर पराजय का आलिंगन करना पड़ा, वहीं दूसरी ओर बिहार का प्रदेश लेखनी की एक लकीर द्वारा समाप्त किये वाक्य की भाँति पूर्णरूपेण शेरखाँ के अधिकार में आ गया । उसके पास शासन करने के समस्त साधन और वैभव एकत्रित हो गये । शेरखाँ प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से एक माना जाने लगा और दूर-दूर तक लोगों की नज़र में प्रशंसा का पात्र बन गया"।[2]

आधुनिक इतिहासकार डॉ. कानूनगो लिखते हैं कि - "जून 1534 ई. में शेरखाँ और बंगालियों के बीच सूरजगढ़ की भूमि पर लड़ा गया यह युद्ध मध्यकालीन भारतीय इतिहास में बहुत ही निर्णायक सैनिक कार्य सिद्ध हुआ, जिसने शेरखाँ के जीवन में एक नया अध्याय प्रारम्भ किया। बंगाल के शासक, सुल्तान महमूदशाह की यह दूसरी और अन्तिम (बिहार के विरुद्ध) चढ़ाई थी, जो विफल रही ।"[3]

सूरजगढ़ की विजय से शेरखाँ को बिहार राज्य का वास्तविक अधिकारी माना जाने लगा। जलाल खाँ मूर्खतापूर्ण अविश्वास के घेरे में आकर अपनी पैतृक सम्पत्ति को छोड़कर भाग गया और महमूदशाह की सहायता से इस सम्पत्ति को

---

1. शेख कबीर, पृ. 77ब,78ब,79अ ; अब्बास, पृ. 73,78,79 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग । ,पृ.255.
2. नियामतउल्लाह, भाग 1, पृ. 280 ; अबुलफज़ल : अकबरनामा, भाग 1, पृ.328 ; अहमदयादगार, पृ. 182.
3. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 151.

प्राप्त करने का असफल प्रयास किया। इसी कारण जहाँ एक ओर जलालखाँ देशद्रोही व राजघातक माना जाने लगा, वहीं दूसरी ओर शेरखाँ को सभी वर्ग के लोगों का पूर्ण समर्थन प्राप्त होने लगा। अब उसे सैनिकों व किसानों, किसी से भी विरोध की आशंका न रही । स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी कि नूहानियों ने भी शेरखाँ के आगे अपने हथियार डाल दिये और उसके समर्थक हो गये । वे शेरखाँ की स्थिति को यथावत् बने रहने देना चाहते थे । इस प्रकार शेरखाँ सूरजगढ़ के पश्चात् गंगा के दक्षिणी तट के विशाल प्रदेश का जो चुनार से सूरजगढ़ तक फैला था, निर्विवाद स्वामी बन गया। अपनी सुदृढ़ स्थिति देखकर उसने "मसनद-ए-आली"[1] की उपाधि धारण की ।

डॉ॰ अवस्थी लिखते हैं कि - "शेरखाँ की विजय की घटना नूहानियों की घटती हुयी शक्ति का सूचक तथा बंगाल में हुसैनी राजवंश की समाप्ति का आरम्भ थी, जिसने शेरखाँ के अपर्याप्त साधनों में वृद्धि की और बिहार प्रांत को बंगाल के शासक के दबाव से प्रभावहीन कर दिया ।[2]

यद्यपि 1530 ई॰ से 1534 ई॰ तक का काल शेरखाँ के जीवन और मृत्यु के साथ जूझने का संघर्षमय काल था, परन्तु इस विजय ने पूर्व में उसे सासाराम के एक कुशल एवं योग्य सैनिक नेता के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया ।[3] अपनी सूझ-बूझ एवं योग्यता के आधार पर 1534 ई॰ तक वह जिस स्थिति में पहुँच गया था उसके सम्बन्ध में यदुनाथ सरकार लिखते हैं कि - "एक अपूर्व कल्पनाशक्ति वाला अफगान पुरुष एक छोटे से जमींदार के पुत्र के रूप में धीरे-धीरे सफलता पूर्वक आगे बढ़ता रहा और पहले जलालखाँ नूहानी के शिक्षक, संरक्षक के रूप में बिहार की

---

1. बदायुँनी लिखता है कि - उसने बादशाहों के समान पदवी धारण की ·
   -मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग 1, पृ॰ 360.
2. डॉ॰ अवस्थी, पृ॰ 247-248.
3. यदुनाथ सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ॰ 166.

राजनीति में उदित हुआ फिर अपनी योग्यता के आधार पर नाममात्र का शासक रहा, परन्तु सूरजगढ़ के युद्ध के पश्चात् शीघ्र ही उस राज्य (बिहार) का वास्तविक शासक बन बैठा ।"[1]

इक्तदार हुसैन सिद्दिकी लिखते हैं कि - "यद्यपि शेरखाँ की कठिनाइयाँ प्रारम्भ से ही दिन-प्रतिदिन हर समय बढ़ती गयी फिर भी उसके युद्ध के तरीके, साहस एवं धैर्य ने उसको आगे बढ़ने में सहायता पहुँचायी । इब्राहिम खान के अधीन बंगाल की सशक्त एवं भयंकर सेना को पराजित किये बिना शेरखाँ बंगाल के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता था।"[2]

उपर्युक्त तथ्य इस बात की ओर संकेत करते हैं कि यदि सूरजगढ़ के युद्ध में शेरखाँ को विजयश्री प्राप्त न होती तो सासाराम के एक नगण्य जागीरदार का पुत्र अपनी अनाथ स्थिति से निकलकर शाही ताज की तलाश नहीं करता।

इसप्रकार यह स्पष्ट होता है कि अफगानों में शेरखाँ ही ऐसा व्यक्तित्व था, जिसने अपने विरोधियों एवं शत्रुओं के विरुद्ध सफलता प्राप्त की और अफगानों को यह दर्शा दिया कि जो भी राजनीतिक अवरोध उत्पन्न हुये उसका कारण कुलीन-वर्ग के वृद्ध अफगानों की स्वार्थपरता, एकता की कमी एवं किसी एक उद्देश्य का लेकर आगे न बढ़ने की कमजोरी थी, परिणामस्वरूप अफगानों का एक बड़ा वर्ग उसकी सेना में शामिल होने लगा। उनके ओहदों में भी परिवर्तन होने लगा।

मुश्ताकी लिखता है कि - "1535 ई० में उसने अपने पास 70,000 शक्तिशाली सवार एकत्र कर लिये थे, जिनपर वह प्रत्येक माह 12 करोड़ टंका खर्च किया करता था ।"[3]

---

1. यदुनाथ सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, II, पृ० 166 ।
2. इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ० 43,46।
3. मुश्ताकी, फो.47अ ; अब्दुल्ला, पृ० 122।

अपनी सैन्य स्थिति सुदृढ़ कर लेने के पश्चात शेरखाँ अपने प्रांतों की उन्नति करने में जी जान से जुट गया। फलस्वरूप थोड़ी ही अवधि में प्रत्येक प्रान्त अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गये और उसने सम्पूर्ण अफगान जाति में अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली और सर्वत्र यह बात फैल गयी कि - "शेरखाँ अपने सैनिकों को अच्छा वेतन देता है और वह भी यथासमय। वह अफगानों की भलाई में रुचि रखता है, किसी पर अत्याचार नहीं करता और न ही किसी को अत्याचार करने देता है।"[1] परिणामस्वरूप अवध तथा उत्तरी बिहार के अतिरिक्त चारों ओर से अफगान वर्ग उसकी सेवा में आने लगे और सेना में भर्ती होने लगे। इसकी पुष्टि अब्बास के लेखों से होती है - "मांडू के घेरे में (मई 1535 ई.) जब बहादुरशाह हुमायूँ से हारकर सूरत की ओर चला गया तो समस्त अफगान अमीर जो सुल्तान बहादुरशाह (गुजरात का शासक) की सेवा में चले गये थे, शेरखाँ की सेवा में आने लगे, जिनमें मसनद-ए-आली हैबत खाँ सरवानी का पुत्र ईसाखाँ सरवानी, मियाँ बिब्बन शाहू खेल, कुतुबखाँ मुजीखेल, मियाँ मारूफ फारमुली तथा आजम हुमायूँ पुत्र सुल्तान आलम शाहूखेल आदि प्रमुख थे। अफगानों में ऐसा कोई यशस्वी सरदार न बचा जो उसकी सेवा में न आया हो।"[2] इसी समय उसने अपनी उपाधि हजरत-आला रखी।

यद्यपि इस समय तक शेरखाँ नाममात्र को मुगल बादशाह की अधीनता स्वीकार करता था, परन्तु वस्तुतः उसकी स्थिति एक स्वतन्त्र सुल्तान के समान हो गयी थी। सूरजगढ़ की विजय के पश्चात उसने मुंगेर, गोरखपुर, बलिया, गाजीपुर, बनारस और चुनार तक के पश्चिमी क्षेत्रों को अपने अधिकृत कर लिया था फिर भी वह अपने इस प्रभाव क्षेत्र से संतुष्ट न था। अफगानों का समर्थन व लगातार

---

1. अब्बास, पृ. 79 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 258 ; ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 113 ; युसुफ हुसैन, पृ. 189.
2. वही, पृ. 96 ; वही, भाग IV, पृ. 264.

विजय प्राप्त होते रहने के कारण उसकी विजय लालसा और भी तीव्र होने लगी और अब वह हाथ पर हाथ रखकर बैठने की अपेक्षा पूर्णरूप से बंगाल का अधिकारी बनने का इच्छुक था, फलतः {पश्चिम में} गुजरात अभियान में मुगल सम्राट हुमायूँ द्वारा व्यस्त रहने व पश्चिम से किसी प्रकार की आक्रमक स्थिति की आशंका व भय न होने के कारण शेरखाँ ने अपनी सज्जनता, सद्व्यवहार व न्याय के आधार पर अफगानों में एकता स्थापित कर बंगाल की ओर मुख मोड़ा[1] और एक विशाल सेना[2] के साथ बंगाल के विरुद्ध नवम्बर 1535 ई. में प्रस्थान किया और एक मास में ही पटना, भागलपुर, सहित तेलियागढ़ी तक का पश्चिमी क्षेत्र अपने अधिकार में कर लिया।[3] उसकी महत्वाकांक्षा एवं लगातार प्राप्त होती सफलता ने उसके कदम यहीं नहीं रोके बल्कि तेलियागढ़ी तक के क्षेत्र को अपने अधिकृत कर लेने के पश्चात् शीघ्र ही वह बंगाल के ताज का पद भी प्राप्त करने की होड़ में लग गया।[4]

---

1. अहमद यादगार, पृ. 183 में लिखता है कि - ताजखाँ सारंगखानी {यह चुनार का अधिकारी था} की विधवा पत्नी लाड मलिका से विवाह कर लेने {1530 ई.} के पश्चात् शेरखाँ को 6 मन सोना, 8 मन बहुमूल्य रत्नमणि जिसका एक मोती एक हजार दीनार के मूल्य का था, प्राप्त हुये। इसके अतिरिक्त 10 हाथी, 80 ताजे घोड़े, धन सम्पत्ति, बहुमूल्य सामग्री भी प्राप्त हुये। उसने उस धन से एक विशाल सेना एकत्र कर ली और उसके पश्चात् उसके भाग्य का नक्षत्र उन्नति की ओर बढ़ने लगा। उसने अपनी मजबूत स्थिति समझकर बंगाल विजय का निश्चय किया.
2. महमूदशाह के विरुद्ध उसके पास 2 लाख पैदल, 40 हजार अश्वारोही, 1500 हाथी, 300 नौकायें थीं. -अवस्थी, पृ. 250-252.
3. अब्बास, पृ. 101 ; फरिश्ता, पृ. 225 ; ब्रिग्स II, पृ. 71 ; डार्न, भाग 1, पृ. 107 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 267 ; आर.सी. मजूमदार : दि मुगल एम्पायर, भाग 7, भारतीय विद्याभवन, 1974, पृ. 73; अवस्थी, पृ. 250-252.
4. यदुनाथ सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 166 ; अर्सकीन II, पृ. 136.

और हुमायूँ की अनुपस्थिति (1535-37ई.) का लाभ उठाकर उसके गुजरात से पूर्व की ओर लौटने से पूर्व ही शेरखाँ का पुत्र जलालखाँ सेना की एक टुकड़ी के साथ 90 हजार अश्वारोही दो अस्पा के साथ झारखण्ड की दुर्गम पहाड़ियों से यात्रा करता हुआ बंगाल की राजधानी गौड़ के निकट पहुँचा और बंगाल के सुल्तान महमूदशाह के समक्ष सामना करने हेतु आया। सुल्तान महमूद सामना न कर सका। परिणामस्वरूप शेरखाँ बिहार गढ़ी तथा बंगाल तक के क्षेत्र का पूर्ण अधिकारी बन गया ।[1] अफसानये-शहान का लेखक शेख कबीर इस घटना के सम्बन्ध में और अधिक स्पष्ट विवरण देता है। वह लिखता है कि - "बंगालियों पर विजय (सूरजगढ़ के युद्ध में) प्राप्त करने के पश्चात् शेरखाँ ने सुल्तान महमूदशाह की राजधानी गौड़ की ओर कूच किया (1536 ई. में) । पहाड़ों के बीच से होता हुआ दो दिन में वह राजमहल पहुँच गया और राजमहल से गौड़[2] की ओर प्रस्थान किया। इस अभियान में उसे सुल्तान महमूद के व्यक्तियों का भी समर्थन प्राप्त हुआ, क्योंकि वे कुतुबखाँ व इब्राहिम खाँ की हत्या के लिए महमूदशाह को ही दोषी मानते थे, अस्तु, शेरखाँ ने गंगा नदी पार की और गौड़ को घेर लिया। सुल्तान महमूदशाह ने शेरखाँ से आतंकित हो सन्धि की माँग की । शेरखाँ ने सुअवसर देख सन्धि कर ली, जिसके अनुसार सुल्तान महमूदशाह ने कोसी से हाजीपुर और गढ़ी से मुंगेर तक का समस्त प्रदेश तथा 13 लाख रुपये शेरखाँ को प्रदान किये । इसके अतिरिक्त 6 लाख रुपये भविष्य में देने का वायदा किया। शेरखाँ 6 लाख रुपये वसूलने के लिए कुतुबखाँ को गौड़ छोड़कर स्वयं सासाराम के लिए प्रस्थान किया" ।[3]

इस समय यदि महमूद अपने विरोधी का साहस से सामना करता तो शेरखाँ के लिए गौड़ पर अधिकार करना एक कठिन बात होती पर सुल्तान महमूद शेरखाँ

---

1. अहमदयादगार, पृ. 183 , 184, 186 ; मुश्ताकी, पृ. 95.
2. गौड़ बनारस से 350 मील पूर्व में स्थित है. -कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग IV ,पृ.30.
3. शेख कबीर, पृ. 80 ब ; इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ.46.

के अचानक धावे से अत्यधिक सशंकित एवं भयभीत हो गया इसलिए वह भीरू व्यक्ति की तरह व्यवहार करने लगा। इसी भय का ही परिणाम था कि उसने आक्रमणकारी से सन्धि की चर्चा की, जिसके अनुसार 13 लाख सोना तो प्राप्त किया ही साथ साथ क्यूल से लेकर संकरीगली तक 90 मील लम्बा और 30 मील चौड़ा एक महत्वपूर्ण क्षेत्र भी प्राप्त कर लिया ।[1]

महमूदशाह की कमजोरी अब पूर्णतया स्पष्ट हो चुकी थी, अतः कुछ समय पश्चात् बिहार के विद्रोहों की ओर से निश्चिन्त हो शेरखाँ पुनः बंगाल पर दूसरा आक्रमण करने की ओर उन्मुख हुआ। उसके पास बंगाल के सुल्तान पर आक्रमण का बहाना भी था। सुल्तान महमूदशाह सन्धि की शर्तों के मुताबिक शेरखाँ को वार्षिक कर चुकाने में असमर्थ रहा और अभी तक उसने शेरखाँ को अपना शत्रु समझने की नीति भी नहीं त्यागी थी, इसके अतिरिक्त कुतुब खाँ (शेरखाँ का वजीर) को उसने गौड़ से भगा दिया था। फलतः असन्तुष्ट शेरखाँ ने जलालखाँ (पुत्र) व खवासखाँ तथा आजम हुमायूँ को 30 हजार अश्वारोहियों सहित सुल्तान महमूदशाह के विरुद्ध गौड़ की ओर भेजा। सुल्तान ने गौड़ दुर्ग को दृढ़ कर लिया परन्तु अफगानों (खवासखाँ, जलाल खाँ) ने चारों ओर से दुर्ग को घेर लिया। घेरा लम्बे समय तक चलता रहा। जब गौड़ नगर में खाने के लिए रसद की कमी हो गयी तो विवश हो सुल्तान महमूद नौका में बैठकर हाजीपुर चला गया और शेरखाँ ने सरलता से उसके कोष पर अधिकार कर लिया। उसने सुल्तान महमूद का पीछा भी किया, विवश हो सुल्तान को युद्ध के लिए तैयार होना पड़ा। सुल्तान महमूद घायलावस्था में बड़ी कठिनाई से युद्ध क्षेत्र से प्राण बचाकर भाग पाया। बंगाल की राजधानी गौड़ पर पूर्णरूपेण शेरखाँ का अधिकार (6 अप्रैल 1538 ई.) हो गया। अब वह बिहार-बंगाल का दावेदार सिपाही एवं योग्य शासक बन गया।[2]

---

1. आर.सी. मजूमदार : दि मुगल एम्पायर, भाग VI, पृ.73.
2. शेख कबीर, पृ. 83 अ, 83 ब; फरिश्ता, पृ.225 ; ब्रिग्स II, पृ.71 ; अर्सकीन, भाग II, पृ.143 ; कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ.192.

1532 से 1537 ई. के बीच 5 वर्षों की लम्बी अवधि तक पूर्वी भारत से हुमायूँ की लगातार अनुपस्थिति के कारण शेरखाँ की पूर्व में निरन्तर बढ़ती हुयी शक्ति ने मुगल सम्राट हुमायूँ को चिन्तित कर दिया। उसकी अप्रत्याशित सफलता को देख बादशाह, शेरखाँ के प्रति कड़ा रुख अपनाने को बाध्य हुआ। साम्राज्यवादी हित की दृष्टि से शेरखाँ की शक्ति को अपने लिए घातक समझकर बादशाह ने उसके विरुद्ध सैनिक अभियान की तैयारी की और जुलाई 1537 ई.[1] में ही एक लम्बे फौजी दस्ते व छोटे जहाजी बेड़े सहित शेरखाँ को अपने अधीन करने के उद्देश्य से पूर्व की ओर कूच किया ।[2]

---

1. तारीखे कुतबी, पृ. 626 उद्धृत - इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 51 में लिखा है कि हुमायूँ पतझड़ के महीने में 1537 ई. में चुनार की ओर अग्रसर हुआ। गुलबदन बेगम लिखती हैं कि शबेबरात 15 शाबान 945 हि. (जनवरी सन् 1539 ई.) को हुमायूँ की सेना चुनार पहुँची (परन्तु इस तिथि के आधार पर बंगाल विजय व अन्य लड़ाइयों के लिए केवल 6 मास ही शेष रह जाते हैं, अतः यह तिथि सही प्रतीत नहीं होती)
   मुन्तखब-उत-तवारीख से ज्ञात होता है कि यह घटना 945 हि. में घटी, भाग 1, पृ. 350 .
   बी.डे. अनुवाद , तबकाते अकबरी, भाग II, पृ. 62 पर 12 अगस्त 1535 ई. लिखता है पर यह शुद्ध प्रतीत नहीं होता। इनके विपरीत डॉ. बनर्जी 29 जुलाई, 1537 ई. लिखते हैं, -हुमायूँ बादशाह, भाग 1, पृ. 210 . एलफिंस्टन, सफर 944 अर्थात् जुलाई 1537 लिखते हैं -हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. 444, फु.नो. 6. उपर्युक्त मतों को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि वास्तव में हुमायूँ बादशाह पूर्व की ओर जुलाई 1537 में ही रवाना हुआ ।
2. फरिश्ता, पृ. 225 ; यदुनाथ सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 166.

पूर्व की ओर बढ़ते हुये उसने गौड़ की अपेक्षा चुनार को पहले अधिकृत करने का निश्चय किया (चुनार का किला शेरखाँ के अधिकार में 1530 ई. में ही लाड मलिका से विवाह करने के पश्चात् आ गया था)। अक्टूबर 1538 में हुमायूँ ने चुनार का घेरा डाला । 6 माह के घेरे के पश्चात मार्च 1538 ई. में हुमायूँ ने रूमीखाँ की सहायता से चुनार के किले को कब्जे में कर लिया ।[1]

चुनार को अधिकृत कर हुमायूँ बंगाल के विरुद्ध अभियान की तैयारी के लिए बनारस आया। बनारस में हुमायूँ को रायबच्चा से शेरखाँ द्वारा बंगाल को पूर्णतया बर्बाद करने व गौड़ को अधिकृत (1538 ई.) करने की सूचना मिली। यह खबर सुनकर शीघ्र ही हुमायूँ ने शेरखाँ के विरुद्ध बंगाल की ओर कूच किया। रास्ते में मोहनियाँ नामक स्थान पर (यह आरा और दीनापुर के बीच में एक छोटा सा कस्बा था जो गंगा व सोन नदी के संगम पर स्थित है) बंगाल का सुल्तान महमूद-शाह शेरखाँ से पराजित हो घायल अवस्था में हुमायूँ के समक्ष आया। उसकी दयनीय दशा देखकर हुमायूँ ने उसे बंगाल राज्य, विशेषकर गौड़ की सुरक्षा का वचन दिया और शेरखाँ के विरुद्ध बंगाल की ओर अपनी यात्रा जारी रखी ।[2]

---

1. फरिश्ता तिथि स्पष्ट न कर केवल इतना लिखता है कि घेरा 6 माह तक चलता रहा, पृ. 225 ; ब्रिग्स, भाग II, पृ. 71 ; निजामुद्दीन अहमद, पृ. 229 भी 6 माह के घेरे का जिक्र करता है ; अब्दुल्ला पृ. 122 में 6 माह स्वीकारता है, परन्तु शेख कबीर, पृ. 95 ब में 4 माह का वर्णन करता है। आधुनिक इतिहासकारों ने भी 6 माह के घेरे का उल्लेख किया है, अतः कानूनगो की यह तिथि कि मार्च 1538 में चुनार को हुमायूँ ने रूमीखाँ की सहायता से अधिकृत किया सत्य प्रतीत होता है.
2. जौहर, तजकिरात-उल-वाकयात, 12 ब उद्धृत - इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 53 ; फरिश्ता , पृ. 225 ; ब्रिग्स, भाग II , पृ. 72 ; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया IV , पृ. 29 ; 50 ; अर्सकीन , भाग II, पृ. 142-44 ; ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 119; अवस्थी, पृ. 280 में मनेर का उल्लेख करते हैं ।

रोहतास दुर्ग शेरखाँ के कब्जे में

मुगलों को लगातार बंगाल की ओर अग्रसर होते देख शेरखाँ दुविधा में पड़ गया। उनकी खतरनाक स्थिति अपने चारों ओर महसूस कर तत्काल शेरखाँ के सामने अपने कोष (जो गौड़ से प्राप्त हुये थे) और अफगान परिवारों के सुरक्षा की समस्या उत्पन्न हुयी । इस समय उसे उपयुक्त स्थान की आवश्यकता थी ताकि गौड़ से प्राप्त धन व अफगान परिवारों को वह सुरक्षित रख सके । इस दृष्टि से उसकी तीक्ष्ण बुद्धि ने रोहतास के किले को, जो चुनार दुर्ग से चार गुना बड़ा और सुदृढ़ दुर्ग था, उपयुक्त स्थान चुना। बाद की घटनाओं को देखने से पता चलता है कि इस युक्ति के पीछे शेरखाँ का सबसे बड़ा लाभ यह था कि वह बंगाल में मुगल सेना को तो बढ़ने देना चाहता था, पर स्वयं बिहार में रुकना चाहता था ताकि अफगान परिवारों से निश्चिन्त हो मुगलों से युद्ध कर सके और शासन की ओर ध्यान दे सके ।[1]

तत्कालिक परिस्थितियों को देखते हुये रोहतास दुर्ग[2] हर दृष्टि से उपयुक्त स्थान था, अतः शेरखाँ ने रोहतास दुर्ग के हिन्दू राजा हरिकिशन[3] के ब्राह्मण मंत्री

---

1. फरिश्ता, पृ. 225.
2. यह दुर्ग बिहार प्रदेश के निकट ऊँचे पहाड़ पर स्थित है। इसकी लम्बाई चौड़ाई 5 कोस से अधिक है, यह विश्व के श्रेष्ठ दुर्ग में से एक है । -फरिश्ता, पृ. 226,
3. प्रायः तत्कालीन इतिहासकार राजा का उल्लेख नहीं करते बल्कि वे मंत्री चूड़ामणि का ही उल्लेख करते हैं, परन्तु फरिश्ता के लेखों से हमें रोहतास दुर्ग के राजा हरिकिशन की जानकारी प्राप्त होती है। वह राजा का नाम हरिकिशन राय बताता है ।-वही, पृ. 225 ; ब्रिग्स, भाग II, पृ. 72 . अर्सकीन, भाग II, पृ. 147 में हरिकिशन राय की जगह हरिकिशन बरकीस लिखता है , परन्तु होदीवाला, भाग I, पृ. 452 में स्पष्ट रूप में लिखते हैं कि "बरकीस" गलत है.

चूणामणि द्वारा अफगान परिवारों की सुरक्षा के लिए दुर्ग में अस्थायी निवास की अनुमति माँगी । प्रारम्भ में राजा ने शेरखाँ को अनुमति देने से इन्कार कर दिया पर मंत्री चूणामणि के अनुनय-विनय व शेरखाँ द्वारा सदैव मित्रता बनाये रखने का विश्वास दिलाने पर उसने दुर्ग को शेरखाँ को देना स्वीकार कर लिया।[1] राजा द्वारा रोहतास दुर्ग में शेरखाँ के अफगान परिवारोंकी सुरक्षा की स्वीकृति मिल जाने के पश्चात् शेरखाँ ने किस प्रकार छल और विश्वासघात से दुर्ग को अपने अधिकृत किया इस सम्बन्धमें फरिश्ता लिखता है कि - शेरखाँ ने 1 हजार[2] पर्देदार डोलियों में अफगान परिवार की स्त्रियों के स्थान पर प्रत्येक डोली में दो-दो सुसज्जित सैनिक बिठाकर सबको दुर्ग के नीचे पहुँचाया। आगे की कुछ डोलियों में वृद्ध स्त्रियों को बैठाया। पर्दे के सम्बन्ध में मुस्लिम भावना (मान हानि सम्बन्धी भावना) का विचार रखते हुये राजा ने डोलियों की पूरी जाँच नहीं करवायी परिणामस्वरूप छल और विश्वासघात जैसी जघन्य युक्ति द्वारा डोलियों में बैठे सैनिकों ने रोहतास जैसे दुर्ग, जिसका उदाहरण विश्व के चारों कोनों में मिलना असम्भव है तथा जो दृढ़ता में समस्त भारत में अद्वितीय था, बड़ी सरलतस से अपने अधिकृत (अप्रैल 1538 ई. में)[3] कर युगों से संचित कोष पर भी अपना अधिकार कर लिया। राजा बड़ी ही कठिनाई से दुर्ग के पीछे से प्राण बचाकर भागा ।[4]

---

1. अब्बास, पृ. 105,106,109 ; फरिश्ता, पृ. 225 ; ब्रिग्स, भाग II, पृ. 72; अब्दुल्ला, पृ. 124 ; अर्सकीन, भाग II, पृ. 147.
2. अहमदयादगार, पृ. 188 में 300 डोलियों का वर्णन करता है। नियामतउल्ला पृ. 294-295 पर 1200 डोलियों का उल्लेख करता है। अब्बास पृ. 109,110 पर डोलियों की कहानी को अतिशयोक्ति मानकर पूर्णतया अस्वीकार करता है परन्तु छल और विश्वासघात द्वारा दुर्ग की प्राप्ति का समर्थन करता है। इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 270-71 ; अबुलफजल : अकबरनामा, भाग I, पृ. 335 पर 600 डोलियों का जिक्र करता है.
3. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 205, फु. नो. 3.
4. फरिश्ता, पृ. 225 ; ब्रिग्स, भाग II, पृ. 73 ; निजामुद्दीन अहमद (अं. अनु.

अहमद यादगार शेरखाँ द्वारा रोहतास दुर्ग को अधिकृत किये जाने के सम्बन्ध में और अधिक स्पष्ट शब्दों में लिखता है कि - "शेरखाँ के उन्नतिशील भाग्य द्वारा ऐसा अद्वितीय दुर्ग जो विश्व का पर्यटन करने वालों ने तथा पर्वतों और घाटियों पर भ्रमण करने वालों ने भारतवर्ष की चारों दिशाओं में भी नहीं देखा था, बड़ी सरलता से शेरखाँ के अधिकार में आ गया। उसने इस घटना को अपनी विजय का प्रथम प्रतीक समझा। उसे विजय की अतुल सम्पत्ति तथा अगणित कोष जो राजा की सात पीढ़ियों ने एक स्थान पर एकत्रित किया था, उसके अधिकार में आ गया। उसने वहाँ पर अपने व्यक्तियों (अफगानों) को सुरक्षित कर संतोष ग्रहण किया ।"[1]

शेरखाँ ने यद्यपि रोहतास को विजित कर अपार धनराशि प्राप्त कर ली थी, अफगान परिवारों व सैनिकों को सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया था, गौड़ सहित बंगाल के अधिकांश भागों पर अभी भी उसका अधिकार बना हुआ था फिर भी जब उसने मुगलों को लगातार गौड़ की ओर अग्रसर होता हुआ देखा तो

बी.डे) भाग 11, पृ. 162-3 ; अब्दुल्ला, पृ. 124 ; अर्सकीन, भाग 11, पृ. 147,49 ; कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 192 में स्वीकार किया है कि रोहतास दुर्ग शेरखाँ ने छल से लिया था, परन्तु तैमूर लेखक रोहतास को छल द्वारा प्राप्त करने की घटना पर विरोध प्रगट करते हुए कहता है कि रोहतास प्राप्ति छल अथवा कपट का परिणाम नहीं था । डार्न, भाग 1, पृ. 109 ; परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि "यदि शेरखाँ के डोली की घटना को अस्वीकार कर भी दिया जाये तो भी शेरखाँ विश्वासघात के दोष से बच नहीं सकता, क्योंकि दुर्ग पर उसका अधिकार वास्तव में छल-कपट जैसी युक्ति का ही परिणाम था ।

1. अहमद यादगार, पृ. 189.

शीघ्र ही भारकुंडा की पहाड़ियों से केवल 500[1] अफगान सैनिकों के साथ गंगा नदी से होता हुआ गौड़ की ओर बढ़ा और हुमायूँ जब तक मुंगेर से भागलपुर पहुँचा शेरखाँ तीव्र गति से बढ़ता हुआ 48 घण्टे में मुंगेर से बादशाह के गौड़ पहुँचने के पूर्व ही, गौड़ पहुँच गया ।[2] (सम्भवतः इसका मूल कारण गौड़ में संचित अपार धनराशि थी जिसे शेरखाँ प्राप्त करना चाहता था, क्योंकि राजकोष, ऐश्वर्य, एवं प्रतिष्ठा की दृष्टि से उसके हित में यही उचित था) ।

जब शेरखाँ गौड़ नगर में पहुँचा पुत्र जलाल खाँ तथा अन्य अमीरों को 12 हजार अश्वारोही, 500 हाथी[3] प्रदान कर उन्हें आदेश दिया कि वे गढ़ी का मार्ग रोकें और तब तक वे बादशाह को इस ओर आने से रोकें जब तक कि वह अपनी साज-सज्जा ठीक न कर ले और जो धन उसे गौड़ से प्राप्त हुआ है, उसे रोहतास सुरक्षित न पहुँचा दे । जलाल खाँ ने मुगलों का रास्ता रोका और गढ़ी के मार्ग को दृढ़ किया। मुगलों व अफगानों से संघर्ष हुआ, मुगल पराजित हुये। इसी बीच वर्षा की अधिकता के कारण मार्ग भी बन्द हो गया और बादशाह का गौड़ की ओर जाना एक माह के लिए स्थगित हो गया। जितना धन उसके हाथ आया था, उसे लेकर वह झारखण्ड के मार्ग से होता हुआ रोहतास पहुँचा । रोहतास पहुँचकर शेरखाँ ने जलालखाँ को गढ़ी छोड़कर वापस रोहतास आने की सूचना भेजी। जब बादशाह ने सुना कि जलाल खाँ गढ़ी छोड़कर चला गया तो स्वयं बंगाल को

---

1. शेख कबीर लिखता है कि - शेरखाँ अकेले गुप्त रूप से गौड़ गया था । -अफसानयेशहान, पृ. 68 अ; अब्बास लिखता है कि वह कुछ सवारों के साथ गया था। -अब्बास, पृ. 118 ; डॉ. यदुनाथ सरकार लिखते हैं कि वह 500 सवारों के साथ गया था । -हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 167.
2. यदुनाथ सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 167.
3. शेख कबीर लिखता है कि - शेरखाँ ने पुत्र जलालखाँ जल्लू, आजम हुमायूँ, ईसाखाँ नियाजी को 12 हजार अश्वारोही तथा 500 हाथी देकर गढ़ी भेजा था । -अफसानये शहान, पृ. 99अ.

राजधानी गौड़ की ओर प्रस्थान किया। गौड़ पहुँचकर (जुलाई 1538 ई.) 9 मास तक का समय व्यतीत किया ।[1]

हुमायूँ की अनुपस्थिति का लाभ उठाते हुये शेरखाँ ने पुनः विरोधात्मक कदम उठाये । गौड़ में हुमायूँ के लम्बे समय तक आनन्दोत्सव में व्यस्त रहने के कारण मौके का फायदा उठाकर शेरखाँ ने पूर्वी क्षेत्र में मुगलों को अपदस्थ करना प्रारम्भ कर दिया। मुश्ताकी लिखता है कि - "शेरखाँ ने शाही क्षेत्रों में काफी उपद्रव

---

1. अकबरनामा में जून 1538 ई. का उल्लेख मिलता है, भाग 1, पृ. 335, फु.नो. 1. डॉ. कानूनगो बादशाह के गौड़ पहुँचने की तिथि जुलाई 1538 ई. मानते हैं, परन्तु डॉ. अवस्थी इन दोनों से बिल्कुल भिन्न सितम्बर-अक्टूबर माह में बादशाह को गौड़ पहुँचना स्वीकारते हैं।
   हुमायूँ गौड़ में कितने समय तक रहा इस सम्बन्धमें सही-सही जानकारी प्राप्त नहीं होती। अब्बास लिखता है कि वह गौड़ में तीन मास रहा । -अब्बास, पृ. 124 ; नियामतउल्लाह, भाग 1, पृ. 296 ; फरिश्ता(पृ.226) ने भी तीन मास का समय लिखा है, परन्तु प्रत्यक्षदर्शी जौहर लिखता है कि उसने 9 महीने भोग विलास में व्यतीत किये । -जौहर, एफ 13 ए.
   जौहर की मान्यता को साक्ष्यों के आधार पर सही माना जा सकता है क्योंकि चौसा का युद्ध (जून 1539 ई.) की घटना है और अप्रैल-मई में वर्षा प्रारम्भ होने से पूर्व वह 2 महीने तक चौसा में ही रहा । इस प्रकार चौसा का युद्ध (जून में) होने तक लगभग 3 महीनें उसने चौसा में ही गुजारे, इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जुलाई 1538 से 1539 ई. तक उसने गौड़ में ही व्यतीत किये ।

   गुलबदन बेगम भी लिखती हैं कि हुमायूँ ने 9 महीनें गौड़ में व्यतीत किये । -हुमायूँनामा, पृ. 134.

मचाया हुआ था ।"[1] उसने ‌[शेरखाँ ने] बनारस में आकर वहाँ के शासक को घेर लिया और बनारस पर विजय प्राप्त की । अधिकांश मुगल जो बनारस में थे, वध कर दिया गया। इसके पश्चात् शेरखाँ कन्नौज की ओर बढ़ा । यद्यपि हुमायूँ ने दोआब तक के क्षेत्रों में मुगल गवर्नरों की नियुक्ति की थी, पर जिन्होंने अफगानों का विरोध किया या तो वे [मुगल] मार डाले गये या पराजित किये गये या देश से बाहर निकाल दिये गये । इस प्रकार कन्नौज से सम्भल तक का राज्य अफगानों के अधिकार में आ गया, जिनमें बनारस, जौनपुर, चुनार, लखनऊ, बहराइच, रोहतास, मऊ, कन्नौज, कड़ा, सम्भल सम्मिलित थे । इसकी पुष्टि शेख कबीर के लेखों से भी होती है। वह लिखता है कि - "जौनपुर,बनारस, बहराईच, लखनऊ, बांगरमऊ, कन्नौज एवं शम्शाबाद तथा गढ़ी तक का प्रदेश अपने अधिकृत कर अफगानों ने वहाँ राजस्व वसूली भी की ।"[2]

चौसा का युद्ध

(26 जून, 1539 ई.) जौहर लिखता है कि जब बादशाह को शेरखाँ के इन गतिविधियों की जानकारी प्राप्त हुयी तो उसे विश्वास ही नहीं हुआ कि ऐसी स्थिति भी आ सकती है। उसने पूछा कि शेरखाँ को शाही क्षेत्रों पर आक्रमण व उन्हें अधिकृत करने का साहस कैसे हुआ ।"[3] उसने शेरखाँ से तुरन्त निपटने का निश्चय किया। इसी बीच उसे एक और दुर्भाग्यपूर्ण सूचना मिली कि उसके भाई मिर्जा हिन्दाल ने आगरा में विप्लव उत्पन्न किया है और धार्मिक नेता शेख-बहलोल की हत्या कर दी है। उसने न केवल आगरे में ही बल्कि दिल्ली तथा मेवात में भी विद्रोह की पताका फहराई है। यह खबर सुनकर उसकी परेशानी और भी बढ़ गयी । उसके सामने ये दो समस्यायें गम्भीर रूप में हाथ फैलाये खड़ीं

---

1. मुश्ताकी, पृ. 96.
2. अफसानये शहान, पृ. 103 ब.
3. जौहर, एफ. 13ब.

थीं, जिनका समाधान स्वयं उसी को करना था, वह यह नहीं समझ पा रहा था कि पहले शेरखाँ के विरुद्ध बढ़े अथवा अपने भाई हिन्दाल के विद्रोह को शान्त करे, फलतः उसने अमीरों से परामर्श लिया। मुईद बेग[1] ने उसे आगरे की ओर प्रस्थान करने की सलाह दी । बादशाह ने मुईदबेग की सलाह मानकर जहाँगीर कुलीबेग को बंगाल का दुर्ग रक्षक नियुक्त किया और उसे 5000 अश्वारोहियों सहित बंगाल में छोड़कर आगरे की ओर प्रस्थान किया। खानेखाना लोदी को बादशाह ने मुंगेर की ओर बढ़ने की आज्ञा दी और उसे आदेश दिया कि वह मुंगेर पहुँचकर पीछे से आने वाली शाही सेना की प्रतीक्षा करे । मिर्जा अस्करी को एक बड़ी सेना देकर भागलपुर जिले के कहलगाम पर अधिकार करने व शेरखाँ की गतिविधियों की जानकारी रखने के लिए भेजा ।[2]

शेरखाँ ने जब शाही सेना के आगरा प्रस्थान करने के समाचार सुने तो वह जौनपुर छोड़कर रोहतास की ओर रवाना हुआ और अपनी सारी सेनायें रोहतास में एकत्रित कर ली ।[3] उसने यह निश्चय किया कि यदि उत्कृष्ट पताकायें उसके विरुद्ध आयें तो वह युद्ध न करके झारखण्ड के मार्ग की ओर पुनः वापस होकर

---

1. बादशाह को राजधानी जाने से पूर्व शेरखाँ से निपटने की योजना बनानी चाहिये थी, पर उसने मुईद बेग (जो कि बादशाह के बहुत ही अधिक विश्वसनीय अमीरों में से एक था) की बात मानकर शेरखाँ की ओर ध्यान नहीं दिया, बल्कि हिन्दाल के विद्रोह को शान्त करने की योजना बनायी, यही कारण था कि जौहर (एफ. 2, 15ब-16अ) लिखता है कि - हुमायूँ द्वारा मुईदबेग की बात मानना चौसा के युद्ध में उसकी पराजय का कारण बना। आधुनिक इतिहासकारों ने जौहर का समर्थन किया है.
2. ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 126 ; इक्तदार हुसैन-सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 58.
3. अब्बास, पृ. 127.

बंगाल (गौड़) प्रस्थान करेगा। यदि ऐसा नहीं होता है और शाही सेना राजधानी की ओर प्रस्थान करेगी तो वह अवसर मिलते ही उसका पीछा करेगा। इतना ही नहीं, मुगलों के लिए रसद सामग्री पहुँचने में तथा आगे सेना के बढ़ने में भी बाधा उत्पन्न करेगा ।[1] इस सम्बन्ध में उसने अफगान अमीरों से भी परामर्श लिया । अब्बास लिखता है कि - जिस समय हुमायूँ बादशाह शेरखाँ के निकट से और रोहतास के पर्वतों से आगे बढ़े, तो शेरखाँ ने अपने अमीरों से परामर्श लिया कि, बादशाह की सेना बड़ी संकट की स्थिति में है तथा आगरा में भी बड़ा विप्लव हो रहा है, इसी कारण मुझको बिना पराजित किये जा रहे हैं। यदि समस्त स्वजनों की राय हो तो भाग्य की परीक्षा करूँ । इस समय मेरे पास सुसज्जित सेना है।[2] जब शेरखाँ ने देखा कि समस्त अफगान उससे सहमत हैं और मुगलों से युद्ध के लिए तत्पर हैं तो रोहतास के पहाड़ों से निकलकर हुमायूँ बादशाह की सेना की ओर प्रस्थान किया। मुंगेर के निकट मुगल सेना ने गंगा पार किया। इस समय तक मुगलों को यह खबर नहीं थी कि शेरखाँ बादशाह के निकट आ गया है । मुंगेर तक मुगल सेना निर्बाध रूप से कुच कर गयी ।[3] यहीं बादशाह की मुलाकात मिर्जा अस्करी से हुयी । अस्करी व मुहम्मद जमान मिर्जा द्वारा बादशाह को शेरखाँ की गतिविधियों[4] की जानकारी प्राप्त होते ही बादशाह ने शेरखाँ के विरुद्ध शीघ्र

---

1. ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 126.
2. मखजने अफगानी में उल्लिखित है कि शेरखाँ के पास इस समय 70 हजार सवार व 500 हाथी थे, पृ. 245 ; उद्धृत - अवस्थी, पृ. 324.
3. डॉ. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 209 ; इफ्तदार हुसैन सिद्दिकी: हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 59 ; ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 127.
4. मिर्जा अस्करी ने बतायाकि अफगानों ने दिल्ली तथा आगरा की ओर बढ़ने वाले सारे रास्ते रोक दिये हैं और स्वयं शेरखाँ एक लम्बी सेना के साथ रोहतास में ठहरा हुआ है.

बढ़ने का निश्चय किया। यद्यपि उनसे सामन्तों (फूल बेग, मुल्ला मुहम्मद आदि) द्वारा बड़ा आग्रह किया गया कि ऐसे अवसर पर जबकि सेना कीचड़ इत्यादि में लम्बी यात्रा करने के कारण काफी थक चुकी है और अस्त-व्यस्त अवस्था में है, ऐसी स्थिति में निश्चित संकल्प को छोड़कर शत्रु की ओर मुड़ना और शीघ्रता के कदमों से रणक्षेत्र की ओर अग्रसर होना उचित नहीं है। अतः राज्य के हित में यही उचित होगा कि किसी स्थान पर पड़ाव कर दिया जाये, तथापि हजरत जहाँबानी ने इन बातों की ओर ध्यान नहीं दिया और पुनः मुईदबेग के अविवेकपूर्ण सलाह पर गंगा नदी को पार करके शत्रुओं की ओर प्रस्थान किया ।[1] जौहर जिसने इस घटना को अपने आँखों से देखा था लिखता है कि - शेरखाँ ने अपने को मुगलों के पीछे ही रखा और उनके साथ छुट-पुट मारपीट व बलवा करता रहा। जब बादशाह अपना शिविर मनेर में लगाये था, वहीं (शेख याहिया मनेरी की दरगाह के करीब) चन्दावल के लोगों द्वारा यह सूचना मिली कि अफगान सेना ने हुमायूँ के प्रसिद्ध तोप "कोहशिका" को अपने कब्जे में कर लिया है, जिसे रूमी खाँ ने चुनार घेरे के समय प्रयोग किया था।

---

1. जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि जौहर ने लिखा है कि - "हुमायूँ द्वारा मुईदबेग की बात मानना ही चौसा के युद्ध में पराजय का कारण बना", जौहर, एफ. 2, 15ब-16अ. आधुनिक इतिहासकारों ने भी जौहर की बात का समर्थन किया है। उनका कहना है कि - "हुमायूँ ने फूलबेग, मुल्ला मुहम्मद फर्ख अली की बात न मानकर और जौनपुर की ओर न बढ़कर एक बहुत बड़ी गलती का परिचय दिया। यदि उसने उनकी बात मान ली होती तो बादशाह, शेरखाँ की सेना के साथ गम्भीर मुकाबले से बच जाता और स्थिति उसके पक्ष में होती"। -ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 127 / डॉ. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 214.

   हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि शेरखाँ मुगलों के साथ जानबूझ कर विरोधात्मक नीति अपना रहा था। वह बंगाल के अस्वस्थ वातावरण तथा मुगल सेना की दुर्दशा के बारे में जान गया था। चूँकि बादशाही सेना अत्यधिक वर्षा तथा भोजन सामग्री की कमी के कारण साधन रहित हो गयी थी और अत्यधिक

इसके अलावा युद्ध सामग्रियों व नावों को भी अपने कब्जे में कर लिया है ।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि शेरखाँ ने बादशाह के पिछले भाग पर पहले आक्रमण इस लिए किया ताकि वह उनके युद्ध सामग्रियों व तोपों को लूटकर एक गम्भीर शस्त्रों की लड़ाई से बच सके ।

वह आगे लिखता है कि - "यह सूचना मिलते ही बादशाह हुमायूँ तेजी से आगे बढ़ा और मार्च 1539 ई॰ में चौसा[2] के निकट बोहिया नामक ग्राम में पड़ाव डाला। बोहिया[3] भोजपुर के अधीन एक गाँव था, जहाँ पर कर्मनासा नामक नदी बहती थी। शाही सेना ने नदी के पश्चिमी तट पर पुल पार करके अपना पड़ाव डाला। अफगान नेता ने भी चौसा ग्राम में (बक्सर में) कर्मनासा नदी के पूर्वी तट पर शाही सेना के ठीक सामने अपना खेमा लगाया ।"[4] जैसे ही अफगान सेना के आगमन की सूचना मुगलों को मिली कासिम हुसैन सुल्तान ने बादशाह को

घोड़े तथा सैनिक नष्ट-भ्रष्ट हो गये थे, इसलिए मार्ग में उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। इसीलिए शेरखाँ ने इसे सुअवसर जानकर चींटी-पतंगों की भाँति अपार सेना एकत्रित कर ली थी । वह मुगलों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ था ।

1. जौहर, एफ॰, 16अ, 16ब ; ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ॰ 127 ; स्टीवर्ट, पृ॰ 16 ; कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ॰ 211.
2. चौसा कर्मनासा नदी के पूर्वी तट पर बक्सर से 4 मील पश्चिम में स्थित है । -इ॰ग॰, भाग x, पृ॰ 185.
3. बोहिया शाहाबाद जिले में स्थित है। वर्तमान समय में यह कलकत्ता से 382 मील दूर भारतीय पूर्वी रेलवे के निकट स्थित है। - डार्न ने हिस्ट्री ऑफ अफगान्स, भाग 1, पृ॰ 118 में इसे शूया लिखा है, यह गलत प्रतीत होता है क्योंकि शूया किसी भी स्थल का नाम नहीं मिलता। बाबरनामा, पृ॰ 662-67 में भी बोहिया का वर्णन आया है, जबकि अप्रैल 1529 ई॰ में बाबर ने इस स्थल का भ्रमण किया था। यह भोजपुर से 25 मील पूर्व तथा बक्सर से 5 मील की दूरी पर है.
4. जौहर, एफ 16अ, 16ब.

तुरन्त अफगानों पर आक्रमण करने की सलाह दी, क्योंकि अफगान सैनिक व घोड़े रोहतास से 18 व 19 कुरोह (लगभग 36 मील) की यात्रा करने के कारण काफी थके हुये थे, जबकि मुगल लोग उनकी अपेक्षा कम थके हुये थे, परन्तु मुईदबेग ने बादशाह को तुरन्त अफगान सेना पर आक्रमण न करने की सलाह दी और बादशाह ने उसकी सलाह मान ली ।[1]

बादशाह ने तुरन्त अफगानों के विरुद्ध क्यों कार्यवाही नहीं की, इस सम्बन्ध में गुलबदन बेगम स्पष्ट शब्दों में लिखती हैं कि - "रास्ते की अनेक कठिनाइयों एवं अस्त्र-शस्त्रों के नुक्सान ने हुमायूँ को तुरन्त ही शत्रु पर आक्रमण न करने को विवश किया। बादशाह दिल्ली से अतिरिक्त सेना के आ जाने की आशा में बंधा रहा और उसने कोई भी विरोधी कार्यवाही नहीं की, यहाँ तक कि बाबाबेग, मीरबेग, मुगलबेग, जौनपुर, चुनार और अवध के मुख्य सेनापतियों के आ जाने के बावजूद भी उसने तुरन्त शत्रु के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की ।"[2]

हुमायूँ के वर्तमान चरित्र लेखक (ईश्वरी प्रसाद आदि) मुईद बेग पर आरोप लगाते हैं कि उसने हुमायूँ को तुरन्त शेरखाँ पर आक्रमण न करने की सलाह देकर भूल की, क्योंकि अफगान सैनिक व घोड़े मुगलों की अपेक्षा अधिक थके हुये थे । इसके अतिरिक्त अफगान इतने कम फासले (25 गज) पर थे कि उन पर आसानी से हमला करके विजय प्राप्त की जा सकती थी । वे आगे यह भी कहते हैं कि - यदि हुमायूँ मुईदबेग के निर्बुद्धि निर्णय को न मानकर स्व विवेक से कार्य करता और कासिम हुसैन व अन्य अधिकारियों की बात मानकर शेरखाँ पर तुरन्त हमला कर देता तो सम्भवतः हिन्दुस्तान का इतिहास और का और हो जाता ।[3] यद्यपि इस तथ्य को नकारा

---

1. जौहर, एफ.एफ. 16अ-16ब ; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग 4, पृ. 31; ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 129 ; कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 214.
2. हुमायूँनामा, पृ. 135.
3. ईश्वरी प्रसाद : लाईफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 129.

नहीं जा सकता फिर भी दोनों सेनाओं की प्रतिक्रियाओं व तात्कालिक स्थिति को देखते हुये इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मुईदबेग ने अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में अनजाने में ही इस अवसर पर पहली बार, युद्ध न करने की विवेकपूर्ण व उचित सलाह दी। तथ्य यह है कि दोनों सेनाओं के बीच में केवल 25 गज चौड़ी नदी थी। शेरखाँ स्वयं भी यही चाहता था कि मुगलसेना इस दलदलदार नदी[1] को पारकर उस पर हमला कर दे । यदि ऐसा किया जाता तो बादशाह सेना सहित दलदल अथवा कीचड़ में फँस जाता, इसलिए यह कोई अफसोस की बात नहीं कि हुमायूँ ने शेरखाँ पर विजय प्राप्त करने का सुअवसर हाथ से जाने दिया। परिणामस्वरूप दुर्भाग्यवश दोनों सेनायें एक-दूसरे के सामने लगभग 3 महीने[2] (1539 अप्रैल से जून) खड़ी रहीं । यद्यपि दोनों में नित्य प्रति छुट-पुट आक्रमण होते रहे और नुकसान दोनों पक्षों का होता रहा, पर निर्णय कुछ भी न निकल सका ।[3] इस तरह तीन महीने व्यर्थ बीत गये ।

ऐसा प्रतीत होता है कि शेरखाँ के युद्ध स्थगित करने के कई कारण थे । एक तो वह बड़ी शक्ति संचय करना चाहता था, दूसरे वह उपयुक्त अवसर की

---

1. तारीखे शेरशाही में इस नदी को सुहिया नदी लिखा गया है। -अब्बास, पृ. 128 परन्तु बेवरीज इस नदी को थोरा नदी लिखती हैं। -बाबरनामा, पृ. 659, फु.नो. 3 ; यदुनाथ सरकार भी हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 169 में इसे थोरा नदी लिखते हैं.
2. जौहर, एफ.एफ. 16ब, 17अ ; स्टीवर्ट, पृ. 23 ; अर्सकीन, भाग II, पृ. 167 के अनुसार दोनों सेनायें दो महीने तक एक दूसरे के आमने सामने डटीं रहीं। शेख कबीर (अफसानाये शहान, पृ. 106ब) के अनुसार दोनों सेनायें 4 मास तक रहीं। अहमदयादगार, पृ. 196 में 1 मास लिखता है। निजामुद्दीन अहमद, भाग II, (अं. अनु.) पृ. 63 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग5, पृ. 202 व हरिशंकर श्रीवास्तव हुमायूँ, पृ. 231 के अनुसार सेना 3 माह तक आमने सामने डटीं रहीं ।
3. जौहर, एफ.एफ. 16ब, 17अ ; स्टीवर्ट, पृ. 23.

प्रतीक्षा में था। ऐसा उपयुक्त अवसर जब कि वह अफगानों को मुगलों के विरुद्ध मानसिक तथा शारीरिक शक्ति से तैयार कर ले, यही कारण था कि उसने अभी तक मुगलों से खुलकर युद्ध नहीं किया था । वह बिना पूर्ण तैयारी तथा विजय की आशा के मुगलों पर आक्रमण करने के लिए तैयार नहीं था। इसके अतिरिक्त शेरखाँ की दृष्टि आकाश पर भी थी। वह चाहता था कि वर्षा प्रारम्भ हो जाये, शायद ईश्वर ने उसकी प्रार्थना सुन भी ली थी ।

तीन माह पश्चात् जोर की वर्षा प्रारम्भ हो जाने के कारण स्थान परिवर्तन की आवश्यकता हुयी । बादशाह ने कर्मनासा नदी को पारकर गंगा नदीके तट पर पुनः अपने प्रतिभाशाली डेरे लगाये। शेरखाँ ने भी कर्मनासा नदी को चुपके से पार कर गंगा नदी के दूसरे तट पर एक कोस की दूरी पर शाही सेना के सामने इस प्रकार शिविर लगाया कि दोनों पक्षों की सेनायें एक-दूसरे को दिखायी दें।[1] शेरखाँ ने अपने सेना के चारों ओर खायी खोदकर सुदृढ़ किले बन्दी कर ली और अपनी इच्छानुसार सेना एकत्रित करने लगा। इसके अतिरिक्त उसने उन रास्तों को जिनसे होकर {आगरे} रसद सामग्री मुगल खेमे में पहुँचता था, बन्द करवा दिया ।[2] अथवा कब्जे में कर लिया। अन्नाभाव के कारण जहाँ एक ओर मुगल सैन्य शक्ति शिथिल होती जा रही थी, वहीं दूसरी ओर बादशाह के भाइयों के आपसी द्वेष व विद्रोह के कारण आगरे से अतिरिक्त सेना के यथासमय न पहुँचने से भी उनमें युद्ध के प्रति निराशा के बादल छा रहे थे, परिणामस्वरूप जब कोई भी उपाय शेष न बचा तो वस्तुस्थिति से अवगत हो बादशाह अब शेरखाँ से सन्धि[3] करने को विवश

---

1. अहमदयादगार, पृ. 196 ; कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 214.
2. भोजन तथा चारे की कमी के कारण मुगल सैनिकों को अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ा । -हुमायूँनामा, पृ. 135.
3. सन्धि के लिए पहल, पहले किसने की इस सम्बन्धमें इतिहासकारों में मतभेद है। प्रत्यक्षदर्शी जौहर जहाँ एक ओर लिखता है कि पहल पहले बादशाह ने की थी, वहीं निजामुद्दीन अहमद ,पृ. 230 ; अब्बास, पृ. 128 ; फरिश्ता, ब्रिग्स ,भाग2, पृ. 55 आदि इतिहासकार यह मानते हैं कि शेरखाँ ने पहले शान्ति-

हो गया ।

जौहर लिखता है कि - "बादशाह ने हजरत शेख फरीद गंजेशंकर के पौत्र शेख खलील को, जिसे शेरखाँ भी अपना गुरु मानता था, शेरखाँ के पास सन्धि के विषय में वार्तालाप करने के लिए भेजा। बादशाह ने शेख खलील द्वारा यह कहलवा भेजा कि पूरा बंगाल तथा बिहार शेरखाँ को दे देगा, परन्तु शर्त यह है कि उसके बदले में वह बादशाह को अपना स्वामी मानेगा, अपने प्रदेश में उसके नाम का खुत्बा पढ़वायेगा तथा सिक्का चलवायेगा। कुछ दिन तक सन्धि की बातचीत चलते रहने के बाद शेरखाँ इस शर्त पर सन्धि करने को तैयार हुआ कि उसे चुनार का दुर्ग भी प्रदान किया जाये । मुगलों ने शेरखाँ की इस शर्त को मानने से इन्कार कर दिया। बादशाही अमीर किसी भी कीमत पर अफगानों को चुनार देने को तैयार नहीं थे, परिणामस्वरूप दोनों के बीच शान्ति सन्धि सम्भव न हो सकी ।"[1] और शीघ्र ही

शान्ति सन्धि का प्रस्ताव भेजा था, जिसे बाद में विश्वासघात द्वारा तोड़ दिया । -त्रिपाठी, राइज एण्ड फाल ऑफ दि मुगल एम्पायर, इलाहाबाद, 1955, पृ. 95 में लिखते हैं कि मुगलों की स्थिति अच्छी थी, सन्धि वार्ता शेरखाँ ने प्रारम्भ की थी । जौहर चूँकि प्रत्यक्षदर्शी था, इसलिए उसका कथन अधिक सत्य प्रतीत होता है ।

1. जौहर, एफ. एफ. 16ब-17अ ; स्टीवर्ट, पृ. 23 ; रिजवी : मुगलकालीन भारत (बाबर), भाग 1, पृ. 606 ; अर्सकीन, भाग II, पृ. 167-8 ; कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 217 ; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग IV, पृ. 33.

जौहर के अलावा लगभग सभी तत्कालीन इतिहासकार यह स्वीकारते हैं कि बादशाह और शेरखाँ के बीच शान्ति सन्धि स्थापित हुयी । इनमें प्रमुख हैं - अहमद यादगार, पृ. 197 ; नियामतउल्लाह, पृ. 299 ; अब्दुल्ला, पृ. 125 ; फरिश्ता, ब्रिग्स, भाग II, पृ. 55 ; अर्सकीन, भाग II, पृ. 170 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 203. ये लिखते हैं कि यह समझौता पारस्परिक सहयोग के आधार पर शपथ द्वारा ही निश्चित किया गया था, परन्तु सन्धि

यह समझौता रद्द हो गया ।

जब शान्ति-सन्धि सम्भव न हो सकी तो शेरखाँ ने ख्वास खाँ की (ख्वास खाँ शेरखाँ के अमीरों व सामन्तों में से एक था) सेना को, जो महारथ चेरो (बिहार प्रदेश में झारखण्ड का जागींदार) के विरुद्ध कार्यवाही कर रही था वापस बुला लिया ।[1] ख्वास खाँ ने वापस आकर (30 मई, 1539 ई. में) शेरखाँ को मुगलों पर शीघ्र आक्रमण करने की सलाह दी और स्वयं शेरखाँ के सुझाव का पालन करने के निमित्त सैनिकों में यह खबर फैला दी कि महारथ चेरो ऐसी जगह पहुँच गया है, जिसका गुप्तचरों को पता नहीं लगता और शायद वह अफगानों पर अचानक आक्रमण कर उन्हें पराजित करना चाहता है। जब समस्त अफगान सेना में यह विश्वास व्याप्त हो गया तो महारथ के विरुद्ध सेना संचालन करने के बहाने वह प्रतिदिन तीन मील आगे बढ़ने और पीछे हटने लगा। इसके अतिरिक्त उसने अपने आदमियों से यह भी कहना प्रारम्भ किया कि शत्रु के तलाश में उसे निराशा हो रही है। उसकी यह गतिविधि 5-6 दिन[2] तक चलती रही, मुगलों को इससे

समझौते पर लिखित हस्ताक्षर नहीं किया गया था, परिणामस्वरूप यह सन्धि अधिक दिनों तक न टिक सकी । अबुलफजल लिखता है कि जब हुमायूँ व मुगल सैनिक तथा अधिकारी अफगानों की ओर से निश्चिन्त हो गये तो शेरखाँ ने इस सन्धि की शर्तों को तोड़ दिया । -अकबरनामा, भाग 1, पृ. 342.

1. ऐसा प्रतीत होता है कि शेरखाँ पहले से ही मुगलों पर आक्रमण की योजना बना चुका था, पर उसने इस योजना को गुप्त ही रखा था, केवल सुअवसर की ताक में था, जैसा कि बाद की घटनायें स्पष्ट करती हैं .

2. डार्न, भाग 1, पृ. 120.
   अब्बास दो दिन लिखता है । -अब्बास, पृ. 136 ;
   इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV ,पृ. 282.

यह पूरा विश्वास हो गया कि शेरखाँ सेना का संचालन अन्य शत्रु के विरुद्ध कर रहा है ।[1] दूसरे शब्दों में शेरखाँ की यह नीति थी कि इस गतिविधि द्वारा वह हुमायूँ बादशाह को अपनी ओर {सम्भावित आक्रमण} से निश्चिन्त कर दे ताकि वह यह न समझे कि उसकी सेना बादशाह के विरुद्ध बढ़ रही है। वास्तव में शत्रु को पराजित करने व भारतवर्ष का देश मुगलों से ले लेने का यही उपयुक्त अवसर दिखायी दे रहा था, जिसे शेरखाँ किसी भी कीमत पर हाथ से जाने नहीं देना चाहता था और जिन्नत आशियानी {हुमायूँ} शेरखाँ के इस छल-कपट की नीति से पूर्णतया अनभिज्ञ था ।

सातवें दिन {25 जून, 1539 ई.} प्रातःकाल शेरखाँ ने कई प्रशिक्षित हाथी व सेना खवास खाँ को प्रदान कर अपने शिविर से रवाना किया। मुगलों ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया और सोचा कि वह महारथ चोरो[2] पर आक्रमण करने जा रहा है। जौहर लिखता है कि - "यह सब देखकर शेख खलील को खवासखाँ पर सन्देह हो गया। उसने बादशाह को पत्र द्वारा खवासखाँ की गतिविधियों व शिविर से कूच किये जाने की सूचना दी और उसे सतर्क भी किया कि कहीं खवासखाँ मुगलों पर अचानक हमला न कर दे इसलिए बादशाह को सावधान रहना चाहिए, ताकि कोई

---

1. डार्न, भाग 1, पृ. 120.
2. नियामतउल्लाह {भाग 1, पृ. 301} लिखता है कि - "महारथ चेरो जो बिहार प्रदेश का जमींदार था, उसके पास उस समय पैदल तथा घुड़सवारों की एक बड़ी सेना एकत्रित हो गयी थी, इसलिए सेना के गर्व के कारण वह किसी व्यक्ति को कुछ नहीं समझता था। वह शेरखाँ की सेना में रसद तथा अनाज नहीं आने देता था। यद्यपि शेरखाँ ने सन्धि द्वारा उससे मित्रता की बात छेड़ी थी, परन्तु उस विधर्मी पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। फलतः विवश होकर शेरखाँ को खवासखाँ द्वारा नष्ट करने की आज्ञा देनी पड़ी। दोनों पक्षों में भीषण युद्ध हुआ, विधर्मियों की सेना पराजित हुयी । यह विजय वास्तव में शेरखाँ के सौभाग्य का सूचक थी ।"

दुर्घटना न हो, परन्तु बादशाह ने उसकी बात की ओर कोई ध्यान न दिया । उनके प्रति लापरवाही बरती और उनकी ओर से बेखबर रहा ।[1] शेरखाँ ने जब देखा कि मुगल सैनिक तथा सेनापति उसके प्रति असावधानी बरत रहे हैं और अफगानों की ओर से बिल्कुल निश्चिन्त हैं तो उसने सुअवसर देख मुगल सेना पर शीघ्र आक्रमण की योजना बनायी । उसकी यह योजना विश्वासघात की नीति पर आधारित पूर्व नियोजित योजना थी ।

उसने अपनी सेना को तीन भागों में विभाजित किया। एक भाग का नेतृत्व अपने पुत्र जलाल खाँ के हाथों में सौंपा, दूसरे भाग का नेतृत्व स्वयं व तीसरे भाग को विश्वासपात्र सेनापति ख्वासखाँ के संरक्षण में रखा जिसे वह मुगलों के विरुद्ध घेरो के बहाने प्रातः ही भेज चुका था[2] और इस प्रकार शेरखाँ चुपचाप रात्रि की छाया में अपने निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति की ओर बढ़ा।[3] रात भर में सेना को पूर्णतया तैयार कर मुगलों पर अचानक धावा करने की दृष्टि से सेना को टुकड़ियों के साथ मुगल शिविर की ओर प्रस्थान किया। ख्वासखाँ जो प्रातः रवाना हो गया था, शेरखाँ से आ मिला। 25 जून, 1539 ई. की रात्रि में अफगानों का फौजी दस्ता मुगल शिविर के निकट कर्मनासा नदी के पूर्वी तट पर पहुँच गया। यह स्थान मुगलों के विशाल शिविर से दक्षिणमें 5 मील दूर उस कोण में स्थित था, जिसके उत्तर में गंगा और पश्चिम में कर्मनासा है ।[4] यहाँ पहुँचते ही उन्होंने उसी रात

---

1. जौहर, एफ.एफ., 17अ-18 अ ; स्टीवर्ट, पृ. 24 ; अर्सकीन, भाग II, पृ. 170; कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 218.
2. अकबरनामा, भाग 1, पृ. 343 ; अर्सकीन, भाग II, पृ. 170 ; यदुनाथ-सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 172.
3. अकबरनामा , भाग 1, पृ. 343.
4. डॉ. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 219.

महाचातुर्य के साथ तीन ओर से एकाएक आक्रमण करने की व्यवस्था की[1]। मुगल सेना शेरखाँ की गतिविधि से अनभिज्ञ था। अफगानों की चेरो सरदार के प्रति युद्ध में व्यस्तता से मुगल सेना निश्चिन्ततावस्था में सुख की नींद ले रही थी। रात की पहरेदारी का उत्तरदायित्व मुहम्मद जमान मिर्जा पर था। ऐसे संकटकाल में ऐसे व्यक्ति को, जिसने राज्यारोहण के उपरान्त बाबर, हुमायूँ का विरोध किया हो यह उत्तरदायित्व देना हुमायूँ की अदूरदर्शिता का स्पष्ट प्रमाण है।

अहमदयादगार लिखता है कि - "जब दो घड़ी रात व्यतीत हो गयी {26 जून, 1539 ई.}[1] और मुगल सेना निश्चिन्त अवस्था में सो रही थी कि अचानक तीन ओर से एक आकस्मिक दुर्घटना की भाँति अफगानों ने ढोल और मारू बाजों की ध्वनि की और हत्याकाण्ड शुरू हो गया।[2] नियामतउल्लाह इस घटना के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी देकर हमारी मदद करता है। वह लिखता है कि - "जब तक बादशाह को इस धावे की सूचना मिली तब तक उसकी आधी सेना नष्ट हो चुकी थी और बड़ी संख्या में मुगल सैनिक मारे गये। आक्रमण इतना तीव्र था कि बादशाही सैनिकों को हथियार बाँधने, अस्त्र-शस्त्र धारण करने व घोड़ों पर

---

1. चौसा का युद्ध किस दिन हुआ था, इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद है। डॉ. कानूनगो {शेरशाह और उसका समय, पृ. 219-220}, डॉ. बनर्जी {हुमायूँ, भाग I, पृ. 228}, डॉ. ईश्वरी प्रसाद {हुमायूँ, पृ. 134} आदि इतिहासकारों ने 26 जून स्वीकार किया है। अकबरनामा, भाग I, पृ. 344 में 9 सफर 946 हि. {26 जून, 1539 ई.} लिखा है, बेवरीज ने अं.अनु. में इसे 7 जून, 1539 ई. कर दिया है, जो सही प्रतीत नहीं होता। सम्भवतः इसी आधार पर डॉ. अवस्थी, पृ. 338-39 व इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 62 में भी 7 जून 1539 ई. स्वीकारा है। अर्स-कीन इनसे अलग {भाग II, पृ. 173} 27 जून लिखते हैं।
2. अहमदयादगार, पृ. 199 ; यदुनाथ सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 172.

जीन कसने तथा सवार होने का भी अवसर प्राप्त नहीं हुआ। बादशाह उस समय पवित्र कुरान का पाठ करने में व्यस्त था।[1] जब हाहाकार की ध्वनि बादशाह ने सुनी तो कारण जानना चाहा। दरबारी सेवकों द्वारा उन्हें समस्त स्थिति से अवगत कराया गया ।"[2] बादशाह ने शीघ्र ही रणभेरी बजवाने के आदेश दिये । रणभेरी की आवाज से लगभग 300 मुगल सैनिक उसके पास एकत्रित हुये । इस थोड़ी सी सेना के साथ वह वीरतापूर्वक लड़ा, परन्तु उसको देखकर भी उसके कायर साथी उसके पीछे न आये । उसकी बायीं भुजा पर घाव लग गया और शत्रु उसको सब ओर से घेरने लगे । बादशाह कहीं अफगानों की गिरफ्त में न आ जाये, मुगल सैनिकों ने उसके घोड़े की लगाम पकड़ी और उसे समरभूमि से गंगा नदी पर बने पुल की ओर, जिसे बादशाह ने बनवाया था, ले गये । ताकि बादशाह पुल को पार कर अफगानों से अपने प्राणों की रक्षा कर सके[3] पर शेरखाँ के आदमियों ने एक क्षण में पुल भी तोड़ डाला।[4] पुल के टूट जाने से नदी पार करना आसान नहीं था, परिणामस्वरूप

---

1. जहाँ एक ओर नियामत उल्लाह (भाग 1, पृ॰ 302), अब्बास (पृ॰ 137) जैसे इतिहासकार यह स्वीकारते हैं कि बादशाह उस समय वजू में व्यस्त था, वहीं कुछ इतिहासकारों का यह अभिमतैक्य है कि बादशाह उस समय सो रहा था। अफगानों के अचानक आक्रमण के शोर से जाग उठा। अर्सकीन, भाग II, पृ॰ 171; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग IV, पृ॰ 33 ; इक्तदार हुसैन सिद्दिकी: हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ॰ 70॰
2. नियामतउल्लाह, भाग 1, पृ॰ 302 ; अकबरनामा, भाग 1, पृ॰ 343 द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है॰
3. जौहर, 17 अ, 18अ ; स्टीवर्ट, पृ॰ 25॰
4. जौहर लिखता है कि जब बादशाह नदी के किनारे आया तो गिर्दबाज नामक हाथी भी उनके साथ आया था, जिसे बादशाह ने पुल तोड़ने का आदेश दिया था । जौहर, 17 अ, 18 अ ; स्टीवर्ट, पृ॰ 25 , परन्तु निजामुद्दीन अहमद भाग II, पृ॰ 69-70 में लिखता है कि - अफगानों ने आक्रमण से पूर्व ही पुल तोड़ डाला था । अर्सकीन, भाग II, पृ॰ 172 द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है॰

अधिकांश सैनिकों ने बहती नदी में छलांग लगा दी और डूब गये । विवश हो बादशाह भी घोड़े सहित नदी में कूद पड़ा। बादशाह नदी पार करते समय बीच धारा में घोड़े से पृथक् हो गया। इसी समय निजाम नामक भिश्ती ने मशक की सहायता से बादशाह की जान बचायी । बादशाह के अधिकांश विश्वासपात्र व्यक्ति एवं निकटवर्ती नदी में डूब गये और सेना अस्त-व्यस्त हो गयी ।[1] अस्तु बड़ी कठि-नाइयों के पश्चात् हुमायूँ आगरा की ओर रवाना हुआ और लगभग 500 सवारों के साथ जुलाई 1539 ई. में आगरा पहुँचा ।[2]

परिणाम

चौसा का युद्ध निर्णयात्मक था, जिसने शेरखाँ की शक्ति में चार चाँद लगा दिये । इस युद्ध में हुमायूँ की पूर्ण रूप से पराजय हुयी और उसकी सेना काफी संख्या में नष्ट हो गयी । यही नहीं, इससे मुगलों के यश को बहुत धक्का लगा। बाबर के आगमन से अब तक के युद्धों में यह मुगलों की प्रथम पराजय थी ।[3]

---

1. नियामतउल्लाह, भाग 1, पृ. 302-3 ; अहमदयादगार, पृ. 200-1 ; कानूनगो : शेरशाह और उसका समय , पृ. 219 ; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग 1 ,पृ. 23 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग ,पृ. 203.
2. अवस्थी, पृ. 347 ; कानूनगो : शेरशाह, पृ. 197 : में लिखते हैं कि हुमायूँ 13 दिन बाद 10 जुलाई को आगरे पहुँचा। जबकि गुलबदन बेगम लिखती हैं कि वह 3 दिन चुनार में, 5 दिन अरैल में रुका रहा । -हुमायूँनामा, पृ. 135. इसका अर्थ यह है कि हुमायूँ ने पुनः अरैल से आगरे तक की यात्रा 5 दिन में ही पूरी की होगी, सम्भव प्रतीत नहीं होता। उसने इससे अधिक समय लगाया होगा ।
3. हरिशंकर श्रीवास्तव : हुमायूँ, पृ. 238.

डॉ. कानूनगो लिखते हैं कि - कोई भी अचानक किया गया हमला इतना पूर्ण और सफल नहीं हुआ था, जितना चौसा की भूमि पर लड़ा गया यह युद्ध।[1] वास्तव में चौसा का युद्ध अफगानों की चतुरता एवं मुगलों की सुस्ती का परिणाम था।[2]

इतना ही नहीं युद्ध के पश्चात् शाही अन्तःपुर और कितने ही मुगल परिवार अफगानों के हाथ में पड़ गये। इस सम्बन्धमें गुलबदन स्पष्ट विवरण देते हुए लिखती है कि - लगभग 4000 महिलायें शेरखाँ के हाथ आयीं, जिनके साथ शेरखाँ ने अच्छा बर्ताव और सम्मानजनक व्यवहार किया।[3] वह उन स्त्रियों का नाम भी देती हैं, जिनको शोध करने के बावजूद भी अंकित न किया जा सका। आगे लिखती हैं कि - वे स्त्रियाँ जो चौसा के युद्ध में अदृश्य हो गयी थीं, उनमें सुल्तान हुसैन मिर्जा की पुत्री आयशा सुल्तान बेगम, बेगाजन कूका, अंवका बेगम, चाँद बीबी, शाद बेगम प्रमुख थीं। ये या तो अफगानों द्वारा मार डाली गयीं अथवा नदी में डूब गयीं। इन खोयी हुयी स्त्रियों के अतिरिक्त शेरखाँ ने हुमायूँ की प्रमुख पत्नी बेगा बेगम को (जो बाद में हाजी बेगम के नाम से जानी गयी) बन्दी बना लिया, परन्तु शेरखाँ ने उनके साथ सम्मानजनक व्यवहार किया।[4] शेर-खाँ ने हुक्म जारी किया कि कहीं भी मुगल स्त्रियों व बच्चों को न मारा जाये और न ही उन्हें बंदी बनाया जाये। कुछ समय पश्चात् उन्हें रोहतास के किले में भेजा गया, फिर वहाँ से तीन माह पश्चात् आदरपूर्वक ख्वासखाँ के साथ आगरा भेज दिया गया।[5]

---

1. डॉ. कानूनगो : शेरशाह और उसका समय, पृ. 219.
2. यदुनाथ सरकार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 173.
3. हुमायूँनामा, पृ. 136.
4. वही, पृ. 136-37.
5. नियामतउल्लाह, पृ. 306 ; ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 135. ईश्वरी प्रसाद ख्वासखाँ का उल्लेख न कर हुसैन खान निराक का वर्णन करते हैं। अब्दुल्ला, पृ. 126 में आगरे के स्थान पर काबुल का वर्णन करता है.

इस युद्ध ने शेरखाँ को बंगाल तथा बिहार का तत्काल अधिकारी बना दिया। यह उसकी मुगलों से खुलकर प्रथम लड़ाई थी। प्रारम्भ का भय अब समाप्त हो गया। अब वह कभी भी मुगलों से लड़कर उन्हें पराजित कर सकता था। अविशेष मुगलों की पराजय ने अफगान सैनिकों में अपार उत्साह पैदा कर दिया और उन्हें शेरखाँ के नेतृत्व में कठिन से कठिन कार्य करने को तैयार कर दिया।[1]

यदि युद्ध की तात्कालिक स्थिति का आंकलन किया जाये तो यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि हुमायूँ की पराजय का प्रथम कारण उसकी सेना की दुर्व्यवस्था थी। उसके बहुत से घोड़े मारे जा चुके थे या तो बीमार थे। बंगाल में अधिक दिनों तक रूकने के कारण सैनिकों में शिथिलता भी आ गयी थी। उनके खाने-पीने का प्रबन्ध भी ठीक नहीं था। इस तरह युद्ध के लिए जिस तरह की चुस्ती की आवश्यकता होती है, वह उसकी सेना में नहीं थी। इसके अलावा चौसा के मैदान में तीन महीने रूककर हुमायूँ ने शेरखाँ को उसकी सेना संगठित करने का सुअवसर दिया। इन तीन महीनों तक रूकने का मुगलों को कोई लाभ न हुआ। आगरा से कोई सहायता भी न प्राप्त हो सकी। हुमायूँ ने मार्ग बदलकर तथा नदी को पार कर अफगानों को अपनी हीनावस्था का ज्ञान होने दिया तथा सेना को संकट में डाल दिया।

सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यह था कि हुमायूँ ने उस रात्रि सुरक्षा का उत्तरदायित्व मुहम्मद जमान मिर्जा को सौंपा था। ऐसे व्यक्ति को जिसने हुमायूँ के राज्यारोहण के पश्चात् कई बार विरोध किया हो, ऐसे उत्तरदायित्व का कार्य देना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं था। जिस समय अफगानों ने आक्रमण किया, वह बेखबर था।

यदि यह कहा जाय कि - चौसा के युद्ध स्थल में मुगलों ने जैसी निश्चिन्तता दिखलायी, वह परिस्थितियों के प्रति उनकी उदासीनता का स्पष्ट प्रमाण

---

1. कानूनगो : शेरशाह, पृ. 196.

है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी ।

शेरखाँ द्वारा शाह आलम की उपाधि धारण करना

इस निर्णायक युद्ध के पश्चात् शेरखाँ की महत्वाकांक्षा का क्षितिज एकाएक विस्तृत हो गया, क्योंकि इस दैवी विजय द्वारा उसको बड़ी मात्रा में युद्ध सामग्री तथा अगणित हाथी लूट में प्राप्त हुये थे, जिसको उसने परिहार समझा ।[1] 12 मास पहले तो वह बंगाल लेकर सम्राट का सामंत बनने पर संतोष कर लेता पर इस विजय ने उसकी स्थिति सुदृढ़ कर दी, परिणामस्वरूप (1540 ई० में) एक बार में ही उसने जौनपुर की शर्की सल्तनत जीत कर और जहाँगीर कुली बेग को जो 5000[2] अश्वारोहियों सहित बंगाल में था, पराजित कर बंगाल तथा बिहार का स्वतन्त्र शासक बन गया । इस तरह शेरखाँ वास्तव में एक बड़े भू-भाग का स्वामी बन गया था। अब वह बादशाह की बराबरी का दावा कर सकता था, किन्तु अभी तक केवल वह अफगानों का ही नेता था, उसे वैधानिक स्थान प्राप्त नहीं हुआ था ।[3] इस सम्बन्ध में अब्बास विस्तृत वर्णन करता हुआ लिखता है कि - शेरखाँ जिसने अपनी उपाधि "हजरत आला"[4] निश्चित की थी, बंगाल विजय के शीघ्र पश्चात् प्रमुख अमीरों, मसनदे आली आइसाखान ककहूर सरवानी, कुतुफरबैल, आजम हुमायूँ सरवानी, बिब्बन लोदी तथा अन्य की सलाह से सिंहासन पर बैठा। अपने शीश पर छत्र फिरवाया, अपना नाम शेरशाह रखा। अपने नाम का सिक्का चलवाया, खुत्बा पढ़वाया और अपनी उपाधि शाह आलम निश्चित की ।[5] इस प्रकार उसने राजस्व ग्रहण किया और

---

1. नियामत उल्लाह, भाग I, पृ० 306.
2. अब्बास, पृ० 144 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ० 284, 6हजार लिखते हैं.
3. नियामतउल्लाह, भाग I, पृ० 306 ; अब्दुल्ला, पृ० 126 ; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग IV, पृ० 34-51.
4. 1535-37 ई० में जब बादशाह गुजरात अभियान में व्यस्त था, शेरखाँ ने हजरत आला की उपाधि धारण की.
5. अब्बास, पृ० 143 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ० 284 ; अहमद यादगार, पृ० 203 ; अब्दुल्ला, पृ० 126 ; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया,

शेरखाँ से शेरशाह बन गया ।[1]

इस प्रकार शेरशाह ने अपने राजनीतिक जीवन के 15 वर्षबंगाल, बिहार प्रदेश के अमीर के रूप में और 5 वर्ष तक भारतवर्ष के स्वतन्त्र शासक के रूप में व्यतीत कर एक उच्चकोटि के शासक के रूप में ऐसी प्रशंसनीय स्मृतियाँ विश्व के इतिहास में छोड़ी जो अन्य शासकों के लिए इतने कम समय में सम्भव न हो सकी ।

भाग IV ,पृ. 51 में लिखा है कि उसने"फरीदुद्दीन शेरशाह"की उपाधि धारण की.

1. कन्नौज के युद्ध में (17 मई, 1540 ई.) हुमायूँ को पराजित करने के पश्चात 5 नवम्बर, 1540 ई. को सुल्तानों के सिंहासन पर आसीन हुआ .

चतुर्थ अध्याय

बिहार की राजनीति में करानी अफगानों का उदय एवं पतन

1. ताजखाँ करानी, सुलेमान करानी, बायजिद करानी, दाउद करानी का मुगल विरोधी शक्ति के रूप में उदय
2. पटना और हाजीपुर के विरुद्ध अभियान
3. बिहार की शासन व्यवस्था
4. मुनीम खाँ द्वारा दाउद की पराजय
5. बंगाल-बिहार का मुगलों के हाथ से निकल जाना
6. करानी साम्राज्य का अन्त ।

बिहार की राजनीति में कर्रानी अफगानों का उदय एवं पतन

कर्रानी अफगानों का मुगल विरोधी शक्ति के रूप में उदय

कर्रानी, जिन्हें अफगानिस्तान में करलानी[1] के नाम से जाना जाता है, पठानों की प्रमुख शाखाओं में से एक शाखा थी ।[2] इस अफगान जाति को शेरशाह और उसके पुत्र सलीमशाह के द्वारा विशेष कृपादृष्टि प्रदान करने के कारण राजनीतिक क्षेत्र में इन्हें विशेष ख्याति प्राप्त हुयी ।[3]

बिहार और बंगाल के प्रांत जो 12वीं शताब्दी के अन्त तथा 13वीं शताब्दी के आरम्भ में अल्पसंख्यक मुसलमानी सेनाओं द्वारा पददलित हुये थे, दिल्ली के सुल्तान पर अनिश्चित रूप से निर्भर किन्तु व्यावहारिक रूप से सामान्यतः स्वतन्त्र प्रांताध्यक्षों द्वारा 1340 ई. तक मुहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल में शासित होते रहे, जबकि प्रांताध्यक्षों ने अपने आपको खुलेआम स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। शेरशाह व इस्लामशाह के समय में ये प्रांत अफगान सामंतों के आधिपत्य में थे । सुलेमान, जो किरानी अथवा करारानी फिरके का अफगान था, शेरशाह और इस्लामशाह के समय बिहार का प्रांतपति था ।[4]

---

1. साधारणतया आधुनिक इतिहासकारों ने इन्हें कर्रानी नाम से पुकारा है, परन्तु अकबरनामा में करजानी रूप भी मिलता है।
   –अबुलफजल : अकबरनामा (अं.अनु.) एच.बेवरीज, भाग II, दिल्ली 1979, पृ. 338.
2. डार्न : हिस्ट्री ऑफ अफगान्स, भाग II, पृ. 54-56 ; सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल भाग II, पृ. 181.
3. स्टीवर्ट, पृ. 147.
4. स्मिथ : अकबर महान् (हि.अनु.), पृ. 124.

सुलेमान करानी, शेरशाह के प्रमुख अधिकारियों में से एक ताज खाँ करानी का छोटा भाई था, जब 1553 ई. में ग्वालियर में मुहम्मद आदिलशाह के दरबार में हत्याओं और अराजकता का बोलबाला छा गया तो आतंकित ताज खाँ करानी ग्वालियर से भागकर गंगा नदी के दोआब में शरण लिया। आदिल ने उसका पीछा किया और मऊ (फर्रुखाबाद के 18 मील दक्षिण में) में पराजित किया। पराजित ताज खाँ करानी चुनार के रास्ते से होता हुआ पूरब की ओर अग्रसर हुआ जहाँ उसकी मुलाकात उसके भाई ईमाद सुलेमान और इलियास से हुयी । ये ख्वासपुर, टाँडा, भोजपुर और कुछ अन्य गाँव जो गंगा के किनारे पर थे, की जागीर का आनन्द उठा रहे थे । इन्होंने जबरदस्ती जनता से राजस्व वसूल कर गाँवों को मनमाने तौर पर लूट कर तथा 100 हाथियों को सुल्तान (आदिलशाह) से अधिकृत कर, पूर्वी क्षेत्र में अपने को अधिक शक्तिशाली बना लिया। इन्हें बहुत से अफगानों का समर्थन भी प्राप्त था। चुनार के निकट आदिल के प्रधान सेनापति हेमू ने अचानक 1554 ई. में इन अफगान विरोधियों पर आक्रमण कर इन्हें कुचल डाला अथवा इनकी शक्ति को क्षीण कर दिया, परिणामस्वरूप ताज खाँ करानी तथा सुलेमान करानी बंगाल की ओर भागे, जहाँ 10 वर्षों के अन्दर सेना का प्रसार कर धोखे तथा बेईमानी से बिहार के दक्षिणी तथा पूर्वी जिले व पश्चिमी बंगाल का बहुत सा क्षेत्र 1564 ई. में अपने अधिकृत कर लिया और इस प्रकार शासक की उदासीनता का लाभ उठाकर, एक बार फिर बंगाल तथा बिहार के राज्य करानियों ने अपने हाथों में ले लिया ।[1]

ताज खाँ की मृत्यु के पश्चात् बंगाल का शासन ताज खाँ के भाई सुलेमान करानी के हाथों में आ गया, जो ताज खाँ के प्रतिनिधि के रूप में पहले

---

1. अकबरनामा, भाग II, पृ. 477 ; मखज़न-ए-अफगाना, पृ. 120 उद्धृत सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल भाग II, पृ. 181 ; स्टीवर्ट, पृ. 148 ; स्मिथ, पृ. 124.

से ही बंगाल के शासन भार को संभाल रहा था ।[1] 1564 ई. में ही इसने बंगाल की राजधानी गौड़ पर भी अधिकार स्थापित कर लिया और इस प्रकार उसने एक नवीन और अल्पजीवित बंगाल वंश की स्थापना की, परन्तु गौड़ को अस्वास्थ्यकर पाकर उसने दक्षिण पश्चिम में कुछ दूर पर स्थित टांडा में अपना दरबार स्थानान्तिरित कर दिया ।[2]

बंगाल को अधिकृत करने के कुछ समय उपरान्त सुलेमान ने रोहतासगढ़ (सासाराम में स्थित) पर जो बंगाल या बिहार में सम्राट (अकबर) के अधिकार में एकमात्र महत्वपूर्ण दुर्ग शेष रह गया था, घेरा डाल दिया। जब 1566 ई. में अकबर ने उस दुर्ग का उद्धार करने के लिए सेना की एक टुकड़ी भेजी तो सुलेमान ने बुद्धिमानी इसी में समझी कि वह सम्राट के क्रोध का सामना न करे, इसलिए वह बंगाल चला गया और दुर्ग को सम्राट की सेना के हाथों छोड़ दिया। समय-समय पर दरबार में सम्राट अकबर के प्रति अपनी निष्ठा प्रदर्शित करने हेतु सुलेमान ने अकबर को मूल्यवान भेंट देना, उसके नाम का खुतबा पढ़ना और कुछ सीमा तक अकबर की उत्कृष्ट प्रभुसत्ता स्वीकार करना[3] श्लाघ्य समझा और लगातार कीमती उपहार अकबर की सेवा में प्रेषित करता रहा। उसकी अपने प्रति यह कृपा देखकर अकबर संतुष्ट हो गया, फलस्वरूप बंगाल के निवासी जो सम्राट की सेना से भयभीत थे, शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे ।[4]

अकबर ने जैसे ही इनकी ओर से मुँह फेरा और (1567-1568 ई. में) पश्चिमी प्रांतों में व्यस्त हुआ, उसकी व्यस्तता का लाभ उठाकर सुलेमान ने

---

1. अकबरनामा, भाग II, पृ. 478 ; सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 181.
2. स्मिथ, पृ. 124.
3. अबुल फजल : आईन-ए-अकबरी, भाग I, अं.अनु. ब्लोचमैन, दिल्ली 1977, पृ. 334 ; स्टीवर्ट, पृ. 149 ; स्मिथ, पृ. 124-25.
4. हिस्ट्री ऑफ हिन्दुस्तान, भाग II, पृ. 197 ; स्टीवर्ट, पृ. 150.

उड़ीसा पर आक्रमण कर दिया और छल द्वारा सुल्तान इब्राहिम को परास्त कर उड़ीसा पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया । 1568-69 ई. में अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर वह (सुलेमान) बंगाल वापस आ गया । अगले वर्ष उसने कूच बिहार पर आक्रमण किया और उसे लूटा । इसी बीच यह खबर सुनकर कि उड़ीसा के लोगों ने विद्रोह कर दिया है, टांडा पहुँचकर उसने उड़ीसा को पुनः हस्तगत करने का प्रयास किया। जब उड़ीसा में उसकी शक्ति पुनः स्थापित हो गयी तब उसने अपनी महत्वाकांक्षा को सीमित रखना ही उचित समझा और अपने शासन को सुव्यवस्थित व सुसंगठित करने के कार्यमें जुट गया ।[1]

इस प्रकार लगभग आठ वर्षों (1564-72 ई.) तक बंगाल बिहार में स्वतन्त्रता पूर्वक शासन किया। उसके शासनकाल में बंगाल सल्तनत अधिक शक्तिशाली हो गयी और उत्तर पूर्वी भारत में कूच बिहार से लेकर उड़ीसा तक और सोन नदी से लेकर ब्रह्मपुत्र तक का क्षेत्र कुछ समय के लिए एक प्रभावकारी शक्ति के रूप में उदित हुआ ।[2] सुलेमान बड़ा ही तीक्ष्ण बुद्धि तथा कूटनीतिक व्यक्ति था। उसके सावधानीपूर्वक सुअवसर से लाभ उठाने की नीति तथा कठोरता से अभियान व चढ़ाई करने की योजना और कूटनीतिक ढंग से नम्र व शीलता का पालन करने जैसी नीतियों के कारण इतिहासकारों ने (अबुल फजल) उसे पाखंडी एवं बेईमान की संज्ञा दी है, जबकि अपनी इन्हीं नीतियों के द्वारा उसने आंतरिक रूप से स्वस्थ, शान्त एवं धीर साम्राज्य की स्थापना की, जिसने काफी समय तक पूर्वी भारत में शासन किया। इसके

---

1. स्टीवर्ट, पृ. 150.
2. रियाजुस्सलातीन (अं. अनु.), पृ. 152 एफ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग , पृ. 511; सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल भाग II, पृ. 181.

अलावा उसने सदैव ही §कूटनीतिक दृष्टि से§ अकबर के अधिकारियों को जो पश्चिमी सीमा पर स्थित थे, जैसे खान-ए-जमान, खान-ए-खानन §मुनीमखाँ§ को बिना किसी प्रकार का आघात पहुँचाये अनाज की रकम तथा उनसे मित्र-वत् व्यवहार बनाये रखने के लिए भारी उपहार देता था। यहाँ तक कि वह सम्राट अकबर के नाम का खुतबा भी पढ़ा करता था। वह कभी भी गद्दी पर नहीं बैठा और न ही सिक्कों पर अपना नाम अंकित करवाया और न ही हजरत-ए-आला §आला हजरत§ के अलावा कोई शाही उपाधि धारण की ।[1] फिर भी उसके बढ़ते हुये क्षेत्रों, बढ़ती सम्पत्ति एवं बढ़ती हुयी सैन्य शक्ति ने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। दूसरे शब्दों में उसकी इस प्रकार बढ़ती हुयी साम्राज्यवादी नीति ने उसके विरुद्ध अनेक टिप्पणियों को जन्म दिया ।

नियामत उल्लाह और बदायूँनी सुलेमान करानी के बंगाल बिहार के प्रशासनिक जीवन के सन्दर्भमें स्पष्ट वक्तव्य देते हुये लिखते हैं कि - "जब मुगल दिल्ली, अवध, ग्वालियर और इलाहाबाद को विजित करने में व्यस्त थे, वह अपने आपको उत्तरी पूर्वी भारत में सर्वोच्च शासक समझने लगा। किसी भी ओर से युद्ध की आशंका न होने के कारण उसे उत्तरी पूर्वी क्षेत्र में अपनी समृद्धि बढ़ाने में विशेष मदद मिली । इसके अतिरिक्त उसने अपना खाली समय अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के पदोन्नति, न्याय देने तथा मुस्लिम विद्वानों व संतों को संरक्षण प्रदान करने व अपना व्यक्तिगत अधिक से अधिक समय कुरान के अनुसार कानूनों तथा नियमों के पालन कराने में व्यतीत किया ।[2]

---

1. बदायूँनी, भाग II, पृ॰ 166 ; सरकार, हिस्ट्री ऑफबंगाल भाग II, पृ॰ 182 ; उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ॰ 421।
2. मखज़न-ए-अफ़गाना, पृ॰ 123 ; उद्धृत सरकार, वही भाग II, पृ॰ 182 ; बदायूँनी, भाग II, पृ॰ 166॰

अबुल फजल उसके शासन की सफलता पर टिप्पणी करते हुये लिखता है कि - "उसके शासन की सफलता (विशेषकर कूटनीतिक क्षेत्र में) उसके वजीर रत्न लोदी खान पर निर्भर थी, जिसमें तीव्र राजनीतिक अनुभवों के साथ-साथ ईमानदारी व मालिक के प्रति कर्तव्यनिष्ठा जैसी भावना विद्यमान थी और कभी भी असफल न होने वाले गुणों की निपुणता भी थी । इस प्रकार जब तक मानें लोदी खान जीवित रहा, उसने अफगान सेनापतियों को मूर्ख योद्धाओं से दूर ही रखा, ताकि अफगान राजतन्त्र खण्डहर न हो जाये अथवा नष्ट न हो जाये ।"[1]

यद्यपि सुलेमान के दरबारी उसे महाराज (Majesty) कह कर पुकारा करते थे, परन्तु उसने राजकीय छत्र या अन्य कोई राजकीय चिन्ह नहीं अपनाया था। इतना ही नहीं वह अकबर को बराबर उपहार भेंट करता रहा और उनके प्रति अपनी निष्ठा का आश्वासन देते हुये अपने को सदैव सम्राट का जागीरदार मानता रहा, परिणामस्वरूप उसके शासनकाल में राज्य (बंगाल-बिहार) में काफी समय तक सुख शान्ति स्थापित रही ।[2] परन्तु सुलेमान इस सुख को भोगने के लिए अधिक दिनों तक जीवित न रहा और 11 अक्टूबर, 1572 ई.[3] को इस संसार से सदैव के लिए चला गया।

अक्टूबर 1572 में सुलेमान की मृत्यु के पश्चात् पूर्वी प्रांतों में कुशासन और अशान्ति का वातावरण तैयार हुआ, अतः बिगड़ती स्थिति को

---

1. अकबरनामा, भाग II, पृ. 478-79.
2. स्टीवर्ट, पृ. 151.
3. बदायूँनी उसकी मृत्यु का समय 980 हि. (1572 ई.) लिखा है -मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 166-67 (डबल्यू. एच. लो) यदुनाथ सरकार ने भी यही स्वीकारा है, परन्तु स्टीवर्ट ने 981 हि. (1573 ई.) लिखा है, जो साक्ष्यों के आधार पर सही प्रतीत नहीं होता . स्टीवर्ट, पृ. 151.

संभालने हेतु उसका बड़ा पुत्र बायजिद उसका उत्तराधिकारी बना ।[1] उसने अपने जिद्दी, उदण्ड तथा धूर्त व्यवहार के कारण ताज की प्रतिष्ठा को बहुत आघात पहुँचाया और अपने इसी दुर्व्यवहार के कारण वह अफगान अमीरों का विरोधी बन गया। फलस्वरूप उसकी नीतियों से असन्तुष्ट अफगान अमीरों ने (सुलेमान के भतीजे हंसू द्वारा) 5-6 महीने बाद ही षड़यन्त्र कर उसका वध कर डाला ।[2] उसकी मृत्यु के सम्बन्ध में तत्कालीन इतिहासकार बदायुँनी लिखता है कि - "वह अपने कुकर्मों के कारण हंसू और अन्य अमीरों द्वारा मार डाला गया ।"[3]

बायजिद की मृत्यु के पश्चात् अफगान अमीरों ने सुलेमान के सबसे छोटे पुत्र दाउद को बंगाल की गद्दी पर बैठाया ।[4] उसके सम्बन्ध में बदायुँनी लिखता है कि - "वह बड़ा ही दुराचारी शासक था, जिसे प्रशासन के संबन्ध में कोई जानकारी न थी ।[5] स्टीवर्ट एवं यदुनाथ सरकार ने भी बदायुँनी की बात का समर्थन किया है। वे लिखते हैं कि - वायजिद के समान वह भी अपने

---

1. बदायुँनी, भाग II, पृ. 167-68
2. वही, पृ. 167 ; रियाजुस्सलातीन, पृ. 153 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V , पृ. 372, 511 ; सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 185 ; स्मिथ, पृ. 125 ; आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग 1, पृ. 152 ; दिवाकर : बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 485.
3. बदायुँनी, भाग II, पृ. 176-77 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V , पृ. 511.
4. बदायुँनी, भाग II, पृ. 177 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 372; डार्न, भाग II, पृ. 182.
5. वही ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V , पृ. 512.

पिता की पैतृक सम्पत्ति व विशाल सेना के कारण वृथा अभिमान से भरा हुआ, अय्याशी, विलासप्रिय, मूर्ख, गरममिजाज, विषय वासनाओं में लिप्त रहने वाला, शराबी तथा मनोरंजन से घृणा करने वाला युवा शासक था। सिंहासन पर बैठते ही उसने अपने पिता (सुलेमान) के बुद्धिमत्तापूर्ण कार्यों को बिल्कुल त्याग दिया और स्वामित्व के सभी लक्षण धारण कर, बंगाल और बिहार के समस्त नगरों में अपने नाम का खुतबा पढ़वाने का आदेश दिया और आज्ञा दी कि मुद्राओं पर उसकी पदवी अंकित की जाय। इस प्रकार उसने अकबर की सत्ता का पूर्ण विरोध किया ।[1] इतना ही नहीं उसने अमीरों के साथ उत्पीड़क एवं अत्याचारपूर्ण तथा अपमानजनक व्यवहार कर उसने उन्हें अपना विरोधी बना लिया और उन सम्बन्धियों की सम्पत्ति भी जब्त कर ली जिनकी प्रतिस्पर्धा पर उसे यह संशय था कि कहीं वे उसकी गद्दी के दावेदार न बन जायें। सम्बन्धियों के साथ इस दुर्व्यवहार के कारण उसने अपने घर को ही "शत्रु का अखाड़ा" बना लिया था ।[2]

जहाँ तक सैन्य शक्ति का प्रश्न है, उसके पास विपुल कोष (पैतृक सम्पत्ति) था, 40 हजार सुसज्जित अश्वारोही सेना थी, 1,40,000 पैदल सेना, 2,000 विभिन्न आकार की तोपें, 3,600 हाथी और कई सौ युद्ध नौकायें थीं ।[3] उसके (दाऊद के) अनुमान से यह सेना अकबर से मोर्चा लेने के लिये पर्याप्त थी । अपनी सैन्य शक्ति पर गौरवान्वित होते हुये उसने अपने को बंगाल-बिहार का बादशाह घोषित कर दिया और जमानियाँ[4] के दुर्ग

---

1. स्टीवर्ट, पृ. 151-52 ; सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 185.
2. सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल भाग II, पृ. 185.
3. स्टीवर्ट, पृ. 152 ; स्मिथ, पृ. 125.
4. वर्तमान समय में जमानिया उत्तर प्रदेशमें गाजीपुर जिले में एक छोटा सा कस्बा है। यह $25^{0}23'$ उत्तर और $83^{0}34'$ पूर्व में स्थित है . -स्मिथ, पृ. 125.

पर अधिकार कर, जिसका कुछ वर्ष पूर्व खानें जमा ने सीमान्त दुर्ग के रूप में निर्माण किया था, अकबर को उत्तेजित कर खुलेआम विद्रोह का आमंत्रण दिया ।[1] अकबर इस समय (1573 ई.) गुजरात अभियान में व्यस्त था, जब उसे दाउद के दुःस्साहस की सूचना मिली उसने तत्काल बंगाल-बिहार को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने का निश्चय किया और मुनीम खान खाना को जो जौनपुर में मुगल साम्राज्य की सत्ता का प्रतिनिधि था, दाउद की पूर्व में बढ़ती हुयी शक्ति को रोकने तथा बिहार को विजित कर लेने का आदेश दिया ।[2]

इस समय दाउद हाजीपुर में था और उसका प्रमुख सरदार अमीरुल-उमरा लोदी खाँ (सुलेमान का सामन्त) जिसने दाउद को सिंहासनारूढ़ किया था, इस समय रोहतास के किले में था और अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया था। इसका प्रमुख कारण यह था कि दाउद ने विलासिता का दरवाजा खोलकर मद्यपान करना प्रारम्भ कर दिया था, जिससे लोदी खाँ खिन्न हो गया था। मुनीम खाँ शाही आदेशानुसार सैन्य दल के साथ पटना और हाजीपुर की ओर रवाना हुआ। लोदी खाँ ने यह देखकर कि अफगान शक्ति का ह्रास निश्चित है, मुनीम खाँ के साथ मैत्री सन्धि कर ली । सुलेमान करानी की पुरानी मित्रता को ध्यान में रखते हुये मुनीम खाँ ने इस शर्त पर सन्धि की कि "शाही सेना तभी समझौता करेगी, जबकि अफगान (लोदी खाँ) दो लाख रूपये धन के रूप में राजकीय कोषमें जमा करे और सम्राट के

---

1. इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 391 ; स्टीवर्ट, पृ. 152 ; स्मिथ, पृ. 125 ; दिवाकर : बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 485.
2. बदायूँनी, भाग II, पृ. 177 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 372; स्टीवर्ट, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, पृ. 152 ; सरकार, भाग II, पृ. 185.

लिए । लाख रूपये की कीमत के बहुमूल्य वस्तुयें व अन्य उत्पादन सामग्री उपहार स्वरूप खिराज के रूप में भेंट करें ।"[1] सन्धि की शर्तें मान ली गयीं और मुनीम खाँ वापस आ गया। सम्भवतः इस सन्धि से दोनों प्रधान पक्षों में कोई भी प्रसन्न नहीं हुआ। इसका स्पष्टीकरण बाद की घटनाओं से स्वतः होता है।

जब आक्रमणकारी मुगल सेना का भय टल गया तब दाउद ने लोदी खाँ द्वारा की गयी इस समझौते की शर्तों में दोष निकाला और उसे अपने पास बुलवा कर पहले तो सम्मानपूर्ण व्यवहार किया, परन्तु बाद में कतलू-खान के कहने पर उसे बन्दी बना कर उस शक्तिशाली स्तम्भ को धोखे से मरवा डाला। लोदी खाँ के साथ इस प्रकार का अमानवीय व्यवहार कर अपने ही हाथों साम्राज्य को समाप्ति के कगार पर पहुँचा दिया। इतना ही नहीं वह लोदी खाँ की सेना, हाथी, कोष का मालिक भी बन बैठा ।[2] इतनी बड़ी सेना पाकर दाऊद मिथ्या घमण्ड व मूर्खतापूर्ण अहंकार से भर गया और अपने को शक्तिशाली समझते हुये उस सन्धि को जिसे लोदी खाँ ने मुगलों से की थी, तोड़कर मुगलों को निष्कासित करने का उपक्रम करने लगा ।

पटना और हाजीपुर के विरुद्ध अभियान

जैसे ही यह सूचना खानखानन को मिली कि - "लोदी खाँ की हत्या करवा दी गयी है और अफगान वर्ग तितर-बितर होने लगा है, तो सुअवसर देख मुनीम खाँ शीघ्र ही बंगाल और लखनौती को विजित करने के

---

1. बदायुँनी, भाग II, पृ. 177 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 373; 512 ; स्टीवर्ट, पृ. 152-53.
2. बदायुँनी, भाग II, पृ. 177-78 ; अकबरनामा, भाग III, पृ. 100; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 392 , भाग V, पृ. 373-74, 512; सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 186.

ध्येय से बिहार में पटना तथा हाजीपुर के विरुद्ध कूच किया। उसकी सहायता के लिए शाही आदेश से राजा टोडरमल के नेतृत्व में एक सेना भी पूर्व की ओर भेजी गयी । सम्राट अकबर स्वयं भी अक्टूबर 1573 ई. में जब गुजरात के विद्रोह के दमन से मुक्त हुआ तो बंगाल-बिहार को अपने अधिकृत करने के उद्देश्य से स्वयं पूर्व की ओर (पटना हाजीपुर के विरुद्ध) बढ़ा ।[1]

सम्राट के यथास्थान पहुँचने से पूर्व ही मुनीम खाँ अमीरों की सहमति से पहले पटना का घेरा डालने के लिए सेना सहित रवाना हुआ। दाऊद ने अपने अधीन एक बड़ी सेना होते हुये भी पटना के दुर्ग में शरण ले रखी थी। पटना में मुगलों ने दाऊद को घेर लिया, अकबर भी 3 अगस्त 1974 को पटना के सन्निकट पहुँच गया। पटना का घेरा कई मास तक चलता रहा। उसकी सुरक्षा का अफगानों ने अच्छा बन्दोबस्त कर लिया था। फलतः अपने अधिकारियों से परामर्श करने के बाद और यह निश्चय कर लेने के बाद कि परिवेष्टित नगर (पटना) अपनी अधिकांश सामग्रियों (रसद आदि) के लिए हाजीपुर नगर पर, जो गंगा के उत्तरी तट पर स्थित था, निर्भर है, यह निर्णय लिया कि मुख्य ध्येय की सफलता के लिए प्रथमतः हाजीपुर पर अधिकार करना आवश्यक होगा, क्योंकि इसके पतन से दाऊद की शक्ति समाप्त होने की सम्भावना थी ।[2] अकबर ने खाने आलम के नेतृत्व में 3 हजार सैनिक व आवश्यक सामग्री को घेरे के लिए भेजा ।[3] शाहाबाद जिले में जगदीशपुर

---

1. बदायूँनी, भाग II, पृ. 177, 78-79 ; निजामुद्दीन अहमद, भाग II, पृ. 281-84 ; अकबरनामा, भाग III, पृ. 100.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 135 ; स्मिथ, पृ. 128.
3. इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 377 ; स्टीवर्ट, पृ. 153-54 ; सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 166.

के राजा गजपति को अकबर की ओर से खाने आलम की सहायता करने को कहा गया[1], क्योंकि उसके पास पैदल सेना अधिक संख्या में थी और अपने स्थानीय ज्ञान के साथ-साथ वह बिहार में बड़ा प्रभाव रखता था। इसके अतिरिक्त अली आलम शाही, सैय्यद शम्सबुखारी और उसके पुत्रों को भी खाने-आलम की सहायता के लिए भेजा गया ।[2] स्थानीय नाविकों के पथ निर्देशन में मुगल सेना नदी के ऊपर तक बढ़ी और रात में ही उस धार तक पहुँच गयी जो गंगा से अलग होकर हाजीपुर के समीप बहती थी । मुगलों ने इस स्थल की ओर से भी हाजीपुर को घेर लिया। तोपों का भयंकर तुमुल युद्ध 7 अगस्त 1574 ई. को हुआ। हाजीपुर का प्रमुख सेनापति फतहखान (गाजीखान का पुत्र) बारह अन्य अफगानों सहित पराजित हुआ और मारा गया और 7 अगस्त को ही हाजीपुर मुगलों के हाथ में आ गया ।[3] युद्ध में मारे गये अफगान सेनानायकों के सिरों को एक नाव में डालकर अकबर के सम्मुख लाया गया (अकबर इस समय पटना से 2-3 कोस की दूरी पर पंच पहाड़ी के करीब रूका हुआ था), जिन्हें अकबर ने दाऊद के पास भिजवा दिया, जिसमें यह संकेत था कि यदि उसने अकबर की अधीनता न मानी तो उसका भी यही हाल होगा ।[4]

यद्यपि अकबर के पटना पदार्पण के पूर्व ही मुनीम खाँ ने दाऊद को अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेने और मुसलमानों (अफगानों) के अनाव-

---

1. कयामुद्दीन अहमद : पटना थ्रू द एजेस, पृ. 72.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 135-36.
3. वही, पृ. 96-99 ; तबकाते अकबरी, भाग II, पृ. 290-92 ; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 182-83 ; सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 186.
4. इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 378 ; स्टीवर्ट, पृ. 154 ; स्मिथ, पृ. 128.

श्यक रक्तपात को बचाने की सलाह दी थी और इस आधार पर दाऊद से सन्धि वार्ता भी प्रारम्भ हुयी । अफगान राजदूत ने दाऊद के राजकीय सन्देश के साथ अकबर से भेंट की । अकबर ने दाऊद की पूर्ण अधीनता और दरबार में उसकी व्यक्तिगत अनुपस्थिति की माँग की, इसके अतिरिक्त उसने यह प्रस्ताव रखा कि दाऊद उससे द्वन्द्व युद्ध करके, या कोई दो चुने हुये व्यक्तियों या हाथियों के युद्ध द्वारा ही यह झगड़ा निपटा ले, परन्तु दाऊद ने इस प्रस्ताव को व्यर्थ समझकर अस्वीकृत कर दिया। परिणामस्वरूप दोनों पक्ष युद्ध के लिए तत्पर हुये, जिसकी परिणति पटना और हाजीपुर के पतन के रूप में हुयी ।[1]

हाजीपुर पर अधिकार कर लेने के पश्चात् 7 अगस्त, 1574 ई.[2] को ही अकबर ने एक हाथी पर सवार हो पटना के दुर्ग का निरीक्षण किया। उसी दिन अकबर ने पंचपहाड़ी[3] अथवा पाँच पहाड़ियों की चढ़ाई की, जो पटना दुर्ग के सामने कुछ दूरी पर है। यह अत्यन्त प्राचीन कालीन कृत्रिम टीलों का समूह है, जो पटना नगर के दक्षिण में प्रायः आधे मील की दूरी पर

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 135-36.
2. निजामुद्दीन अहमद एवं बदायूँनी 16 ता. लिखते हैं ।
   -इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 378 ; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 182.
3. पंच पहाड़ी अथवा पाँच पहाड़ियाँ प्राचीन भग्नावशेषों का समूह है, जो पटना के दक्षिणमें आधे मील की दूरी पर स्थित है तथा उतनी ही दूर दक्षिण में कुम्राहार से है, जहाँ सम्भवतः चन्द्रगुप्त मौर्य का राजभवन था। ये पहाड़ियाँ उत्तर से दक्षिण में प्रायः तीन फर्लांग फैलाव में हैं और स्पष्टतया ये बौद्धों या जैनों के ठोस अवशेष हैं। वे मौर्यों से पूर्व नन्द काल के प्रतीत होते हैं. - इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 378 ; स्मिथ, पृ. 129 , फु.नो. 1.

स्थित है, वहाँ से अकबर ने अपनी स्थिति का पर्यवेक्षण किया। हाजीपुर के पतन के बाद भी यद्यपि दाऊद के पास अभी भी 20,000 अश्वरोही, बड़ा तोपखाना और अनेक हाथी सहित विशाल सेना थी, यहाँ तक कि वह भारी वर्षा और बाढ़ को भी अपनी सुरक्षा का साधन समझता था, परन्तु फिर भी जब उसने देखा कि अकबर ने वर्षा और बाढ़ों की उपेक्षा कर कई सौ मीलों की यात्रा की है और इस बुरी ऋतु में भी अभियान कर रहा है तो दाऊद का साहस छूट गया। हाजीपुर के पतन के समाचारों से वह आतंकित हो उठा और 21 अगस्त के पूर्व की मध्य रात्रि को किले के पिछले दरवाजे से चुपचाप निकलकर नाव द्वारा बंगाल चला गया। विक्रमादित्य की उपाधि से विभूषित उसके मंत्री श्रीधर ने भी अधिक से अधिक धन सम्पदा और मूल्यवान वस्तुयें एकत्र की और जलमार्ग से वह भी भाग निकला। दाऊद का मुख्य सेनानायक गुर्जर खाँ करानी भी जिसे रूकनुधौला की उपाधि मिली थी, सेना और हाथियों सहित हिरबवन प्रवेश द्वार से निकलकर स्थलीय मार्ग से पलायित हुआ।[1] उस रात पटना नगर में बड़ा कोलाहल और आतंक छा गया। इस हलचल में बहुत से लोग कुचलकर मर गये, कुछ भागते हुये खायी में गिरकर डूब गये, बहुत से वे लोग जिन्होंने जलमार्ग से भागने का प्रयत्न किया था, गंगा की भयंकर बाढ़ के शिकार बने और कुछ पुनपुन नदी में, भारी बोझ के कारण पुल के टूट जाने से मर गये।[2]

दूसरे दिन प्रातः सूर्योदय होने पर अकबर अपने प्रमुख अधिकारियों तथा सेना के साथ दिल्ली द्वार से पटना में प्रवेश किया और भागते

---

1. बदायूँनी, भाग II, पृ. 184.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 138 ; बदायूँनी, भाग II, पृ. 184.

हुये अफगानों ने जो युद्ध सामग्री और मूल्यवान वस्तुएँ पीछे छोड़ी थीं, उन सहित उसने किले पर भी आधिपत्य स्थापित कर लिया। इनमें 50-60 हाथी[1] भी थे, जिन्हें गूजर खाँ करानी साथ नहीं ले जा सका था।

दाऊद और श्रीधर मुगलों की पहुँच के बाहर हो चुके थे, इसलिए अकबर ने गूजर खाँ का पीछा करने का आदेश दिया और किले का चार घण्टे तक निरीक्षण करने के पश्चात् स्वयं अफगान भगोड़ों का पीछा करने का नेतृत्व ग्रहण किया। उसके [अकबर] उत्तराधिकारियों और सैनिकों ने भी अकबर का अनुसरण किया और शत्रु का वेग से पीछा किया। अकबर ने पटना से गंगा पार स्थित दरियापुर तक लगभग 50-52 मील का फासला तय किया पर उसे सफलता नहीं मिली, फिर भी वह शांत बैठने वाला व्यक्ति न था, उसने मीरबख्शी शाहबाजखाँ और मजनू खाँ काकशाल को उसका पीछा करने का आदेश दिया। इन्होंने 14 मील आगे शाहबंद पुल तक गूजर खाँ का पीछा किया पर उन्हें भी सफलता नहीं मिली और गूजर खाँ सुरक्षित स्थान पर सकुशल पहुँच गया। बेशुमार लूट, जिसमें 265 हाथी, सहित सोने की थैलियाँ तथा जिरह बख्तर के सामान, हथियार व अन्य सामग्री थी, मुगलों के हाथ लगी।[2]

---

1. निजामुद्दीन अहमद 56 हाथी की संख्या लिखता है. -तबकाते-अकबरी, भाग II, पृ. 292-93 ; एस.आर. शर्मा : भारत में मुगल साम्राज्य, पृ. 227 में भी यही उल्लिखित है.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 140-43; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 184-85 ; स्मिथ, पृ. 129 ; सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 186. निजामुद्दीन अहमद द्वारा भी इस घटना की पुष्टि की गयी है, परन्तु वह 265 हाथी के स्थान पर 400 हाथियों का उल्लेख करता है। -तबकाते अकबरी, भाग II, पृ. 292-94 ; स्टीवर्ट ने भी 400 हाथियों का उल्लेख किया है. -स्टीवर्ट, पृ. 155.

इतिहासकारों ने पटना के पतन को वास्तव में बंगाल की विजय स्वीकार किया है ।[1] पटना दुर्ग के विजय के सम्बन्धमें स्मिथ ने लिखा है कि - वर्षा ऋतु के मध्य में इतने विशाल नगर को अधिकृत करना मुगलों की अभूतपूर्व सफलता थी, परन्तु बंगाल के शासक के लिए एक कष्टदायक आश्चर्य था, जिसने उन्हें दुःखी कर दिया। दाऊद ने भारत की प्राचीन परम्परा पर विश्वास करते हुये यह सोचा था कि सम्राट यदि चढ़ाई करेगा तो दशहरे के बाद करेगा, किन्तु अकबर सिकन्दर की भाँति प्रतिकूल ऋतु का विचार नहीं करता था (चाहे जाड़ा हो या बरसात) इसलिये ऋतु के प्रतिकूल (बरसात) होते हुये भी उसने विजय प्राप्त करली ।[2]

बिहार की शासन व्यवस्था

हाजीपुर और पटना विजय के पश्चात् (21 अगस्त 1574 ई. में) अकबर छः दिन तक दरियापुर में रूका रहा। आगरा की ओर प्रस्थान करने से पूर्व अकबर ने मुनीम खाँ खानखाना को बिहार का सूबेदार नियुक्त किया (अगस्त 1574) और बंगाल के अभियान की सर्वोच्च कमान भी सौंपा। रजवी खाँ को दीवान नियुक्त किया। इसके अतिरिक्त अकबर ने वे सब नावें और बेड़े जो वह आगरे से अपने साथ लाया था, मुनीम खाँ को सौंप दिये और शाही सेना में से 10 हजार सैनिक भी उसकी सेना में सम्मिलित कर दिये । इससे मुनीम खाँ के अधीन सैन्य शक्ति बढ़कर 20,000 घुड़सवार हो गयी और वह स्वयं उसका प्रधान सेनापति था । अकबर ने मुनीम खाँ

---

1. निजामुद्दीन अहमद, भाग II, पृ. 291-92.
2. स्मिथ , पृ. 129.

के पूर्व के सैनिकों (10 हजार शामिल करने से पूर्व उसके पास जो सैनिक थे) के पारिश्रमिक में भी वृद्धि करने की अनुमति प्रदान कर दी । यह वृद्धि 10:30 या 10:40 के मध्य थी ।[1] राजा टोडरमल व अन्य योग्य अधिकारी उसके (मुनीम खाँ) अन्तर्गत नियुक्त किये गये और उन्हें दाऊद के विरुद्ध (जो बंगाल की ओर भाग गया था) कूच करने में मुनीम खाँ की सहायता करने के शाही आदेश दिये गये । इसका तात्पर्य यह था कि दाऊद एवं उसके समर्थकों को उस क्षेत्र से पूर्णतया निष्कासित कर दिया जाय। अकबर ने दूसरी सेना की एक टुकड़ी फतह खाँ के अधीन रोहतास के दुर्भेद्य किले की विजय के लिए भी रवाना की । रोहतास का यह किला उस समय हैवत खाँ करनी और उसके पुत्र बहादुर खाँ के अधिकार में था। भूतपूर्व प्रधानमंत्री मुजफ्फर खाँ को भी इस अभियान में शामिल होने के निर्देश मिले । इस प्रकार बंगाल बिहार के अभियान का दायित्व अपने सेनानायकों पर छोड़कर अकबर राजधानी की ओर अग्रसर हुआ ।[2] यह पटना से होते हुये जौनपुर पहुँचा जहाँ उसने 33 दिन का मुकाम किया ।[3] इस स्थान पर उसकी उपस्थिति ने मुनीम खाँ को तत्परता से दाऊद के विरुद्ध कार्यवाही करने में प्रोत्साहित किया । परिणाम स्वरूप शत्रु को हराने के उद्देश्य से उत्साहित मुगल सेना बंगाल की ओर अग्रसर होती गयी । हाजीपुर में मुगलों के हाथों हुयी अफगानों की दुर्दशा से बुरी तरह हतोत्साहित एवं निराश दाऊद खाँ की

---

1. बदायूँनी, भाग II, पृ. 185 . निजामुद्दीन अहमद लिखता है कि उसने 25 से 30 प्रतिशत की वृद्धि की । -तबकाते अकबरी, भाग II, पृ. 295-96 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V , पृ. 380.
2. बदायूँनी, भाग II, पृ. 185 ; निजामुद्दीन अहमद, भाग II, पृ. 295-96 ; स्मिथ, पृ. 130 ; आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, अकबर महान्, भाग 1, पृ. 163-64.
3. इलियट एण्ड डाउसन, भाग V , पृ. 381.

अफगान सेना मुगलों का सामना किये बिना ही आतंकित हो भाग खड़ी हुयी और एक के बाद एक तेलिया गढ़ी दर्रा §जिसे बंगाल का प्रवेश द्वार कहा जाता है§ तक का सारा क्षेत्र मुगलों के हाथों में आ गया। अकबर के निर्देशानुसार मुनीम खाँ ने घोर वर्षा ऋतु में दाऊद के विरुद्ध अपना अभियान पूरा किया। ढाई लाख से भी अधिक सेना रखने की डींग मारने वाला सुल्तान दाऊद लज्जाजनक रूप से प्रदेश §बंगाल§छोड़ कर टांडा[1] भाग गया और पटना से तेलियागढ़ी तक का सम्पूर्ण क्षेत्र मुगलों के हाथ में निर्विरोध आ गया ।[2] सर्वप्रथम सूरजगढ़ का पतन हुआ । अफगान मुगलों के सामने न टिक सके और बिना युद्ध किये ही भाग खड़े हुये । इसके पश्चात् मुंगेर भी अफगानों से ले लिया गया। खड़गपुर §राजा संग्राम सिंह§, गिधौर §राजा- पूरन मल§ और उस क्षेत्र के अन्य जमींदारों ने भी मुगल अधीनता स्वीकार कर ली और मुनीम खाँ के साथ सम्मिलित हो गये । भागलपुर, खलगाँव उस समय शक्तिशाली बस्तियाँ मानी जाती थीं, पर उन पर भी मुगलों का बिना लड़े ही अधिकार हो गया ।[3] यदि थोड़ा बहुत विरोध दिखायी दिया तो वह बंगाल के प्रवेश द्वार तेलियागढ़ी के सुरक्षित दर्रे में शत्रु के प्रथम चिन्ह के रूप में दिखायी दिया। गढ़ी को अधिकृत करने के पश्चात् शाही सेना टांडा की ओर दाऊद के विरुद्ध कूच की ।

---

1. टांडा गौड़ के दक्षिण-पश्चिम से कुछ मील दूर माल्दा जिले में स्थित था । -स्मिथ, पृ॰ 130.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ॰ 150 ; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ॰ 186 ; तबकाते अकबरी, भाग II, पृ॰ 297-298.
3. अकबरनामा, भाग III, पृ॰ 150.

मुनीम खाँ ने मजनू खाँ काकशाल के अधीन अपना एक सैन्य दल और बड़े-बड़े योद्धाओं सहित दूसरा दल कुली खाँ के नेतृत्व में गढ़ी की ओर भेजा। कुली खाँ की मुख्य सेना जैसे ही किले के मुख्य दरवाजे की ओर बढ़ी, अफगान भयभीत हो गये और उन्होंने शीघ्र ही किले को खाली कर दिया। तेलियागढ़ी के पतन से दाऊद बहुत ही आतंकित हो उठा था। फलतः वह टाँडा से उड़ीसा भाग गया और मुनीम खाँ ने 21 सितम्बर, 1974 को बिना किसी विरोध के बंगाल के प्रमुख केन्द्र, राजधानी टाँडा पर अधिकार स्थापित कर लिया ।[1] वास्तव में बंगाल की यह विजय अकबर के लिए बहुत बड़ी प्रसन्नता थी ।

खानेखानन द्वारा दाऊद की पराजय

टाँडा की विजय और दाऊद के उड़ीसा भाग जाने के पश्चात् खानेखानन ने उस क्षेत्र (बंगाल) की व्यवस्था करने में अपना पूरा ध्यान आकर्षित किया और राजा टोडरमल को कुछ अमीरों व सैनिकों के साथ अकबर के विशिष्ट आदेशानुसार दाऊद का पीछा करने के लिए उड़ीसा भेजा ।[2]

उड़ीसा के कठिन मार्गों और जंगलों में दाऊद का पीछा करने का कार्यक्रम सैनिकों और उनके नायकों के लिए इतना अरुचिकर था कि

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 151-52 ; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 186-87 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 382 ; स्टीवर्ट, पृ. 156 ; स्मिथ, पृ. 130 ; सरकार यदुनाथ 21 सितम्बर की जगह 25 सितम्बर लिखते हैं. -सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 186.
2. आईन, भाग I, पृ. 376 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 384.

उनमें मतभेद फूट पड़ा और राजा टोडरमल को अकबर के लिखित विशिष्ट आदेशानुसार, अपने साथियों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करने में बड़ी कठिनाई अनुभव करनी पड़ी । परिणामस्वरूप टोडरमल मिदनापुर (हुगली जिले में स्थित) में रूका रहा और दाऊद के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करता रहा। कुछ दिन वहाँ ठहरने के पश्चात् टोडरमल वापस मिदनापुर से मदारन[1] और मदारन से जितरा की ओर प्रस्थान किया । यहाँ उसे सूचना मिली कि दाऊद अपनी सेना के साथ कटक बनारस (कटक) के किले में चला गया है और मुगलों के विरूद्ध सेना जुटाने व युद्ध की तैयारी में व्यस्त है। टोडरमल शीघ्र ही प्राप्त सूचना को मुनीम खाँ के पास भिजवाया। मुनीम खाँ इस समय टांडा में ही रूका रहा। यह सूचना पाते ही मुनीम खाँ जो वृद्ध और शिथिलकाय होने के कारण पीछे रूक गया था (दाऊद के विरूद्ध आगे न बढ़ सका था) युद्ध के मोर्चे पर आने के लिए बाध्य हुआ और उसे अपने व्यक्तिगत नेतृत्व में सेना के साथ अग्रसर होना पड़ा। सेना के जाने के लिए पहले से अधिक सुगम मार्ग तैयार किया गया। अफगानों ने भी युद्ध-स्तर पर अपने चारों ओर खायी बन्दी कर ली । 20 जिलकदा, 982[2] (3 मार्च 1575 ई.) को दोनों सेनाओं में तुकरोई[3] गाँव के निकट बंगाल

---

1. यह हुगली जिले में बरदवान और मिदनापुर के बीच में स्थित परगना है.

2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 175 ; तबकाते-अकबरी, इलियट ऐण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 386 ; स्मिथ, पृ. 131 ; बदायुँनी, भाग II, पृ. 196.

3. अकबरनामा, भाग III, पृ. 174 में इस स्थल का नाम तुकरोई लिखा है पर बदायुँनी इसका नाम बजवाड़ा लिखता है. -मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 196. यह गाँव वर्तमान समय में बालासोर जिले में है, मिदनापुर और जलेसर के बीच में स्थित है . -स्मिथ, पृ. 131.

के भाग्य का निर्णायक युद्ध लड़ा गया। मुगलों की ओर से तोपों व बन्दूकों के मध्य युद्ध प्रारम्भ हुआ। यद्यपि युद्ध के प्रारम्भ में शाही सेनापति को अनेक गहरे घाव लगे और बंगाली सेना की विजय निश्चित दिखायी देने लगी, परन्तु दिन में कुछ समय बीतने पर दाऊद के सेनापति गूजर खाँ की मृत्यु से भाग्य का पासा मुगलों के पक्ष में पलटा और दाऊद की पूर्ण पराजय हुयी। परिणामस्वरूप उसे मैदान छोड़कर भागना पड़ा। वह पुनः कटक (उड़ीसा) भाग गया और मुनीम खाँ के हाथों अफगानों का बहुमूल्य सामान लगा।[1] वास्तव में यह युद्ध जिस दृढ़ता और हठता से हुआ था, इससे पूर्व बंगाल और उड़ीसा के मध्य अफगानों और मुगलों के बीच कभी नहीं हुआ था।[2]

अबुल फजल लिखता है कि मुनीम खाँ ने तत्सामयिक परिपाटी के अनुसार बन्दी अफगानों का वध कर दिया और उनके सिर काट डाले गये। कटे हुये सिरों की संख्या इतनी थी कि उनसे "आठ गगन चुंबी मिनारें" बन सकें।[3]

मुनीम खाँ, टोडरमल व अन्य अमीरों सहित मुगलों ने कटक तक दाऊद का पीछा किया। दाऊद अब इस स्थिति में नहीं था कि वह मुगलों का सामना कर सके और वह यह भी अच्छी तरह जानता था कि कटक

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 179 ; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 11, पृ. 197-98 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 386 ; स्मिथ : अकबर महान्, पृ. 131.
2. स्टीवर्ट, पृ. 159.
3. अकबरनामा, भाग III, पृ. 180.

ही उसके शासन क्षेत्रों का अन्तिम छोर बचा हुआ है। अतः अपने समर्थकों की सलाह पर उसने मुगलों के समक्ष शान्ति (प्रस्ताव) का दरवाजा खटखटाया और आत्मसमर्पण का निश्चय किया ।[1] उसने फत्तू, शेख निजाम और अन्य अधिकारियों द्वारा मुनीम खाँ के पास यह सन्देश भेजा कि - मुसलमानों को मारना योग्यता का परिचायक नहीं है। हम आपके सामने हथियार डालने तथा आपकी अधीनता मानने के लिए तैयार हैं, पर हमें इसके बदले पूर्व के शासन क्षेत्र में से एक हिस्से में अपने समर्थकों के साथ शान्ति पूर्वक रहने दिया जाय ।[2] इस प्रकार उसने शान्ति सन्धि का प्रस्ताव रखा ।

मुनीम खाँ ने हाशिम खान और कतलूक कादम खान (Qutlug Qadam Khan) को दाऊद के पास भेजकर जिन शर्तों द्वारा शान्ति समझौते पर हस्ताक्षर किये थे, उस सम्बन्ध में अबुल फजल लिखता है कि - "समझौते की शर्त यह थी कि दाऊद मुगल दरबार में सम्राटके प्रति अपनी स्वामी-भक्ति प्रदर्शित करे और अपने युद्ध कौशल में निपुण योग्य हाथियों व अन्य महत्वपूर्ण सामग्री उपहार स्वरूप भेंट करे । दूसरी शर्त यह थी कि वह तुरन्त अपने किसी सगे सम्बन्धी को अपने प्रति-निधि के रूप में मुगल दरबार में भेजे ।"[3] दाऊद ने मुनीम खाँ की शर्तें मान ली और समझौते के अनुसार युद्ध कौशल में निपुण हाथी व धन-सम्पदा सहित वायजिद के पुत्र शेख मुहम्मद को जो उसका अपना भतीजा था, अपने प्रतिनिधि की हैसियत से मुगल दरबार में भेजा ।[4] 12 अप्रैल, 1575 ई.

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 183-84 ; स्टीवर्ट, पृ. 159.
2. निजामुद्दीन अहमद , इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 388-389.
3. अकबरनामा, भाग III, पृ. 185.
4. वही ; निजामुद्दीन अहमद, इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 389-90.

(1 मुहर्रम, 983) को शान्ति समझौते पर दोनों ओर (दाऊद एवं मुनीम-खाँ) से सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर किये गये और मुनीम खाँ ने दाऊद का विधिवत् समर्पण स्वीकार कर विनम्रता के साथ अधिक मात्रा में उसे उपहार प्रदान कर खेमे से विदा किया।

यद्यपि टोडरमल शत्रु की वास्तविकता को जानता था और इस शांति सन्धि में दाऊद के छल को भाँप लिया था, अतः उसने इस सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर करने से इन्कार किया, परन्तु मुनीम खाँ ने पुनः उसकी उदार शर्तें मानकर उड़ीसा का कुछ भाग दाऊद के अधिकार क्षेत्र में छोड़ दिया ।[1]

बंगाल-बिहार का मुगलों के हाथ से निकल जाना

मुनीम खाँ दाऊद से जब मैत्री पूर्ण संदेशों का आदान-प्रदान और उसके साथ सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर कर रहा था, उसकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर उसी बीच जलालुद्दीन के पुत्रों के नेतृत्व में कुछ अफगान गोराघाट (जो अब दीनापुर जिले में है) और उसके पार्श्ववर्ती प्रदेश को मुगलों से पुनः प्राप्त करने के ध्येय से गोराघाट के स्थानीय राजा के सहयोग से गौड़ दुर्ग के रक्षक मजनू खाँ को पराजित कर गौड़ के किले पर अधिकार कर लिया और टांडा की ओर भी बढ़े, परन्तु मुईनुद्दीन खाँ और दूसरे मुगल नायकों ने आक्रमणकारियों से टांडा की सफलतापूर्वक रक्षा की ।[2] यह खबर

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ० 185 ; निजामुद्दीन अहमद, इलियट एण्ड डाउसन, भाग V ,पृ०390 ; स्टीवर्ट, पृ० 161 ; स्मिथ, पृ० 131 ; बिहार थ्रू द एजेस, पृ० 487 की मान्यता है कि उसे समस्त उड़ीसा का प्रदेश दिया गया था ।
2. स्टीवर्ट, पृ० 161 , लिखता है कि उन्होंने (मुगलों) टांटा के नये गवर्नर को निष्कासित कर दिया था.

सुनते ही खानखाना अब दाऊद की ओर से पूर्णतया निश्चिन्त हो टांडा की ओर अग्रसर हुआ और 21 मई, 1575 ई. को टांडा पहुँचा। मुनीम खाँ के आते ही अफगान गौड़ के पड़ोस के जंगलों में भाग गये। कुछ दिन तक टांडा में रूकने के पश्चात् उसने नदी के दूसरे तट पर स्थित गौड़ में (जो प्राचीन राजधानी थी) अपना दरबार स्थानान्तरित करने का निश्चय किया।[1] अबुल फजल लिखता है कि अपना दरबार मुनीम खाँ द्वारा टांडा से गौड़ में स्थानान्तरित किये जाने के प्रमुख दो कारण थे - एक तो गोराघाट के बहुत अधिक अव्यवस्थित होने के कारण मुनीम खाँ की इच्छा थी कि वह अपना मुख्य केन्द्र अशांत स्थान के निकट ही रखे और गोराघाट गौड़ से निकट ही था, दूसरे वह गौड़ के सुन्दर भवनों से आकर्षित हो गया था, जिनके जीर्णोद्धार की वह आशा करता था। यद्यपि उसके अधिकारियों ने गौड़ की विषाक्त जलवायु की ओर मुनीम खाँ का ध्यान आकृष्ट किया था पर इसका कोई फल नहीं निकला और मुनीम खाँ ने अपने निश्चय को कार्यान्वित कर दिया।[2] उसी वर्ष पूर्वीय प्रांतों में महामारी का साम्राज्य छाया हुआ था। अबुल फजल उसे "विनाश की प्रबल वायु" की संज्ञा देता है।[3] गौड़ में यह प्रबल वायु "प्रचंड झंझा बन गयी" परिणामस्वरूप बहुत से मुगल सैनिक पीड़ित होकर मर गये। इतना ही नहीं अशरफ खाँ, हैदर खाँ, हाशिम खाँ, मोहसिन खाँ, हाजी युसुफ खान,

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 226 ; तबकाते अकबरी, इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 394 ; स्मिथ, पृ. 147 ; आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान्, भाग 1, पृ. 187.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 226.
3. वही.

मिर्जा कुली खान, अबुल हसन जैसे अनुभवी अधिकारी एवं योग्य सेनापति तथा विश्व विजेता भी इस महामारी के शिकार बने ।[1] बदायूँनी लिखता है कि "महामारी के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि जीवित बचे लोग मृतकों को दफनाने में असमर्थ हो गये और मृतकों को नदी में फेंकना प्रारम्भ कर दिया ।"[2] वह आगे लिखता है कि "यद्यपि प्रत्येक दिन अमीरों और अधिकारियों के मृत्यु की सूचना मुनीम खाँ को दी जाती थी पर उसने इस ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया ।"[3] ऐसा प्रतीत होता है, गौड़ के भवनों ने उसे अपनी ओर पूर्णतया आकर्षित कर लिया था ।

गौड़ में मुगलों की यह दयनीय दशा देखकर अफगानों ने पुनः अपना सिर उठाना प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि तुकरोई की सन्धि के अनुसार दाऊद खाँ कर्रानी ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली थी, पर बहुत से अफगानों ने अभी भी अपने हथियार नहीं डाले थे और बिहार में छुट-पुट आक्रमणों द्वारा मुगलों को परेशान करते रहे । मुजफ्फर खाँ जिसे हाजीपुर का अधिनायक नियुक्त किया गया था और जिसे चौसा से लेकर तेलियागढ़ी के दर्रे तक के पूरे प्रदेश की रक्षा का भार सौंपा गया था, विद्रोहियों को बार-बार पराजित किया और बिहार में उनको प्रवेश करने से रोका, फिर भी वे बंगाल और झारखंड के कुछ हिस्से में सक्रिय बने रहे । इन अफगान विद्रोहियों में प्रमुख था दाऊद कर्रानी का चचेरा भाई जुनैद कर्रानी जो इस समय झारखंड में था। तात्कालिक स्थिति को अपने लिए सुनहरा अवसर मानकर उसने तत्काल बिहार पर आक्रमण कर दिया और रोहतासगढ़

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 226-227.
2. बदायूँनी, भाग II, पृ. 221 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 395.
3. वही.

दुर्ग को हस्तगत कर अपने सहयोगी सैय्यद मुहम्मद को सौंप दिया था, जिससे स्थिति और भी बिगड़ गयी । अब प्रांत भर के अफगानों ने मुगलों को बिहार से निकालने का प्रबल प्रयत्न किया। यह सूचना मिलते ही मुनीम खाँ बिहार में व्याप्त विद्रोह का दमन करने हेतु गौड़ से बिहार की ओर कूच किया, परन्तु जैसे ही वह गौड़ से टांडा पहुँचा बीमार पड़ गया । थोड़े दिनों की बीमारी में ही वह इस संसार से 23 अक्टूबर 1575 ई. को चल बसा ।[1]

करानी साम्राज्य का अन्त

मुनीम खाँ की मृत्यु से बंगाल की मुगल सेना में बड़ी हलचल मच गयी। यद्यपि सम्राट से आज्ञा प्राप्त होने से पूर्व अधिकारियों ने एक अस्थायी सेनापति शाहिम खाँ जलेर को चुन लिया पर जलेर न तो योग्य था और न ही सैनिकों में जनप्रिय। अधिकारियों को केवल एक ही विचार व्याप रहा था कि लूटी हुयी सम्पदा साथ लेकर वे गर्हित बंगाल से जल्दी से जल्दी किसी प्रकार निकलकर मुक्ति पा लें। योग्य सेनापति के अभाव में वे बराबर लड़ते रहे और बिहार चले गये । लग रहा था, जैसे बंगाल हाथ से निकल जायगा। साम्राज्य के अधिकारियों के पारस्परिक विग्रह से प्रोत्साहित हो दाऊद खाँ ने इस हलचल का लाभ उठाकर मुनीम खाँ के साथ की गयी सन्धि की शर्तें (तुकराई के युद्ध में) तोड़ डालीं और अपने खोये हुये राज्य को पुनः

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 226-27; बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 487; निजामुद्दीन अहमद लिखता है कि उसकी मृत्यु 983 में सफर महीने के आखिरी दसवें दिन हुयी. इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ.395; बदायूँनी लिखता है कि 80 वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हुयी . -मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 221.

प्राप्त करने हेतु प्रयत्नशील हो उठा। उसने भाद्रक पर अधिकार कर लिया और नज़र बहादुर को मरवा डाला। मुरादखान बिना युद्ध किये ही टांडा भाग गया। अन्य मुगल अधिकारियों और सैनिकों ने भी यही मार्ग अपनाया और वे बंगाल छोड़कर पूर्नियाँ और तिरहुत होते हुये बिहार (पटना और हाजीपुर) शरण लेने भाग गये । इस प्रकार तेलियागढ़ी तक का सम्पूर्ण बंगाल क्षेत्र मुगलों के हाथ से निकलकर अफगानों के हाथ में चला गया ।[1]

जब अकबर को इन अप्रिय घटनाओं के समाचार प्राप्त हुये तब सर्वप्रथम उसने बदख्शा से निर्वासित मिर्जा सुलेमान को बंगाल भेजने का विचार किया, किन्तु उसके अस्वीकार कर देने पर सम्राट ने अधिक बुद्धिमत्ता का परिचय दिया। उसने मुनीम खाँ के उत्तराधिकारी के रूप में पंजाब के सूबेदार खाने जहाँ[2] (हुसैन कुली खाँ) को 15 नवम्बर, 1575 ई. को बंगाल पुनः प्राप्त करने के लिए चुना। उसे शाही आदेशानुसार सम्पूर्ण अधिकार प्रदान कर दिये गये । राजा टोडरमल को भी उसकी सहायता के लिए साथ जाने के आदेश दिये गये । खाने जहाँ और टोडरमल ने दिसम्बर, 1575 ई. में बंगाल के लिए प्रस्थान किया। खाने जहाँ ने जिसे सम्पूर्ण अधिकार प्रदान कर दिये गये थे, पीछे की ओर हटते हुये बंगाल के अधिकारियों को भागलपुर में रोका और राजा टोडरमल की सहायता से जो अकबर के निर्देश धारण कर राजधानी से आया था, बागियों को कर्तव्य

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 228-29 ; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 222 ; तबकाते अकबरी, भाग II, पृ. 317-18, 20 ; स्मिथ, पृ. 147 ; बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 487.
2. निजामुद्दीन अहमद लिखता है कि उसे अकबर ने अमीरुल उमरा की उपाधि से सम्मानित किया और कीमती सामानों के साथ बंगाल मोर्चे के लिए विदा किया । -तबकाते अकबरी, इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 395.

पालन कराने में सफल हुआ। 26 मई, 1576 ई. को मुगलों ने सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण तेलियागढ़ी दर्रे को पुनः जीत लिया और अब टांडा की ओर अग्रसर हो, दाऊद को रक्षात्मक स्थिति ग्रहण करने को विवश कर दिया ।[1] दाऊद नवीन राजकीय प्रतिनिधि की स्फूर्ति से विस्मित रह गया ।

खाने जहाँ ने आकमहल[2] के पास (जिसका बाद में राजमहल नाम पड़ा) एक मोर्चे के स्थान को अपने पड़ाव के लिए चुना। यह स्थान प्रकृत रूप से सुदृढ़ था और सुगमतापूर्वक उसकी प्रतिरक्षा की जा सकती थी। दाऊद का पड़ाव भी यहाँ से अधिक दूर नहीं था, फलतः रोज ही मुठभेड़ें होती थी । वर्षा ऋतु के कारण सैन्य परिचालन में व्याघात पड़ने के कारण अकबर ने प्रांत अधिनायक को आवश्यक धन और सामग्री भेजी और मुजफ्फर खाँ तथा अन्य अधिकारियों को निर्देश दिये कि वे बिहार की सेना खानेजहाँ के सहायतार्थ बंगाल भेजें। इसके अलावा शाहबाज खान को, शाहाबाद जिले में जगदीशपुर के गजपति के विरुद्ध विद्रोह का दमन करने भेजा। गजपति ने

---

1. स्टीवर्ट ने लिखा है कि - खाने जहाँ को पंजाब से बंगाल तक पहुँचने में कई महीनें बीत गये, इस बीच दाऊद खाँ ने अपने आपको एक बार फिर शक्तिशाली सेना के साथ संगठित कर लिया, इस सेना में पचास हजार घुड़सवार थे, जो अत्यधिक शक्तिशाली थे . -हिस्ट्री ऑफ बंगाल, पृ. 163.
2. आकमहल अथवा राजमहल $24^0 3'$ उत्तर, $87^0 50'$ पूर्वमें स्थित, वर्तमान समय में बिहार और उड़ीसा प्रांत के संथाल परगना में मिट्टी की झोपड़ियों का एक गाँव मात्र है। 1595 ई. में राजा मानसिंह ने इसे अपनी राजधानी बनाया था। - अकबरनामा, भाग III, पृ. 1042 ; आर.एन. प्रसाद : मानसिंह ऑफ अम्बर, कलकत्ता 1966, पृ. 91 ; ग्लिम्पसेज ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ. 57 ; जे.बी.आर.एस.,

विद्रोह कर बिहार के एक बड़े भाग को अपने कब्जे में कर लिया था ।[1]

मुजफ्फर खाँ के सेनापतित्व में प्रायः 5,000 अश्वारोहियों की बिहार (हाजीपुर पटना) सेना 10 जुलाई को खाने जहाँ की सेना से आ मिली । दोनों सेनानायकों ने आपस में परामर्श किया और मुजफ्फर खाँ ने वर्षा ऋतु में अभियान को रोकने पर जोर दिया पर खाने जहाँ इस युद्ध को रोकने के पक्ष में नहीं था। इसीलिए मुजफ्फर खाँ ने भी अपनी सहमति प्रदान कर दी और दोनों साथ मिलकर अविलम्ब युद्ध करने को तत्पर हो गये ।[2]

यद्यपि वर्षा ऋतु अपनी चरम सीमा पर थी और राजमहल के निकट वर्ती प्रदेश पानी की एक चादर सा प्रतीत होता था, लेकिन फिर भी खाने जहाँ ने युद्ध का निश्चय कर शाही सेना के मध्य भाग का नेतृत्व संभाला जबकि मुजफ्फर खाँ दायें पक्ष का और टोडरमल बायें पक्ष का नेतृत्व कर रहे थे । शत्रु की व्यूह रचना भी परम्परागत ढंग पर की

1968, पटना, पृ. 111.

1. राजा गजपति लगभग 1 वर्ष तक मुगलों से लड़ता रहा। उसनें दाऊद से मिलकर, बंगाल की ओर जाने वाले मार्ग को अवरूद्ध कर दिया था और आरा के किले को भी जीत लिया था, फलतः मुगलों ने उसका दमन करने का निश्चय किया । - अकबरनामा, भाग III, पृ. 239-40 ; आर.एन. प्रसाद, हिस्ट्री ऑफ भोजपुर, पृ. 36.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 251-52 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 400.

गयी थी । दाऊद ने स्वयं मध्य भाग की कमान संभाल रखी थी । काला-पहाड़ दायें भाग का नेतृत्व कर रहा था और बायाँ भाग जुनैद करानी[1] के अधीन था। बृहस्पति वार 12 जुलाई, 1576 को राजमहल का युद्ध हुआ ।[2] प्रारम्भ में मुगल सैनिक विचलित होते दिखायी देने लगे, यह देख सदैव की तरह सम्राट के सैनिकों को प्रोत्साहित करने में राजा टोडरमल ने प्रमुख भूमिका निभाई परिणामस्वरूप मुगल सैनिकों में उत्साह की लहर दौड़ गयी और वे पूरे जोश एवं साहस के साथ शत्रु पर टूट पड़े। काला-पहाड़ बुरी तरह जख्मी हो गया और युद्ध क्षेत्र से भाग निकला। कीचड़ और पानी के कारण उसका पीछा करना सम्भव न था। दायें पक्ष में अधिक युद्ध न हो सका क्योंकि वाम पक्ष का नायक तोपों से आहत हो गया था और घाव लगने के कारण शीघ्र ही, उसकी मृत्यु हो गयी। दोनों सेनाओं के मध्य भागों की मुठभेड़ (दाऊद-खाने जहाँ) होने के पहले ही युद्ध जीत लिया गया। दाऊद ने नाजुक स्थिति देखकर भाग जाने की कोशिश की परन्तु बरसात के कारण दाऊद का घोड़ा कीचड़ में फंस जाने से वह भागने में सफल न हो सका और शीघ्र ही मुराद सिस्तानी और हुसैन बेग गर्द द्वारा बन्दी बना-कर खाने जहाँ के सामने लाया गया ।[3] जहाँ उसे विद्रोही घोषित करके मार डाला गया ।[4]

---

1. मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 245 में जुनैत को चचेरा भाई न कहकर दाऊद का चाचा स्वीकार किया गया है.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 252-53 ; स्मिथ, पृ. 149.
3. अकबरनामा, भाग III, पृ. 253-54 ; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 245 ; तबकाते अकबरी, भाग II, पृ. 325 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 400; स्मिथ, पृ. 149.
4. स्टोवर्ट, पृ. 164.

दाऊद का अन्त किस प्रकार हुआ इस सम्बन्ध में तत्कालीन इतिहासकार अबुल फजल एवं बदायूँनी ने अलग-अलग घटनाक्रम का वर्णन किया है। बदायूँनी लिखता है कि - "बंदी बनाकर जब दाऊद लाया गया, वह बहुत ही प्यासा था। प्यास से व्याकुल होकर उसने पानी माँगा। मुगल लोग उसके जूते में पानी भरकर उसके सम्मुख ले गये, किन्तु जब उसने पीने से इन्कार किया तो खाने जहाँ ने उसे अपना जल पात्र दिया और उससे उसे पानी पीने दिया। वह उसका वध नहीं करना चाहता था, क्योंकि वह बहुत ही सुन्दर व्यक्ति था। अमीरों ने खाने जहाँ से कहा कि उसको जीवन दान देने से स्वयं उनकी स्वामीभक्ति पर सन्देह किया जायगा और भावी विद्रोह की भी आशंका हो सकती है, अतः खाने जहाँ ने उसका सिर शरीर से अलग करने की आज्ञा दे दी । उन्होंने उसकी गर्दन पर दो निष्फल प्रहार किये, पर वे उसका वध करने और सिर धड़ से अलग कर देने में सफल रहे । तदनन्तर उन्होंने मस्तक को भूसे से भरा और इत्रों से सुवासित कर दिया और सैय्यद अब्दुल्ला खाँ को सौंपकर उसके साथ सम्राट के पास भेज दिया। उन्होंने (मुगलों ने) अनेक हाथी और बहुत सा माल लूटा"।[1]

अबुल फजल इससे अलग वर्णन करते हुये लिखता है कि - "जब मुगलों की विजय हुयी तब उन्होंने दाऊद को बन्दी बना लिया और उसे खाने-जहाँ के समक्ष प्रस्तुत किया कि - तुम्हारी वो शर्तें और शपथ कहाँ गयी जो तुमने मुनीम खानखाना से (तुकरोई के युद्ध में) की थी । दाऊद ने बेझिझक होकर उत्तर दिया कि - वह सन्धि मैंने मुनीम खाँ के साथ की थी । यदि आप मुझे मौका दें मैं आपसे भी मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर सकता हूँ । खाने जहाँ ने जिसको दाऊद के छल एवं चतुराई का अनुमान था, आदेश दिया

---

1. बदायूँनी, भाग II, पृ॰ 245.

कि शीघ्र ही इस कपटी एवं विद्रोही का सिर उसके शरीर से अलग कर दिया जाये । उसके अनुसार दाऊद का सिर काटकर सैय्यद अब्दुल्ला के द्वारा अकबर के पास भिजवा दिया गया और उसके धड़ को टांडा में सूली पर लटका दिया गया ।"[1]

ईश्वर की अनुकम्पा और खाने जहाँ तथा टोडरमल के प्रयासों से बंगाल जैसा बड़ा प्रदेश पुनः विजित कर लिया गया ।[2] स्मिथ ने लिखा है कि - "बंगाल का स्वतन्त्र राज्य जो लगभग 236 ई॰ वर्षों तक (1340-1576 ई॰) चला था, दाऊद के पतन के साथ समाप्त हो गया ।"[3] और बंगाल बिहार का सारा देश अकबर के संरक्षण में आ गया। इतना ही नहीं बंगाल की इस विजय ने कर्रानी अफगानों का सदैव के लिए अन्त कर दिया।[4] इस सम्बन्ध में अबुल फजल लिखता है कि - "बंगाल सदियों से बुलगाक खान (विद्रोह का घर) रहा था। विदेशी राजवंशों ने थोड़ी सी मुस्लिम आबादी के साथ इस प्रदेश पर कई सौ वर्ष तक बुरी तरह शासन किया था और प्रजा को निर्धन और अज्ञानावस्था में रखा था, इसलिए कर्रानियों के अन्त होने पर जनसाधारण ने मुक्ति की साँस ली ।"[5]

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ॰ 255; आईन, भाग I, पृ॰ 350.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ॰ 256.
3. स्मिथ, पृ॰ 150.
4. बिहार थ्रू द एजेस, पृ॰ 488.
5. अकबरनामा, भाग III, पृ॰ 256.

पंचम अध्याय

मुगल साम्राज्य का पूर्वी विस्तार (1576-1600 ई॰)

1. रोहतास एवं शेरगढ़ पर मुगल आधिपत्य
2. बिहार में जन असन्तोष
3. विरोधियों द्वारा प्रत्यक्ष विद्रोह
4. विद्रोह दमन हेतु अकबर द्वारा अधिकारियों की नियुक्ति
5. मुगल गवर्नर मुजफ्फर खाँ का अन्त और विद्रोहियों का बिहार-बंगाल में स्थापित होना
6. बिहार-बंगाल पर पुनः मुगल आधिपत्य
7. बंगाल के सूबेदार के रूप में मिर्जा अजीज कोका द्वारा पूर्व की ओर प्रस्थान
8. अकबर के प्रयासों द्वारा बिहार शान्ति का प्रमुख स्थल
9. राजा मानसिंह की सूबेदारी
10. मानसिंह द्वारा आक्रमणात्मक कार्यवाही ।

मुगल साम्राज्य का पूर्वीय विस्तार (1576-1600 ई.)

बिहार में मुगल सत्ता

बंगाल की राजनीति से करानी अफगानों का अन्त करने और वहाँ मुगल सत्ता कायम करने के पश्चात् अकबर बिहार की तात्कालिक स्थिति की ओर भी आकर्षित हुआ। इस आकर्षण का प्रमुख कारण था "रोहतासगढ़" और "शेरगढ़" जैसे महत्वपूर्ण दुर्भेद्य दुर्गों को मुगल साम्राज्य का अंग बनाने की तीव्र लालसा ।

यद्यपि पटना अभियान के पश्चात् (1574 ई.) अकबर ने फरहत-खाँ को रोहतास केप्रसिद्ध दुर्ग पर अधिकार करने के लिए भेजा था[1] लेकिन घेरे के लम्बे समय तक चलने की सम्भावना थी और दाऊद को भी अभी हराना बाकी था, इसलिए यह घेरा कुछ समय के लिए उठा लिया गया और पुनः यह कार्य दो वर्ष बाद ही (अक्टूबर 1576 ई. में) सम्पन्न हो सका ।

रोहतास पर मुगल आधिपत्य

जुलाई 1576 ई. में दाऊद की मृत्यु के पश्चात् जब बंगाल पूर्णतया मुगलों द्वारा जीत लिया गया तब सम्राट ने प्रथमतः बिहार में रोहतास दुर्ग की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया। मुनीम खाँ की मृत्यु के कारण जो हलचल मची थी, उसमें यह किला दाऊद के चचेरे भाई जुनैद के हाथों में

---

1. इस समय रोहतास दुर्ग का किलेदार हैबत खाँ था .

चला गया था और जुनैद ने इसे अपने विश्वस्त सहयोगी सैय्यद मुहम्मद को सौंप दिया था। जुनैद की मृत्यु के पश्चात् उपयुक्त सहायता के अभाव में अब अधिक दिनों तक रोहतास दुर्ग को सुरक्षित रख सकना व उस पर अधिकार बनाये रखना अत्यधिक कठिन जानकर मुहम्मद ने किले को मुगलों को ही सौंप देना अधिक उचित समझा और अकबर की सेवा में प्रवेश करने की सोची । परन्तु उसने अत्यधिक चालाकी की नीति अपनाते हुये यह बात खुले रूप में स्पष्ट नहीं की। इसी समय किले के आस-पास के क्षेत्र के लुटेरों, से शाही सेना का सामना हुआ, इन्होंने शाही सेना के प्रति अपनी राजभक्ति प्रदर्शित की और सदैव के लिए अपनी राजभक्ति का आश्वासन दिया ।[1]

रोहतास का किला इतना महत्वपूर्ण था कि बिहार के तत्कालीन दो सेनापति मुजफ्फर खाँ और शाहबाज खाँ में से प्रत्येक सम्राट (अकबर) के लिए इसे हस्तगत करने का श्रेय पाने को आतुर था ।[2] मुजफ्फर-खाँ ने अपने नायब मासूम खाँ काबुली को रोहतास पर अधिकार करने भेजा। रोहतास के समीपवर्ती इलाके पर हुसैन खाँ अफगान का आधिपत्य था, इसलिए मासूम खाँ को उसका सामना करना पड़ा । युद्ध में अफगान सेनानायक मारा गया ।[3] इसी बीच अपने स्वामी दाऊद की पराजय और मृत्यु के पश्चात् काला पहाड़ बिहार भाग आया था और रोहतास-गढ़ में स्वयं को जमाने का प्रयत्न कर रहा था अतएव मासूम खाँ 24 अक्टूबर, 1576 ई. को उसके विरुद्ध भी बढ़ा और विजयी हुआ। मासूम की हुसैन के विरुद्ध प्राप्त सफलता के पश्चात् मुजफ्फर खाँ स्वयं

---

1. अबुल फजल, अकबरनामा, भाग III, पृ. 266.
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान्, भाग 1, पृ. 191.
3. फरिश्ता, ब्रिग्स, भाग II, पृ. 153.

भी बिहार की सेना के साथ किले की प्राप्ति के लिए अग्रसर हुआ, लेकिन शाहबाज खाँ कम्बू मुजफ्फर खाँ से पूर्व ही पहुँचकर रोहतासगढ़ को अधिकृत कर लिया था। दुर्ग रक्षी सेना ने अपना धैर्य खो दिया और उन्होंने अपने विश्वस्त आदमियों को इस प्रस्ताव के साथ कि उन्हें चौथाई भाग प्राप्त हो, शाहबाज खाँ के पास भेजा। शाहबाज खाँ उनकी इच्छाओं को मानते हुये कुछ बहादुर सैनिकों के साथ किले की ओर शीघ्रता से कूच किया। किले की अफगान सेना अकबर के द्वारा मनोनीत व्यक्ति को ही किला सौंपना चाहती थी और चूँकि अकबर ने शाहबाज खाँ को किला लेने को नियुक्त किया था, इसलिए किले की सेना ने उसका स्वागत किया। मुजफ्फर खाँ को यह सुनकर निराश लौटना पड़ा। शाहबाज खाँ शाही आदेशानुसार किला मुहीब अली खान (मीर खलीफा का पुत्र) को सौंपकर (अक्टूबर 1576 ई.) दरबार वापस आ गया ।[1] इस प्रकार रोहतास का प्रमुख दुर्ग जो अफगानों के हाथों में चला गया था, पुनः मुगलों द्वारा प्राप्त कर लिया गया ।[2]

शेरगढ़ मुगलों के अधीन

रोहतास दुर्ग पर आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात दूसरी कार्यवाही शेरगढ़ के विरुद्ध की गयी । यह बिहार का दूसरा महत्वपूर्ण एवं मजबूत किला था । यह दुर्ग जो वर्तमान समय में भग्नावस्था में है, एक बरबाद गाँव मात्र रह गया है। यह $24^{0}33'$ उत्तर तथा $84^{0}48'$ पूर्व

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 266 ;280 ; फरिश्ता, ब्रिग्स, भाग II, पृ. 153-54 अबुल फजल इस घटना की तिथि स्पष्ट नहीं करता.
2. स्मिथ, पृ. 160.

की स्थिति में बिहार में सासाराम से 20 मील दक्षिण पश्चिम में स्थित है ।[1] इस पर गजपति के पुत्र श्री राम का आधिपत्य था ।[2] मुगलों की आक्रमणात्मक स्थिति से निबटने में अपने आपको असमर्थ पाकर श्री राम ने सम्राट की अधीनता स्वीकार कर लेने में ही अपनी भलाई समझी और बिना युद्ध किये ही शान्तिपूर्वक किला मुगलों को सौंप दिया। यह किला इतना अधिक दृढ़ ‹मजबूत› था कि शाहबाज खाँ, सरबात निर्मित कराने और सुरंगे खुदवाने की तैयारियाँ करने लगा, पर भाग्य से, श्री राम ने अपनी स्थिति निर्बल समझकर इसे बिना युद्ध किये ही शाहबाजखाँ को सौंप दिया और मुगल सेवा में आ गया ।[3]

रोहतासगढ़ और शेरगढ़ के इन प्रसिद्ध किलों की प्राप्ति से बिहार और बंगाल की विजय तथा उनके विलीनीकरण का कार्य पूरा हो गया और अब मुगल साम्राज्य का विस्तार पूर्व और पश्चिम में समुद्र से समुद्र तक हो गया ।[4]

बिहार में जन-असन्तोष

अपनी इस अप्रत्याशित सफलता के पश्चात् बंगाल-बिहार की कमान खाने जहाँ ‹बंगाल का गवर्नर› के हाथों सौंप कर और पूर्व की ओर से पूर्णतया निश्चिंत हो सम्राट अकबर ने पूर्व से अजमेर की ओर प्रस्थान किया।

---

1. स्मिथ, पृ. 160.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 265-66.
3. वही, पृ. 266 ; स्मिथ, पृ. 160.
4. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान्, भाग 1, पृ. 192.

अकबर के अजमेर की ओर जाते ही लगभग दो वर्ष की अल्पावधि में ही डेढ महीने की लम्बी बीमारी में दिसम्बर 1578 ई. में ही खाने जहाँ की मृत्यु हो गयी ।[1] खाने जहाँ की मृत्यु के पश्चात 1580 ई. के आते आते अकबर को गम्भीर विद्रोहों का सामना करना पड़ा। इन विद्रोहों का प्रारम्भ बिहार-बंगाल से हुआ, जिन पर अभी कुछ वर्ष पूर्व ही कठिन युद्धों के बाद अधिकार हो पाया था। वास्तव में इन प्रांतों में विद्रोह अकबर व उसके अधिकारियों की कुछ नीतियों के प्रति असन्तोष के फलस्वरूप उत्पन्न हुये । बदायुँनी और अबुल फजल इस असन्तोष के कारणों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि - "खाने जहाँ की मृत्यु की सूचना मिलते ही सम्राट ने 14 मार्च 1579 ई. को मुजफ्फरखान तुरबती को (जो दीवान के पद पर था) बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया और उसकी सहायता के लिए दीवान के पद पर राय पतरादास एवं मीर अधम को, बख्शी के पद पर, रज़वी खान को तथा सद्र और अमीन के पद पर हाकिम अबुल फतह जैसे अधिकारियों की भी नियुक्ति की ।"[2] अबुल फजल लिखता है कि - इसके अतिरिक्त निजावत खान, मीर जमालुद्दीन, हुसैन अंजू और अन्य प्रमुख व्यक्तियों को भी मुजफ्फर खान की सहायता के लिए चुना गया। उन्हें तरह-तरह से सम्मानित किया गया और चुने हुये घोड़े प्रदान किये गये । सम्राट द्वारा यह आदेश भी पारित किये गये कि - कुली खान, बाबा खान और जब्बारी तथा अन्य प्रमुख व्यक्ति सेना का संचालन करें ।[3]

मुजफ्फर खाँ बहुत ही उग्र स्वभाव का व्यक्ति था। निजामुद्दीन

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 381 ; स्मिथ, पृ. 190.
2. मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 275-76 ; अकबरनामा, भाग III, पृ. 385-86.
3. अकबरनामा, भाग III, पृ. 386.

लिखता है कि बंगाल पहुँचकर मुजफ्फर खाँ प्रांत को व्यवस्थित करने में जुट गया परन्तु उसके द्वारा अपनाये गये तरीकों में बहुत सख्ती थी। उसने अपने कटु शब्दों से एक ओर तो बिहार-बंगाल की जनता को नाराज कर दिया, दूसरी ओर बहुत से अमीरों की जागीरें छीन लीं और घोड़ों को दागने की प्रथा को भी अत्यधिक कठोरता से लागू किया । यद्यपि यह कार्य शाही निर्देशानुसार ही किये जा रहे थे, परन्तु स्थानीय अधिकारियों द्वारा सरकारी आदेशों को कठोर और प्रकट रूप से अत्यधिक कठोर प्रयोग के कारण बिहार और बंगाल के सामंतों व जनता में प्रचण्ड असंतोष फैल गया। इसका प्रमुख कारण शाह मंसूर (दीवान) की नीतियाँ थीं । यह शाही दीवान के रूप में अपने कार्य में अत्यधिक दक्ष था। उसने जमीन के पट्टों और अधिकार पत्रों की जाँच कराई और जो लोग अपना अधिकार प्रमाणित न कर सके, उनकी जमीनें जब्त कर ली गयीं और लगान की दरें बढ़ा दी गयीं । जागीरों का लगान बंगाल में 1/4 और बिहार में 1/3 बढ़ गया। इन नियमों के कार्यान्वित करने के फलस्वरूप आर्थिक असन्तोष तीव्र गति से फैल गया। इतना ही नहीं पूर्वी प्रान्तों में स्थित सैनिकों के स्थानीय भत्ते में हस्तक्षेप के कारण विशेष क्षोभ फैला। अकबर ने आदेश पारित किया था कि बंगाल की जलवायु खराब होने के कारण, बंगाल में स्थित सैनिकों के वेतन में शत-प्रतिशत वृद्धि कर दी जाय और जो बिहार में थे, उनके वेतन में 50 प्रतिशत वृद्धि हो, परन्तु शाह मंसूर ने अपने दायित्व पर आज्ञा दी कि इन अतिरिक्त वेतनों में क्रमशः 50 और 20 प्रतिशत की कटौती कर दी जाय। इस आज्ञा के अनुरूप नियमाधिक दे दिये गये वेतन को वापिस कर देने की विक्षोभकारी मांग की गयी ।[1] असन्तोष के इन माली कारणों के अतिरिक्त पूर्व में अशान्ति फैलने का एक

---

1. स्मिथ, पृ. 190-91.

और कारण बादशाह की धार्मिक नीति थी, क्योंकि बंगाल और बिहार के मुसलमान सम्प्रदाय अकबर की धार्मिक उच्छृंखलता और स्पष्ट रूप से इस्लाम से परामुखी होने के कारण घोर अशंकित हो गये थे । उसकी {सम्राट} नीति जो सैद्धान्तिक रूप से सार्वदेशिक सहिष्णुता {सुलह-ए-कुल} पर आधारित कही जाती थी, व्यवहार रूप में मुसलमान धर्म पर आघात होने के कारण रोषजनक प्रमाणित हुयी ।[1] उसे पैगम्बर के धर्म और नाम से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु से शीघ्र ही विषम घृणा हो गयी थी और उसने अपनी सार्वदेशिक सहिष्णुता को, इस्लाम धर्म को छोड़कर, जिसके साथ उसने बहुत अवहेलनात्मक और अत्याचार पूर्ण व्यवहार किया था, अन्य सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु बन कर कुत्सित कर दिया था। पूर्व में विद्रोहों के समय उसने सीमा इतनी लाँघी थी कि जितनी बाद में, किन्तु इस्लाम के प्रति उसने पहले ही विरोध प्रदर्शित कर दिया था और बंगाल-बिहार के अधिकारियों के पास इस आशंका के उचित कारण थे कि वह नितान्त धर्म भ्रष्ट हो जायगा। इसलिए वे भारतीय मुसलमानों के संरक्षक के रूप में काबुल में अकबर के छोटे सौतेले भाई मुहम्मद हकीम का मुँह जोहने लगे थे, और अकबर के सिंहासन पर उसे आसीन करने का षड़यन्त्र रचने लगे थे । 1580 ई. में आरम्भ में मुल्ला मुहम्मद यजदी नामक धर्मशास्त्री ने जो, अकबर के घनिष्ट सम्पर्क में रह चुका था, जौनपुर के काजी की हैसियत से धर्मादेश {फतवा} प्रसारित किया कि नवाचारी सम्राट के विरुद्ध विद्रोह करना वैध था ।[2]

---

1. स्मिथ, पृ. 191.
2. मुल्ला मुहम्मद यजदी को ब्राह्मणों तथा शेख ताजुद्दीन के साथ-साथ फतहपुर सीकरी के भवन में अकबर के साथ विश्वस्त वार्तालाप करने का सम्मान प्राप्त था। वह धर्मान्ध शिया था । -मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 65-67 ; स्मिथ, पृ. 191, फु.नो.1.

धार्मिक असन्तोष के साथ-साथ कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति विशेष कठोर व्यवहार के कारण भी असन्तोष की लहर बिहार में फैल गयी, ऐसा विश्वास किया जाता है कि स्थानीय अधिकारियों की धन-लोलुपता ने इस विद्रोह की आग में घी का काम किया ।[1] इस सम्बन्ध में बदायुँनी एक घटना क्रम का वर्णन करता हुआ लिखता है कि - बाबा काकशाल[2] जो शान्तिप्रिय व्यक्ति था और मेल-मिलाप की नीति से काम लेना चाहता था, अपनी जागीर को ज्यों की त्यों {यथावत्} बने रहने देने की प्रार्थना की थी, परन्तु उसकी किसी बात पर ध्यान नहीं दिया गया ।[3] जलेसर का परगना जो खलदी खाँ की जागीर में था, रबी की फसल शुरू होने पर उससे छीन लिया गया और शाह जमालुद्दीन हुसैन की जागीर में तनखवाह के रूप में मिला दिया गया । रबी की फसल का कुछ रुपया खलदी खाँ ने वसूल कर लिया था, जिसको प्राप्त करने के लिए मुजफ्फर खाँ ने उसको जेल में डाल दिया और आदेश दिया कि उसके शरीर और पैरों पर बेंत मारे जायें ।[4]

इसी समय शाही दरबार में एक फरमान आया और मुजफ्फर खाँ को आदेश हुआ कि मिर्जा मुहम्मद हकीम के एक प्रतिनिधि को, जिसका नाम रोशन बेग है, {यह काकशालों में से एक था} और जो काबुल से बंगाल चला गया है उसे मार डाला जाय और उसका सिर दरबार में भेजा जाय। यह चूँकि काकशालों में से एक था, मुजफ्फरखाँ ने उसे मार डालने का हुक्म दिया

---

1. स्मिथ, पृ. 190.
2. काकशाल, चगताइयों की एक कौम थी, जिसका सरदार बाबा खाँ काकशाल था.
3. मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 288-89 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ.414.
4. वही, पृ. 288-89.

और साथ ही बाबा खाँ काकशाल के लिए कटु शब्दों का प्रयोग किया। वहाँ उपस्थित बाबा खाँ एवं काकशाल सैनिकों ने यह सुनकर विद्रोह करने का निश्चय कर लिया। उन्होंने अपने सिर मुड़ा दिये, ऊँची-ऊँची टोपियाँ पहन ली और जनवरी 1580 (987 हि.) में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया।[1] इन विद्रोहियों में प्रमुख थे बंगाल के वजीर जमाल, बाबा खाँ काकशाल तथा अन्य प्रमुख व्यक्ति।[2]

विरोधियों द्वारा प्रत्यक्ष विद्रोह

सर्वप्रथम मुगलों के प्रति विद्रोह की आग काकशालों की ओर से खुले रूप में धधक उठी। बाबा खाँ और काकशाल सैनिकों ने मिलकर नदी पार की और गौड़ (लखनौती) पहुँचे। वहाँ पर सेना एकत्र कर अनेक स्थानों पर मुजफ्फर खाँ की सम्पत्ति को या तो स्वयं ले लिया या नष्ट कर दिया। यह सुनते ही मुजफ्फर खाँ ने नावें इकट्ठी कीं और हाकिम अबुल फतह[3] और पतरदास को जो (हिन्दी) कारकुन था, एक सेना देकर इन विद्रोहियों के विरुद्ध रवाना किया।[4]

जब बादशाह को पता चला कि काकशालों में उसकी नीति के प्रति असन्तोष है तो उसने मुजफ्फर खाँ के पास, उनके साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करने तथा उन्हें अपने पक्षमें करने का व उनके जागीरों की समस्या सुलझाने का फरमान भेजा। जब तक ये फरमान मुजफ्फर खाँ के पास पहुँचे, वह काक

---

1. मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 289.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 417,428.
3. एक अच्छे योद्धा की अपेक्षा अबुल फतह को बदायूँनी शराबी की श्रेणी में रखता है। वह लिखता है कि वह एक शराबी व्यक्ति था, उसमें योद्धा के गुणों का अभाव था. -मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 289.
4. वही, इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ.414.

शाल के विद्रोहों का सामना कर रहा था, परिणामस्वरूप इस फरमान का कोई फल न निकला ।

मुगल जहाँ एक ओर बंगाल के इस विद्रोह को शांत करने में व्यस्त थे, वहीं दूसरी ओर इसी समय बिहार में भी {1580 ई. में} विद्रोहाग्नि तीव्र गति से प्रज्वलित हो उठी। यद्यपि यह विद्रोह दोनों स्थानों पर साथ-साथ आरम्भ हुआ था, परन्तु बिहार में यह बंगाल से पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था, अन्तर केवल इतना था कि बंगाल की तरह बिहार के विद्रोह का स्वरूप आक्रमणात्मक न होकर विद्रोहात्मक ही रहा । अकबर की नीतियों के कारण इस सूबे में बहुत समय से ही असन्तोष भड़क रहा था, परन्तु इस भड़कती हुयी आग में बिहार के अधिकारियों की धन-लोलुपता ने घी का काम किया। बिहार और हाजीपुर के अधिकारी दीवान मुल्ला तैय्यब, बख्शी राय पुरुषोत्तम दास, सैय्यद मुजाउद्दीन और शमशेर खान {राज कोषाध्यक्ष} जिन्हें मार्च 1580 ई. में बिहार को व्यवस्थित करने के लिए भेजा गया था, इन्होंने सावधानी तथा युक्ति से कार्य करने के बजाय घोड़े दागने तथा सैनिक निरीक्षण सम्बन्धी नियमों को कठोरता से कार्यान्वित करना तथा लूटपाट करना शुरू कर दिया ।[1] इसी समय जौनपुर के काजी मुल्ला मुहम्मद-यजदी ने यह घोषित करते हुए फतवा दिया कि "अकबर इस्लाम से बहक गया है, और उसने अपने साम्राज्य में हमारी और खुदा की माफी की जमीनों पर अतिक्रमण कर दिया है", इसलिए सब मुसलमानों का कर्तव्य है कि उसके विरुद्ध अस्त्र उठा लें । नतीजा यह हुआ कि काबुल के मिर्जा

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 418.

हकीम के एक प्रतिनिधि पटना के मासूम खाँ काबुली[1] (यह मिर्जा हकीम का धाय भाई था) के नेतृत्व में बिहार के अधिकांश जागीरदारों तथा अधिकारियों ने विद्रोह का झण्डा ऊँचा कर दिया, इनमें सासाराम के जागीरदार सैयद बेग बदख्शी और अरब बहादुर, तामोदियन[2] परगने का सहादतअली तिरहुत के सईद बदख्शी और उसका पुत्र बहादुर और दरविशअली शाहवरू तथा अन्य पड़ोसी जागीरदार भी शामिल थे। इनके अतिरिक्त निम्न अधिकारियों, जैसे - हाजीपुर के जागीरदार शाहिमखान, मीर मुइजुलमुल्क, मीर अली अकबर और आरा के समान जी खान व निकटवर्ती जिलों के लोगों ने भी विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया।[3] सूबेदार मुहीब अली खान (रोहतास) ने अपनी राजभक्ति का परिचय देते हुये इस उपद्रव की स्थिति से निपटने के लिए सर्वप्रथम पटना के विरोधियों के विरुद्ध कार्यवाही करने का निश्चय किया और विद्रोह के प्रमुख नेता मासूम खाँ काबुली सहित कुछ दूसरे विरोधी अधिकारियों का तबादला पटना से रोहतास के समीप मुहिब्बलीपुर कर दिया और घोड़ों को दागने और सैनिकों के निरीक्षण से सम्बन्धित नियमों को कार्यान्वित करने के उपाय किये, परन्तु उसके कुछ अधिकारियों ने धृष्टतापूर्ण व्यवहार किया और उसके प्रति विद्रोह का रूख प्रदर्शित किया। इसी समय (987 हि०) बंगाल के सूबेदार मुजफ्फर - खाँ द्वारा दरबार की ओर भेजा गया खाने जहाँ की धन सम्पत्ति व हाथी सहित राजकीय खजानें का काफिला, फतेह चंद मानकली की देखरेख में जाते

---

1. मासूम खाँ काबुली मिर्जा हकीम का धाय भाई और बहुत ही वीर सैनिक था। काबुल से आने पर उसे 500 का मनसबदार नियुक्त कर बिहार भेजा गया था, जहाँ उसने काला पहाड़ (अफगान) से युद्ध किया था और विजयी हुआ था। उसकी तब पदोन्नति कर सम्राट ने उसे 1000 का मनसबदार बनाया था. - मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 273-74.
2. वर्तमान समय में इस स्थान का पता नहीं चलता.
3. अकबरनामा, भाग III, पृ. 419.

हुये आरा पहुँचा। मुजफ्फर खाँ द्वारा भेजी गयी बंगाल की नगद माल-गुजारी और दाऊद की माता नौलखा तथा कुछ अन्य स्त्रियाँ भी इस काफिले के साथ थीं। विद्रोहियों ने इस काफिले पर आक्रमण करने का षड्यन्त्र किया पर वे अपनी योजना कार्यान्वित न कर सके, क्योंकि मुहीब-अली खाँ ने समय से उसकी सुरक्षा का प्रबन्ध कर दिया।[1] इस बीच दुष्टता करने वालों ने शर्म का पर्दा उठा दिया और पटना शहर को लूटा। मुहीब-अली खाँ तैय्यब अली के साथ शीघ्रतापूर्वक रोहतास की ओर कूच किया और किले को देखभाल के लिए मुईजुद्दीन को छोड़ा। राय पुरुषोत्तम गाजीपुर जिले को विद्रोहियों के हाथ में पड़ने से बचाने के लिए उस ओर अग्रसर हुआ। मासूम खाँ फरनखुदी (जौनपुर का गवर्नर) इन विद्रोहियों का नेतृत्व कर रहा था, तभी शमशेर खाँ भी बनारस में फैले विद्रोह का दमन करने के लिए चल पड़ा। अवसर देखकर विद्रोही सरदार अरब बहादुर ने राज खजाने के काफिलों का पीछा करने का प्रयास किया। पर भाग्य से वह चौसा के मार्ग से सुरक्षित पार हो गया और अरब बहादुर के हाथों सिवाय थोड़े हाथियों के कुछ भी प्राप्त नहीं हो सका। हब्शखान ने वफा-दारी का परिचय दिया, परन्तु विद्रोहियों द्वारा बन्दी बना लिया गया। किसी प्रकार वह विद्रोहियों के चंगुल से बचकर रोहतास गढ़ में मुहीब अली के साथ शामिल हो गया। लगभग इसी समय राय पुरुषोत्तम गाजी-पुर पहुँच गया। जब वह गाजीपुर पहुँचा मासूम खाँ फरनखुदी आगे आया और उसे फुसलाकर चौसा ले आया, दिमाग में किसी प्रकार का छल-कपट जैसी भावना का सन्देह न होने के कारण वह चौसा चला गया और बक्सर के निकट अरब बहादुर उस पर टूट पड़ा। राय पुरुषोत्तम घायल हो गया। परिणाम स्वरूप उसे बन्दी बनाकर गाजीपुर लाया गया और वहाँ उसने

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 420-21.

(अरब बहादुर ने) उसे मरवा डाला। रोहतास का सूबेदार मुहीब अली यह समाचार पाकर अरब बहादुर के विरुद्ध कूच किया और उसे पराजित कर भगा दिया ।[1]

विद्रोह दमन हेतु अकबर द्वारा अधिकारियों की नियुक्ति

जब उपर्युक्त विद्रोह के समाचार फतेहपुर में (फरवरी 1580 ई.) अकबर के पास पहुँचे तो उसने बिहार के विद्रोहियों के दमन हेतु राजा टोडरमल के अधीन एक सेना रवाना की और नासमझी के लिए सूबेदार की निन्दा करते हुये सुलहकारी आदेश प्रसारित कर असन्तोष के कारणों को हटाने का प्रयत्न किया ।[2] सैयद, फरीद बख्शी, मिहिर अली खान, सिल्दौज, राजा आसकरन, राय लूनकरण, नकीबखान, कुमार खान, शाह-ख्वाजा अबुल कासिम, अबुलमाली, बाकीर सफर्री और अन्य प्रमुख अधिका-रियों जैसे तारसन खान, मासूमखान फरनखुदी[3], गाजीखाँ बदख्शी, राय सुरजान आदि को सेना के साथ सम्मिलित होने और टोडरमल एवं तार-सुन खाँ के निर्देशों को मानने के आदेश भेजे गये ।[4] चंदेरी और नरवर के सादिक खाँ, बागी खाँ, उलुग खाँ हब्शी, तैय्यब खाँ और मीर अबुल-मुजफ्फर को भी शीघ्रता से बिहार कूच करने के आदेश मिले । इसी समय बादशाह ने काजी अली बागदादी को सेना का पुनर्गठन करने के निर्देशों सहित मीर बख्शी के पद पर नियुक्त कर दिया ।[5] सम्भवतः अकबर अब पूर्व की ओर से पूर्णतया निश्चिन्त हो गया था ।

---

1. मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 289 ; तबकाते अकबरी, भाग II, पृ. 349-50.
2. स्मिथ, पृ. 192.
3. बदायूँनी लिखता है कि मासूम खान फरनखुदी 3 हजार सवारों सहित राजा टोडरमल के साथ शामिल हुआ. -मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 291.
4. अकबरनामा, भाग III, पृ. 422.
5. वही, पृ. 422-23.

मुगल गवर्नर मुजफ्फर खाँ का अन्त और विद्रोहियों का बिहार-बंगाल में स्थापित होना

यद्यपि अकबर बिहार-बंगाल के विद्रोहों को शांत करने के लिए योग्य अधिकारियों की नियुक्ति कर पूर्व की ओर से पूर्णतया निश्चिन्त हो गया था, परन्तु यह विद्रोह शीघ्र ही शांत न हो सका।

मुजफ्फर खाँ द्वारा चगताइयों के शक्तिशाली फिरके के सरदार बाबा खाँ काकशाल के लिए अपमानजनक शब्दों का प्रयोग किये जाने के कारण क्रुद्ध समूचा काकशाल फिरका सशस्त्र हो गौड़ पर धावा बोल दिया और मुजफ्फर खाँ की बहुत सी सम्पत्ति व सामान हस्तगत कर लिये। बिहार के मासूम खाँ काबुली (काबुल का था), अरब बहादुर व अन्य और लोग भी जो मुजफ्फर खाँ से असन्तुष्ट थे, बाबा खाँ के साथ शामिल हो गये, जिससे विद्रोह को और बल मिला।[1] मुजफ्फर खाँ द्वारा अकबर के आदेशानुसार काकशालों से सन्धि का प्रस्ताव रखे जाने का भी कोई प्रतिफल न निकला, परिणाम स्वरूप बंगाल-बिहार के संयुक्त विद्रोहियों ने मुजफ्फरखाँ को (जो भयभीत हो टांडा के दुर्ग में छिप गया था) टांडा में घेर लिया। मुजफ्फर खाँ भयभीत हो उठा, उसकी भीरुता के कारण विद्रोही नगर में घुसने में सफल हो गये और मुजफ्फर खाँ को बंदी बनाकर अनेक यात्रणाओं के साथ 19 अप्रैल, 1580 ई. को उसे मौत के घाट उतार दिया।[2] प्रमुख अधिकारियों में केवल हकीम अबुल फतेह, ख्वाजा शमसुद्दीन

---

1. निजामुद्दीन अहमद : तबकाते-अकबरी ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 414.

2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 442-449 ; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 290 ; स्मिथ, पृ. 192 ; सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 197.

और रायतिपुरदास ही बचकर सुरक्षित रूप से बिहार में हाजीपुर पहुँच सके। विजयी विद्रोहियों ने मिर्जा हकीम (अकबर का भाई) को अपना शासक घोषित कर दिया और उसके नाम का खुतबा पढ़ा ।[1] बंगाल-बिहार का अधिकांश क्षेत्र, लगभग 30 हजार घोड़े विद्रोहियों के हाथ लगे ।[2]

बंगाल-बिहार पर अपनी विजय हासिल कर लेने के पश्चात् विद्रोहियों ने आपस में उपाधियाँ एवं क्षेत्रों का वितरण प्रारम्भ कर दिया। उनमें से प्रत्येक को किसी न किसी प्रकार का सम्मान अवश्य प्राप्त हुआ। अबुल-फजल उनके नामों व उपाधियों का विवरण देते हुये लिखता है कि - "मासूम खाँ वकील बनाया गया और खान दौरान की उपाधि से सम्मानित किया गया, बाबा काकशाल को खानखाना की उपाधि से सम्मानित किया गया और उसे बंगाल की सरकार दी गयी । जब्बारी खाने जहाँ की उपाधि से सम्मानित हुआ और 10 हजार का मनसबदार बनाया गया। अरब बहादुर को उसकी अनुपस्थिति में शुजात खान की उपाधि दी गयी, सईद खान तुकबाई को खान की उपाधि से सम्मानित किया गया और उसे 1500 का मनसबदार बनाया गया। उनमें से प्रत्येक को जागीरें भी प्रदान की गयीं। हाजीलंग, तैमूरताश, अजीज दस्तान बेग, मुहम्मद तुकबई, मुहम्मद कुली तुर्कमान, अब्दुल्ला बेग बदख्शी, अली कासिम वरलास, एवाज बहादुर, मिर्जा अरब, दोस्त मुहम्मद तोलक्ची, मुराद काकशाल, ताशबेग, खुदा वर्दी, गजन फार बेग, आदि को 1 हजार का मनसब प्रदान किया गया और खान की उपाधि से विभूषित किया गया। कुछ लोगों जैसे मुहम्मद बेग, कुरान बेग, लतीफ हुसैन, यारबेग मुहम्मद, शेरम बहादुर आदि खान की उपाधि से

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 442-49 ; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 290.
2. तबकाते-अकबरी, भाग II, पृ. 350-51.

विभूषित हुये और 500 का मनसब दिया गया । मिर्जा हकीम के नाम का खुतबा पढ़ा गया ।[1]

उपाधियाँ तथा अत्यधिक मात्रा में स्वर्ण प्राप्त हो जाने के कारण मद में चूर, व दुर्भावनाओं को लिये ये मुगलों के विरुद्ध बढ़ने लगे । यद्यपि देखने में तो इनका नेता शरफुद्दीन प्रतीत हो रहा था, पर वास्तविक रूप में इसके प्रमुख नेता बाबा खाँ काकशाल और मासूम काबुली ही थे ।[2]

बिहार-बंगाल पर पुनः मुगल आधिपत्य

इसी समय बिहार में भी मुगल विरोधी अपना सिर उठा रहे थे । अरब बहादुर जो तिरहुत के करोड़ी सैयद बदख्शी[3] का पुत्र था, राजा की उपाधि धारण कर ली और तिरहुत से हाजीपुर तक के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। मुहीब अली खाँ ने कुछ दिनों के युद्ध के पश्चात् अरब बहादुर को पराजित कर दिया और पटना पर अधिकार कर लिया। जौनपुर में भी, तरसुन खाँ, सादिक खाँ, गाजी खाँ और उलुग खाँ के प्रयत्नों से विद्रोहियों के विरुद्ध सफलता प्राप्त हुयी । इस प्रारम्भिक सफलता के पश्चात् टोडरमल तथा दूसरे अधिकारी बिहार की ओर वहाँ के विद्रोहियों का मुकाबला करने बढ़े । जब वे गंगा पार कर तट पर पहुँचे तब उन्हें मुजफ्फर खाँ के वध और बंगाल हाथ से निकल जाने के समाचार मिले। इन समाचारों के प्राप्त होने पर न रूकते हुये वे आगे की ओर अग्रसर होते रहे और मुहीब्ब अली खाँ, शाहम खाँ, समन जी खाँ और बाकी कोलाबी के नेतृत्व में बिहार की सेना उनसे आ मिली ।

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 449-50.
2. वही, पृ. 451.
3. जब बिहार के अधिकारियों ने अपना सिर उठाया तो अपने पुत्र को तिरहुत छोड़कर उनके साथ शामिल हो गया। -वही, पृ. 451.

संयुक्त सेनाओं की एक बैठक पटना के समीप हुयी और विद्रोहियों का जमकर मुकाबला करने का निश्चय किया। शाही सैनिक हथियारों से लैस होकर युद्ध की पूर्ण तैयारी की अवस्था में बराबर आगे बढ़ते रहे । अरब बहादुर और हबीब के अधीन विद्रोही दल शाही सेना के आगमन की सूचना पाकर पटना की ओर पीछे हट गया। शाही सेना (7th Khurdad) को मुंगेर पहुँच गयी और मुंगेर का घेरा डाला। मासूम खाँ फरनखुदी जो मुगलों के साथ तो था पर आन्तरिक रूप से वह मुगल विरोधी था और विद्रोहियों से मिला हुआ था। वह मुगल सेना के हरावल में रखा गया था, फलतः सुअवसर देख मासूम खाँ फरनखुदी ने मुगल सेना के वास्तविक नेता टोडरमल को सेना के निरीक्षण के समय मार डालने का षड्यन्त्र रचा लेकिन षड्यन्त्र की खबर फूट निकली और टोडरमल ने मासूम खाँ फरनखुदी के प्रति किसी प्रकार का सन्देह प्रकट किये बिना ही सैन्य निरीक्षण के समय उपस्थित होना नम्रता पूर्वक अस्वीकार कर दिया। इस बीच में बंगाल के विद्रोही शाही सेना से निपटने हेतु बिहार की ओर अग्रसर हो रहे थे । उन्होंने तेलियागढ़ी के दर्रे को भी पार कर लिया और मुगलों से मुठभेड़ भी की । टोडरमल ने स्वयं को मुंगेर के किले में बन्द कर लिया और मजबूती से उसकी मोर्चा बन्दी कर ली । विद्रोहियों ने (मासूम खान काबुली, मिर्जा शरफुद्दीन हुसैन और काकशालों ने) टोडरमल को मुंगेर में घेर लिया। इस समय तक उनकी सैन्य शक्ति काफी बढ़ गयी थी । उनकी संख्या बढ़कर 30,000 घुड़सवार, 500 हाथी, बड़ा तोपखाना तथा नावों का एक बेड़ा था। कुछ माह तक मुंगेर के किले का घेरा चलता रहा। स्थिति इतनी गम्भीर हो गयी कि टोडरमल के बहुत से अधिकारी और तरखान दीवाना, हुमायूँ फारमुली एवं शाह दीवाना के नेतृत्व में बहुत से

सैनिक उसे छोड़कर शत्रु से जा मिले ।[1] बदायूँनी लिखता है कि - "जिस समय मुंगेर का यह घेरा चल रहा था, बाबा खान काकशाल अचानक बीमार पड़ गया और मौत के कगार पर खड़ा था। बाबाखान की इस बीमारी की वजह से, जब्बारी खाँ का झुकाव इस ओर से हट गया। परिणामस्वरूप उक्त संयुक्तता (एकता) की मजबूती टूटनी प्रारम्भ हो गयी। मासूम खान काबुली शीघ्रतापूर्वक बिहार की ओर कूच करने के लिए प्रेरित हुआ और अरब बहादुर पटना को घेरने तथा शाही कोष को अपने हाथों में लेने के लिए सेना सहित कूच किया। पहाड़ खान ने जो सामान्यतया सईद आरिफ के नाम से जाना जाता था, अपने आपको पटना के दुर्ग में बन्द कर लिया। राजा टोडरमल ने मासूम खान फरनखुदी को पहाड़ खान की सहायता के लिए सेना के एक दल के साथ भेजा। अरब बहादुर शाही सेना के सामने टिक न सका ।[2]

राजा टोडरमल और सादिक खान ने, अमीरों के सहयोग से मासूम खाँ काबुली को दबाने के उद्देश्य से बिहार की ओर कूच किया । मासूम खाँ काबुली ने अचानक रात्रि में सादिक खान पर धावा बोल दिया। तरमाह बेग जिसे सुरक्षा का भार सौंपा गया था, मारा गया। उलुग खान पीछे की ओर हट गया परन्तु उसी समय सादिक खान स्वयं वहाँ उपस्थित हो गया। मासूम खान काबुली व मुगलों के मध्य संघर्ष में मासूम खान ने अत्यधिक वीरता का परिचय दिया, अपनी विजय हेतु उसने हर सम्भव प्रयास किये परन्तु मुगलों के आगे अपने को असमर्थ पाकर वह वहाँ से पलायित हो गया और लूट-पाट करना प्रारम्भ कर दिया। मुगलों द्वारा उसका पीछा किये

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 451-54 ; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 290-91 .(बदायूँनी शाह दीवाना का नाम उल्लेख नहीं करता) ; तबकाते अकबरी, भाग II, पृ. 351-52.
2. मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 291-92.

जाने के कारण वह अन्ततः उड़ीसा के जमींदार आईसा खाँ की शरण में जाने के लिए बाध्य हुआ। आईसा खाँ ने सैयदखान मुगल के द्वारा 250 हाथी, अन्य बहुमूल्य भेंटें, लगभग 4 लाख रुपये, सोना, बहुमूल्य लकड़ी के सामान, उत्तम मलमल व सिल्क के कपड़े आदि दरबार में भेजे और स्वयं वह वहीं रुका रहा। इस प्रकार बिहार का पूरा प्रांत व गढ़ी तक का क्षेत्र मुगलों के अधिकार क्षेत्र में आ गया।[1]

बंगाल के सूबेदार के रूप में मिर्जा अजीज कोका द्वारा पूर्व की ओर प्रस्थान

वस्तुस्थिति से अवगत होने पर सम्राट ने पूर्व से विद्रोहियों का पूर्णतया मूलोच्छेदन करने के उद्देश्य से मिर्जा अजीज कोका को 5,000 का मनसब प्रदान कर और खाने आजम की उपाधि (1580 ई॰में हि॰ 988) से विभूषित कर 5,000 सवारों की एक शक्तिशाली सेना के साथ, टोडरमल की सहायता के लिए, बंगाल के सूबेदार के रूप में आगरे से पूर्वी प्रांतों के पुनर्विजय का दायित्व सौंपा।[2] उसकी सहायता के लिए सईद अब्दुल्ला-खाँ, कासिम खान, मीर जाता अली खाँ, इशाक खान, मुख्तार बेग, यूनान बेग, सिकन्दर ककनी, हैदर दोस्त, कादिर अली, उस्ता जकारिया,

---

1. मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ॰ 292॰
2. इस विषय में इतिहासकारों के लेखों में मतभेद है कि वह बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया गया था या बिहार का अथवा पूरे पूर्वी प्रांत का भार उसके ऊपर था। अबुल फजल , अकबरनामा, भाग III, पृ॰ 454 में पूर्वी प्रांत लिखता है ; बदायूँनी : मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ॰ 293 में बंगाल लिखता है ; स्मिथ भी पृ॰ 193 पर बंगाल लिखता है, पर निजामुद्दीन अहमद, इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ॰ 419 में बिहार लिखता है ॰

कम्बर सहारी और अन्य लोगों को भी भेजा गया। इन्हें घोड़े एवं खिल्लत से सम्मानित किया गया ।[1] सम्राट ने मेवाड़ से शाहबाज खान को भी बुलवा-कर अगस्त 1580 के लगभग, पूर्वी प्रान्तों की ओर भेजा। इसके कुछ ही दिनों पश्चात् उसने बाबुई मानकुली, शाहिम खाँ सरमूर और अन्य प्रमुख व्यक्तियों के अधीन और अधिक सैनिक सहायता भेजी। इस प्रकार की किसी भी सहायता के पहुँचने से पूर्व ही विद्रोही घेरे में फँसे {मुंगेर के घेरे में} लोगों की रसद काट देने की चेष्टा कर चुके थे और मिर्जा शर्फुद्दीन और मासूम खाँ फरनखुदी ने पटना से मुंगेर जाने वाले स्थानीय भागों पर अधिकार करने की चेष्टा की पर उन्हें निराश लौटना पड़ा, क्योंकि मुगलों ने युद्ध सामग्री से लदे उनके 300 नावों के बेड़े पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया था। ऐतिहासिक तथ्यों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय तक विद्रोह की तीव्रता में कमी आने लगी थी, क्योंकि अकबर ने असन्तुष्ट लोगों को संतुष्ट करने के लिए अपने दीवान शाह मंसूर को पदच्युत कर दिया था और उसके स्थान पर वजीर खाँ को दीवान नियुक्त किया था।[2] शाह मंसूर के दुर्व्यवहार के कारण जनता में उसके प्रति रोष व्याप्त था। इसका प्रमुख कारण था, उसमें सहृदयता, सहनशीलता, सूक्ष्म दृष्टि, सूक्ष्म बुद्धि, और युक्तिपूर्ण मंत्री की दूरदर्शिता जैसे गुणों का अभाव । इसके अलावा राजकीय कर की वसूली में वह अत्यधिक कठोर नीति अपनाता था। यहाँ तक कि बंगाल बिहार के सैनिकों का वेतन जिसे अकबर ने बढ़ाकर 100 प्रतिशत कर दिया था, उसे उसने घटाकर 50 प्रतिशत कर दिया था। अतः अकबर ने उसे शाहकुली महराम की देखरेख में नज़रबन्द कर दिया।

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 454.

2. स्मिथ, पृ. 193.

शाह मंसूर के प्रति अकबर द्वारा अपनायी गयी इस नीति से अधिकारी वर्ग में, जो शाह मंसूर की धन वसूली से असन्तुष्ट था, सन्तोष की लहर दौड़ गयी और विद्रोह के कम हो जाने की आशंका व्यक्त की जाने लगी ।[1] अबुल फजल लिखता है कि - मुंगेर का घेरा अभी समाप्त नहीं हुआ था। दो माह[2] के घेरे के पश्चात् मुगल सेना के सहायतार्थ अजीज कोका और शाहबाजखाँ के सेना सहित आगमन की सूचना पाकर विद्रोही अपना साहस खो बैठे और 25 जुलाई 1580 ई. को उनके पहुँचने के पूर्व ही मुंगेर का घेरा उठा लिया और पीछे हटने लगे ।[3] वह आगे लिखता है कि - मुगलों ने इस नीति को अपने विरुद्ध एक चाल समझी, इतना ही नहीं उन्हें {मुगल} उनकी क्षीण होती शक्ति पर भी विश्वास नहीं रहा, परिणामस्वरूप वे उनका पीछा करने की दृष्टि से किले के बाहर नहीं निकले, परन्तु जब उन्हें वास्तविकता का पता चला तो दूसरे दिन किले से बाहर निकलकर सावधानी पूर्वक आगे बढ़ने लगे । बिहार के पहाड़ी क्षेत्र से 1200 सवारों के साथ, शमसुद्दीन के आ जाने के कारण मुगलों की शक्ति एवं साहस में वृद्धि हुयी ।[4]

मुगलों की इस प्रकार बढ़ती हुयी शक्ति को देखकर शरफुद्दीन-हुसैन और जब्बारी तथा अन्य विरोधी बंगाल की ओर चले गये । मासूम-खाँ काबुली तथा अन्य विद्रोही व्यक्ति गिधौर के जमींदार के संरक्षण

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 461, 63 ; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 295-96 ; तबकाते-अकबरी, भाग II, पृ. 353-55.
2. स्मिथ, 4 माह लिखता है, पृ. 193.
3. अकबरनामा, भाग III, पृ. 468.
4. वही.

में बिहार की ओर गये । अरब बहादुर और तारखान का पुत्र नोरम तथा अन्य ने लूटपाट का कार्य प्रारम्भ किया, परन्तु शीघ्र ही इसकी खबर लग गयी । मुंगेर में टोडरमल की घिरी सेना के लिए फतेहपुर से अकबर द्वारा भेजा गया, चौधरी कृष्ण के नेतृत्व में कोष का काफिला, जो मुंगेर आ रहा था, अरब बहादुर तथा उसके साथियों ने इसे लूटने का प्रयास किया पर यह सूचना मिलते ही कृष्ण चौधरी अपनी सुरक्षा हेतु शीघ्र ही कोष सहित पटना के दुर्ग में शरण लेने को बाध्य हुआ। विद्रोहियों ने तुरन्त पटना को घेर लिया। इसी बीच मुंगेर का घेरा उठ जाने के कारण इस स्थिति (पटना का घेरा) से अवगत हो टोडरमल मासूम खाँ का पीछा न कर मुंगेर से पटना की ओर कूच किया और घेरा डाले हुये विद्रोही अरब बहादुर को बुरी तरह पराजित कर पटना के किले तथा धन सम्पदा को अपने अधिकृत कर लिया। मासूम खाँ फरनखुदी भी बहादुर खाँ से, जिसने राजा का खिताब लेकर, तिरहुत से हाजीपुर तक के विस्तृत प्रदेश पर अधिकार जमा लिया था, हाजीपुर का किला और नगर छीनकर अपने अधिकृत कर लिया ।[1]

मासूम खाँ काबुली और टोडरमल के मध्य संघर्ष (सितम्बर 1580)

मुंगेर, पटना तथा हाजीपुर पर क्रमशः मुगल आधिपत्य स्थापित हो जाने के पश्चात् अब टोडरमल के समक्ष प्रमुख प्रश्न विद्रोही नेता मासूम-खाँ काबुली के विरुद्ध कार्यवाही का था। उसे इससे निपटने का उचित अवसर भी प्राप्त था। मासूम खाँ अपने को मुंगेर पर अधिकार करने में असफल पाकर, इस समय मुगल सेना के सामने से हटकर दक्षिण की ओर कूच किया और हाजीपुर की पहाड़ियों की ओर अग्रसर हो रहा था। यही उचित अवसर था, जबकि टोडरमल अपनी सैन्य शक्ति के बल पर उसको शक्तिहीन कर सकता

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 470-71.

था, फलतः उसके विरुद्ध उचित कार्यवाही का निश्चय कर टोडरमल सेना-सहित मासूम खाँ काबुली की ओर उन्मुख हुआ। अबुल फजल लिखता है कि - लगातार बादल और वर्षा के कारण उन्होंने पुनपुन नदी के किनारे अपना खेमा लगाया। जब बरसात थोड़ी कम हुयी मुगल सेना अपने कर्तव्य के पथ पर पुनः अग्रसर हुयी । विद्रोही दल बिहार से बाहर निकलकर उत्तरी पर्वतीय प्रदेश की ओर बढ़ा। सितम्बर 1580 ई. के अन्त में विद्रोही सेना ने गया में, इसके पश्चात् बहीरा[1] नामक समृद्धशाली नगर में प्रवेश किया। दूसरे दिन शाही सेना ने भी चार कोस की यात्रा कर विरोधियों के सम्मुख खेमा लगाने का प्रयास किया, परन्तु अत्यधिक जल के कारण शाही सेना खेमा न डाल सकी । यद्यपि बरसात का महीना (सितम्बर 1580 ई.) होने के कारण प्रदेश जल प्लावित था, फिर भी राजा टोडरमल और सादिक खान ने हिम्मत न हारी और विरोधियों का सामना करने के लिए उद्यत रहे ।[2] उलुग खाँ हब्शी और उसकी सेना को रात्रि की पहरेदारी का भार सौंपा गया, परन्तु वह स्वयं अपने इस दायित्व से विमुख हो रात्रि की सुरक्षा का भार अपने कुछ अचेत सिपाहियों को सौंप कर विरोधियों की ओर से निश्चिन्त (बेखबर) सोता रहा। मुगल सेनानायक को अपनी ओर से बेखबर व उनकी धीमी प्रक्रिया को देखकर विरोधियों में पुनः आशा की किरण जाग उठी और उन्होंने सुअवसर देख मुगलों पर अचानक आक्रमण करने का निश्चय किया। शत्रु पक्ष यह अच्छी तरह जानता था

---

1. वर्तमान समय में इस नाम का कोई स्थान नहीं मिलता। बीग्स का अनुमान है कि यह स्थल शरगीटी है जिसका सही नाम शहरघाटी है। घाट अथवा पर्वतीय मार्ग छोटा नागपुर के पठार से लेकर बिहार के मैदानी क्षेत्रों तक फैले हुये हैं। इनके ही तलहटी में यह विस्तृत और विख्यात नगर शहरघाटी बसा हुआ है ।-बीग्स, जे.ए.एस.बी., 1885, भाग 1, पृ. 169.

2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 473-74.

कि दिन में वह मुगलों का सामना करने में सक्षम नहीं है, इसलिए रात्रि में ही आक्रमक कार्यवाही करना उचित समझा।

जब एक पहर रात्रि व्यतीत हो गयी तो विद्रोहियों ने एक विशाल सेना के साथ मासूम खाँ के नेतृत्व में मुगलों पर अचानक हमला कर दिया। उन्होंने मुगल अग्रगामी दस्ते को पराजित किया। माह बेग अपने सैनिकों सहित मारा गया। बहुत से शाही सैनिक घायल भी हुये, परन्तु ईश्वर की अनुकम्पा से वे गम्भीर रूप से घायल नहीं हुये, वीरता पूर्वक लड़ते रहे, परिणामस्वरूप विजयश्री मुगलों के हाथ लगी। यद्यपि मासूम खाँ काबुली की छावनी मुगलों से केवल 3 कोस (6 मील) कीदूरी पर ही थी, परन्तु फिर भी मुगलों ने उसका पीछा नहीं किया।[1]

मासूम खाँ काबुली के अधीन विद्रोही मुगलों का सामना करने में अपने को असमर्थ पाकर अन्ततः बंगाल की ओर भाग गये। मासूम खाँ काबुली की पराजय के पश्चात् अब मुगलों की ओर से बिहार में विद्रोहियों को चुन-चुन कर समाप्त कर देने और पुनः बिहार को सुव्यवस्थित करने के प्रयत्न किये जाने लगे। मुहीब अली खान की देख रेख में बहीरा से लेकर रोहतास तक का क्षेत्र सौंपा गया। अरब बहादुर शाहबाज खान के द्वारा पराजित किया गया। मासूम खान फरनखुदी जिसने जौनपुर का झण्डा ऊँचा कर रखा था, को समाप्त करने के लिए तारसन खान को जौनपुर भेजा गया। सादिक खान, सईद फरीद बुखारी, उलुग खान हब्शी, तैयब खान आदि प्रमुख अधिकारियों को मुंगेर के प्रदेश को विद्रोहियों से रिक्त रखने के लिए

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 473-74.

भेजा गया। टोडरमल और अजीजकोका ‖खाने आजम‖ व अन्य अधिकारी पटना और हाजीपुर की ओर अग्रसर हुये । हाजीपुर को अधिकृत कर लेने के पश्चात् ये तिरहुत की ओर बढ़े । बहादुर खाँ ने इनके साथ युद्ध किया और पराजित हुआ। उसके आवास एवं परिवार पर भी मुगलों का आधिपत्य स्थापित हो गया। इन सब विजयों को हासिल कर लेने के पश्चात् शाहबाज खान जौनपुर वापस लौट आया।[1]

अकबर के प्रयासों द्वारा बिहार शान्ति का प्रमुख स्थल

आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव की मान्यता है कि - "बिहार बंगाल के बहुत से भागों पर मुगलों का आधिपत्य स्थापित हो जाने के बाद इन प्रांतों में उभरते हुये विद्रोह का दमन अब केवल समय की बात रह गयी थी । अकबर ने इसे स्थानीय विद्रोह से अधिक महत्व नहीं दिया ।[2] मिर्जा हाकीम के विरुद्ध अभियान से लौटने के पश्चात् सम्राट ने मार्च 1582 ई. में खाने आजम को बंगाल-बिहार के मूलोच्छेदन का भार सौंपा और उसकी सहायता के लिए तरसुन खाँ, शाहिम खाँ, शाहकुली खाँ, महराम शेख, फरीद, मुहीब अली और दूसरे अधिकारियों को भेजा, क्योंकि खाने आजम की अनुपस्थिति ‖यह मिर्जा हकीम के विरुद्ध अभियान में अकबर के साथ व्यस्त था‖ का लाभ उठाकर बंगाल के विद्रोही खाबिता, जब्बारी तथा तरखन दीवाना ने हाजीपुर तथा कुछ अन्य स्थलों पर अधिकार कर लिया था । मासूम खाँ-

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 475-77.
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान्, भाग 1, पृ. 286.

काबुली पुनः मुगलों के विरुद्ध बहादुर करह और कतलू नूहानी अफगान की सहायता के लिए टांडा की ओर बढ़ आया था। स्थानीय अधिकारियों ने पटना के समीप कई युद्ध किये, जिनमें से एक युद्ध में विद्रोही नेता खाबिता मारा गया और मुगलों ने संख्या[1] में कम होते हुये भी विजय प्राप्त की (1582 अप्रैल)। खाबिता का सिर फतेहपुर सीकरी बादशाह के पास भेज दिया गया ।[2] जब अजीज कोका जौनपुर पहुँचा, उसे सूचना मिली कि विद्रोही नेता नूर मुहम्मद सारन, बंगाल से बिहार में आकर अक्टूबर 1582 ई. में ख्वाजा अब्दुल्ल गफ्फर से मिल गया है और इन्होंने मिलकर सारन को बुरी तरह लूटा है। यह सूचना मिलते ही अक्टूबर 1582 में खाने-आजम मुगल सेना सहित इन विरोधियों से युद्ध का निश्चय कर बिहार में प्रवेश किया। विद्रोही यह सूचना प्राप्त कर तिरहुत की ओर से पुनः बंगाल पलायित हो गये । रास्ते में भागते हुये अब्दुल गफ्फर खासी जाति के लोगों द्वारा मुठभेड़ में मार डाला गया। तरखान का पुत्र नूर मुहम्मद को, जो गया की ओर भाग रहा था, खाने आजम के सैनिकों द्वारा चम्पारन के निकट गिरफ्तार कर उसकी गर्दन जंजीरों में जकड़ दी गयी और दरबार में ले जाया गया, जहाँ बाद में उसका सिर उतार दिया गया ।[3]

बिहार से विद्रोहियों का अन्त करने के पश्चात् अब खाने आजम के समक्ष बंगाल की विजय ही शेष रह गयी थी । वर्षा ऋतु समाप्त होने के पश्चात् इलाहाबाद, अवध और बिहार से एक विशाल सेना हाजीपुर में

---

1. अबुल फजल खाबिताकी सैन्य संख्या 5000 और मुगल सेना की संख्या 2000 लिखता है । -अकबरनामा, भाग III, पृ. 575.
2. वही.
3. वही, पृ. 586-87.

एकत्र कर खाने आजम बंगाल के लिए रवाना हुआ और मार्च 1583 ई. में तेलिया गढ़ी पर आधिपत्य स्थापित करता हुआ बंगाल की ओर अग्रसर हुआ ।[1] बंगाल के विद्रोह को, (मासूम खाँ काबुली, कतलू नूहानी, जब्बारी, मिजबिग, काजी दादा, काला पहाड़, अन्य काकशाल कौम प्रमुख विद्रोही थे) दबाने के पश्चात् (1583 में ही) बंगाल की जलवायु से तंग आकर खान-ए-आजम ने बंगाल छोड़ने की इच्छा व्यक्त की । अबुल फजल लिखता है कि- "बादशाह ने उसके इस निवेदन को स्वीकार कर लिया और यह आदेश पारित किया कि यदि उसके स्थान पर कोई योग्य अधिकारी उसके सैनिक व प्रशासनिक कार्यभार संभाल ले तो वह उसे सौंपकर वहाँ से बिहार आराम के लिए जा सकता है और यदि ऐसा न हो सके तो उसे तब तक उस प्रांत में रहना पड़ेगा, जब तक कि शाहबाज खाँ वहाँ न पहुँच जाय। शाहबाज खाँ शाही आदेशानुसार प्रमुख अधिकारियों के साथ बंगाल (8 खुरदाद को) पहुँच गया[2]"

बंगाल के सेना की कमान शाहबाज खाँ के हाथों सौंपकर और एकमात्र बचे विद्रोही उड़ीसा के गवर्नर कतलू खान नूहानी के विरुद्ध दीवान वजीर खाँ को उड़ीसा भेजकर स्वयं अपनी जागीर हाजीपुर की ओर कूच किया और दिसम्बर 1583 ई. तक वह बिहार का शासन भार संभाले रहा। खाने आजम के इस प्रवासकाल के दौरान बिहार में शान्ति छायी रही।[3]

इस प्रकार बंगाल-बिहार के विद्रोह चार वर्ष तक अकबर के साम्राज्य के लिए संकट बने रहे । विद्रोह की यह आग केवल बिहार बंगाल

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 590 ; मुगल एम्पायर (भारतीय विद्या-भवन), पृ. 142.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 594.
3. वही, पृ. 629 ; बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 492.

तक ही सीमित नहीं रही अपितु यह उड़ीसा, अवध, इलाहाबाद, कटेहर (रूहेलखण्ड), गाजीपुर एवं बनारस तक फैल गयी थी ।[1] इस समय जबकि पश्चिमोत्तर सीमान्त में मिर्जा हकीम का संकट मंडरा रहा था, अकबर ने बड़े धैर्य, अदम्य साहस एवं सूझ-बूझ का परिचय दिया। अपनी योग्यता तथा नीतिज्ञता के द्वारा उसने स्थिति का सही निरूपण किया और दूर-दर्शितापूर्वक आक्रमणकारी की शक्ति को कुचलने तथा निष्कासित करने के कार्य को प्राथमिकता दी । उसके इन्हीं गुणों तथा योग्य अधिकारियों व सेनापतियों के सहयोग से 1584 ई. तक बिहार-बंगाल दोनों स्थानों पर विद्रोह का दमन कर दिया गया ।

बिहार छोड़ने से पूर्व खाने आजम ने बिहार की कमान सैय्यद खान को सौंपी । वह 3000 सवारों का सेनापति बनाया गया और हाजीपुर व उसके पड़ोसी क्षेत्रों को जागीर स्वरूप प्रदान किया।[2] प्रारम्भ में हाजीपुर पर सैयद खान का शासन कुछ समय के लिए ही रहा क्योंकि उसे पटना के सादिक खान[3] के साथ उड़ीसा (भट्टी) के जमींदार आइसा-खान के विरुद्ध, शाहबाज खान की सहायता के लिए शाही आदेशानुसार बंगाल की ओर (अक्टूबर 1584 ई. में) कूच करना पड़ा ।[4] दिसम्बर 1584ई. में आइसा खान, मासूम खाँ काबुली के विरुद्ध विजय श्री हासिल करने के

---

1. मुगल एम्पायर, पृ. 140.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 629 ; बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 492.
3. अबुल फजल लिखता है कि सादिक खान को 11 जून, 1584 ई. को पटना का कार्य भार सौंपा गया था . -वही, पृ. 654.
4. वही, पृ. 660.

पश्चात् इसे बादशाह की स्वीकृति से पुनः बिहार आना पड़ा, क्योंकि बंगाल अभियान के समय रोहतास के मुहीब अली के पुत्र हबीब अली की मृत्यु तथा बिहार के अधिकारियों की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर युसुफ-मती अफगान ने कुछ व्यक्तियों को एकत्र किया और लूटपाट मचायी । पर वह [सैयद खान] अधिक दिनों तक बिहार में नहीं रह सका। बंगाल में हिंसा भड़कने के कारण एक बार फिर उसे शाहबाजखान के साथ बंगाल का कार्यभार संभालने के लिए भेजा गया । दोनों की बिहार में अनुपस्थिति के कारण शाही आदेशानुसार अवध से मिर्जा युसुफ को बुलाकर बिहार का शासनभार संभालने का दायित्व सौंपा गया ।[1]

युसुफ मिर्जा भी अधिक दिनों तक बिहार में टिक नहीं सका। 1587 ई॰ में जाड़े के समय उसे कश्मीर में याकूब खाँ के विरुद्ध तथा अन्य छुट-पुट विद्रोहों को दबाने के लिए जाना पड़ा ।[2] युसुफ मिर्जा के बिहार से हटने के बाद सैयद खान के ऊपर पुनः बिहार की जिम्मेदारी आ गयी । परन्तु वजीर खान की बंगाल में मृत्यु हो जाने के कारण उसे पुनः बंगाल [1588 ई॰ में] जाना पड़ा और 1589 ई॰ में वह बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया ।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि अकबर अपनी साम्राज्य विस्तार-वादी नीति में इतना उलझा हुआ था कि उसका ध्यान केवल साम्राज्य में व्याप्त विद्रोहों को शांत करने में ही लगा रहा फलस्वरूप बिहार जैसे सूबे को किसी विशेष व्यक्ति के संरक्षण में 1588 तक न रख सका ।

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ॰ 672,73,75,76,80॰
2. वही, पृ॰ 796-98॰
3. वही, पृ॰ 878 ; बिहार थ्रू द एजेस, पृ॰ 492॰

मानसिंह की सूबेदारी (1587-1604 तक)

स्टीवर्ट लिखते हैं - जब बंगाल के गवर्नर वजीर खान के मृत्यु (29 अगस्त, 1587 में) की सूचना पंजाब में सम्राट को मिली, सम्राट के सामने बंगाल-बिहार के कमान का प्रमुख प्रश्न था। यह सूचना मिलते ही वह राजा मानसिंह को बिहार बंगाल की कमान देने को इच्छुक था (राजा मानसिंह की बहन का विवाह सलीम के साथ सम्पन्न हुआ था और वह इस समय पेशावर में अफगानों के विरुद्ध संघर्षरत था)। फलतः 22 नवम्बर 1587 ई. (996 हि.) को जागीर स्वरूप बिहार का प्रदेश मानसिंह को प्रदान किया गया और दिसम्बर 1587 ई. में इन्हें शाही आदेशानुसार बिहार भेजा गया । ये जागीरें थीं बिहार, पटना, हाजीपुर।[1]

1589 ई. से लेकर 1594 ई. तक (बंगाल स्थानान्तरित होने से पूर्व तक) मानसिंह ने बिहार के सूबेदार के रूप में उल्लेखनीय कार्य किया। इसकी पुष्टि तत्कालीन इतिहासकार अबुल फजल द्वारा पूर्णरूपेण की गयी है। यदुनाथ सरकार ने भी माना है कि मानसिंह द्वारा बिहार में किये गये क्रियाकलापों की जानकारी हमें अबुल फजल द्वारा संक्षिप्त परन्तु उत्तम रूप

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 801 ; इन्सक्रिप्शंस ऑफ बिहार, पृ. 176 ; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 375 ; बदायुँनी 996 हि. में मुहर्रम का महीना लिखता है। यद्यपि उसे जागीरें 1587 ई. में ही प्राप्त हो गयी थीं, पर सूबेदार के रूप में उसने बिहार की सरकार का कार्यभार हि. 997 (1589 ई.) में ही संभाला.

में प्राप्त होती है। अबुल फजल ने लिखा है कि - "राजा[1] मानसिंह ने बिहार में बड़े साहस, उत्साह एवं बुद्धिमत्ता पूर्ण कार्यों से बिहार के लोगों को एकता के सूत्र में बाँधा। उसने इस प्रांत में इस सुरुचिपूर्ण ढंग से शासन कार्य किया कि हठी एवं जिद्दी स्वभाव के लोग भी उसकी आज्ञाओं का पालन करने लगे। दूसरे शब्दों में उसके समर्थक व आज्ञाकारी हो गये ।[2]

मानसिंह द्वारा आक्रमणात्मक कार्यवाही

इस प्रमुख कारण यह था कि बिहार के सूबेदार के रूप में मानसिंह ने वहाँ के विद्रोहियों को दबाने एवं कठोरता से दमन करने में कोई संकोच न दिखायी । 1589 ई. में जब वह पटना पहुँचा उसने पाया कि "गिधौर के राजा पूरनमल" (हाजीपुर के जमींदार) ने उस प्रान्त में व्याप्त अव्यवस्था का लाभ उठाकर अत्यधिक मात्रा में धन एवं सेना एकत्र कर ली है और अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी है। इतना ही नहीं उसने अपना साम्राज्य हाजीपुर से पटना तक फैला लिया है, जिसके कारण पूर्वी प्रांतों में अव्यवस्था का साम्राज्य छा गया था। उसकी इस प्रकार की बढ़ती हुयी शक्ति को देखकर

---

1. नवम्बर 1589 ई. में पिता भगवान दास की मृत्यु हो जाने के पश्चात् फरवरी, 1590 में (998 हि.) कुंवर मानसिंह को राजा की उपाधि से सम्मानित किया गया था। -बदायूँनी, भाग II, पृ. 372 , अं. अनु. 384 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग V, पृ. 459 ; इन्सक्रिप्शंस ऑफ बिहार, पृ. 176. अबुल फजल इसका उल्लेख तो करता है पर तिथि का उल्लेख नहीं करता । -अकबरनामा, भाग III, पृ. 863 ; स्मिथ 1589 ई. लिखता है , पृ. 252.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 872.

मानसिंह ने उसकी शक्ति को दबाने का दृढ़ निश्चय किया और शीघ्र ही सेना उसके विरुद्ध (1590 ई.) भेजी। इसके अतिरिक्त मानसिंह ने उसे बाध्य किया कि वह मानसिंह की अधीनता स्वीकार करे और उसकी शरण में आये ।[1] स्वयं की शक्ति क्षीण होते देख व मुगल सेना से भयभीत हो पूरनमल ने मानसिंह के पास दूत द्वारा विनम्रतापूर्वक यह सन्देश भेजा कि वह (पूरनमल) अपनी सेना वापस बुला लेगा, मानसिंह को अत्यधिक मात्रा में धन-सम्पदा भेजेगा और अपने हाथी भी उसे प्रदान करेगा, बशर्ते राजा उसे क्षमा कर देगा और उसकी जागीर पूर्ववत् ही उसके पास रहने देगा। इसके अतिरिक्त पूरनमल ने अपनी बेटी का विवाह मानसिंह के भाई चन्द्रभान से करने का वायदा किया ।[2]

राजा मानसिंह द्वारा ये सभी शर्तें मान ली गयीं । राजा मानसिंह ने शीघ्र ही पूरनमल से प्राप्त हाथी व धन सम्पदा बादशाह के पास दरबार में भेजी। बादशाह ने मानसिंह के इस कार्य से अत्यधिक प्रभावित होकर उसे भेंट स्वरूप शाही वस्त्र एवं बधाई संदेश भेजा ।[3]

इसके बाद मानसिंह मुंगेर जिले के निकट खड़कपुर के "राजा संग्रामसिंह" की ओर उन्मुख हुआ। उसने संग्रामसिंह पर आक्रमण कर दिया। संग्राम सिंह मुगलों के आगे सामना करने में अपने को असमर्थ पाकर, मुगल अधीनता

---

1. स्टीवर्ट, पृ. 181 ; सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 207.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 872 ; स्टीवर्ट, पृ. 181 ; सरकार, वही, भाग II, पृ. 207.
3. स्टीवर्ट, पृ. 181.

को स्वीकार कर लिया और मुगलों को हाथी तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुयें प्रदान की ।[1]

राजा संग्राम सिंह को पराजित करने और अतुल सम्पदा प्राप्त करने के पश्चात् राजा मानसिंह पटना लौटा और गया जिले के शासक "अनन्तचेरू"[2] के विरुद्ध अभियान कर उसे भी बुरी तरह परास्त किया। इसकी पराजय से लूट में मानसिंह को अतुल सम्पदा प्राप्त हुयी ।[3]

मानसिंह द्वारा इन अभियानों में व्यस्त रहने के कारण, पटना का शासन भार उसके पुत्र जगत सिंह ने संभाला । अबुल फजल लिखता है - "जगतसिंह ने बड़े ही लगन से कार्य किया। वह लगातार बिहार की निगरानी करता रहा।"अबुल फजल आगे लिखता है कि - "दक्षिण के क्षेत्रों में व्यस्तता का लाभ उठाकर सुल्तान कुली काल्मक और केचरी जो बंगाल के (केकेना) कृतघ्नों में से थे, अचानक लड़ाई आरम्भ कर दी । वे गोरा-घाट गये और ताजपुर पूर्निया को लूटा। वहाँ से वे दरभंगा आये । फारूख खान साहस खो बैठा और पटना भाग गया। मानसिंह ने अपने पुत्र जगतसिंह को इन विरोधियों के दमन हेतु भेजा। फारूख और अन्य जमींदारों ने साहस से काम लिया और जगत सिंह का साथ दिया। जब वे हाजीपुर से सात कोस की दूरी पर पहुँचे, मुगलों को देखते ही शत्रु साहस खो बैठे और भाग खड़े हुये । जगत सिंह ने शत्रु का पीछा किया। उनकी एकत्र की हुयी धन-सम्पदा जगतसिंह के हाथ लगी । मानसिंह ने लूट में प्राप्त बहुत

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 872 ; सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 207; इन्सक्रिप्शंस ऑफ बिहार, पृ. 177.
2. मआसिर, भाग II, पृ. 162 में इसे रनपत चेरू लिखा गया है। -उद्धृत, बेवरीज : अकबरनामा, भाग III, पृ. 872 फु.नो. 2.
3. अकबरनामा , भाग III, पृ. 872 ; सरकार, वही, भाग II, पृ. 207, इन्सक्रिप्शंस ऑफ बिहार, पृ. 177.

सा सामान और 54 हाथी 3 अप्रैल, 1590 ई. को बादशाह के पास भेजा।[1]

1590 ई. (998 हि.) तक बिहार के लगभग सभी विरोधियों को दबाने व पूर्ण व्यवस्था करने के पश्चात् मानसिंह उड़ीसा के अफगान कतलूखान को भी दबाने का प्रयत्न किया। इस सम्बन्ध में अबुल फजल लिखता है कि 998 हि. (1590 ई. में) अपनी योग्यता से बिहार में पूर्णतया शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के पश्चात् मानसिंह उड़ीसा की विजय हेतु झारखंड के मार्ग से होता हुआ उड़ीसा की ओर कूच किया।

अपने पुत्र जगतसिंह, बंगाल के गवर्नर सैयद खान, फहाड खान, बाबू समकाली, राय पतरदास तथा अन्य अधिकारियों की सहायता से रायपुर (उड़ीसा) में अफगानों को पराजित कर उन्हें बादशाह की अधीनता मानने को विवश किया। यद्यपि प्रारम्भ में शाही सेना को पराजय का आलिंगन करना पड़ा, परन्तु कतलू खान की मृत्यु हो जाने के कारण यह विजय मुगलों के पक्ष में रही। कतलू के पुत्र नासिर के द्वारा मानसिंह को 150 हाथी और अन्य रुचिकर वस्तुयें प्राप्त हुयीं। अफगानों पर विजय श्री हासिल कर मानसिंह वापस बिहार आया।[2]

उड़ीसा में शान्ति स्थापित करने के पश्चात् 999 हि. (1591 ई.) में राजा मानसिंह ने अफगानों से प्राप्त हाथियों को शाही उपहार स्वरूप

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 872-73; सरकार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग II, पृ. 207; इन्सक्रिप्शंस ऑफ बिहार, पृ. 177.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 878-80.

सम्राट के पास भेजा ।[1]

मानसिंह द्वारा उड़ीसा में स्थापित की गयी शान्ति सन्धि अधिक दिनों तक न चल सकी। परिणामस्वरूप 1592 ई. {1000 हि.} में अफगानों ने पुनः विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। यह खबर सुनकर मानसिंह ने बिहार और बंगाल के सैनिकों तथा अधिकारियों की सहायता से उड़ीसा के अफगानों के विरुद्ध आक्रमणात्मक कार्यवाही जारी रखी । अफगानों को एक बार फिर मिदनापुर {वर्तमान मेदनीपुर}[2] की भूमि पर घनघोर पराजय का आलिंगन करना पड़ा। अबुल फजल लिखता है कि - 300 से अधिक अफगान तथा 40 योद्धा युद्धभूमि में मारे गये । थोड़े समय में ही उड़ीसा का बहुत सा भाग मुगलों के हाथ आ गया ।[3] नवीन प्रांत को यद्यपि पूरी तरह वशीभूत नहीं किया जा सका था, बंगाल के सूबे से संलग्न कर दिया गया और 1751 ई. तक साम्राज्य का अंग बना रहा।[4]

1590-92 ई. तक लगातार अफगानों से जूझते रहने के पश्चात् मानसिंह 1592 ई. में बिहार {रोहतास} वापस लौटा । बिहार आने

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 901.
2. इलियट एण्ड डाउसन, भाग VI, पृ. 89 पर इसे मिदनापुर कहा गया है. अबुल फजल {बेवरीज अनु.} मलनापुर लिखता है, अकबरनामा, भाग III, पृ. 935. परन्तु वर्तमान समय में यह नाम नहीं मिलता। जे.ए.एस.बी., 1883, पृ. 236 में बीम्स ने लिखा है कि यह युद्ध सुवर्ण रेखा नदी के उत्तरी किनारे पर लड़ा गया .
3. अकबरनामा, भाग III, पृ. 934-37.
4. स्मिथ, पृ. 259.

के पश्चात् इन्होंने बंगाल और बिहार दोनों की शासन सत्ता अपने हाथों में लेने का निश्चय किया और आकमहल अथवा अकबरनगर, जिसे अकबर ने राजमहल के नाम से परिवर्तित कर दिया था तीनों प्रांतों की राजधानी बनाया (1592 ई. में)।[1] प्राचीन काल में इस पर हिन्दू शासन था, इसे राजगिरि कहा जाता था।

1592-93 ई. का समय राजा मानसिंह ने बिहार को सुव्यवस्थित करने में व्यतीत किया, परन्तु मार्च 1594 में (1002 हि.) नया वर्ष प्रारम्भ होते ही, अबुल फजल लिखता है कि सम्राट द्वारा बंगाल में लगभग पाँच हजार लोगों को जागीरें प्रदान की गयीं। उनमें राजा मानसिंह का पुत्र जगतसिंह भी शामिल था। राजा मानसिंह की योग्यता और स्वामीभक्ति के कारण उन्हें Ataliq बना दिया गया और बंगाल की जागीर सौंप दी गयी। सईद खान को बिहार प्रांत का संरक्षक बनाया गया।[2] सईद-खान ने 1010 हि. (1602 ई.) तक (मुल्तान जाने से पूर्व) बिहार के संरक्षक के रूप में बिहार को सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित किया।[3]

अगस्त 1604 तक मानसिंह बिहार का सूबेदार रहा, परन्तु 16 अगस्त, 1604 ई. को बिहार प्रांत खाने आजम मिर्जा कोका को सौंप दिया गया।[4]

---

1. स्टीवर्ट, पृ. 186.
   आईन के द्वारा स्पष्ट होता है कि मानसिंह ने उड़ीसा को केवल बंगाल की राजधानी बनाया था. -आईन-ए-अकबरी, भाग II, पृ. 129.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 999.
3. वही, पृ. 1216.
4. वही, पृ. 1257.

यदि बिहार में मानसिंह द्वारा सूबेदार के रूप में किये गये क्रिया-कलापों की ओर दृष्टिपात किया जाये तो यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में मानसिंह का शासनकाल §1587- [illegible] अथवा 1604 ई.§ बिहार के लिए एक बड़ा ही सुख और समृद्धि का काल रहा। इस दृष्टि से स्टीवर्ट का यह कथन भी सत्यांश लिये हुये है कि - "उसने अपने विस्तृत प्रशासन क्षेत्र में जहाँ व्यवहार रूप से वह प्रायः स्वतन्त्र था, अत्यन्त बुद्धिमत्ता और न्यायपरायणता के साथ शासन किया।"[1]

अन्ततः यह कहना अनुचित न होगा कि अकबर की साम्राज्य-विस्तारवादी नीति की सफलता वास्तव में उसके अधिकारियों की सूझ-बूझ, वीरता, योग्यता एवं कुशलता पर ही निर्भर थी। फलस्वरूप अधिकारियों के सहयोग से एक ओर जहाँ उसे अपने साम्राज्य को विस्तृत करने में अन्य प्रांतों में सफलता प्राप्त हो रही थीं, वहीं पूर्वी प्रांत भी उसकी साम्राज्यवादी नीति से अछूते न रहे और मुनीम खाँ खानखाना, टोडरमल, खाने आजम मिर्जा कोका, मानसिंह आदि जैसे योग्य एवं कर्मठ अधिकारियों के सहयोग से वे भी मुगल साम्राज्य के महत्वपूर्ण व प्रमुख अंग बन गये

---

1. स्टीवर्ट, पृ. 189.

षष्ठ अध्याय

प्रशासनिक सुधार

शेरशाह के सुधार

1. केन्द्रीय शासन
2. प्रान्तीय शासन
3. सैन्य संगठन
4. पुलिस प्रबन्ध, डाक चौकी तथा गुप्तचर व्यवस्था
5. मुद्रा प्रणाली में सुधार
6. न्याय व्यवस्था
7. भू-राजस्व व्यवस्था
8. सार्वजनिक कार्य ।

मुगल शासन

1. प्रान्तीय शासन
2. प्रान्तीय राजस्व व्यवस्था
3. सैनिक संगठन
4. प्रान्तीय न्याय व्यवस्था
5. पुलिस प्रशासन एवं गुप्तचर व्यवस्था ।

शेरशाह के सुधार

मध्यकालीन भारतीय इतिहास में शेरशाह निस्सन्देह योग्य प्रशासकों में से एक था। उसने प्रशासन के क्षेत्र में नवीन शासन संस्थाओं को जन्म नहीं दिया बल्कि पुरानी संस्थाओं में सुधार कर उन्हें नया रूप प्रदान किया। इस कार्य में उसने इतनी सफलता हासिल की कि मध्यकालीन भारतीय शासन व्यवस्था का लगभग सारा रूप ही बदल दिया जिसे उसने जनता के हित साधन में नियोजित किया।[1]

शेरशाह वास्तविक रूप में एक उच्च कोटि का शासक प्रबन्धक व सुधारक था अथवा योग्य सैनिक, यह प्रश्न अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है। मध्यकालीन भारतीय इतिहास के अध्येता शेरशाह को मुख्य रूप से एक सैनिक और गौण रूप से साधारण योग्यता का शासन प्रबन्धक मानते थे, परन्तु आधुनिक इतिहासकार उसे कुशल सैनिक की अपेक्षा उच्च कोटि का शासन प्रबन्धक व प्रजापालक शासक मानते हैं। इसकी पुष्टि अर्सकीन व डॉ॰ कानूनगो के निम्न लेखों से होती है । अर्सकीन लिखते हैं कि -शेरशाह में एक सफल सैनिक, शौर्यवीर की अपेक्षा शासन व्यवस्थापक और प्रजापालक के गुण कहीं अधिक विद्यमान थे ।[2]

डॉ॰ कानूनगो ने लिखा है कि -वह अफगानों में सबसे श्रेष्ठ शासक था और सैनिक प्रतिभा भी उसमें अधिक थी। उसकी प्रबन्ध व्यवस्था और उसके परिणामों को यदि ध्यान से देखा जाये तो विदित होता है कि उस अराजकता के

---

1. आर॰पी॰त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, इलाहाबाद, 1964, पृ॰ 303,305 ; परमात्माशरण : मुगलों का प्रांतीय शासन, लखनऊ, 1970, पृ॰ 143॰
2. अर्सकीन, भाग II, पृ॰ 67॰

युग मेंउसने कितना महान कार्य किया।[1] डॉ. आर.पी.त्रिपाठी और परमात्मा-शरण जैसे विद्वानों ने उसे उच्च कोटि का शासक प्रबन्धक तो माना है पर वे उसको नयी संस्थाओं का जन्मदाता न मानकर पुरानी संस्थाओं को नया रूप देने वाला सुधारक स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि - उसने शासन व्यवस्था में किन्हीं नये विभागों की सृष्टि नहीं की बल्कि उसके प्रबन्ध विभाग और उपविभागीय प्राचीन व्यवस्था पर ही आधारित थे । उसने लगभग सभी विभागों में उन्नति व सुधार किये और पूर्ववर्ती सुल्तानों की अयोग्यता के कारण व्याप्त दोषों और भ्रष्टाचार को समाप्त कर दिया।[2]

यदि हम उसकी विस्तृत व्यवस्थाओं का सूक्ष्म परीक्षण करके देखें तो हम पाते हैं कि उसकी प्रशासनिक व्यवस्था में पूरे तौर पर न तो नयापन था और न ही वे अपने आप में मौलिक थीसिवाय भूमि-व्यवस्था के । अतः इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि वास्तव में शेरशाह साम्राज्य के नव निर्माता की अपेक्षा एक उच्च कोटि का सुधारक था। उसने किसी शासन प्रणाली की रचना नहीं की बल्कि उसकी शासन प्रणाली वर्षों से चली आ रही परम्परा पर आधारित थी जिसे उसने अपने शासन काल में पुनर्जीवित किया।

उसकी यह सबसे बड़ी सफलता थी कि उसने प्राचीन साधन संस्थाओं में जो किन्हीं बाधाओं और कठिनाइयों के कारण 15वीं शताब्दी में रूक गयी थी, नवीन सुधार कर उन्हें लोक कल्याण का महत्वपूर्ण साधन बना दिया।[3]

डॉ. ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं कि - शत्रुओं को भारत से खदेड़ने के पश्चात् उसके सामने शासन संगठन की प्रमुख समस्या थी, जिसे पूरा करने का कार्य शेष था। वह लगभग पाँच उद्देश्यों को लेकर शासन संचालन को क्रियान्वित करना चाहता था,

---

1. कानूनगो : शेरशाह , पृ. 68.
2. त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 303-305 ; परमात्माशरण, पृ. 143.
3. इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 117.

जिनमें प्रथम था, अत्याचारी शासन से मुक्ति, दूसरा था दुष्टता व अपराध का दमन करना, तीसरा था, राज्य की सम्पन्नता को बनाये रखना, चौथा था सार्वजनिक मार्ग की सुरक्षा और पाँचवा था सैनिकों एवं व्यापारियों की सुविधा को ध्यान में रखना ।[1] अपने इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति हेतु वह शासन संचालन में जुट गया।

केन्द्रीय शासन

बादशाहत हासिल करने के पश्चात् दिल्ली सल्तनत के अन्य शासकों की भाँति शेरशाह भी एक निरंकुश शासक सिद्ध हुआ । उसकी शक्ति एवं सत्ता अपरिमित थी, किन्तु अपने पूर्व शासकों के विपरीत वह एक प्रजावत्सल शासक भी था, जो शासनाधिकार को प्रजा की भलाई के लिए काम में लाता था, फिर भी शासन नीति, निर्धारण व दीवानी तथा फौजदारी संचालन की शक्तियाँ उसी के हाथों में केन्द्रित थी।[2] उसके मंत्रीगण केवल राजकाज के दैनिक कार्यों को ही सम्पादित कर सकते थे, शासन नीति निर्धारण करने अथवा शासन तन्त्र में किसी प्रकार का स्वतन्त्र परिवर्तन करने का उन्हें कोई अधिकार नहीं था। उसने स्वयं को अफगान कबीली वर्ग का भयंकर और शक्तिशाली नायक प्रमाणित किया। अपनी साधारण क्रियाशीलता, साधन और चातुर्य से तथा छोटे से छोटे कार्यों पर स्वयं ध्यान देकर, अफगान सरदारों को दबाकर उसने उन्हें अपना आज्ञाकारी बनाया और उनकी उदण्डता को बहुत ही घटा दिया । यदि कोई भी अफगान सरदार अपने कर्तव्य पालन में जरा भी चूकता तो उसे तुरन्त ही कठोर ताड़ना मिलती थी। कर्तव्यों के प्रति चूक अथवा उसके प्रति उपेक्षा या अन्याय को न तो सहन किया जाता और न ही क्षमा । अधिकारियों की असावधानी अथवा जानबूझ कर की गयी उदण्डताओं का निपटारा तुरन्त और कठोरता से किया जाता था। इसकी पुष्टि अब्बास

---

1. ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 167.
2. कानूनगो : शेरशाह, पृ. 58-59.

के लेखों से भी होती है। वह लिखता है कि - जब शेर खाँ के साम्राज्य का वह वृक्ष फलने फूलने लगा तो उसने सर्वप्रथम अत्याचार पीड़ितों तथा दीन दुखियों को राहत पहुँचाने पर ध्यान दिया । वह अन्याय और अनाचारपूर्ण कार्यों की जाँच पड़ताल करवाता था और दोषी पाये गये व्यक्तियों को बिना विलम्ब और भेदभाव के, उचित दण्ड दिया करता था। इसके लिए उसने अपने अमीरों, निकट सम्बन्धियों, बिरादर भाइयों तथा अपने परिजनों को भी क्षमा नहीं किया।[1]

इतना ही नहीं वह रात्रि के तीसरे पहर से लेकर सोते समय तक निरंतर कार्य में व्यस्त रहता था। शासन की प्रतिदिन की घटनाओं का स्वयं निवारण करता था और दीन दुःखियों की शिकायतें सुनकर न्याय करता था। वह सच्च-रित्र व्यक्तियों की नियुक्ति करता था और संगीत के प्रति भी रुचि रखता था। वह सदैव कहा करता था कि - शासक को निरन्तर क्रियाशील रहना चाहिये । पद या प्रतिष्ठा की महानता के कारण उन्हें राज्य के किसी काम को छोटा नहीं समझना चाहिए ।[2]

उसका साम्राज्य पूर्ववर्ती मुगल शासकों से कहीं अधिक बड़ा था। समग्र उत्तर भारत पूर्व में सोनार गाँव से लेकर उत्तर पश्चिम में गक्खरों के प्रदेश तक उसका राज्य फैला हुआ था, जिसकी पश्चिमी सीमा रेखा उत्तर से झेलम तट पर स्थित बालनाथ जोगी से प्रारम्भ होकर दक्षिण पश्चिम की ओर सौ मील जाकर खुशाब से जा मिली थी और वहाँ से झेलम पार सिन्धु के किनारे होती हुयी नीचे गक्खर तक चली गयी थी। दक्षिण में विंध्याचल की कराकोरम पर्वत श्रेणियों से लेकर सम्पूर्ण पश्चिमी राजपूताना, मालवा, कालिंजर तक का भू-भाग उसने अपने राज्य में कर लिया था।

इतने विशाल साम्राज्य की देखभाल मन्त्रियों की सहायता के बिना एक

---

1. अब्बास, पृ. 207 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV , पृ. 311.
2. वही, पृ. 206 ; वही, पृ. 310.

ही व्यक्ति द्वारा करना मानव शक्ति सम्पर्क की दृष्टि से असम्भव था। इसलिए शेरशाह को भी सल्तनत कालीन व्यवस्था के आधार पर चार मंत्री विभाग रखने पड़े थे । ये विभाग थे - §1§ दीवान-ए-विजारत §2§ दीवान-ए- आरिज, §3§ दीवान-ए-रिसालत अथवा दीवान-ए-मोहतसिब §4§ दीवान-ए-इंशा। इसके अतिरिक्त अन्य कई छोटे पद थे जिनमें प्रमुख थे दीवान-ए-क़ज़ा, और दीवान-ए- बरीद । इससे यह ज्ञात होता है कि शेरशाह के केन्द्र का शासन तंत्र ठीक वैसा था जैसा दिल्ली सल्तनत के गुलाम वंश के राजाओं के काल से लेकर तुगलक वंश के राजाओं के समय में रहा ।

प्रान्तीय शासन

प्राचीन काल में प्रान्तीय शासन

शताब्दी की प्रगति के साथ-साथ प्रशासन का स्वरूप भी बदलता गया । प्राचीन भारत में साम्राज्य को प्रांतों में विभाजित करने की प्रणाली थी। मौर्य, गुप्त तथा वर्धन साम्राज्य प्रान्तों में विभाजित थे । उस काल में प्रान्तपति को भुक्ति अथवा स्थानिक कहा जाता था। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य §324-320 ई.पू.§ का साम्राज्य कई प्रान्तों में विभाजित था और प्रत्येक प्रान्त का अलग-अलग प्रांतपति होता था। प्रांतपति को शासन में सहायता देने के लिए सम्भवतः उपप्रांतपति होता था।[1] अशोक के काल में मौर्य साम्राज्य को चार बड़े भागों में विभाजित कर दिया गया था जिनकी राजधानियाँ - तक्षशिला, उज्जैन, तोषाली और सुवर्णगिरि थीं। इन्हें छोटे-छोटे प्रांतों में भी बाँटा गया था। इन प्रान्तों में प्रत्येक का अलग-अलग एक प्रांतपति होता था जिसे प्रादेशिक कहते थे ।[2] यह प्रांतों और प्रांतपतियों द्वारा शासन की प्रणाली गुप्तकाल तक ही नहीं चली बल्कि भारतीय इतिहास के पूरे

---

1. आर.सी. मजूमदार : दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, भाग II, बम्बई, 1951, पृ. 62-63.
2. वही, पृ. 79.

प्राचीन युग में बराबर बनी रही । हर्षवर्धन का साम्राज्य (606-647 ई.) भी प्रांतों या भुक्तियों में विभाजित था।[1]

सल्तनत काल में प्रांत

इस्लाम के इतिहास में भी राज्यों को प्रांतों में विभाजित करने की प्रणाली थी। मुस्लिम विधिवेत्ताओं ने प्रांतपतियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है - (1) सीमित अधिकार वाले (इमरात-ए-तफ्वीद), (2) असीमित अधिकार वाले (इमरात-ए-खस्सा) तीसरे प्रकार के प्रांतपति को इमरातुल इस्तिल कहा गया है ।[2]

दिल्ली सल्तनत में (1206-1526 ई.) मुस्लिम शासन के अन्तर्गत जो भू-भाग आता था वह इतना विशाल था कि उस पूरे भाग पर दिल्ली सल्तनत से ही कुशलतापूर्वक शासन करना सरल नहीं था इसलिए सल्तनत काल में भी प्रांतों और प्रांतपतियों का अस्तित्व था।[3] सल्तनत काल में तीन तरह के प्रांत थे -

1. क्षेत्रफल में छोटे प्रांत जिनके प्रांतपति सुल्तान द्वारा नियुक्त होते थे। इन पर सुल्तान का अधिक नियन्त्रण रहता था। दिल्ली के निकटस्थ भाग इस श्रेणी में आते थे ।

2. दूसरी श्रेणी में दूरवर्ती प्रांत आते थे, जिन पर दिल्ली से पूरा नियंत्रण सम्भव नहीं था। ये मुस्लिम विधिवेत्ताओं के असीमित प्रांतपतियों (इमरात-ए-खस्सा) में आते थे ।

3. तीसरी श्रेणी में वे भारतीय राजा आते थे जो सुल्तानों को कर देते थे, किन्तु सुल्तानों ने उनके राज्य को अपनी सल्तनत में सम्मिलित

---

1. आर.सी. मजूमदार : दि क्लासिक एज, बम्बई, 1954, पृ. 345.
2. आई.एच.कुरेशी : दि ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि सल्तनत ऑफ देलही, लाहौर, 1944, पृ. 194 ; हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, 1978, पृ.92.
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान (शासन का विकास) भाग II, आगरा, 1972, पृ. 118.

नहीं किया था। अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिण के राज्यों से कर लिया किन्तु उन्हें पूर्णतया सल्तनत में सम्मिलित नहीं किया।[1]

सल्तनत कालीन प्रारम्भिक मुसलमान सुल्तान अपनी प्रशासकीय आवश्यकता और सुविधा का ख्याल कर पराजित हिन्दू राजाओं के राज्यों को दिल्ली सल्तनत के प्रांत बना देते थे और उनकी राजधानियों को ही इन प्रांतों की राजधानी बने रहने देते थे। सल्तनत काल में इन प्रांतों को इक्ता और प्रांतपतियों को मुक्तीस कहते थे। यह प्रांत का प्रमुख कार्यकारिणी अधिकारी था।[2] पूरे सल्तनत काल में मुक्तियों के कार्य मुख्य रूप से एक ही थे -

1. प्रांत की कार्यकारिणी के प्रमुख के रूप में कार्य करना।
2. कानूनों और राजनियमों का पालन करना।
3. उलेमाओं को संरक्षण देना और सेना तथा शासन के अधिकारियों पर नजर रखना।
4. कृषि को प्रोत्साहन देना, सम्पन्नता में वृद्धि करना और प्रजा का भार हल्का करना।
5. न्याय करना और निर्बल को शक्तिशाली के शोषण और अत्याचार से बचाना।
6. न्यायलयों के फैसलों को क्रियान्वित करवाना।
7. मृत्यु दण्ड न देना।
8. राजपथ की रक्षा कर उद्योग-धन्धों और व्यापार को प्रोत्साहन देना।[3]

---

1. हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ. 92.
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग II, पृ. 118.
3. कुरेशी : दि ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि सल्तनत ऑफ देहली, पृ. 198 ; हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ. 93.

13वीं और 14वीं शताब्दी में ऐतिहासिक लेखों में प्रशासन के विभिन्न विभागों को विलायत, शिक्क और इक्ता नाम दिया था। विलायत निश्चित तौर पर बड़ा भाग था और इसमें कोई सन्देह नहीं कि केन्द्रीय सरकार के कठोर नियंत्रण में विलायत के अधीन शिक्क की स्थापना की गयी थी। इक्ता शिक्क से छोटा विभाग था, जिसके अधीन कुछ परगने थे।[1]

समकालीन अभिलेखों एवं प्रलेखों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्क शब्द का प्रयोग सरकारी तौर पर सिकन्दर लोदी के राज्यारोहण के काफी बाद तक होता रहा[2], पर नियामतउल्लाह ने समकालीन ऐतिहासिक कार्यों एवं प्रलेखों के आधार पर व्यक्त किया है कि लोदी साम्राज्य में 16वीं शताब्दी में (1506 ई. में) आगरा को (दिल्ली के अतिरिक्त) द्वितीय राजधानी बनाये जाने के कुछ समय पूर्व ही विस्तृत इकाइयों को सरकार के रूप में पुकारा जाने लगा था।[3]

लोदी काल में विलायत, सरकार और इक्ता का स्वरूप पूर्णतया निश्चित हो गया था। विलायत सरकार से बड़ा विभाग था। लोदी काल में मुख्यतया दो विलायतों का विशेष उल्लेख मिलता है। पहली विलायत थी लाहौर या पंजाब की विलायत जिसमें भेरा, सियालकोट और लाहौर सरकारें थीं, दूसरी विलायत बिहार की विलायत थी जिसमें हाजीपुर और बिहार की सरकारें शामिल थीं।[4] इब्राहिम लोदी के पतन के पश्चात् हाजीपुर और तिरहुत का क्षेत्र बंगाल के शासक नुसरतशाह के अधीन आ गया।[5] बाबरनामा द्वारा भी यह पता चलता है कि बाबर, जिसने 1526 ई. में लोदी साम्राज्य को समाप्त कर मुगल वंश की नींव डाली थी,

---

1. इवालुशन ऑफ दि विलायत, द शिक्क एण्ड द सरकार इन नार्थ इंडिया, इक्तदार हुसैन सिद्दिकी, मेडिवल इण्डिया क्वार्टरली, अलीगढ़, 1963, भाग V, नं. 1, पृ. 15-17.
2. इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 100.
3. नियामत उल्लाह : भाग 1, पृ. 165-66.
4. इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 103.
5. बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 395.

भारत में सरकार को प्रशासनिक इकाई के रूप में सुव्यवस्थित ढंग से कार्यरत पाया और बिना किसी परिवर्तन के प्रचलित शासन व्यवस्था को उसी रूप में अपना लिया ।[1]

शेरशाह कालीन प्रांतीय शासन

शेरशाह सूर जिसने, भारत के विशाल क्षेत्रों को विजित कर लोदी साम्राज्य को लगभग दुगना कर दिया था। दिल्ली सल्तनत के प्रशासनिक परम्परा को कायम रखा और बंगाल, बिहार, मालवा, राजपूताना आदि विलायतों को सरकारों में परिणित कर उसी प्रशासनिक नियम को क्रियान्वित किया जो दिल्ली सल्तनत काल में विशेषकर 14वीं शताब्दी में प्रचलित थे । इस प्रकार वह केवल नवनिर्माता ही नहीं था बल्कि वह एक सुधारक भी था।[2]

डॉ. परमात्माशरण लिखते हैं - यह शेरशाह के वश की बात थी, जिसने कि पहली बार गम्भीर रूप से प्राचीन परम्परा को क्रियान्वित करने का प्रयास किया और प्रांतीय क्षेत्रों को सफलतापूर्वक व्यवस्थित किया तथा सरकार जैसी नियमित परम्परा को स्थापित किया।[3] सम्भवतः यह ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नहीं खाता । डॉ. कानूनगो इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप में लिखते हैं कि - उसके प्रांतों, सरकारों व परगनों आदि की तादाद तथा उनके शासन का ठीक-ठीक निर्देश कहीं नहीं मिलता।[4] इसके विपरीत डॉ. हरिशंकर श्रीवास्तव का कथन है कि - शेरशाह के शासनकाल में प्रांतपतियों का तो उल्लेख है किन्तु प्रांतों का समुचित संगठन नहीं किया गया था।[5] डॉ. कानूनगो आगे पुनः लिखते हैं कि - शेरशाह के समय में सरकारों से ऊँचे विभाजन नहीं थे । सामान्यतया सरकारें परगनों में

---

1. बाबरनामा, पृ. 521.
2. इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 103-104.
3. परमात्माशरण, पृ. 61.
4. कानूनगो : शेरशाह, पृ. 68-69.
5. हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ. 94.

बाँटी गयी थी। परगना शासन की प्रमुख इकाई थी। प्रांतीय शासन उसके समय में नहीं थे, प्रांत और गवर्नरों की सृष्टि तो अकबर ने की थी।[1] डॉ. परमात्मा-शरण डॉ. कानूनगो के मत से सहमत नहीं है। उनका विचार है कि - शेरशाह ने अपना साम्राज्य प्रांतों में विभाजित किया था। उसके समय में फौजी गवर्नरों की प्रथा थी।[2] परन्तु डॉ. आर.पी. त्रिपाठी का मत इन दोनों से भिन्न है। उनके अनुसार शेरशाह को लोदी शासकों की भाँति प्रांतीय शासन का स्पष्ट ज्ञान नहीं था। उसके समय में एक ओर बड़े-बड़े प्रांत {मालवा, पंजाब} थे तो दूसरी ओर बंगाल की तरह के प्रांत भी थे, जिनका प्रांतपति नाममात्र का था।[3] दूसरे शब्दों में दिल्ली से लेकर बिहार तक का सारा क्षेत्र {मालवा और पंजाब के अलावा} छोटे-छोटे भागों में विभक्त था।

इन उपर्युक्त मतों में कोई भी मत पूरी तरह सही प्रतीत नहीं होता पर इतना स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है कि शेरशाह के समय में दिल्ली का साम्राज्य प्रांतों, सरकारों और परगनों में विभाजित था जिनमें से हर एक के अलग-अलग अधिकारी थे। शेरशाह अधिकारियों पर दृष्टि रखता था और किसी प्रकार की अशान्ति, अव्यवस्था अथवा केन्द्रीय आदेशों की उपेक्षा सहन नहीं करता था। ऐसा करने पर कठोर दण्ड देता था। सारे प्रांत के ऊपर उसने एक नागरिक अधिकारी की नियुक्ति की थी, जिसके नीचे एक छोटा सा सैनिक दल भी होता था। उस अधिकारी का काम सरकारी अधिकारियों के काम की देखभाल करना और उनके झगड़ों को निपटाना था। प्रांतों में गवर्नर होते थे तथा अन्य अधिकारी भी थे जिन्होंने विभिन्न प्रांतों में गवर्नर के समान ही दर्जा पाया था। प्रांतों के प्रधान अधिकारी बड़ी-बड़ी सेनाओं के सेनापति भी थे। प्रत्येक सरकार एक बड़े अफगान अधिकारी के सुपुर्द थी। डॉ. कानूनगो लिखते हैं कि - इतना होने के

---

1. कानूनगो : शेरशाह, पृ. 71,72,75;
2. परमात्माशरण, पृ. 83.
3. त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 304.

बावजूद असल बात तो यह है कि शेरशाह की प्रांतीय शासन व्यवस्था उसकी सरकारों और परगनों की भाँति अच्छी तरह संगठित नहीं थी।[1] डॉ. कानूनगो की यह मान्यता कुछ अर्थों में सही प्रतीत होती है क्योंकि विभिन्न प्रांतों में नियुक्त किये गये अधिकारियों के पद उनके नाम उनकी संख्या जानने का हमारे पास साधन पूर्णतः उपलब्ध नहीं है । सम्भवतः इस ओर शेरशाह की कोई विशेष देन न हो सकी।

सरकारें

शेरशाह के काल में प्रत्येक प्रांत कई-कई सरकारों में विभाजित था। परगनों के शासनिक संगठन का नाम सरकार था। अबुलफजल लिखता है कि शेरशाह का साम्राज्य 47 सरकारों में बंटा था और बंगाल की 19 सरकारों को मिलाकर उसके राज्य में 66 सरकारें थी।[2] उत्तरी भारत में उसके प्रतिद्वन्दी, मुगल और बंगाल में सुल्तान महमूद को पराजित करने के पश्चात् शेरशाह ने एक नया कदम उठाया वह था उसके द्वारा सरकारों में विभाजन । शेरशाह द्वारा बंगाल, बिहार, मालवा और राजपूतानों में बहुत सी नयी सरकारों की स्थापना की गयी थी। प्रशासनिक संगठन की दिशा में इन क्षेत्रों ने उसका ध्यान अपनी ओर विशेष रूप से आकर्षित किया था।

लोदी साम्राज्य के समय बिहार क्षेत्र जिस पर अफगानों का सीधा नियंत्रण था, तुलनात्मक दृष्टि से उस समय यह अत्यन्त छोटा राज्य था परन्तु शेरशाह ने 1539 ई. तक अपनी विजयों के द्वारा बिहार राज्य में प्रशासनिक सुधार कर इस की भौगोलिक सीमा को निर्धारित किया और विलायत बिहार में उन परगनों को जो पहले किलाओं के रूप में जाने जाते थे, संगठित कर सरकार का रूप प्रदान किया । ये सरकारें बिहार, हाजीपुर, तिरहुत थी। इन्हें तिरहुत के राजा रूप-

---

1. कानूनगो : शेरशाह, पृ. 73, 74, 76, 77.
2. अकबरनामा, भाग 1, पृ. 399.

नारायण के अधीन छोड़ दिया गया था जबकि सरन और चम्पारन की सरकार को एक अलग व पृथक इकाई के रूप में व्यवस्थित कर उनके प्रशासन का भार मान हुसैन फार्मुली को सौंपा गया था।[1] उसने न केवल बिहार की विलायत में सरकारों की स्थापना की बल्कि बंगाल से कुछ सरकारों को पृथक कर इसमें §बिहार§ सम्मिलित भी किया । इस प्रकार बिहार भौगोलिक एवं साहित्यिक अस्तित्व में आ गया।[2] आइने अकबरी से स्पष्ट होता है कि शेरशाह ने बिहार में सात सरकारों का निर्माण किया जो बाद में काफी समय तक उसी रूप में चलती रही। अबुलफजल उनका नाम देते हुए लिखता है कि - उसके समय में निम्न सरकारें थीं -

1. 46 परगनों से जुड़ी हुयी बिहार-सरकार,
2. मुंगेर सरकार,
3. चम्पारन सरकार §इसमें केवल 3 परगने शामिल थे§,
4. सरन की सरकार,
5. तिरहुत की सरकार,
6. हाजीपुर की सरकार और
7. रोहतास की सरकार ।[3]

शेरशाह ने अपने अमीरों को बिहार के प्रत्येक सरकार में प्रशासन के लिए नियुक्त किया और उनमें से सभी को बिहार विलायत के गवर्नर के रूप में देखभाल करनी पड़ती थी। उसके समय में प्रत्येक सरकार में दो प्रमुख अधिकारी होते थे - §1§ शिकदार-ए-शिकदारान और §2§ मुन्सिफ-ए- मुन्सिफान ।[4]

शिकदार-ए-शिकदारान एक सैनिक अधिकारी होता था। उसके अधीन एक शक्तिशाली सैनिक टुकड़ी होती थी। अपने क्षेत्र में शान्ति व्यवस्था बनाये

---

1. तबकाते अकबरी, भाग 1, पृ. 382.
2. इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 105.
3. आईन-ए- अकबरी, भाग II, पृ. 165-68 ; इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 106.
4. कुरेशी : दि ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि मुगल एम्पायर, पृ. 231.

रखना, सड़क और मार्गों की चौकसी रखना, स्थानीय अधिकारियों को सहायता देना, परगने में शिकदारों के कार्यों की निगरानी आदि इनके प्रमुख कार्य थे। मुश्ताकी भी इस सम्बन्ध में अपना आशय व्यक्त करते हुए लिखता है कि - वह सरकार का एक उच्च अधिकारी होता था जिसके अधीन बहुत से परगना शिकदार होते थे।[1] शिकदार-ए-शिकदारान की नियुक्ति का श्रेय शेरशाह को ही दिया जाता है।[2] अब्बास ने भी जिसने वाकयाते मुश्ताकी के वर्षों बाद अपना संकलन पूरा किया, शिकदार-ए-शिकदारान का जिक्र किया है। वह लिखता है कि उसने प्रत्येक सरकार में शिकदारों का एक शिकदार तथा मुंसिफ-ए-मुन्सफान नियुक्त किया था ताकि वे जनता और सरकारी कर्मचारियों के विषय में पूरी-पूरी सूचना रखें और उनकी स्थिति पर सदैव दृष्टि रखें कि कोई व्यक्ति अत्याचार या अन्याय न करें तथा सरकारी धन में किसी प्रकार का उपभोग न होने दे। यदि सरकारी कर्मचारियों में आपस में कोई झगड़ा हो तो उसको रोके ताकि सरकारी कार्यों में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। यदि जनता उदण्डता एवं अहंकारवश कर वसूल होने में कोई बाधा डाले तो उनको समझा बुझा कर या दण्डनीति द्वारा, दमन करें ताकि उनके विद्रोह और झगड़े का प्रभाव अन्य लोगों में न फैलें।[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि शिकदार-ए-शिकदारान की उपाधि सम्बन्धी प्रथा प्रारम्भ तो हो गयी थी किन्तु फौजदारी विभाग का भी पूर्णतया लोप नहीं हुआ था। शेरशाह ने अलाउद्दीन खिलजी के काल से चली आ रही इस परम्परा को पुनर्जीवित किया और 1539 ई. में उसने उत्तरी भारत के विशाल क्षेत्र में शासन सत्ता संभालने के तुरन्त बाद फौजदार विभाग को लागू किया। इसकी पुष्टि अब्बास के लेखों से भी होती है, उसने 1540 ई. में अपने साम्राज्य विस्तार के प्रारंभ में ही शुजात खाँ को बिहार विलायत का और नासिर खाँ को संभल का फौजदार बनाया।[4]

---

1. मुश्ताकी, पृ. 89.
2. इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 121.
3. अब्बास, पृ. 211 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 313.
4. वही, पृ. 156 ; वही, पृ. 238 ; इक्तदार हुसैन सिद्दिकी, पूर्वोक्त, पृ. 118.

सरकार में मुंसिफ-ए-मुंसिफान मुख्य रूप से सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। उसकी शक्तियाँ एवं अधिकार क्षेत्र प्रशासन के द्वारा अथवा सम्राट् के द्वारा निर्धारित थी। सरकार की मालगुजारी की रकम तय करने वाले कर्मचारियों का वह प्रधान होता था। दीवानी मुकदमों का निर्णय उसे ही करना पड़ता था। वह परगनें के मुंसिफ के कार्यों की देखरेख भी करता था। वह उन विवादों का भी निप-टारा व निर्णय करता था जो भू-राजस्व व्यवस्था से सम्बन्धित थे। परगनों के सीमा विवादों का निर्णय करना, किसानों की शिकायतें दूर करना आदि उसके विशेष कार्य थे। इन उपर्युक्त दोनों अधिकारियों को सहायता देने के लिए बड़े-बड़े दफ्तर, बीसियों क्लर्क और एकाउन्टेन्ट आदि की भी व्यवस्था अवश्य रही होगी।

परगनें

प्रत्येक सरकार परगनों में बटा हुआ था। ये शासन की सबसे छोटी इकाई थीं। परगना संस्कृत शब्द प्रतिजोगणक अथवा प्रतिगण का ही बिगड़ा हुआ रूप है। प्राचीन भारत में लगभग 100 गाँवों को मिलाकर एक परगना बनाया जाता था। सल्तनत काल में यह इकाई विभिन्न नामों से जानी जाती थी।[1] शेर-शाह ने परगनों के शासन को सुव्यवस्थित किया तथा प्रत्येक परगनें में एक शिकदार, एक अमीन एक फौजदार और दो कारकुन एक नागरी लिपि में दूसरा फारसी लिपि में हिसाब किताब रखने के लिए नियुक्त किये।[2]

इसके अतिरिक्त उसने प्रत्येक परगने में एक कानूनगो नियुक्त किया जिससे

---

1. मजूमदार : दि स्ट्रगल फार एम्पायर, भाग V, बम्बई 1956, पृ. 275 ; एपीग्राफिया इण्डिका, जनवरी 1889, भाग I, पृ. 93-95 ; आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग II, पृ. 148-149 ; हरिशंकर श्रीवास्तव मुगल शासन प्रणाली, पृ. 117.
2. अब्बास, पृ. 210 ; मुश्ताकी, पृ. 98 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 313 ; आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान II, पृ. 149 ; कानूनगो : शेरशाह, पृ. 352-53.

परगने की भूतकालीन, वर्तमान तथा भविष्य की स्थिति के विषय में पूछता था।[1] यह अर्ध सरकारी अधिकारी माना जाता था और परगनों के लगान सम्बन्धी मामलों की पूरी जानकारी रखता था और समय-समय पर परगनों की बदलती हुयी स्थिति से अवगत कराता था।[2] परगनें का शिकदार एक सैनिक अधिकारी होता था जिसके नीचे एक छोटा सा सैनिक दल रहता था। उसका प्रमुख कार्य अपने क्षेत्र में शान्ति कायम रखना था किन्तु विद्रोहियों को दण्ड देने में उसे अमीन की सहायता भी करनी पड़ती थी। अमीन का काम भूमि की पैमाइश करवाना तथा लगान के बन्दोबस्त का प्रबन्ध करना होता था। फोतेदार परगने का खजांची होता था। इसकी नियुक्ति शेरशाह स्वयं करता था।[3] दोनों कारकुन ﴾लिपिक﴿ हिसाब किताब रखते थे । एक हिन्दी में रखता था और दूसरा फारसी में ।

मुंसिफ परगनों[4] में न्याय के मामले में अपना निर्णय देता था। उसे न्यायिक अधिकार प्राप्त थे। शेरशाह के समय में ये मुस्लिम शिक्षा में दक्ष होते थे और उच्च घरानों से सम्बन्धित होते थे । उसने इन अधिकारियों को यह आदेश दे रखा था कि प्रत्येक वर्ष भूमि की जरीब से माप की जावे और जरीब के अनुसार लगान निश्चित किया जाये ताकि मुकद्दम तथा सरकारी कर्मचारी जनता से धन वसूल करने में अत्याचार और अन्याय न करे । ﴾शेरशाह से पूर्व वार्षिक भूमि नापने की न तो प्रथा थी और न व्यवस्था।﴿

---

1. अब्बास, पृ. 211 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV ,पृ. 313.
2. वही.
3. अब्दुल्ला, पृ. 130.
4. अब्दुल्ला, मुश्ताकी समस्त परगनों की संख्या एक लाख 30 हजार लिखते हैं परन्तु अब्बास एक लाख 13 हजार परगनों की संख्या लिखता है - अब्दुल्ला, पृ. 130 ; मुश्ताकी, पृ. 98 ; अब्बास, पृ. 227 ; त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 351.

अब्दुल्ला लिखता है कि -"परगनों के दुर्गों की सुरक्षा की ओर भी शेरशाह ने ध्यान दिया और एक लाख 30 हजार सैनिकों की नियुक्ति की।"[1]

ग्राम शासन प्रबन्ध

प्रत्येक परगना गाँवों में विभाजित था । शेरशाह ने बुद्धिमत्तापूर्वक ग्रामीण जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार को माना था और गाँव के मुकद्दम, पटवारी एवं चौकीदारों के माध्यम से वह इनसे सम्पर्क रखता था। प्रत्येक गाँव का प्रमुख अधिकारी मुकद्दम, चौधरी या पटेल कहलाता था। यह गाँव के किसानों से लगान वसूल करता था। गाँव में शान्ति कायम रखने के लिए मुकद्दम ही उत्तरदायी था।[2] इसकी पुष्टि मुश्ताकी व अब्बास से भी होती है । वे लिखते हैं कि - प्रदेश में ऐसी शन्ति और सुरक्षा थी कि उस दिन से जबकि वह बादशाह हुआ, किसी स्थान पर चोरी तथा डकैती नहीं हुयी और यदि कहीं ऐसी दुर्घटना होती थी तो चारों ओर के गाँवों के मुकद्दमों को बन्दी बनाया जाता था और जो कुछ सामान चोर उठाकर ले जाते थे उन मुकद्दमों से वसूल किया जाता था। उनकी छानबीन की जाती थी और उसकी रोकथाम की जाती थी।[3] गाँवों के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में भी उसका व्यक्तित्व सर्वोपरि था। इस प्रकार मुकद्दम लोग शेरशाह व इस्लामशाह के समय में अपने गाँव की सीमाओं की रक्षा किया करते थे ।

इसके अतिरिक्त पटवारी का भी अस्तित्व था, जो गाँव का लेखा रखता था। गाँव में पंचायत की भी व्यवस्था थी। यह पंचायत गाँव की सुरक्षा, प्रारम्भिक शिक्षा, सफाई, सिंचाई तथा गाँव के आपसी झगड़ों को निपटाने का प्रबंध

---

1. अब्दुल्ला, पृ. 130.
2. हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ. 122, 224.
3. मुश्ताकी, पृ. 96 ; अब्बास, पृ. 220, 21 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV , पृ. 318.

करती थी। अधिकतर साधारण धार्मिक एवं दीवानी मुकदमों का फैसला ग्राम पंचायतों में ही हो जाता था। चूँकि इन गाँव पंचायतों का विशेष कानूनी अस्तित्व नहीं था इस कारण समकालीन ग्रन्थों में विशद् वर्णन नहीं मिलता।

सैनिक संगठन

यद्यपि शेरशाह ने अपना जीवन एक नागरिक के रूप में आरम्भ किया था तथापि वह प्रबल एवं कार्यक्षम सेना रखने के महत्व को समझता था इसलिए उसने सांमती सेना के ढंग को नापसन्द करते हुए सैन्य संगठन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सुधार कार्य किये । इस कार्य में उसने अधिकांशतः अलाउद्दीन खिलजी की सैनिक प्रणाली के प्रमुख सिद्धान्तों का ही अनुसरण किया।

लोदी शासकों की सैन्य पद्धति संगठन में जितनी सरल थी उतनी ही वह निर्बल और जीर्ण थी। इनकी सेनायें जाति और सांमतशाही तरीके पर संग-ठित की गयी थी, जिसके विभिन्न विभाग एक-एक जाति के आधार पर संगठित थे और नौकरी के बदले उन्हें जागीरें मिलती थीं लेकिन शेरशाह ने सांमती सेना के तरीके को नापसन्द करते हुए अलाउद्दीन खिलजी द्वारा व्यवहृत स्थायी सेना रखने की नीति अपनायी । सबसे पहले इस नये ढंग को भारतीय सेना का संगठन करने का श्रेय अलाउद्दीन खिलजी को ही है। उसने ऐसी सेना बनायी जिसकी भर्ती केन्द्रीय सरकार करती थी, जिसको वेतन राज्य के खजाने से मिलता था और जिसके अधिकारी सुल्तान की पसन्द के सरदार थे । शेरशाह ने भी इसी नीति का अनुसरण किया और खिलजी की पद्धति को पुनर्जीवित किया तथा सेना को पुनः संगठित करके एक शाही संस्था बना दिया। सैनिक अपने अधिकारी की आज्ञा मानने को बाध्य थे । बादशाह स्वयं प्रधान सेनानायक था और सब सेना का वेतन चुकाता था।[1] शेरशाह सेना को प्रबन्ध कार्य में नहीं लगाता था। शांति के समय सेना पीछे रहती थी केवल आवश्यकता होने पर राज्य के दूसरे अधिकारियों की सहायता किया करती थी।[2]

---

1. कानूनगो : शेरशाह, पृ. 361, 62.
2. वही, पृ. 353.

शेरशाह के सैन्य संगठन के सम्बन्ध में डॉ. परमात्माशरण लिखते हैं कि - अलाउद्दीन खिलजी ने जो सुधार किये थे आरामतलब और मन्दबुद्धि फिरोजशाह तुगलक ने उन्हें त्याग दिया था और तब से दिल्ली के सुल्तानों की सेना, आवश्यकता के समय, कुलीनों तथा जागीरदारों द्वारा एकत्रित हर प्रकार के व्यक्तियों का केवल गिरोह होता था। सुल्तान स्वयं सेना की भर्ती नहीं करता था और उसके निरीक्षण, अनुशासन अथवा प्रशिक्षण की भीकोई व्यवस्था विद्यमान न थी। फलतः शेरशाह ने अपनी स्वाभाविक मुस्तैदी के साथ सेना में सुधार शुरू किये और शीघ्र ही सैनिक व्यवस्था को पूर्णतया परिवर्तित करके एक नवीन रूप दिया।[1]

शेरशाह के सैन्य संगठन के सम्बन्ध में अब्बास विस्तृत वर्णन करता हुआ लिखता है कि - उसने इतनी विशाल और सुव्यवस्थित सेना एकत्रित की थी कि सेना अनुमान की सीमा से अधिक एकत्रित हो गयी थी और उसकी संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। देश को विद्रोहियों और डाकुओं के आतंक से सुरक्षित रखने, उपद्रवी जमींदारों का दमन करने तथा किसी व्यक्ति द्वारा जो देश को शासक रहित पाकर {विद्रोह करने या स्वतन्त्र शासक बनने की इच्छा करता, उसका विनाश करने के लिए सेना का ऐसा नियम बनाया था कि एक लाख 50 हजार अश्वारोही, 25 हजार पदाति 5 हजार हाथी व बन्दूक तथा बाण चलाने वाले सदैव उसकी राजधानी में उपस्थित रहते थे । कुछ अभियानों में इससे भी अधिक सेना अपने पास रखता था।[2] इसके अलावा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार देश के विभिन्न भागों में भी सेना तैनात थी।[3] इसकी पुष्टि अब्दुल्ला के लेखों से भी होती है। वह लिखता है कि - शेरशाह ने सिंहासनारोहण के दिन ही यह आदेश दिया था कि प्रत्येक प्रांत में कोष एवं सेना बादशाही सरकारों से

---

1. परमात्माशरण, पृ. 239.
2. अब्बास, पृ. 211-12 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV , पृ. 314.
3. त्रिपाठी लिखते हैं कि उसके सेना की कुल संख्या 4 लाख से कम नहीं रही होगी - उत्थान-पतन, पृ. 111.

एकत्रित रखी जाये ताकि जिस समय भी आवश्यकता हो वही कोष और सेना काम में लायी जा सके ।[1]

प्रत्येक प्रदेश में आवश्यकतानुसार कोष और सेना रहती थी। उदाहरण स्वरूप उसने ग्वालियर के किले में एक सेना तथा बन्दूकची, रणथम्भौर के किले में एक सेना तथा 1 हजार बन्दूकची, बयाना के किले में सेना का एक भाग और पाँच सौ बन्दूकची नियत किये थे । शादियाबाद अर्थात् माँडू में शुजातखाँ को 7000 अश्वारोही सहित नियुक्त किया । इसके अतिरिक्त रायसीन दुर्ग में एक सेना एक हजार बन्दूकची, चुनार के दुर्ग में एक सेना और 1 हजार बन्दूकची तथा बड़े रोहतास में {जो बिहार में स्थित है} अख्तियार खाँ पन्नी[2] को एक सेना और 12 हजार बन्दूकचियों सहित नियुक्त किया। असंख्य धन से परिपूर्ण केन्द्रीय कोष जिसकी कोई गणना नहीं थी उस दुर्ग में सदैव रहती थी। ढुंढेरा प्रदेश में भी एक सेना नियुक्त की थी। खवास खाँ तथा ईसा खाँ को नागौर, अजमेर और जोधपुर के प्रदेश में नियुक्त किया था । इसी प्रकार लखनऊ और कालपी की सरकारों में भी एक सेना नियुक्त की थी। बंगाल में उसने किसी अधिकारी की नियुक्ति नहीं की । काजी फजीलत {जो फजीहत के नाम से विख्यात हुआ} को बंगाल का अमीन नियुक्त किया । इसके अलावा 1 लाख 50 हजार अश्वारोही सदैव अपने पास रखता था। यदि संयोगवश इन सवारों में से कुछ को किसी दूसरे स्थान पर नियुक्त करता था तो उनके स्थान पर अन्य सैनिक आ जाते थे ।[4] सैनिकों की भर्ती, वेतन,

---

1. अब्दुल्ला, पृ. 130.
2. अब्दुल्ला - इख्तियार खाँ शेखानी लिखा है - वही.
3. अब्बास, पृ. 215-16 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 315.
4. अब्दुल्ला, पृ. 130 परमात्माशरण लिखते हैं कि - यदि प्रत्येक फौज की संख्या अनुमानित, औसत 10,000 अश्वारोही मानी जाये तो छावनियों में जिनकी संख्या 15 थी बँटी हुयी फौजों की संख्या मोटे तौर पर 1,50,000 अश्वारोही होगी। इस प्रकार स्थायी सेना की संख्या लगभग 3 लाख अश्वारोही और इसके अतिरिक्त लगभग 1 लाख पैदल सेना रही होगी - पृ. 243.

समय पर उनकी अदायगी और सैनिकों की तरक्की जैसे ब्योरों पर शेरशाह स्वयं ध्यान देता था। इतना ही नहीं वह उनकी सुविधाओं का भी ख्याल रखता था और उन्हें संतुष्ट रखने का पूरा प्रयत्न करता था।[1]

शेरशाह ने अलाउद्दीन खिलजी की दाग व हुलिया प्रणाली को भी पुनः प्रचलित किया। वह बिना घोड़ों को चिन्हित किये, किसी सैनिक को कुछ भी न देता था।[2] इस योजना को क्रियान्वित करने का उसका प्रमुख उद्देश्य उन जागीरदारों को जो अपने सैन्य दल स्वयं भर्ती करते थे, की धोखेबाजी से रोकना था। इस सम्बन्ध में अब्बास विस्तृत वर्णन करता हुआ लिखता है कि - शेरशाह ने यह नियम इसलिए प्रचलित किया कि अमीरों और सैनिकों के अधिकारों के विषय में कोई भेद न रहे और अमीर सैनिकों के अधिकारों का पूरा-पूरा ध्यान रखें तथा

---

1. अब्बास, पृ. 209-10 यदि अब्बास का कथन अक्षरशः स्वीकार किया जाये तो स्पष्ट होता है कि शेरशाह के इस सुधार का आधारभूत लक्षण था सेना का नियंत्रण, निरीक्षण और कदाचित केन्द्रीय सेना की भर्ती को पूरे तौर पर शेरशाह के हाथों में केन्द्रित कर लेना। उपर्युक्त तथ्यों से कभी यह तात्पर्य नहीं निकलता कि शेरशाह प्रत्येक सैनिक को यहाँ तक कि जागीरदारों के सैन्य दलों को भी स्वयं भर्ती करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि अब्बास ने केवल इस तथ्य का प्रासंगिक उल्लेख किया है कि वह इतना क्रियाशील था कि राजधानी में भर्ती किये जाने वाले सैनिकों का चुनाव, अधिकारियों व कर्मचारियों पर न छोड़कर स्वयं करता था। किसी भी सम्राट् के लिए प्रत्येक सैनिक की भर्ती करना व्यवहार में असम्भव था, विशेषकर ऐसी स्थिति में जबकि वह नागरिक और सैनिक कार्यों के कारण अति व्यस्त रहता हो। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जिस सेना की भर्ती राजधानी में होती थी उसी में बादशाह की निजी देख-रेख संभव हो सकती थी। प्रांतीय राजधानी की सैनिक भर्ती के लिए उसने अपने अधिकारियों को आवश्यक आदेश देकर बिना उससे पूछे रंगरूटों (सैनिक) को भर्ती करने की आज्ञा दे दी होगी । परमात्माशरण, पृ. 240.
2. नियामतउल्लाह I, पृ. 338 ; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग IV, पृ. 208.

अपने मनसब के अनुसार प्रत्येक सैनिक पर दृष्टि रखें । उसमें कटौती या बढ़ौती न करे । इब्राहिम लोदी के शासन काल में तो निकृष्ट प्रवृत्ति के अमीरों ने झूठ को ही अपना वस्त्र तथा चरित्र बना लिया था।[1] आगे वह उनमें व्याप्त बुराइयों के सन्दर्भ में लिखता है कि - मासिक वेतन निश्चित करते समय वे बड़ी मात्रा में सेना प्रस्तुत करते थे । जब जागीर उनके हाथ में आ जाती थी तो अधिकांश सैनिकों को उनका देय धन न देकर विदा कर देते थे, अथवा सेवा से निकाल देते थे और आवश्यकतानुसार केवल थोड़े से सैनिकों को अपनी सेवा में रखते थे और इन लोगों को भी उनका पूरा वेतन नहीं देते थे । यदि सेना में भर्ती करने वाला अधिकारी सेना के निरीक्षण तथा प्रत्यक्ष उपस्थिति की मांग करता था तो वे लोग झूठे सैनिक और घोड़े लाकर दिखा देते थे और प्राप्त धन अपने कोषागारों में एकत्रित कर लेते थे किन्तु युद्ध के समय थोड़े सैनिकों के होने के कारण वे भाग खड़े होते थे। उनकी दृष्टि में अपने धन को बचाना ही सर्वोपरि होता था और इस प्रकार स्वामी का अभियान निष्फल और नष्ट हो जाता था। इस छलकपट को समाप्त करने की दृष्टि से उसने दाग की प्रथा का प्रचलन किया ताकि यह प्रथा अमीरों और सैनिक के मक्कार और चालाकी के मार्ग में एक दीवार न बन जाये । इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी निर्धारित संख्या के अनुसार सैनिक भर्ती करे और सैनिकों को जो देय वेतन है उसमें हस्तक्षेप न करें । सैनिकों तथा घोड़ों के निरीक्षण के समय वे अन्य सैनिक और घोड़े न लायें । शेरशाह का यह नियम था कि वह बिना दाग लगाये किसी व्यक्ति का मासिक वेतन निश्चित न करता था यहाँ तक कि महल के अन्दर काम करने वाली स्त्रियों और झाड़ू लगाने वालों को दाग लिये बिना कोई वस्तु (वेतन) प्रदान न करता था। सैनिक और घोड़ों का हुलिया लिखकर उसके समक्ष लाया जाता था। वह मासिक वेतन स्वयं अपने मुख से कहकर निश्चित करता था, इसके पश्चात् स्वयं अपने समक्ष घोड़ों पर दाग लगवाता था और पुरानी सेना का निरीक्षण भी वही करता था।[2]

---

1. अब्बास, पृ. 208 .
2. वही ; इलियट एण्ड डाउसन, IV ,पृ. 312 ; अब्दुल्ला, पृ. 129 ; मुश्ताकी, पृ. 97-98 ; परमात्माशरण, पृ. 240 ; ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 170 द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है.

मुश्ताकी लिखता है कि - सीमान्त प्रदेशों में स्थित सेना में दाग के लिए उसने मुंसिफ नियुक्त किये थे और जिस समय वह स्वयं उन स्थानों पर जाता था, दाग लगवाता था।[1]

इन सुधारों के कारण सेना में प्रचलित बहुत से दोष दूर हो गये और अब यह एक शक्तिशाली सैनिक संगठन बन गया। एक सैनिक और उसके ऊपर के अधिकारी के मध्य अब केवल पारस्परिक प्रेम भाव का ही सम्बन्ध नहीं रहा बल्कि अनुशासन और नियन्त्रण पर आधारित सम्बन्ध अब अधिकारी और मातहत में बदल गया। परन्तु यह समझना गलत होगा कि शेरशाह ने जागीर प्रथा समाप्त कर दी थी । सैनिकों का वेतन तो प्रायः नगद ही दिया जाता था किन्तु अधिकारी और सरदार तो पहले की भाँति ही जागीरों का लाभ प्राप्त करते थे फिर भी शेरशाह ने एक अच्छा सुधार किया, वह यह कि अब प्रत्येक सैनिक को उसका वेतन सीधा दिया जाने लगा, पहले की तरह कमांडिंग आफिसर अथवा किसी सरदार द्वारा नहीं ।

पुलिस प्रबन्ध, डाक चौकी तथा गुप्तचर व्यवस्था

आन्तरिक एवं बाह्य आक्रमणों से देश की शान्ति एवं व्यवस्था सुरक्षित रखने तथा अपराध एवं अत्याचार को दूर करने के लिए शेरशाह ने पुलिस विभाग को पुनः संगठित किया। यद्यपि इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त नहीं होती फिर भी प्राप्त लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शेरशाह ने पुलिस व्यवस्था का निर्माण स्थानीय उत्तरदायित्व के आधारभूत सिद्धान्त पर किया था।[2] इसके समय में पुलिस का कोई अलग विभाग नहीं था।

---

1. मुश्ताकी, पृ. 98.
2. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 12-13.

शिकदार-ए-शिकदारान का कर्तव्य था कि वह सरकार में शान्ति व्यवस्था बनाये रखे । वह अपने अधिकार क्षेत्र में शान्ति संरक्षक था। परगने का शिकदार ही सैनिक और पुलिस अधिकारी था तथा वही फरमानों को क्रियान्वित करता था।[1] इन अधिकारियों को अपने-अपने क्षेत्रों के चोरों, लुटेरों और बदमाशों पर कड़ी नजर रखनी पड़ती थी और अपराधियों को दण्ड भी देना पड़ता था इनके ऊपर पुलिस अधिकारी फौजदार था। जहाँ तक ग्रामों के शासन का सम्बन्ध था, शेरशाह ने स्थानीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का प्रयोग किया था और इस प्रकार गाँव में होने वाले अपराधों की जिम्मेदारी वहाँ के मुखिया पर रहती थी। जैसा कि अब्बास के लेखों से स्पष्ट होता है कि - मार्गों तथा राजपथों को चोर-डाकुओं के आतंक से सुरक्षित रखने के लिए शेरशाह ने निम्नलिखित अधिनियम प्रचलित किये थे - शेरशाह ने अपने अमीलों और उच्च अधिकारियों को दृढ़तापूर्वक सावधान कर दिया था कि यदि कोई चोरी या डकैती की घटना उनकी सीमाओं में घटी हो और अपराधी का पता न लगे तो वे उन गाँवों के मुकद्दमों को पकड़कर उनसे चोरी या डकैती की रकम वसूल कर ले । यदि क्षतिपूर्ति के पश्चात् भी मुकद्दमों ने उन चोरों और डकैतों को पकड़ा या उनका पता बता दिया तो मुकद्दम का धन फिर वापस कर दिया जायगा । अपराधी को उसके विरुद्ध चोरी या डकैती का अपराध सिद्ध होने पर शरियत या इस्लामी विधि के अनुरूप दण्ड भोगना होगा । यदि कहीं किसी व्यक्ति का वध हो जाये और हत्यारे का पता न लगे तो ऐसी स्थिति में उपर्युक्त विधि के अनुसार इस स्थान के मुकद्दम को पकड़ लेना अनिवार्य होगा किन्तु उन्हें यह छूट दी गयी थी कि वे निश्चित अवधि में हत्यारे का नाम पता आदि का ब्यौरा दे दें । यदि कोई मुकद्दम हत्यारे को प्रस्तुत कर देता था या उसका नाम, पता ठिकाना बता देता था तो उसे मुक्त कर दिया जाता था और हत्यारे को मृत्यु दण्ड दिया जाता था। पता न बताने पर स्वयं मुकद्दम को ही मृत्यु दण्ड दिया जाता था।[2] ताकि अन्य लोगों को सबक मिल सके । इसी प्रकार मुखिया को

---

1. कानूनगो : शेरशाह, पृ. 352-53.
2. अब्बास, पृ. 220-21 ; इलियट एण्ड डाउसन, IV , पृ. 318-19.

भी आदेश दिया जाता था कि वह अपराधी को पेश करें अथवा चुराये गये व लूटे गये माल की क्षतिपूर्ति करे । यदि इस कार्य में वह असफल होता था तो उसे भी मृत्यु दण्ड का भागीदार बनना पड़ता था।

इस दण्ड की कठोरता के औचित्य के सम्बन्ध में शेरशाह का कहना था कि - किसी भी क्षेत्र के मुखिया तथा जमींदार को अपने आसपास के चोरों और लुटेरों का पता रहता था। कोई भी चोरी, डाका या हत्या उनकी जानकारी से बाहर नहीं होती किन्तु वह जानते हुए भी अपने अधिकारियों से छिपाता है और स्पष्ट नहीं करता । ऐसे मुकद्दमों का दूसरों को चेतावनी देने के लिए वध कर देना चाहिए जिससे अन्य व्यक्तियों को उससे भय प्राप्त हो और वे कुकर्मों से बचे ।[1] यही कारण था कि शेरशाह और इस्लाम शाह के समय में मुकद्दम अपने गाँव की रक्षा करते थे ताकि ऐसा न हो कि चोर डाकू या उनके शत्रु उनके अधीनस्थ मार्गों में चलने वाले यात्रियों को हानि पहुँचा दें, जो उनके लिए पश्चाताप एवं वध का कारण बन जाये ।[2]

जहाँ तक दण्डित करने का प्रश्न है शेरशाह दण्ड के सम्बन्ध में भी अधिक कठोर था जिसके कारण बड़े-बड़े उपद्रवी भी दुष्टता करने में घबराते थे ।[3] यही कारण था कि शेरशाह के शासनकाल में देश में जिस प्रकार सुरक्षा और हिफाजत की व्यवस्था थी उसकी तत्कालीन और परवर्ती लेखकों ने बड़ी ऊँची सराहना की है । यह कहना अनुचित न होगा कि स्थानीय महत्व के व्यक्तियों को प्रत्येक प्रकार के अपराधों की घटनाओं के प्रति उत्तरदायी मानने की नीति अपना कर और दुष्टों को निर्दयता से दंडित करके उसने लोगों पर इतना आंतक बैठा दिया था कि वे किसी भी परिस्थितियों में बुरा कर्म करने का साहस नहीं कर सकते थे । उसकी नीति थी कि दुष्टों को ऐसी कड़ी सजा दी जाय और बदमाशों व दुष्टता के स्रोत का इतनी कठोरता से प्रतिकार किया जाये जो दूसरों को दुष्टता करने से

---

1. अब्बास, पृ. 221 ; इलियट एण्ड डाउसन IV , पृ. 319.
2. वही.
3. परमात्मा शरण, पृ. 390-91.

रोके। यद्यपि देखने में यह नीति बर्बर जान पड़ती है, पर सम्पूर्ण साम्राज्य में अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल रही। उसकी कठोर नीतियों का ही परिणाम था कि उसके राज्यकाल में राहगीर अपनी वस्तु की निगरानी रखने से मुक्त थे जिस स्थान पर रात्रि होती चाहे वह निर्जन हो अथवा बसा हुआ, वहाँ बिना किसी भय के उतर पड़ते थे। अपना सामना बिना खटके के रख देते थे। अपने घोड़ों को चरागाह में छोड़ देते थे और स्वयं निश्चिन्त होकर अपने घर में सो रहते थे। उस स्थान के जमींदार उनके माल की चौकसी रखते थे क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं कोई हानि हुयी तो वे बन्दी बनाये जाने या अपमानित होने का कारण न बन जायें। यदि कोई वृद्ध स्त्री अपने सिर पर धन या गहनों से भरी टोकरी लेकर मार्ग में जाती हो तो कोई चोर या लुटेरा उसके आस-पास नहीं फिर सकता था।[1]

गाँवों में एक ओर जहाँ मुकद्दम अथवा मुखिया के कन्धों पर सुरक्षा का भार था वहीं दूसरी ओर परगनों में आमिल और शिकदार आपस में पुलिस का कार्य बाँट कर किया करते थे। उनके ऊपर पुलिस अधिकारी फौजदार था, प्रधान आमिल का कार्य मुख्यतः राजस्व तक ही सीमित था।

पुलिस व्यवस्था के प्रभाव के बारे में फरिश्ता लिखता है कि - शेरशाह के समय में उसके द्वारा उठाया गया यह कदम वास्तव में आम जनता की सुरक्षा के लिए उचित कदम था।[2] निजामुद्दीन अहमद लिखता है कि - आम रास्ते की सुरक्षा की ऐसी व्यवस्था थी कि यदि कोई सोनों के टुकड़ों से भरा हुआ थैला लेकर चलता तथा रातों तक मरुभूमि (निर्जन स्थान) में सोता तो रखवाली करने की कोई आवश्यकता नहीं होती थी।[3]

---

1. अब्बास, पृ. 238-39 ; इलियट एण्ड डाउसन IV, 328 ; अब्दुल्ला, पृ. 127.
2. फरिश्ता, ब्रिग्स II, पृ. 78.
3. तबकाते-ए-अकबरी, पृ. 232-33 (नवल किशोर प्रति), मुगल एम्पायर, विद्या भवन सीरीज, भाग VII, पृ. 86.

डाक चौकी और गुप्तचर व्यवस्था

भारत में सदैव ही किसी न किसी रूप में समाचार प्रेषक और गुप्तचर व्यवस्था रही है। यदि गुप्तचर विभाग के तात्कालिक अभिलेख नष्ट न कर दिये जाते तो वे उस समय के इतिहास पर एक अत्यन्त मूल्यवान एवं विपुल ऐतिहासिक साधन होते । उनके सम्बन्ध में आपनपत्रों, इतिवृत्तों में प्रासंगिक हवाले ही शेष रह गये हैं। इन प्रासंगिक हवालों से उक्त पद्धति के वास्तविक कार्य संचालन के सम्बन्ध में हमें कुछ प्रकाश मिलता है, जिस आधार पर यह कहा जा सकता है कि - शेरशाह ने अलाउद्दीन खिलजी की डाक चौकी और गुप्तचर विभाग को ही पुनः संचालित किया था। वास्तव में ये दोनों जुड़वा विभाग जनसेवा के अनिवार्य अंगों के रूप में कार्य करते रहे हैं, क्योंकि इन सुसंगठित स्रोतों से शासकों को तत्कालीन सूचना प्राप्ति के अभाव में इतने बड़े देश का शासन चलाना असम्भव सा था।[1]

इस दृष्टि से शेरशाह ने लोगों की रक्षा के लिए जो नियम बनाये थे उनके पालन के लिए उसने विश्वसनीय गुप्तचरों को प्रत्येक अमीर की सेना में गुप्त रूप से नियुक्त किये थे, ताकि प्रत्येक सैनिक, प्रजा तथा अमीर का हाल ज्ञात हो सके । वह जानता था कि दरबार के निकटवर्ती व्यक्ति तथा बड़े-बड़े सामंत अपने स्वार्थ के लिए बादशाह से देश का सच्चा हाल नहीं बतलाते ताकि बादशाह न्याय में जो कुछ बुराई आयी हो उसका सुधार कर सके ।[2] उसकी गुप्तचर व्यवस्था स्थानीय प्रशासन पर निगरानी रखने के लिए की गयी थी । यदि कोई अधिकारी अथवा अमीर स्थानीय न्याय में असफल होता था या कोई अपराध को बढ़ावा देता था तो गुप्तचरों द्वारा प्राप्त सूचनाओं के आधार पर ही वह सम्बन्धित मामले की जाँच कर उन्हें दण्डित करता था ।[3] इस सम्बन्ध में डॉ. कानूनगो

---

1. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग 2, पृ. 312.
2. अब्बास, पृ. 227, 228 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 322.
3. ईश्वरी प्रसाद : हुमायूँ, पृ. 170.

लिखते हैं कि - लोगों की रक्षा के लिए वह अमीरों की प्रत्येक टुकड़ी के साथ विश्वासपात्र गुप्तचर भेजता था। ये सरदारों, उनके सैनिकों तथा जनता से गुप्त रूप से समाचार पाकर उसके पास भेजते थे, क्योंकि दरबारी और मंत्री लोग अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए बादशाह के पास राज्य की ठीक-ठीक खबरें नहीं पहुँचाया करते थे, उन्हें भय रहता था कि यदि सच्ची खबरें बादशाह के पास पहुँचेंगी तो न्यायालयों में जो त्रुटि और अव्यवस्था होगी, वह ठीक कर दी जायेगी ।[1]

इस व्यवस्था को सुचारू रूप से कार्यान्वित करने के लिए उक्त विभाग के अध्यक्ष पद पर दरोगा-ए-डाक चौकी की नियुक्ति की थी । उसके अन्तर्गत समाचार लेखकों और समाचार वाहकों की नियुक्ति की गयी थी, जो साम्राज्य के प्रत्येक भाग की प्रमुख घटनाओं का संकलन करते थे। प्रत्येक सरायों पर नियुक्त हरकारे शाही डाक पहुँचाने का काम करते थे, जिससे शेरशाह को सिन्ध (नीलाब) से लेकर बंगाल बिहार तक की सूचना प्राप्त होती थी ।[2] इस प्रकार उसने सभी राज्य की सरायों में मिलाकर देश के प्रत्येक भाग से नित्य खबर पहुँचाने के लिए 3400 घोड़े नियत किये थे ।[3]

इस व्यवस्था के द्वारा शेरशाह न केवल राज्य के प्रत्येक भाग से परिचित रहता था, बल्कि बाजार के मूल्यों की दैनिक रिपोर्ट भी बादशाह तक पहुँचती थी । समाचार वाहक और गुप्तचर, समस्त प्रमुख नगरों के साथ-साथ बाजारों में भी नियुक्त किये गये थे । यह विभाग ऐसी कुशलता से कार्य करता था कि प्रांत में नियुक्त सैनिकों के असन्तोष की सूचनायें और जमींदार तथा बड़े जागीरदारों की विद्रोहपूर्ण चेष्टाओं का पता उन क्षेत्रों के जानकारों से पूर्व ही बादशाह को

---

1. कानूनगो : शेरशाह, पृ. 361-62 ; एस.आर. शर्मा, पृ. 149-50.
2. नियामत उल्लाह, भाग 1, पृ. 336.
3. अब्बास, पृ. 227 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग 1 , पृ.322 ; एस.आर. शर्मा : मुगल साम्राज्य, पृ. 149.

चल जाता था। इस व्यवस्था द्वारा सफलतापूर्वक शासन का संचालन होने लगा ।[1]

मुद्रा प्रणाली में सुधार

हिन्दुस्तानी मुद्राओं के इतिहास में शेरशाह का काल एक परीक्षण का काल है। तुर्क और अफगान शासन काल में चालू सिक्का बहुत कम कीमत का रह गया था, टकसालों की स्थिति भी दयनीय थी। बाबर तथा हुमायूँ अल्प समय के कारण इस ओर विशेष ध्यान न दे पाये थे। यद्यपि मुगल साम्राज्य की स्थापना के समय भारत में सिक्कों का प्रचलन था, किन्तु कला तथा मूल्य की दृष्टि से उसमें गिरावट आ गयी थी ।[2] परिणामस्वरूप शेरशाह ने सिक्कों का स्तर ऊँचा उठाने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया ।[3]

अहमदयादगार लिखता है कि उसने सिंहासन पर बैठने के पश्चात् ताँबे का सिक्का चलाया, जो विश्व में लोगों के क्रय-विक्रय का आधारबन गया। यद्यपि उसके पूर्व सुल्तान मुहम्मदबिनतुगलकशाह ने इसके लिए बड़ा प्रयत्न किया था, यहाँ तक कि बड़े कठिन दण्ड भी दिये थे तथा रक्तपात किया था, फिर भी उसका प्रचलन न हो सका, किन्तु शेरशाह के शासनकाल में उसके प्रयासों द्वारा सरलता से प्रचलित हो गया ।[4] राज्य प्राप्ति के पश्चात् उसने यह अनुभव कर लिया था कि धातु की कमी, प्रचलित सिक्कों की घिसावट और खोटेपन तथा विभिन्न धातुओं के सिक्कों के बीच कोई निश्चित अनुपात न होने के कारण मुद्रा प्रणाली एकदम बिगड़ चुकी है, इस कारण उसने चाँदीके भी बहुत से नये सिक्के चलवाये जो "दाम" कहलाते थे। उसने इनका वजन और सौन्दर्य निश्चत कर दिया था। उसके चाँदी के रुपये का वजन

---

1. परमात्मा शरण, पृ. 186 ; ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 170.
2. हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ. 169.
3. त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ. 111.
4. अहमदयादगार, पृ. 226-227. शेरशाह द्वारा प्रचलित ताँबे के सिक्कों को पैसा कहा जाता था.

180 ग्रेन था, जिसमें 175 ग्रेन शुद्ध चाँदी होती थी। यह मूल्य में वर्तमान रुपये के बराबर था। इस पर अरबी अक्षरों की खुदायी के अतिरिक्त नागरी अक्षरों में बादशाह (शेरशाह) का नाम लिखा रहता था।[1] त्रिपाठी का कहना है कि उसका रुपया इतनी खरी चाँदी का था कि सैकड़ों वर्षों तक वह मान्य रहा।[2] ताँबे व चाँदी के अलावा विशुद्ध धातु के सोने के सिक्के भी ढाले गये जो तौल में 166.4 ग्रेन, 167 ग्रेन और 168.5 ग्रेन के थे। रुपये और दाम में एक और 64 का अनुपात था, परन्तु सोने के सिक्कों की संख्या कम थी।

मुद्रा सम्बन्धी उसके ये सुधार बड़े लाभदायक और सुविधाजनक सिद्ध हुये। आधुनिक मुद्रा शास्त्रियों ने शेरशाह के इन सुधारों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उदाहरणस्वरूप एडवर्ड थामस ने लिखा है कि - "उसने विशेष प्रकार के टकसाली सुधार ही जारी नहीं किये, बल्कि पिछले बादशाहों के समय में जो मुद्राओं में हीनता आने लगी थी, उसको भी रोका और ऐसे सुधार जारी किये, जिनको मुगल लोग अपने सुधार बतलाते थे।"[3]

डॉ. स्मिथ लिखते हैं कि - "शेरशाह को ऐसी सुधारी हुयी मुद्रा पद्धति को स्थापित करने का सम्मान प्राप्त है, जो मुगल काल में चलती रही और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में सन् 1835 ई. तक बनी रही, और जो वर्तमान अंग्रेजी मुद्रा का आधार है।"[4] डॉ. कानूनगो लिखते हैं कि - भारत में 19वीं शताब्दी तक जो मुद्रा और माली पद्धतियाँ चलती रहीं वे अकबर की देन नहीं बल्कि शेरशाह की देन थी।[5]

---

1. स्मिथ : इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया, भाग2, पृ. 145-46.
2. त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ. 111.
3. थामस : क्रानिकल्स ऑफ दि पठान किंग्स ऑफ देलही, दिल्ली 1971, पृ.403.
4. स्मिथ : इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया, भाग 2, पृ. 145-146.
5. कानूनगो : शेरशाह, पृ. 347, 360, 415, 420 ; एस.आर. शर्मा : ऐडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टमऑफ शेरशाह, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग12, 1936, पृ. 4.

न्याय व्यवस्था

निष्पक्ष न्याय विभाग के बिना एक सुव्यवस्थित प्रशासन अधूरा ही रह जाता है। न्याय कार्य के द्वारा ही सुल्तान के नैतिक चरित्र का प्रभाव प्रजा पर पड़ता है। न्याय सामाजिक संगठन एवं नागरिक व्यवस्था का आधार है। यह वह मापदण्ड है, जिस पर शासक के क्रिया-कलापों, अच्छाइयों और बुराइयों को तौला जाता है। सत्य और मिथ्या के मध्य विभेद को न्याय के द्वारा ही जाना जा सकता है ।[1] शेरशाह इस बात को अच्छी तरह समझता था, इसलिए सच्चे मुस्लिम शासक की हैसियत से उसने न्याय व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया। न्याय के विषय में उसके विचार बहुत ऊँचे थे ।[2]

यद्यपि शेरशाह की न्याय-प्रणाली के सम्बन्ध में हमारी जानकारी नाम-मात्र की है तथापि उसकी न्याय-प्रणाली की रूपरेखा निर्धारित करने के लिए पर्याप्त सामग्री प्राप्त है, जिस आधार पर यह स्पष्ट होता है कि - शेरशाह स्वयं न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था। प्रतिदिन प्रातः वह आमखास में बैठकर सभी आगन्तुकों की फरियादें अथवा शिकायतें सुनता था। अपीलों के अतिरिक्त वह प्रारम्भिक मुकदमें भी सुनता था ।[3]

अब्बास लिखता है कि - "उसकी आत्मा न्याय के आभूषणों से अलंकृत थी । इस विषय में प्रायः वह कहा करता था कि - न्याय एक अति उत्तम धार्मिक कृति है। न्याय पर सभी प्राणियों का बराबर अधिकार है, चाहे वे मुसलमान हों या काफिर (हिन्दू)। जनता को राजकीय न्याय की छत्रछाया से वंचित रखना उसे विनाश और बरबादी के गहरे गर्त में धकेलना है। अन्याय से शक्ति तथा सत्ता क्षीण होती है और राज्य पतन की ओर बढ़ता चला जाता है। अतः एक शासक

---

1. बरनी, फतवा-ए-जहाँदारी, (अनु.) पालिटिक्स थ्योरी ऑफ दि देलही सल्तनत, हबीब एवं अफसर बेगम, इलाहाबाद, पृ. 16.
2. त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ. 109.
3. अब्बास, पृ. 207 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV , पृ. 311.

का परम कर्तव्य है कि वह सांसारिक हितों की सुरक्षा के लिए अपने सैनिकों और जनता के अधिकारों को अपनी शक्ति एवं नीति द्वारा सुरक्षित रखे तथा अपने अधिकारियों एवं सैनिकों को प्रजा पर अन्याय, प्रलोभन तथा भ्रष्टाचार करने से रोके।[1]

इन्हीं नियमों के आधार पर शेरशाह स्वयं राज्य के अनुशासन कार्यों में लगा रहता था। उसकी न्याय व्यवस्था उच्च आदर्शों पर आधारित थी । न्याय करने में वह ऊँच-नीच, गरीब-अमीर का भेद नहीं मानता था। उसने अत्याचारियों का कभी पक्ष नहीं लिया चाहे वे उसके रिश्तेदार हों या प्रिय पुत्र हों या उसके प्रसिद्ध सरदार अथवा जाति के लोग । अत्याचारियों को दण्ड देने में वह न देर करता था और न दया। वह प्रत्येक अवसर पर न्याय तथा सच्चाई पर दृढ़ रहता था। उसने स्थान-स्थान पर सम्पूर्ण साम्राज्य के मुख्यालयों में न्यायालयों का जाल सा बिछा दिया था ।[2]

तारीखे दाऊदी में सर्वत्र काजी और मीर अदल की अदालतों के अस्तित्व का हवाला मिलता है ।[3] डॉ. कानूनगो की मान्यता है कि - "कोई इतिहासकार यह नहीं कहता कि दीवानी मुकदमों को सुनने के लिए मीर-ए-अदल या काजी नियत किये गये थे और उनको शरियत जानना आवश्यक था। तारीखे दाऊदी में एक घटना के जिक्र के समय केवल एक ही बार मीर-ए-अदल या काजी का जिक्र आया है। निःसन्देह यह सुल्तान सिकन्दर लोदी द्वारा विकसित की हुयी संस्था चली आ रही थी ।"[4] यद्यपि कहीं कहीं मीर-ए-अदल का संदिग्ध उल्लेख मिलता तो है पर उनके कर्तव्य क्षेत्र का विवरण नहीं मिलता ।

---

1. अब्बास, पृ. 207-208 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग । ,पृ.311.
2. वही. फरिश्ता, पृ. 229 ; परमात्माशरण, पृ. 352 ; एस.आर.शर्मा : पृ. 143-144 ; त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ.110.
3. अब्दुल्ला, पृ. 197.
4. कानूनगो : शेरशाह, पृ. 399.

आर.पी. त्रिपाठी लिखते हैं कि - "मुस्लिमों के दीवानी मुकदमें प्रचलित परिपाटी पर शरियत या रस्म के अनुसार काजी के इजलास में होते थे, परन्तु फौजदारी के मुकदमों के फैसले सम्भवतः शिकदार के इजलास में होते थे। शेरशाह के शासनकाल में मीर अदल नामक अधिकारी का अस्तित्व संदिग्ध है। फौजदारी का कानून व्यापक था और कठोर भी। अपराध की गम्भीरता के अनुसार कैद, कोड़े, हाथ पैर काटना, सूली, जुर्माना और फाँसी जैसे दण्ड दिये जाते थे। कभी-कभी चोरी और घूस के अपराध पर भी प्राणदण्ड दिया जाता था। सुल्तान के बनाये नियमों के अनुसार माल के मुकदमों के फैसले प्रधान मुंसिफ के इजलास में होते थे।"[1] (जान पड़ता है कि न्याय की व्यवस्था या न्यायधीशों के संगठन के सम्बन्ध में शेरशाह ने कोई नयी नीति चालू नहीं की थी।)। शिकदार और प्रधान शिकदार अपने अपने क्षेत्रों में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के लिए जिम्मेदार थे। शान्ति रक्षा के सम्बन्ध में शेरशाह का सिद्धान्त था कि इसका दायित्व स्थानीय जनों पर ही होना चाहिये। सभी अधिकारियों से शान्ति रक्षा के कार्य में सहायता की आशा की जाती थी, परन्तु अपराधियों को पकड़ने का सबसे अधिक दायित्व चौधरियों अथवा मुकदमों पर था। यदि उन गाँवों के मुकद्दम जिनके निकट चोरी, लूट या हत्या होती थी, अपराधियों को पकड़ने और माल के बरामद करने में विफल होते थे तो वे कठोर दण्ड के भागी होते थे, कभी-कभी तो उन्हें प्राणदण्ड भी मिल जाता था, ताकि इससे अन्य लोगों को भी सबक मिल जाये।[2]

इस प्रकार उसकी न्याय व्यवस्था को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि - शेरशाह वास्तव में मध्ययुग का अत्यन्त न्यायप्रिय शासक था। अपने प्रजा की भलाई करते रहने के उसके व्यक्तिगत गुणों और विशेषताओं पर ही उसकी प्रतिष्ठा आधारित नहीं थी, बल्कि एक श्रेष्ठ न्याय व्यवस्था की स्थापना द्वारा

---

1. त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ. 110.
2. अब्बास, पृ. 220-21 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 318-19.

भी उसने लोगों के दिलों में ऊँचा स्थान बना लिया था । तबक़ात-ए-अकबरी के लेखक निजामुद्दीन अहमद ने 16वीं शताब्दी के अन्तिम, वर्षों में प्रशंसा करते हुये लिखा है कि - शेरशाह के शासनकाल में कोई भी सौदागर रेगिस्तान में यात्रा करते हुये निश्चिन्त सो सकता था और लुटेरों द्वारा माल असबाब के लूटे जाने का उसे कोई भय नहीं था। शेरशाह के भय और न्याय प्रेम के कारण चोर और लुटेरे तक सौदागरों के माल की निगरानी करते थे ।[1]

भू-राजस्व व्यवस्था

भारतीय प्रशासन की किसी और शाखा-प्रशाखा में वह युगीय तारतम्य दृष्टिगोचर नहीं होता जो कि मालगुजारी सम्बन्धी नीति और प्रशासन में दृष्टि-गोचर होता है ।[2] भूमि की उपज पर कर और राज्य का भाग निर्धारित करने वाले जो आधारभूत सिद्धान्त स्मृतियों के युग में निर्मित होकर ईसा के 300 वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में विकसित हुये थे, वही भारत में युगों से अपनाये जा रहे हैं। मध्ययुग में भी उनमें कोई बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ ।[3]

16वीं सदी से पूर्व प्रचलित व्यवस्था

कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मेगास्थनीज के विवरणों के अनुसार मौर्य काल में जो मालगुजारी व्यवस्था प्रचलित थी, वही व्यवस्था जब 12वीं सदी में तुर्क शासन स्थापित हुआ तब देश के विभिन्न भागों में ज्यों की त्यों चल रही थी । यथा - मौर्यकाल में कृषक को वर्ष में खण्ड निश्चित कर राशि देने को सहमत होना पड़ता था, चाहे वह भूमि को जोते अथवा न जोते । मालगुजारी के साथ-साथ सिंचाई कर भी लिया जाता था जो 1/5 से 1/3 होता था। मालगुजारी को

---

1. तबकाते अकबरी, भाग 2, पृ.
2. यू.एन. घोषाल : दि एग्रेरियन सिस्टम इन एन्सियेन्ट इण्डिया, कलकत्ता 1930, पृ. 3-4.
3. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : अकबर महान्, भाग 2, पृ. 170.

इस समय बाली न कहकर भाग कहा जाता था। इस युग में मालगुजारी दो प्रकार की होती थी, एक तो उपज के एक भाग के रूप में ली जाने वाली मालगुजारी, जो हिरण्य कहलाती थी। हिरण्य या नकद मालगुजारी की दर अधिकांश उल्लेखों के अनुसार उपज के कुल मूल्य का 50वाँ अंश होती थी, कभी-कभी संकट के समय यह दर बढ़ाकर राजा 1/4 कर दिया करता था। उसे यह भी अधिकार प्राप्त था कि वह संन्यासियों और ब्राह्मणों को छोड़कर अपनी प्रजा का धन भी अपहरण कर ले। फिर भी राजा को यह परामर्श दिया जाता था कि वह कृषकों के प्रति उदार व्यवहार रखे उन्हें खेती के लिए बीज और धन उधार दे। सिंचाई के साधन प्रयुक्त करे। राज्य सरकार कृषकों से सीधा सम्बन्ध रखती थी। इस काल में भूमि की पैमाइश के प्रारम्भिक तरीकों की भी जानकारी उपलब्ध होती है।[1] गाँवों में सामूहिक रूप से एक राशि में मालगुजारी वसूल करने की प्रथा भी प्रचलित थी। यह गाँव के मुखिया की सहायता से एकत्र की जाती थी। राज्य की ओर से उन्हें अनाज, पशु और धन दिये जाते थे और अकाल तथा सूखे के समय मालगुजारी में छूटें दे दी जाती थीं, लेकिन अगर किसान फसलों की ओर ध्यान नहीं देते थे तो उन पर जुर्माना भी किया जाता था।[2]

मालगुजारी के अधिकारियों की श्रृंखला-सी थी। इनके ऊपर समाहर्ता और सबसे नीचे गोप (पटवारी) होता था। गोप के अन्तर्गत 4 या 5 गाँव होते थे।[3] उसे गाँवों की सीमाओं, खेतों, बोये, बिनबोये खेतों, सम्पत्ति और भूमि के हस्तान्तरण, तकावी और आबादी की सूचियाँ आदि से सम्बन्धित कई बातें रखने पड़ते थे। एक अन्य अधिकारी स्थानिक होता था। समाहर्ता इन सबके ऊपर

---

1. घोषाल : दि एग्रेरियन सिस्टम इन एन्सियेन्ट इण्डिया, पृ. 8-10.
2. घोषाल : कन्ट्रीब्यूशंस टू द हिस्ट्री ऑफ हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, कलकत्ता, 1929, पृ. 12,16,20.
3. काशी प्रसाद जायसवाल, पृ. 163-164.

होता था। अर्थशास्त्र में भूमि के वर्गीकरण और अनाज के दरों के आधार पर पैमाइश के तरीकों के उल्लेख उपलब्ध है ।[1]

इस काल में बंटाई और पैमाइश दोनों के ही आधार पर नकदी और उपज के रूप में मालगुजारी वसूल की जाती थी ।[2] इस प्रकार 12वीं शताब्दी में देश के विभिन्न भागों में लगभग यही व्यवस्था रही।

12वीं शताब्दी में तुर्की शासन की स्थापना के समय देश में जो मालगुजारी व्यवस्थां प्रचलित थी, उसकी मुख्य व्यवस्थायें निम्न थीं-

भूमि की पैमाइश, उपज का अनुमान और नकद अथवा उपज में मालगुजारी की वसूली । सामान्यतया राज्य का उपज में छठां भाग होता था। विशेष स्थितियों में उसे बढ़ाकर चौथाई भी कर दिया जाता था। इस मालगुजारी के अलावा शासक लोग अन्य कई कर वसूल करते थे और संकट के समय में तो उन्हें अपनी प्रजा की सम्पत्ति छीन लेने का भी अधिकार था। 12वीं शताब्दी में बंगाल के सेन राजाओं ने भी सम्पत्ति छीनने की व्यवस्था अपना रखी थी ।[3]

चूँकि हिन्दुस्तान में प्रवेश करने वाले अरब और तुर्क मुख्य रूप से योद्धा थे, शासक नहीं । इसलिए वे अपने विजित प्रदेशों में इस्लामी मालगुजारी व्यवस्था पूर्ण रूप से लागू नहीं कर सकते थे । फिर उन प्रदेशों में सदियों से जो व्यवस्था चली आ रही थी, उसे भी एक बारगी हटा देना सम्भव न था, इसलिए उन्होंने यही उचित समझा कि प्राचीन भारतीय मालगुजारी व्यवस्था को विशेषकर राजकर निश्चित करने और उसे वसूल करने के प्राचीन तरीकों को ही अपना लें। इसके बावजूद भी इस्लामी देशों में जो व्यवस्था काफी अरसे से चली आ रही थी, उसकी

---

1. घोषाल : कन्ट्रीब्यूशंस टू द हिस्ट्री ऑफ हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. 13, 15.
2. वही.
3. वही, पृ. 59, 60, 71.

भी उपेक्षा ये नहीं कर सके, इसलिए उन्होंने भारतीय और इस्लामी समन्वय की व्यवस्था स्थापित की ।[1]

दिल्ली सल्तनत में दिल्ली सुल्तानों द्वारा भू-राजस्व से सम्बन्धित नियमावली में भारतीय तथा इस्लामी परम्पराओं का समन्वय किया गया था । डॉ॰ कुरैशी के अनुसार - मुस्लिम साम्राज्य ने स्थानीय प्रणाली को अपना लिया और उसे एक कानूनी सिद्धान्त का रूप दिया। हिन्दू कृषक को सैद्धान्तिक कानून से तब तक कोई चिन्ता नहीं थी, जब तक प्रणाली अपरिचित न हो । यह समन्वय इतना अधिक था कि मुस्लिम साम्राज्य के इतिहास में दोनों प्रणालियों का कोई उल्लेख नहीं मिलता ।[2]

मध्यकालीन व्यवस्था इस प्रकार मौलिक रूप से तो प्राचीन भारत की कृषि व्यवस्था का ही थोड़ा सा परिवर्तित रूप रही, लेकिन इस्लामी आदर्शों को बनाये रखने के लिए अलग-अलग प्रकार की भूमि के नाम बदल दिये गये और हिन्दू व मुसलमान किसानों से एक सा कर वसूल न कर उनकी अलग-अलग दरें निश्चित कर दी गयी ।[3] जैसे भू-राजस्व निर्धारित करने के लिए मुस्लिम विधि-वेत्ताओं ने भूमि को तीन भागों में विभाजित किया - 1. उपारी, 2. बराजी, 3. सुल्ही ।[4]

1. <u>उपारी भूमि</u>

यह वह भूमि थी, जिसके स्वामी ने स्वेच्छा से इस्लाम ग्रहण कर लिया हो और वह जिसे जीतकर मुसलमानों में बाँट दिया गया हो तथा जो बेकार पड़ी हो और जिसे किसी मुसलमान ने अपने स्वामी की अनुमति से जोत लिया हो ।[5]

---

1. घोषाल : कन्ट्रीब्यूशंस टू द हिस्ट्री ऑफ हिन्दू रेवन्यू सिस्टम, पृ॰73.
2. कुरैशी : दि ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि मुगल एम्पायर, पृ॰ 165.
3. काशी प्रसाद जायसवाल, पृ॰ 167.
4. घोषाल : वही, पृ॰ 28-29.
5. आईने अकबरी, भाग II, पृ॰ 61-62.

2. बराजी

यह वह भूमि होती थी, जो गैर मुस्लिम किसानों या जमींदारों के पास छोड़ दी जाती थी या कहीं और के गैर-मुस्लिमों को प्रदान कर दी जाती थी । अगर कोई गैर-मुस्लिम किसी मुसलमान भू-स्वामी से उपारी भूमि खरीद लेता था तो वह बराजी भूमि हो जाती थी ।[1]

3. सुल्ही

उन भू-भागों को कहा जाता था जो किसी सन्धि के अन्तर्गत प्राप्त हुए हों ।

मध्ययुगीन भारतीय इतिहास में हम राजस्व सम्बन्धी कुछ ऐसे विशेष लक्षण पाते हैं, जो पूर्वकाल के ही समान थे, जैसे - भूमि के सर्वेक्षण के तरीके, और नगदी में राजस्व देने की व्यवस्था।तो हमें उनमें नैमित्तिक सम्बन्ध को मानने में तनिक भी संकोच न होना चाहिये ।[2] यह निष्कर्ष पूर्व मुस्लिम भारत की राजनैतिक संस्थाओं में कृषि प्रणाली और ग्राम स्वायत्त शासन, पंचायत प्रणाली के विषय में अधिक सत्य प्रतीत होता है ।

जहाँ तक मालगुजारी व्यवस्था का प्रश्न है, अलाउद्दीन खिलजी के पूर्व दिल्ली के किसी सुल्तान ने मालगुजारी के निर्धारण में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। अलाउद्दीन खिलजी ही प्रथम सुल्तान था, जिसने भूमि व्यवस्था में रुचि ली और खेती को जाने वाली भूमि की पैमाइश करवायी । वह किसानों को मालगुजारी उपज में ही देने को प्रोत्साहित करता रहा, किन्तु कनकत और बंटाई की प्रणालियाँ भी प्रचलित रहीं । खिलजी के बाद गयासुद्दीन तुगलक ने बंटाई

---

1. मोरलैण्ड का विश्वास है कि - मध्ययुगीन भारत में विशिष्ट लक्षणों के प्रभाव तथा उपारी और बराजी के विभेद को देखते हुये यह भी स्वीकार करना खतरनाक होगा कि मुस्लिम विजय के कारण स्थानीय पद्धति और मुस्लिम विजेताओं की पद्धति का समन्वय हुआ होगा । -मोरलैण्ड: एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुस्लिम इण्डिया, इलाहाबाद 1929, पृ. 16.
2. घोषाल : कन्ट्रीब्यूशन्स टू दि हिस्ट्री आफ हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. 287.

व्यवस्था अपनायी । फिरोज तुगलक के काल में मालगुजारी आंशिक रूप में नकद तथा आंशिक रूप में उपज में भी ली जाती थी । सिकन्दर लोदी ने 41½ सिकन्दरी का गज प्रचलित किया जो कालान्तर में सिकन्दरी गज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह गज अकबर के शासनकाल के 21वें वर्ष तक चलता रहा। इब्राहिम लोदी ने मालगुजारी उपज में देने की प्रथा जारी की ।[1]

बाबर एवं हुमायूँ के समय में

भारत पर अधिकार करने के पश्चात् बाबर ने मालगुजारी से सम्बन्धित नियमों में कोई परिवर्तन नहीं किया। उसके अल्पकालीन शासन में लोदियों द्वारा चलाया गया नियम चलता रहा। उसने केवल इतना परिवर्तन किया कि मुसलमानों पर से ली जाने वाली चुंगी हटा ली, जबकि हिन्दुओं पर ये कर पुरानी दर से ही कायम रहे ।[2] उसने लगान व्यवस्था में भी कोई परिवर्तन नहीं किया बल्कि चली आ रही परिपाटी का अनुसरण किया और मालगुजारी, गल्ला, तथा नगद दोनों रूपों में लेता था ।[3] बाबर के पश्चात् हुमायूँ ने भू-राजस्व व्यवस्था में कुछ साधारण सुधार किये । सिकन्दर लोदी का गज 41½ इस्कन्दरी के बराबर था। हुमायूँ ने उसे बढ़ाकर 42 इस्कंदरी कर दिया। हुमायूँ के शासनकाल में अकबर के काल से कम मालगुजारी ली जाती थी। उसके काल में एक खरबार (आठ मन से कुछ अधिक) अनाज पर दो बाबरी तथा चार टनका कर देना पड़ता था ।[4]

शेरशाह के समय में

हुमायूँ के प्रथम तथा द्वितीय राजत्वकाल के मध्य शेरशाह शासक हुआ । भारतीय राजसिंहासन की प्राप्ति के पूर्व शेरशाह को बिहार में अपने पिता की जागीर (सहसराम, ख्वासपुर टांडा के परगने) का प्रबन्ध करते हुये लगान प्रणाली

---

1. त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ० 294.
2. बाबरनामा, पृ० 519.
3. वही, पृ० 522-523.
4. हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ० 146.

का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हुआ था। उसे लोदियों की राजस्व पद्धति की कमजोरियों और कमियों के कारण होने वाली दुर्व्यवस्था का भी व्यक्तिगत ज्ञान था। उसने बड़ी दूरदर्शिता के साथ अपनी तैयार की हुयी भू-राजस्व पद्धति का प्रयोग अपनी जागीर में किया था। इस प्रकार उसकी योजनायें और विचार काफी परिपक्व और स्थिर हो गये थे। फलतः जब वह शासक बना सिर्फ मुल्तान को छोड़कर सम्पूर्ण प्रदेश में अपनी योजनाओं को लागू किया।

उसने अपने पूर्ववर्ती पद्धतियों तथा गल्ला बख्शी (बंटाई) और मुक्तई को समाप्त करके कर निर्धारण के लिए जरीब अर्थात् भूमि की सर्वेक्षण प्रणाली की स्थापना की।[1] इसके अतिरिक्त उसने भूमि के माप की ओर भी ध्यान दिया। इससे पूर्व जमीन नापने की प्रथा नहीं थी। भूमि कर अनुमान या कुछ हिसाब से निश्चित किया जाता था, जिससे परगने की पूर्व, वर्तमान और भावी स्थिति का परिचय मिल जाता था, फिर भी उसने भूमिकर की वसूली के दोषों को दूर करने हेतु एक ही नाप से जमीन माप करवायी। जैसाकि अब्बास के लेखों से स्पष्ट होता है कि - लोगों से भूमि कर संग्रह करने और राज्य की समृद्धि को बढ़ाने के नियम इस प्रकार थे - प्रत्येक परगने में एक शिकदार, एक अमीन, एक खजाँची, एक हिन्दी में कार्य करने वाला कारकुन तथा दूसरा फारसी में लिखने वाला कारकुन होता था तथा दूसरा अपने शिकदारों को यह आदेश दे रखा था कि हर फसल के समय जमीन की माप की जाय और माप तथा उपज के अनुसार भूमिकर लिया जाय। उसमें से एक हिस्सा किसान को और आधा हिस्सा मुकद्दम को मिले। अन्न के किस्मों (उत्तम, मध्यम, खराब) को ध्यान में रखकर भूमिकर निश्चित किया जाये, जिससे मुकद्दम, चौधरी और आमिल लोग किसानों को तंग न करें। क्योंकि उसकी मान्यता थी कि राज्य की समृद्धि के स्तम्भ किसान ही हैं।[2]जमीन

---

1. अब्बास, पृ. 210.
2. वही, पृ. 210-11 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV ,पृ.313.

की माप सही ढंग से हो इसके लिए उसने सिकन्दरी गज (32 इकाइयों का) प्रयोग करने की आज्ञा दी । उसके समय में भूमि बीघों में रस्सी द्वारा नापी जाती थी। एक बीघा या जरीब में 3600 वर्ग गज होता था ।[1]

इस सम्बन्ध में शेरशाह की मान्यता थी कि मालगुजारी की रकम के सर्वोत्तम ढंग को खेती को वास्तविक नाप पर आधारित होना चाहिये । अतएव शेरशाह के एक निजी मित्र और विश्वस्त अधिकारी अहमद खाँ की निगरानी में पूरे साम्राज्य (मुल्तान को छोड़कर) की कृषि योग्य भूमि की नाप जोख की गयी । नाप जोख करने वालों के वेतन निश्चित कर दिये गये ।[2] यह कार्य उसने विद्वान् ब्राह्मण व हिन्दुओं के सहयोग से किया। यद्यपि सल्तनत के कुछ भागों में उसकी इस नीति का काफी विरोध किया गया, परन्तु अपनी दृढ़ नीति के कारण वह सफल रहा।

उसकी मालगुजारी सम्बन्धी नीति की दूसरी विशेषता यह थी कि प्रमुख फसलों पर मालगुजारी यथासम्भव नकद वसूल की जाती थी । इस उद्देश्य से भूमि उर्वरा शक्ति के आधार पर भी श्रेणीबद्ध की गयी । तीन श्रेणियों की औसत उपज की जोड़ की एक तिहाई मालगुजारी की कृति के लिए प्रत्येक बीघा भूमि की औसत उपज मान ली गयी । इस औसत उपज का एक तिहाई सरकारी हिस्से के रूप में किसान से तलब किया गया। नगद की रकम पड़ोसी बाजारों में चालू भाव के आधार पर कूती गयी । बिक्री की दरों का लेखा रखा जाता रहा, जिसमें यह भी दर्ज रहता था कि मालगुजारी किस आधार पर और किस दर से नियत की गयी ।[3]

---

1. आइने अकबरी, भाग II, पृ. 66-67, भाग III, पृ. 162 ; हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली ; एस.आर. शर्मा, पृ. 145 , फु.नो.1.
2. त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 301.
3. वही, पृ. 299 ; हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ. 147.

शेरशाह की मालगुजारी विषयक नीति की तीसरी विशेषता यह थी कि नाप-जोख के लिए सल्तनत भर में एक ही मापदण्ड नियत हुआ और स्थानीय बन्दोबस्त वसूलयाबी तथा महसूलों की व्याख्या पर फैसला देने के काम में लगाये गये अधिकारियों और कर्मचारियों को पुरस्कृत करने के नियम भी लेखनीबद्ध हुये। उसकी नीति का एक रोचक अंश यह भी था कि जमींदारों और किसानों को मालगुजारी के ढाई प्रतिशत का महसूल और देना होता था। जो एक प्रकार के खाते में जमा होता था, जिसमें से दुर्भिक्ष या किसी अन्य प्राकृतिक कोप की दशा में जनता को सहायता मिलती थी।[1] किसान को मालगुजारी के अतिरिक्त, पैमाइश करने वालों को "जरीबाना" तथा मालगुजारी वसूल करने वालों को "महसालाना" नामक कर देना पड़ता था, जो कदाचित् मालगुजारी का $2\frac{1}{2}$ से 5 प्रतिशत था।[2]

शेरशाह ने अपने साम्राज्य के सभी भागों में एक तरह की भू-राजस्व व्यवस्था ही स्थापित नहीं की बल्कि उसने स्थानीय परम्पराओं को भी बनाये रखा। इस तरह गल्ला बख्शी तथा कानून की प्रथा भी कई भागों में प्रचलित थी। जो यह कार्य करता था, उसे नकद, वेतन के रूप में दिया जाता था।[3]

भारत में मालगुजारी ही शासन की प्रमुख आय रही। इसके अतिरिक्त उस समय सरकारी आय के अन्य साधन भी थे - जजिया, जकात, विभिन्न वस्तुओं पर महसूल, उत्तराधिकारी के अभाव में सम्पत्ति की सरकारी जब्ती, विदेशी माल पर चुंगी और युद्ध में लूट। शेरशाह ने कबूलियत तथा पट्टा की प्रथा भी चलायी। इसके अनुसार प्रत्येक किसान से मालगुजारी का अधिकारी कबूलियत लिखवा लेता था जिसमें रैय्यत की भूमि का संक्षिप्त विवरण तथा सरकारी लगान लिखा रहता था और उस उसके प्रमाणित हस्ताक्षर रहते थे और इसके बदले में

---

1. त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ. 108.
2. हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ. 147.
3. मोरलैण्ड, पृ. 449.

फिर रैयत को पट्टा लिख दिया जाता था, जिसमें सरकारी मांग का उल्लेख रहता था। इस प्रकार कृषकों की भलाई के लिए शेरशाह ने पूरा प्रयास किया। फिरोजशाह तुगलक को छोड़कर मध्ययुगीन भारत के किसी अन्य शासक ने यहाँ के किसानों का इतना ख्याल नहीं रखा, जितना इस अफगान बादशाह ने। वह सदैव कहा करता था कि - कृषकों का हित साधन करने से सरकार को सदैव लाभ पहुँचता है। राजस्व अधिकारियों को उसने आज्ञा दी थी कि - राजस्व निर्धारित करते समय तो वे नरमी बरतें पर वसूली के समय लगान को अपनी दृष्टि में रखकर किसी प्रकार की रियायत न करें।[1] हर प्रकार से उनसे धन वसूल करने का प्रयत्न करें। यदि वह देखें कि कर देने में प्रजा हीला बहाना करती है तो उन्हें ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि अन्य लोग भी डरने लगें और उनमें दुबारा ऐसा करने का साहस न हो। दूसरे शब्दों में वह कठोर दण्ड देता था।[2] परिणामस्वरूप कृषि के क्षेत्र में बिहार उन्नति के शिखर पर पहुँच गया था। चावल, कैसारीदाल, मघईपान, मखन्द फूल आदि का उत्पादन भारी मात्रा में हुआ।[3] करों की अदायगी के तरीके के विषय में कृषकों की सुविधा और प्रोत्साहन पर विशेष विचार करके उसने उसे नगदी अथवा पैदावार किसी भी एक रूप में प्रदान करने की स्वतन्त्रता प्रदान की। सम्पूर्ण उपज का एक भाग सरकार का और दूसरा भाग कृषक का, इस नियम के मुताबिक कर लिया जाता था। इसके अतिरिक्त कृषकों को कुछ और भाग दौरे पर जाने वाले पटवारियों, तहसीलदारों के निर्वाह और शुल्क के रूप में भी देना पड़ता था।[4]

---

1. अब्बास, पृ. 23 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 236 ; कानूनगो : शेरशाह, पृ. 370-80.
2. वही.
3. आइने अकबरी, भाग II, पृ. 164 ; इक्तदार हुसैन सिद्दिकी : हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूर, पृ. 105.
4. कानूनगो : शेरशाह की राजस्व पद्धति, जे.बी.ओ.आर.एस., खण्ड 17, भाग 1, 1930-31, पटना, पृ. 1.

अबुल फजल लिखता है कि - यह सत्य है कि शेरशाह उपज का $\frac{1}{2}$ कर रूप में वसूल करता था, क्योंकि अकबर ने भी शेरशाह की तरह उसी व्यवस्था का अनुसरण किया था। वह भी कर स्वरूप $\frac{1}{3}$ भाग लेता था।[1] परन्तु डॉ॰ परमात्मा शरण तथा डॉ॰ कानूनगो ने आईने अकबरी के मत को मानने से इन्कार किया है। वे शेरशाह को अकबर से भिन्न बतलाते हैं और लिखते हैं कि शेरशाह $\frac{1}{4}$ कर वसूल करता था।[2] इन करों की वसूली के लिए उसने पृथक अधिकारियों की नियुक्ति की थी जिनमें सरकार का प्रमुख अधिकारी शिकदार-ए-शिकदारान और मुन्सिफ-ए-मुन्सिफान थे। इनका कर्तव्य आमिल और रियाया पर दृष्टि रखना था, जिससे प्रजा पर आमिल अत्याचार न करें, सरकार के लगान न खा जायें। उनकी जिम्मेदारी थी कि वे देखें कि राज्य में कोई गड़बड़ी न हो।[3]

परगने का राजस्व अधिकारी अमीन था। उसके अधीन एक खजांची और दो अथवा दो से अधिक लिपिक होते थे। प्रत्येक परगने में उसने एक कानूनगो नियुक्त किया था, जिससे परगने की भूत, वर्तमान, भविष्य की स्थिति से अवगत होता था।[4] शेरशाह के व्यवस्था की एक विशेषता यह भी थी कि उसने कृषकों की सुविधा के लिए मुंशियों का अलग समूह नियुक्त किया था, जिनका कार्य रिकार्डों को हिन्दी में रखना था। गाँव का मुखिया एक प्रकार का गाँव का अर्धसरकारी व्यक्ति था, जो राज्य के अधिकारियों को मालगुजारी की वसूली में सुविधा प्रदान करता था। कृषकों व अधिकारियों के मध्य कड़ी का कार्य करता था। कानून का उलंघन करने वालों को दण्ड का प्रावधान था। वह समय-समय पर स्वयं निरीक्षण किया करता था तथा यथोचित् अपनी राय दिया करता था।[5]

---

1. आईने अकबरी, भाग 1, पृ॰ 280-81.
2. परमात्माशरण, पृ॰ 140-43.
3. अब्बास, पृ॰ 211.
4. वही, पृ॰ 210, 211 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ॰ 313.
5. मोरलैण्ड, पृ॰ 447 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ॰ 238.

निःसन्देह उसके भय और प्रभाव से तथा उसकी निरन्तर निगरानी से शासन का स्तर उन्नत हुआ होगा और उसकी निपुणता बढ़ी होगी । उसकी नीति से बन्दोबस्त में रैय्यतवाड़ी प्रथा प्रोत्साहित हुयी । यद्यपि यह कहना कठिन है कि वह कहाँ तक सफल हुआ। देश के उन भागों में जो सीधे सरकार के अधिकार में रहे, शेरशाह को शासन की अल्पावधि के भीतर भी अपने सुधारों को कार्यान्वित करने का अवसर मिल गया होगा। यद्यपि शासन और किसान अथवा मुखिया के मध्य समझौते कराकर उसने मालगुजारी की जबरदस्ती से देश की रक्षा की और मालगुजारी का प्रबन्ध यथेष्ट नियमबद्ध कर सका, फिर भी उसकी यह व्यवस्था दोषमुक्त नहीं मानी जा सकती । एक तो उसमें सबसे बड़ा दोष यह था कि मध्यम और निकृष्ट भूमियों के किसानों को उपज का तिहाई से अधिक भाग देना पड़ता था और उत्तम भूमियों के किसानों को उतना ही कम, जिस कारण मध्यम और निकृष्ट भूमियों के किसानों की हानि से उत्तम भूमि के किसान लाभान्वित होते थे । यह सही है कि सरकारी नीति से कम उर्वरा भूमि के किसान अपनी भूमि को उत्तम बनाने के लिए प्रोत्साहित होते थे, परन्तु जब तक उनकी भूमि उन्नत नहीं होती थी, तब तक वे हानि उठाते ही थे ।

दूसरा दोष यह था कि सरकारी मालगुजारी की नकद रकम, सही सूचना के पश्चात् सही पूछताछ, इसके पश्चात् तुरन्त सरकार को खबर पहुँचने और वहाँ से हुक्म जारी होने पर निश्चित होती थी । इस प्रकार बहुत देर लगती थी, जिससे अधिकारियों तथा किसानों को बहुत असुविधा, कष्ट और अनिष्ट का सामना करना पड़ता था। ऐसा प्रतीत होता है कि शेरशाह का सुधार बड़े पैमाने पर एक प्रकार का प्रयोग ही रहा। यदि वह अधिक दिनों तक जीवित रहता तो सम्भवतः दोषों को दूर कर देता ।

सार्वजनिक कार्य

सड़क एवं सराय

सार्वजनिक निर्माण कार्य शेरशाह की शासन व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग था। उसने वाणिज्य व्यापार के प्रसार और राष्ट्र निर्माण की दृष्टि से सड़कों के महत्व को समझा। साम्राज्य की प्रतिरक्षा और जनता की सुविधा के लिए उसने अपने राज्य के महत्वपूर्ण स्थानों को अच्छी सड़कों की एक शृंखला से जोड़ दिया। यह कार्य उसने प्राचीन हिन्दू राजाओं के चरण चिन्हों पर चलकर किया ताकि राज्य के अनेक भागों का सम्बन्ध राजधानी से जुड़ सके ।

शेरशाह की बनवायी गयी चार सड़कें बहुत प्रसिद्ध हुयी । पहली सड़क पूर्वी बंगाल में सोनार गाँव से आरम्भ होकर आगरा, दिल्ली और लाहौर होती हुयी सिन्धु नदी पर समाप्त हुयी । यह 1500 कोस[1] लम्बी थी । उसे सड़क-ए-आजम कहा जाता था। आजकल इसी का नाम ग्रांट-ट्रंक रोड है। दूसरी सड़क आगरा से बुरहानपुर जो दक्षिण की सीमा पर स्थित है, तक बनवाया था। तीसरी सड़क आगरा से जोधपुर और चित्तौड़ तक और चौथी सड़क लाहौर से मुल्तान तक गयी थी ।[2] अपने 5 साल के अल्प शासनकाल में कुछ सड़कों की मरम्मत करवायी और कुछ का स्वयं निर्माण करवाया ।[3]

शेरशाह ने न केवल सड़कों का ही निर्माण किया अपितु यात्रियों एवं व्यापारियों की सुविधा की दृष्टि से उसने सड़कों के दोनों किनारों पर छायादार वृक्ष भी लगवाये ।[4] उसने सड़कों के निर्माण के साथ-साथ इन सभी मार्गों पर दो-दो कोस

---

1. नियामतउल्लाह, भाग 1, पृ. 334 ; अब्दुल्ला, पृ. 127.
2. अब्बास, पृ. 216 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV ,पृ.316 ; ईश्वरी प्रसाद : हुमायूँ, पृ. 171.
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान्, भाग II, पृ.315.
4. अब्दुल्ला, पृ. 218 ; नियामत उल्लाह , भाग 1, पृ.336 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV ,पृ. 317 ; कानूनगो : शेरशाह, पृ. 291 : अहमदयादगार

की दूरी पर हिन्दू और मुसलमानों के अलग-अलग ठहरनें के लिए 1700[1] सरायों का निर्माण भी कराया । प्रत्येक सराय के द्वार पर पानी से भरे हुये घड़े रखवाये जिससे प्रत्येक व्यक्ति को पानी पिलाया जाता था। प्रत्येक सराय में मुसलमानों को ठहराने के लिए मुसलमान कार्यकर्ताओं को नियुक्त किया था। इसी प्रकार हिन्दुओं के लिए ब्राह्मणों को नियुक्त किया था, जो ठण्डा और गर्म पानी, खाने की सामग्री तथा घोड़ों को चारा देते थे । उसने यह निश्चित कर दिया था कि इन सरायों में जो भी व्यक्ति आये उसे पेटभर भोजन और उसके पशुओं के लिए दाना और घास सरकार की ओर से दिया जावे ।[2] उसने प्रत्येक सराय के पास एक गाँव बसाया था और सराय में एक पक्की ईंटों का कुआँ और जामा मस्जिद बनवायी थी। उस मस्जिद में एक इमाम और एक अजान देने वाला नियुक्त था । एक शहना और कुछ व्यक्ति पहरा देने के लिए नियुक्त थे । इन सबकी जीविका के लिए भूमि सराय के निकट ही प्रदान की गयी थी। प्रत्येक सराय में दो घोड़े बँधे रहते थे, जिनके द्वारा दूर-दूर से समाचार प्रत्येक दिन उसको प्राप्त होते रहते थे ।[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि ये सड़कें और सरायें विशेष रूप से डाक विभाग के कर्मचारियों और हरकारों के लिए जो शाही डाक ले जाते थे, विश्राम शालाओं का प्रयोजन करती थीं। इसके अलावा व्यापार पर भी इस साधन का परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ा। इसकी पुष्टि डॉ. कानूनगो द्वारा भी होती है - वे लिखते हैं, ये मार्ग और सरायें साम्राज्य रूपी धमनियाँ थीं । राजकर्मचारियों के लिए जो सदा इधर-उधर घूमा करते थे, ये विश्राम के स्थल थे । इनमें कई प्रकार की मण्डियाँ बन गयी थीं । वहाँ पर किसान लोग अपनी उपज बेचा करते थे और बदले में सुख-सामग्री

(पृ.227) लिखता है कि उसने यात्रियों की सुविधा के लिए रोहतास खुर्द से रोहतास कला तक मार्ग के दोनों ओर वृक्ष लगवाये.

1. मुश्ताकी, पृ. 97 ; कानूनगो : शेरशाह, पृ. 291.
2. अब्दुल्ला, पृ. 127,28 ; अब्बास, पृ. 217 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ. 316.
3. अब्बास, पृ. 217 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV, पृ.316 ; नियामतउल्लाह, भाग I, पृ. 336 ; अफसानये शहान, 126 ब, 127 अ.

लिया करते थे । सरायें शेरशाह की डाक चौकियों का काम भी देती थीं । इन संस्थाओं के द्वारा वह मानों साम्राज्य की नब्ज पर हाथ रखे रहता था। इनके द्वारा परगनों की घटनाओं और कीमतों का विवरण प्रतिदिन शेरशाह के पास पहुँचा करता था ।[1]

ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं कि - "इनके विकास का परिणाम यह हुआ कि व्यापार काफी प्रभावित हुआ और राज्य के विभिन्न भागों में उत्साह की लहर दौड़ गयी ।"[2]

यह पद्धति इस देश के लिए नयी नहीं थी, बल्कि शेरशाह ने इसे पुनः संचालित किया था और आवश्यक सुधार किये ।

व्यापार और वाणिज्य

शांति एवं व्यवस्था की स्थापना, मुद्रा प्रणाली में सुधार, सड़कों और सरायों का निर्माण, कुशल डाक प्रबन्ध आदि के कारण शेरशाह कालीन व्यापार प्रोत्साहित हुआ। इसके लिए शेरशाह ने कुछ प्रत्यक्ष सुधार कार्य भी किये । उसने उन बहुत से महसूलों को जिन्हें प्रत्येक प्रांत और जिले की सीमा पर प्रत्येक घाट और प्रत्येक मुख्य मार्ग पर वसूल किया जाता था, हटाकर व्यापार और वाणिज्य को बहुत प्रोत्साहन दिया। उसने यह निश्चय किया कि बिक्री के लिए आने जाने वाली वस्तुओं पर केवल दो चुंगियाँ लगायी जायेंगी । एक चुंगी तो तब वसूल की जाती थी, जबकि व्यापारिक वस्तुएँ उसके राज्य की सीमा में पूर्वी बंगाल के संकरागली नामक स्थान में अथवा पश्चिम में रोहतासगढ़ या अन्य किसी प्रान्त की सीमा से प्रवेश करती थीं और दूसरी चुंगी इन वस्तुओं के बिक्री के स्थान पर लगायी जाती थीं ।[3] मार्ग पर या नाव घाट पर अथवा कस्बे या गाँव में दूसरा महसूल लगाने का किसी को साहस नहीं होता था। इसके अतिरिक्त उसने अपने अधिकारियों को यह

---

1. कानूनगो : शेरशाह, पृ. 391-5.
2. ईश्वरी प्रसाद : हुमायूँ, पृ. 171.
3. वही; अब्बास, पृ. 222 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV , पृ. 320.

आदेश भी दे रखा था कि वे बाजार में जो भी वस्तु मोल लें वह केवल बाजार भाव पर ही लें ।[1] यह चुंगी कितनी लगती थी, इसका कोई सही-सही पता नहीं चलता। ऐसा अनुमान है कि यह महसूल वस्तु के मूल्य का $2\frac{1}{2}$ प्रतिशत होता था। राज्य के अन्दर चुंगी वसूल करने के शेष सभी स्थान उसने बंद कर दिये थे। उसने अपने अधीनस्थ अधिकारियों को (सूबेदार व आमीलों को) यह हिदायत दे रखी थी कि प्रजा को इस बात पर विवशकिया जाय कि यात्री और व्यापारियों के साथ सब भाँतिसे अच्छा व्यवहार हो । उन्हें तनिक भी हानिन पहुँचायी जाय और यदि किसी व्यापारी की मार्ग में मृत्यु हो जाये तो उसकी सम्पत्ति को हाथ न लगाये और यह न समझे कि वह लावारिस है ।[2]

शेरशाह के इन सुधारों से देश के अन्दरव्यापार एवं वाणिज्य को बहुत प्रोत्साहन मिला और यथेष्ट व्यापारिक समृद्धि हुयी । डॉ. कानूनगो ने तो यहाँ तक कहा है कि - शेरशाह की कर-पुनर्व्यवस्था से उत्तर भारत का मृतप्राय व्यापार पुनर्जीवित हो गया ।[3]

इन सुधारों के परिणाम के बारे में ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं कि - इन सुधारों का परिणाम यह हुआ कि व्यापार तरक्की की चोटी पर चढ़ने लगा और देखते ही देखते हिन्दुस्तान पहले की अपेक्षा अधिक समृद्ध एवं शक्तिशाली हो गया।[4]

समालोचना

यह लगभग सभी इतिहासकारों द्वारा स्वीकार किया गया है कि शेरशाह कठिन परिश्रमी , समय का सदुपयोगी, एक विजेता, एक कुशल प्रशासक की दृष्टि से मध्यकालीन भारतीय इतिहास में महान शासकों में से एक था। परन्तु यदि हम

---

1. ईश्वरी प्रसाद : हुमायूँ, पृ. 171 ; अब्बास, पृ. 222 ; इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV ,पृ.320.
2. वही.
3. कानूनगो : शेरशाह, पृ. 386.
4. ईश्वरी प्रसाद : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ हुमायूँ, पृ. 172.

विस्तृत व्यवस्थाओं का सूक्ष्म परीक्षण करें तो पाते हैं कि उसमें पूरे तौर पर न तो नयापन ही था और न ही वे (सिवाय भूमि व्यवस्था के) अपने आप में मौलिक ही थीं। उसने किसी नये मंत्रीमण्डल की रचना नहीं की थी, बल्कि उसका शासन प्रणाली पूर्णतया वर्षों से चली आ रही परम्परा पर आधारित थी । न्याय के क्षेत्र में भी उसने किसी नयी प्रणाली को प्रारम्भ नहीं किया। उसकी डाक चौकी, गुप्तचर व्यवस्था भी उसकी अपनी प्रणाली नहीं थी, बल्कि पूर्वाधिकारियों की नकल थी। सैन्य व्यवस्था में भी उसने अलाउद्दीन खिलजी की सैन्य व्यवस्था को पुनर्जीवित किया और उसमें जहाँ कहीं कोई दोष नज़र आया उसमें आवश्यकतानुसार सुधार किया। जहाँ तक भूमि के नाप कराने की प्रणाली का प्रश्न है, वह भी उसकी अपनी नहीं थी, बल्कि अलाउद्दीन खिलजी की नकल थी । अतः इस आधार पर यह कहना गलत न होगा कि वह साम्राज्य के नवनिर्माण की अपेक्षा एक उच्च कोटि का सुधारक था, जो पुरानी प्रचलित संस्थाओं में नयी भावना से प्रेरित था।

शेरशाह के प्रशासनिक जीवन के विभिन्न पहलुओं, जैसे जनता के प्रति उसका अथाह स्नेह, कृषकों के हित का सदैव ख्याल रखना व उदारवादी दृष्टिकोण, उचित न्याय, आवश्यकता पड़ने पर अपने निजी सुख को त्यागकर अपने कर्तव्य का निर्वाह करना और उनसे भी बढ़कर उसकी राजनीतिक क्षमता आदि पर विचार करने के पश्चात् यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन भारतीय इतिहास में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने में वह अपने पूर्वाधिकारियों में सबसे आगे था और दूसरा यदि कोई इस क्षेत्र में था तो केवल अकबर था ।

मुगल शासन

मुगल शासन का स्वरूप

भारत में मुगलों की महान उपलब्धि उनकी विजयों एवं प्राप्त सफलताओं पर ही निर्भर नहीं थी, बल्कि उनकी प्रशासनिक योग्यता पर भी आधारित थी।

मूलतः मुगलों की शासन व्यवस्था विशुद्ध भारतीय नहीं थी। तुर्क विजेता अपने साथ ईराक के अब्बासिद खलीफों की और मिस्र के फातमिद खलीफों की शासन व्यवस्था को भारत में साथ लाये। उनके शासन सम्बन्धी नियमों पर भारतीय रीति-नीति का बहुत प्रभाव पड़ा, क्योंकि वे लोग लगान के मुहकमें में अधिकतर हिन्दुओं को ही भर्ती करते थे, जो अपने पुराने नियमों का ही पालन करते थे। इस प्रकार मुगल शासन पद्धति भारतीय और विदेशी प्रणालियों के सम्मिश्रण से बनी थी, और ठीक तौर पर कहा जाये तो भारतीय पृष्ठभूमि में फारस और अरब की मिली जुली व्यवस्था थी।[1] इसमें विभिन्न विभागों का बड़ा विस्तृत विवरण रखना पड़ता था, जिससे शासकों को बहुत ध्यान देने की तथा सदैव सतर्क रहने की आवश्यकता पड़ती थी।

स्वभावतः मुगलों का शासन सैनिक था, इसलिये यह अनिवार्य केन्द्रीय निरंकुश शासन था।[2] परन्तु बेनी प्रसाद लिखते हैं कि राज्य के प्रत्येक अधिकारी को सैनिक सूची में नियुक्त होना आवश्यक था, किन्तु यह स्वेच्छाचारी निरंकुश शासन नहीं था। इसकी नींव केवल पाशविक बल पर ही अवलम्बित नहीं थी, बल्कि इसमें आंशिक रूप से प्रजावर्ग का भी योग था।[3] यह शासन व्यवस्था जनता को कुछ अंशों में मान्य थी, कारण कि पूर्व में मुगलों की शासन पद्धति तीन शताब्दियों की

---

1. यदुनाथ सरकार : मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, कलकत्ता 1934, पृ० 6.
2. वही.
3. बेनी प्रसाद : हिस्ट्री ऑफ जहाँगीर, इलाहाबाद 1940, पृ० 88-91.

पूर्व तुर्क शासन पद्धति से अधिक सहनशील और प्रजा हितैषी थी । इस व्यवस्था में प्रजा के सामाजिक नियमों की स्वतन्त्रता, उनके परम्परागत अधिकारों की रक्षा तथा उनकी सुख-शान्ति व स्वायत्त शासन व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया जाता था। शासन का अधिपति बादशाह था। वह ईश्वर का प्रतीक समझा जाता था। इसकी पुष्टि अबुलफजल के लेखों से भी होती है। वह लिखता है कि बादशाह एक रोशनी है जो ईश्वर से आती है ।[1] कोई वैधानिक समिति या परिषद ऐसी नहीं थी, जिसके द्वारा उस पर नियन्त्रण रखा जाता। उसको परामर्श देने के लिए कोई मंत्रिमण्डल नहीं था ।[2] उसकी शक्ति वास्तव में असीमित थी। उसके दो कर्तव्य थे- धर्म की रक्षा करना और राज्य का शासन करना । परन्तु व्यवहार में वह सदा अपने सलाहकारों की सम्मति से काम करता था। परमस्वेच्छाचारी बादशाह को भी अपने सहायक दल के सदस्यों से भी सहमति लेनी पड़ती थी, उसे लोकमत का आदर करना पड़ता था। अकबर एकतन्त्र शासक था, किन्तु उसकी एकतन्त्रता का अर्थ दायित्वहीनता नहीं थी । बहुत छोटी अवस्था में ही उसने अपने राज्य का पूर्ण स्वामित्व प्राप्त कर लिया और उदार मानवोचित सिद्धान्तों के आधार पर आश्रित नीति की घोषणा कर दी । गैर-मुस्लिम प्रजा मुस्लिम शासन में जिन विशिष्ट कष्टों का शिकार बनायी गयी थी, उनसे मुक्त कर दी गयी और सारी प्रजा के साथ एक सा व्यवहार होने लगा।

प्रारम्भिक मुगल शासक (बाबर, हुमायूँ) भारत में अपने को प्रतिस्थापित करने वलगातार युद्धों में संघर्षरत रहने के कारण, प्रशासन के क्षेत्र में विशेष प्रभाव स्थापित न कर सके । सम्भवतः इसका प्रमुख कारण यह था कि इन्होंने अपने को एक ऐसे देश में पाया जहाँ की परम्परायें भूमि की अन्तिम सतह तक पहुँच चुकी थी और उन रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं को उखाड़ फेंकना इतना सरल कार्य न था। अतएव उन्होंने बड़ी सावधानी से यहाँ शासन करने की चेष्टा की । यहाँ की

---

1. आईने अकबरी, भाग 1, पृ. 3.
2. आई.एच. कुरेशी : दि ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ मुगल एम्पायर, पटना 1973, पृ.71.

प्रचलित सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था को छेड़ना भी उचित नहीं था और न ही इस बात की आवश्यकता थी कि प्रचलित प्रशासन के स्थान पर एक नयी प्रशासनिक व्यवस्था या शासन प्रणाली लागू की जाय। अतः बाबर को अपने अमीरों को प्रशासन में स्थान देने के लिए तथा गैर अफगान अमीरों को अपनी ओर मिलाने के लिए, देश के विभिन्न भागों में शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने के लिए और अपने प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए ऐसी शासन प्रणाली की स्थापना करनी पड़ी जो उपरोक्त सभी लक्ष्यों को प्राप्त करने में उसे सहायता पहुँचा सके ।[1]

यह सर्वविदित है कि जब भी कभी मध्ययुग में किसी साम्राज्य की स्थापना हुयी तो प्रारम्भ में शासन का स्वरूप सैनिक ही रहा। सेना की ही सहायता से विरोधी तत्वों का दमन किया गया और अधिक से अधिक प्रदेश को अपने अधीन लाने की चेष्टा की गयी । भारत में प्रारम्भिक मुगल शासकों के शासन का स्वरूप भी कुछ ऐसा ही था। जिस प्रशासन की स्थापना बाबर ने की वह केन्द्रीयकरण की नीति पर आधारित था, जिसका बाद के मुगल शासकों ने भी अनुसरण किया ।[2]

प्रान्तीय शासन

प्रान्तीय शासन के सम्बन्धमें यदुनाथ सरकार लिखते हैं कि - "मुगल साम्राज्य में प्रान्तीय शासन व्यवस्था केन्द्रीय सरकार का ठीक संक्षिप्त रूप था ।"[3] पूर्व मुगल शासकों की भाँति मुगल साम्राज्य भी प्रांतों में विभक्त था, जिन्हें सूबा कहा जाता था। प्रत्येक सूबा कई सरकारों में और प्रत्येक सरकार कई परगनों में विभाजित थी।[4]

प्रारम्भिक मुगल शासकों (बाबर, हुमायूँ) के समय सूबों की कोई व्यवस्था नहीं थी। उन्होंने प्रचलित शासन प्रणाली को ही अपने प्रशासन का प्रमुख आधार बनाया था। इसका प्रमुख कारण यह था कि प्रथम मुगल शासक ने अपने को ऐसे देश में पाया था

---

1. राधेश्याम : बाबर, पृ. 385.
2. वही.
3. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 55.
4. कुरेशी : दि ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ मुगल एम्पायर, पृ. 227.

जहाँ की परम्परायें भूमि की अन्तिम सतह तक पहुँच गयी थीं और उन रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं को उखाड़ फेंकना इतना सरल कार्य नहीं था। राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था को छेड़ना भी उचित न था और न ही इस बात की आवश्यकता था कि प्रचलित प्रशासन के स्थान पर एक नयी प्रशासनिक व्यवस्था या शासन प्रणाली लागू की जाय। अपने अमीरों को प्रशासन में स्थान देने के लिए, अफगान तथा गैर अफगानों को अपनी ओर मिलाने के लिए, देश के विभिन्न भागों में शान्ति एवं सुरक्षा कायम रखने के लिए तथा अपने प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए रशब्रुक विलियम्स लिखते हैं कि - "उसने (बाबर ने) जो प्रशासनिक योजना बनायी और इसी आधार पर उसने अपने अधिकृत प्रदेशों को अमीरों में इस समझौते पर बाँट दिया कि प्रत्येक अमीर अपने सरकार में जो उसके अधीन है, शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व संभालेगा"।[1] इस प्रकार उसने इस विशाल भू-भाग पर शासन मुगल तथा गैर मुगलों की सहायता से किया। जो भी प्रदेश उसके अधीन थे, उसका कुछ भाग या तो उसने अफगानों को वापस दे दिया या अफगान सरदारों को जागीर में प्रदान कर दिया। उदाहरणस्वरूप कन्नौज से लेकर बिहार तक के प्रदेश में केवल जौनपुर को छोड़कर बाबर ने अफगान वजहदारों की सहायता से शासन किया। हिन्दुस्तान की कुल मालगुजारी, जो इस समय बाबरनामा के अनुसार 52 करोड़ टंका थी, का लगभग $\frac{1}{4}$ भाग की मालगुजारी की जागीरें अफगानों के पास थीं।[2]

हुमायूँ ने यद्यपि अपने प्रशासनकाल के दौरान प्रांतीय प्रशासनिक व्यवस्था में फेर-बदल करने का प्रयास किया पर तत्कालीन परिस्थितियों व परेशानियों के कारणपूर्णतया सफल न हो सका, इसके अलावा राज्यकाल के प्रथम चरण में जबकि कुछ सफलता प्राप्त की जा सकती थी, वह या तो बहुत सुस्त रहा या अपनी मूर्खताओं से बुलाई उलझनों में अधिक उलझा रहा।[3]

---

1. रशब्रुक विलियम्स, पृ. 142.
2. बाबरनामा, पृ. 520,27.
3. अर्सकीन, भाग II, पृ. 527.

शेरशाह के समय में भी सूबों की कोई व्यवस्था नहीं थी बल्कि उसके समय में दिल्ली का साम्राज्य सरकारों और परगनों में विभाजित था, जिनमें से हर एक के अलग-अलग अधिकारी थे ।

हुमायूँ ने जब दुबारा राज्य प्राप्त किया तो उसने भी पिता की तरह राज्य का एक बड़ा भाग जागीरों के रूप में अपने सरदारों में विभक्त कर दिया। वे लोग अपनी-अपनी जागीरें बढ़ाने और स्वतंत्र हो जाने की चेष्टा करने लगे । केन्द्रीय शासन ने कोई ऐसी योजना न बनायी जिससे वह उक्त अमीरों व जागीरदारों की निगरानी कर उनकी कार्यवाहियों पर नियंत्रण रख सके । इस आधार पर परमात्माशरण का कथन है कि - बाबर और उसके पुत्र की निर्माणकारी उपलब्धि बेसूद थी।[1]

मुगल शासकों के लिए यह सहज बात नहीं थी कि वे अपनी प्रभुता का प्रभाव प्रांतों तक पहुँचा दे । राजधानी से सुदूर रहने के कारण प्रांतीय शासकों में अपनी स्वतंत्र प्रभुता कायम करने की प्रवृत्ति अभी भी बनी हुयी थी और आवागमन की सुगमता की कमी ने विकेन्द्रीकरण की शक्तियों को भी पनपने में मदद की किन्तु प्रमुख मुगल शासकों ने शक्तियों का विभाजन करके और प्रभुत्व की अवधि को कम करके इस समस्या को हल करने में सफलता पायी।

16वीं सदी में प्रांतीय शासन को सुचारु रूप से संगठित करने का श्रेय मुगल सम्राट अकबर को विशेष रूप से प्राप्त है। इसने साम्राज्य के जिन प्रदेशों को हुमायूँ से पाया था अथवा जिन्हें उसने जीता था उसमें पहले से चली आ रही प्रादेशिक विभागों प्रांतों और जिलों की व्यवस्था को लगभग 19 वर्षों तक ज्यों का त्यों बनाये रखा, क्योंकि वह इस समय तक राजनीतिक कार्यों में इतना व्यस्त रहा कि इस ओर उसका ध्यान ही नहीं गया ।[2] लेकिन 1575 में उसने साम्राज्य की सब खालसा भूमि (बंगाल

---

1. परमात्माशरण, पृ॰ 143.
2. हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ॰ 94.

बिहार, गुजरात को छोड़कर) को 182 क्षेत्रों में, (जागीरदारी प्रथा बन्द करने की दृष्टि से) विभाजित कर दिया । इनमें से प्रत्येक भाग की अनुमानित मालगुजारी 1 करोड़ दाम या 2 लाख 50 हजार रुपये थी। ऐसे हर भाग को एक करोड़ी नामक अधिकारी के अन्तर्गत कर दिया गया।[1] पर अकबर का यह सुधार पूर्णतया सफल नहीं हुआ क्योंकि उसमें प्रशासन की वास्तविक समस्याओं का ध्यान नहीं रखा गया था।

अकबर जागीर प्रथा को पूर्णतया समाप्त करने का इच्छुक था फलतः उसने प्रयास जारी रखे और 1575 में जागीर प्रथा को बन्द कर जनवरी 1580 ई. में उसने अपने साम्राज्य को 12 स्थायी सूबों में विभाजित कर दिया ।[2] ये निम्न हैं - आगरा, इलाहाबाद, अवध, दिल्ली, लाहौर, मुल्तान, काबुल, अजमेर, बंगाल, बिहार, अहमदाबाद, मालवा ।[3] बाद में दक्षिण विजय कर 1599 ई. तक बरार, खानदेश, अहमदनगर ये तीनों सूबे और बढ़ गये और इस प्रकार उनकी संख्या 15 हो गयी । इनमें से प्रत्येक प्रांत में एक सिपहसालार, एक दीवान, एक बख्शी, एक मीर अदल, एक सद्र, एक कोतवाल, एक मीर बहर और एक वाकयानवीस नियुक्त किया गया ।[4]

इस प्रकार साम्राज्य के इन सब प्रांतों में एक सी शासन व्यवस्था, एक से नाम के अधिकारी, एक सी सरकारी भाषा फारसी और एक से कायदे-कानून तथा एक से प्रशासकीय चलन स्थापित कर दिये गये थे ।[5]

प्रांतों का विस्तार

शासन प्रबन्ध के लिए सूबे सरकारों और परगनों में विभाजित थे । कई

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 167.
2. वही, पृ. 412-13 ; स्मिथ : महान मुगल अकबर, पृ. 400.
3. वही, पृ. 412, फु.नो. 1.
4. वही, पृ. 413.
5. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग II, पृ. 123.

परगनों की एक सरकार होती थी । प्रत्येक परगना ग्रामों के समूहों में विभक्त था। परगना या महाल शासन की प्रशासकीय और राजस्व की इकाई थी। राजस्व की सुविधा के लिए ग्रामों के भी समूह बना लिये गये थे । प्रांतों या सूबों का शासन भी उसी शैली पर आधारित था जिस शैली पर केन्द्रीय शासन । अकबर के समय में प्रांत आधुनिक भारतीय गणतन्त्र के राज्यों से बहुत भिन्न थे । उसके समय में सूबे अनेक सरकारों अथवा जिलों में विभक्त थे । उदाहरणस्वरूप सूबा बिहार में 7 सरकारें थी और उसकी पैमाइशी भूमि 24,44,120 बीघे थी। इसकी मालगुजारी रूपये 55,47, 985,1113 थी । इसमें निम्न सरकारें थी - बिहार, चम्पारन, मुंगेर, हाजीपुर, सरन, तिरहुत और रोहतास ।[1]

प्रांतीय अधिकारी गण

सिपहसालार अथवा सूबेदार

प्रत्येक प्रांत का प्रधान एक राज्यपाल होता था जो अकबर के शासन काल में सिपहसालार और उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में सूबेदार अथवा नाजिम कहलाता था।[2] यह प्रांतीय शासक अपने सूबे में बादशाह का लघु रूप था और सूबे में इसकी (सूबेदार) शक्ति असीम थी सूबेदार जो सिपहसालार कहलाता था सूबे में बादशाह का प्रतिनिधि होता था। बादशाह के नियंत्रण में माना जाता था, परन्तु व्यावहारिक रूप में वह सूबे का राजा होता था जिसकी नियुक्ति सम्राट स्वयं करता था। इसकी पुष्टि अकबरनामा से भी होती है। अबुलफजल लिखता है कि - सूबेदार सम्राट का प्रतिनिधि होता था, जो कुछ भी करता था सम्राट के आदेशानुसार करता था । उसका अपना कुछ निर्णय नहीं होता था।[3]

सिपहसालार को मुल्की और फौजी दोनों अधिकार प्राप्त थे । उसका

---

1. आइने अकबरी, भाग II, पृ. 165-68 ; बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 511.
2. वही, पृ. 38, फु.नों. 56 ; कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 227 ; सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 57-61 ; बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 510.
3. आइने अकबरी, भाग 1, पृ. 37-8.

परगनों की एक सरकार होती थी । प्रत्येक परगना ग्रामों के समूहों में विभक्त था। परगना या महाल शासन की प्रशासकीय और राजस्व की इकाई थी। राजस्व की सुविधा के लिए ग्रामों के भी समूह बना लिये गये थे । प्रांतों या सूबों का शासन भी उसी शैली पर आधारित था जिस शैली पर केन्द्रीय शासन । अकबर के समय में प्रांत आधुनिक भारतीय गणतन्त्र के राज्यों से बहुत भिन्न थे । उसके समय में सूबे अनेक सरकारों अथवा जिलों में विभक्त थे । उदाहरणस्वरूप सूबा बिहार में 7 सरकारें थी और उसकी पैमाइशी भूमि 24,44,120 बीघे थी। इसकी मालगुजारी रूपये 55,47, 985,1113 थी । इसमें निम्न सरकारें थी - बिहार, चम्पारन, मुंगेर, हाजीपुर, सरन, तिरहुत और रोहतास ।[1]

प्रांतीय अधिकारी गण

सिपहसालार अथवा सूबेदार

प्रत्येक प्रांत का प्रधान एवं राज्यपाल होता था जो अकबर के शासन काल में सिपहसालार और उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में सूबेदार अथवा नाजिम कहलाता था।[2] यह प्रांतीय शासक अपने सूबे में बादशाह का लघु रूप था और सूबे में इसकी (सूबेदार) शक्ति असीम थी सूबेदार जो सिपहसालार कहलाता था सूबे में बादशाह का प्रतिनिधि होता था। बादशाह के नियंत्रण में माना जाता था, परन्तु व्यावहारिक रूप में वह सूबे का राजा होता था जिसकी नियुक्ति सम्राट स्वयं करता था। इसकी पुष्टि अकबरनामा से भी होती है। अबुलफजल लिखता है कि - सूबेदार सम्राट का प्रतिनिधि होता था, जो कुछ भी करता था सम्राट के आदेशानुसार करता था । उसका अपना कुछ निर्णय नहीं होता था।[3]

सिपहसालार को मुल्की और फौजी दोनों अधिकार प्राप्त थे । उसका

---

1. आइने अकबरी, भाग II, पृ. 165-68 ; बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 511.
2. वही, पृ. 38, फु.नों. 56 ; कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 227 ; सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 57-61 ; बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 510.
3. आइने अकबरी, भाग I, पृ. 37-8.

मुख्य कर्तव्य था कि वह अपने क्षेत्र की सुरक्षा करें और शान्ति व्यवस्था बनाये रखें।[1] इसके अलावा वह सूबे के न्याय विभाग और युद्ध विभाग का प्रधान था। उसकी अपनी कचहरी होती थी जिसमें वह काजियों और मीर अदल के फैसलों की अपील सुनता था। सूबे में न्याय विभाग का प्रधान होते हुए भी वह बादशाह की स्वीकृति के बिना किसी को प्राणदण्ड नहीं दे सकता था। वह धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। धार्मिक प्रश्नों का निर्णय सद्र तथा अन्य अधिकारी करते थे। युद्ध विभाग प्रधान के रूप में वह सूबे की सेनाओं का सिपहसालार था और उसी पर सेना को सुव्यवस्थित करने की जिम्मेदारी थी। सूबे के उच्चतम अधिकारियों को छोड़कर वह अन्य अधिकारियों की नियुक्ति कर सकता था और उन्हें पदच्युत भी कर सकता था। उसका एक काम यह भी था कि उसके सूबे में या उसके पास अधीन राजाओं के जो राज्य थे, उनसे राज्यकर वसूलकर उसे सुरक्षित रूप से शाही खजाने में भिजवाने की व्यवस्था करे।[2] इसके अतिरिक्त प्रजा की सुख सुविधा के लिए सिंचाई के साधन, सड़कें, सराये, बाग-बगीचे, अस्पताल, कुँए, जलाशय तथा इस तरहके कार्यों द्वारा कृषि को प्रोत्साहन देना उसका परम कर्तव्य था।[3]

1586 ई. में अकबर ने एक महत्वपूर्ण सुधार किया। अब तक एक सूबे में केवल एक ही सिपहसालार नियुक्त किया जाता था अब उनके स्थान पर संयुक्त सूबेदार नियुक्त किये जाने लगे।[4] परन्तु कालान्तर में इस परम्परा का उपयोग नहीं किया गया। सम्भवतः यह कदम प्रांतीय शासन में सूबेदारों की शक्ति को नियंत्रित करने के लिए उठाया गया था किन्तु अधिक दूरी और आमद रफ्त के अच्छे साधनों के न होने के कारण तथा युद्धों की अधिकता के कारण सूबेदारों को पूर्ण रूप से वश

---

1. कुरेशी : ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ मुगल एम्पायर, पृ. 228.
2. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 53 (चौथा संस्करण).
3. परमात्माशरण, पृ. 186.
4. अकबरनामा, भाग III, पृ. 779 अबुलफजल का कहना है कि उसने ऐसा इसलिए किया ताकि एक के बीमार होने पर दूसरा उसका कार्य-भार संभाल सके।

में रखने में तथा प्रांतीय सरकार पर कठोर नियंत्रण रखने में सफलता नहीं मिलती थी। इतना ही नहीं प्रांतों के सूबेदार लम्बी अवधि तक एक ही प्रांत में रहते थे फलतः उनका स्थानान्तरण भी जल्दी किया जाता था।[1]

अकबर के समय में सूबा बिहार को एक महत्वपूर्ण प्रांत के रूप में स्थान दिया गया था।[2]

दीवान-ए-सूबा

सूबे में सूबेदार के बाद सबसे बड़ा हाकिम तथा वित्त विभाग का सर्वोच्च अधिकारी दीवान था।[3] इसे दीवान अथवा दीवान-ए-सूबा कहा जाता था। इस पद का विकास अकबर के शासन काल में हुआ। पहले उसकी नियुक्ति सूबेदार करता था लेकिन 1595 ई. से उसकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा होने लगी थी। वह प्रांत में वित्त विभाग का अध्यक्ष था। सूबे का कोष उसी के अधीन था। उसके हस्ताक्षर के बिना कोई भी रकम कोष से नहीं दी जा सकती थी। वह मुहकमा लगान के मुकदमों का निर्णय करता था।[4] यदुनाथ सरकार लिखते हैं कि - प्रांतीय दीवान जो सूबे के महत्वपूर्ण अफसरों में द्वितीय था, एक प्रकार से सूबेदार का प्रतिद्वन्द्वी था। दोनों का यह कर्तव्य था कि वे एक दूसरे पर कड़ी नजर रखे जिससे दोनों में कोई भी अत्यन्त शक्तिशाली न बन जाये।[5] अकबर के शासन के अन्त तक दीवान प्रांत का प्रभावशाली तथा एक स्वतन्त्र अधिकारी बन गया।[6]

---

1. परमात्माशरण, पृ. 188.
2. बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 510.
3. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 61, 63.
4. कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 229-30.
5. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 61-63.
6. हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ. 98-99.

प्रांतीय दीवान केन्द्रीय दीवान के नियंत्रण और अधिकार में रहता था। यदि प्रांतीय सूबेदार में और उसमें किसी बात को लेकर मतभेद हो जाता था तो विवादग्रस्त विषयों का निर्णय केन्द्रीय सरकार करती थी।

अबुलफजल उसके कार्यों एवं कर्तव्यों का उल्लेख नहीं करता, परन्तु मीराते अहमदी द्वारा हमें जो जानकारी प्राप्त होती है उस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसके प्रमुख कार्य थे - सूबे की मालगुजारी और आय इकट्ठी करना, वसूल की गयी धनराशि को प्रांतीय राजकोष में जमा करके प्रांतीय खर्च का ब्यौरा रखना और उसका हिसाब केन्द्रीय राजकोष को भेज देना । वह धमार्थ और दान में दी गयी भूमि का निरीक्षण व जाँच पड़ताल करता था। चूँकि सूबे या प्रांत के राजकोष पर उसका नियंत्रण रहता था इसलिए उसकी अनुमति के बिना धन व्यय नहीं हो सकता था। वही प्रांत के अधिकारियों को वेतन भी बाँटता था। उसे ऐसे लोगों को नियुक्त करने की सलाह दी जाती थी जो बिना किसी कठोरता या दमन के प्रयोग के किसानों को स्वयं अपने आप सरकारी कर देने को प्रेरित कर सके । इसके अतिरिक्त उसका एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य यह भी था कि प्रांतीय अधिकारियों को जो अग्रिम रकमें दे दी जाती थी उनको वसूली करें और अपने सूबे के राजस्व सम्बन्धी कागजातों पर अपने हस्ताक्षर को मुहर लगायें ।[1]

दीवान न्यायिक कार्य भी करता था। वह न्यायाधीश के रूप में राजस्व सम्बन्धी मुकदमों का निर्णय करता था। परगने तथा सरकार के राजस्व सम्बन्धी मुकदमों के लिए वह अपीलिय न्यायालय का कार्य करता था। इसके निर्णय की अपील केन्द्र के दीवान-ए-आला के सम्मुख की जा सकती थी।[2]

बख्शी अथवा वाकयानवीस

केन्द्रीय शासन की भाँति प्रांतों में भी राजकोष अधिकारी बख्शी होता था। इसकी नियुक्ति केन्द्रीय बख्शी की संतुति पर सम्राट द्वारा होती थी, जिस पर

---

1. अली मुहम्मद खाँ : मीराते अहमदी, भाग III , पृ. 173 उद्धृत आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग II, पृ. 130.
2. हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ.102.

मीरबख्शी (केन्द्रीय) की मुहर आवश्यक होती थी। बख्शी का प्रमुख कार्य सूबे की सेना में भर्ती, सेना की व्यवस्था, पदाधिकारियों व कर्मचारियों के वेतन, स्थानान्तरण, पदोन्नति के कार्य तथा प्रांत के मनसबदारों व जागीरदारों के सैनिकों का निरीक्षण कार्य था।[1] यदि किसी मनसबदार की मृत्यु हो जाती थी तो प्रांतीय बख्शी का यह दायित्व था कि वह उसकी जागीर की सुरक्षा करें । एक मनसबदार बिना बख्शी की अनुमति के किसी दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता था। उसका कार्य यह भी था कि वह वाकयानवीस की खबरें केन्द्रीय सरकार को भेजता रहे ।[2] वह प्रांत का वाकयानवीस भी था। इसके अलावा वह सूबे में गुप्तचर विभाग का कार्य भी देखता था।[3] वह गुप्तचरों और सन्देशवाहकों की सहायता से प्रांत की घटनाओं के समाचार एकत्र कर केन्द्रीय सरकार के पास भेजता था। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से वह सूबेदार और दीवान पर नियंत्रण रखता था।[4]

कोतवाल

सूबों की राजधानी में नगर के पुलिस का प्रधान एक प्रमुख कोतवाल होता था।[5] जिसे सूबेदार के बजाय केन्द्रीय सरकार नियुक्त करती थी । कोतवाल प्रायः नगर पुलिस और सुरक्षा का अध्यक्ष होता था। इसके अधीन अश्वारोही व पदाति सैनिक रहते थे । नगर की सुव्यवस्था, सुरक्षा और शान्ति के अतिरिक्त राजाज्ञाओं का पालन करना भी उसका कार्य था। उसे यह निर्देश थे कि वह नगर को कई भागों में विभाजित कर उनकी शांति सुव्यवस्था के लिए एक चतुर एवं सक्रिय अधिकारी रखें। नगर की सूचनाओं के लिए वह उस क्षेत्र के अनजाने लोगों में से एक को गुप्तचर नियुक्त करता था जिससे सही सूचनायें प्राप्त हो जाती थी।[6] रात्रि में सुरक्षा के लिए चौकी,

---

1. हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ. 102 ; बी.एन. लूनिया, पृ.409.
2. अली मुहम्मद खाँ : मीराते अहमदी, भाग III, पृ. 175 ; कुरेशी, पृ.230.
3. बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 510.
4. कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ.230-31 ; लूनिया, पृ.409.
5. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 66.
6. आईने अकबरी, भाग II, पृ.43-44 ; हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ. 106.

पहरे की व्यवस्था करता था और स्वयं गश्त लगाता था, नगर की वेश्याओं, नर्तकियों, दुश्चरित्र व्यक्तियों मादक द्रव्य तथा शराब बेचने वालों पर कड़ी दृष्टि और नियंत्रण रखता था तथा उन्हें दण्डित भी करता था।[1]

इसके अलावा वह बाहर से आने जाने वाले यात्रियों, विदेशियों की देखभाल व उनकी गतिविधियों पर कड़ी नजर रखता था। बाजारों, मण्डियों,का निरीक्षण करता था, नाप-तौल की जाँच करता था, कम तौलने वालों को दण्ड देता था, दस्तकारी और शिल्पकला की वस्तुओं के मूल्यों पर नियंत्रण रखता था तथा दासों के क्रय विक्रय को रोकता था। नागरिकों के सम्पत्ति व जीवन की सुरक्षा करना उसका प्रमुख कार्य था।[2]

प्रांतीय सद्र

केन्द्र के सद्र-उस-सुदूर की संस्तुति पर सम्राट प्रत्येक प्रांत में एक सद्र की नियुक्ति करता था।[3] इसके कार्यकाल की निश्चित अवधि नहीं थी। इसका स्थानान्तरण सम्राट की आज्ञा से होता था।

प्रांतीय सद्र अपने क्षेत्र में इस्लाम धर्म के हित के लिए उत्तरदायी था। प्रायः सद्र पद पर धर्मात्मा, विद्वान तथा उच्च आचरण वाले व्यक्ति ही सद्र नियुक्त किये जाते थे। वह इस्लाम धर्म में प्रवीण माना जाता था। सद्र का मुख्य कर्तव्य यह था कि वह अपने सूबे में विद्वानों, संतों, महात्माओं, फकीरों, शेखों और मौलवियों को माफी में दी गयी भूमि का निरीक्षण करे तथा धार्मिक कार्यों के लिए दान की व्यवस्था करें। वह वजीफा व दान देने के लिए व्यक्तियों के नाम केन्द्रीय सद्र को प्रस्तुत करें तथा धमार्थ दी गयी भूमि के मुकदमों को सुनकर उन पर निर्णय देकर न्याय करें।[4]

---

1. आईने अकबरी, भाग II, पृ. 44.
2. वही, पृ. 43-45 ; बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 511.
3. अकबरनामा, भाग III, पृ. 413 ; परमात्माशरण, पृ. 197 ; कुरेशी : मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 230.
4. लूनिया, पृ. 410.

काजी-ए-सूबा

प्रांत में प्रमुख न्यायाधिकारी काजी-ए-सूबा था। उसकी नियुक्ति सम्राट काजी-उल-कुजात (केन्द्रीय) की संस्तुति पर करता था। उसे दीवानी तथा फौजदारी दोनों तरह के मुकदमों का फैसला करने का अधिकार था। वह मुसलमानों के वैवाहिक तथा सम्पत्ति सम्बन्धी मुकदमों का फैसला करता था। न्यायिक कार्य में उसकी सहायता मीर अदल, मुफ्ती, काजी, मुहतसिब, दरोगा-ए-अदालत करते थे। काजी-ए-सरकार की नियुक्ति काजी-ए-सूबा की संस्तुति पर होती थी।[1]

मीर अदल

मीर अदल सूबे का न्यायधिकारी होता था। यह अधिकारी प्रथम बार अकबर के काल में नियुक्त हुआ।[2] इससे पूर्व के मुगल व सूर शासकों के समय इसका उल्लेख नहीं मिलता। मीर अदल को आदेश थे कि वह शपथ ग्रहण किये हुये गवाहों की गवाही से ही संतुष्ट न हो बल्कि स्वयं खोजबीन करे, पूछताछ द्वारा मामले से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त करे । इस प्रकार हर गवाह का बयान अलग-अलग ले । मामले की बुद्धिमत्तापूर्ण जाँच पड़ताल कर लेने के पश्चात् वह कुछ समय अपने सोच विचार के लिए रख लें और पुनः उसकी जाँच पड़ताल करें। इसके पश्चात् अपने विवेक तथा एकाग्रता से सोच विचार उसकी तह तक पहुँचे ।[3] उसकी सहायता के लिए काजी होता था। परमात्माशरण का मत है कि मीर अदल तथा काजी एक ही अधिकारी थे ।

मीर बहर

प्रांत के जलमार्ग के अनुरक्षण के लिए मीर बहर की नियुक्ति होती थी। उसका कार्य नदियों के घाटों, पुलों का निर्माण, बन्दरगाहों आदि की देखभाल करना था।[4]

---

1. आईने अकबरी, भाग II, पृ॰ 42-43 ; परमात्माशरण, पृ॰ 197.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ॰ 413.
3. आईने अकबरी, भाग II, पृ॰ 42-43.
4. कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ॰ 231.

What was faujdar's jurisdiction?

सरकार का प्रशासन

फौजदार

यह सरकार या जिले का सर्वोच्च अधिकारी और प्रमुख शासक था, जिसकी नियुक्ति केन्द्र से बादशाह द्वारा होती थी।[1] वह सूबेदार का प्रतिनिधि था तथा सूबेदार के ही निर्देशन में कार्य करता था।

यह सरकार में प्रशासन पुलिस तथा सैनिक शक्ति का प्रतिनिधि था।[2] उसके तीन प्रमुख कार्य किये थे - {1} जिले में अमन चैन बनाये रखना, {2} जिले की सेना पर नियंत्रण रखना, {3} अमलगुजार को मालगुजारी इकट्ठी करने में सहायता देना । इसके अलावा जिले के देहाती इलाकों में सुरक्षा व्यवस्था, चोरों डकैतों तथा अन्य समाजविरोधी एवं उपद्रवी लोगों का दमन, मार्ग की सुरक्षा, यात्रियों, व्यापारियों की रक्षा इत्यादि का उत्तरदायित्व भी उसके ऊपर था। इस कार्य के लिए वह योग्य सहायक अधिकारियों को महत्वपूर्ण देहाती इलाकों में नियुक्त करता था एवं उनके अधीन आवश्यकतानुसार सैनिक निर्धारित करता था।[3]

जिले की सेना का नियंत्रण भी उसके अधीन था। आइने अकबरी के अनुसार सैनिकों की सज्जा का बराबर निरीक्षण करते रहना उसका प्रमुख सैनिक कर्तव्य था।[4]

फौजदार मालगुजारी वसूल करने में सम्बन्धित अधिकारियों की रक्षा भी करता था। आवश्यकता पड़ने पर उसे गाँव के दुष्ट प्रकृति के , जो मालगुजारी देने से इन्कार कर दें, उन्हें दण्डित करने का भी अधिकार था।[5]

---

1. आईने अकबरी, भाग II, पृ. 42 ; सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 64-65.
2. बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 511.
3. मीराते अहमदी, भाग III, पृ. 170 उद्धृत, आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान II, पृ. 142.
4. आइने अकबरी, भाग II, पृ. 42.
5. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 63-66.

अमलगुजार या करोड़ी

सरकार या जिले की मालगुजारी इकट्ठी करने वाले राजस्व विभाग के मुख्य अधिकारी अमलगुजार या करोड़ी होता था जिसकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा होती थी। इसके अधीन ऐसा प्रदेश होता था जिससे भूमि कर से आय । करोड़ दाम या ढाई लाख रुपया होता था।[1] उसका मुख्य काम यह था कि वह मालगुजारी वसूल करे और उपद्रवी बेईमान किसानों, डाकुओं और अन्य दुष्ट लोगों को दण्डित करें । उसे सयूगाल {माफी} भूमि की देखभाल के निर्देश थे और आदेश थे कि वह सभी प्रकार की माफी की जमीनों को देखें और जो लोग बिना कोई {कानूनी} उत्तराधिकारी छोड़े मर गये हों उनकी जमीनें ले लें ।

अमलगुजार के नीचे उसकी सहायता के लिए बहुत से कर्मचारी व मुंशी रहते थे जिनमें प्रमुख थे - भूमि की पैमाइश करने वाले अधीक्षक, थानेदार वितिक्ची, {प्रधान मुंशी {कारकुन {लगान लिखने वाले} मुकद्दम {गाँव के मुखिया} पटवारी, कानूनगो, खजांची आदि ।[2]

अमलगुजार गाँवों के मुखियों की सहायता से माल गुजारी वसूल करता था और पूरी वसूली के पश्चात् उन्हें कुल मालगुजारी पर ढाई प्रतिशत कमीशन देता था।[3]

अमलगुजार का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य यह था कि वह खेती की जाने वाली सारी जमीन की पैमाइश कर उसकी मिट्टी व फसलों के मूल्यों के अनुसार मालगुजारी निश्चित करे । तीसरे उसे यह निर्देश थे कि वह खेती योग्य भूमि का विस्तार करे और हिम्मती किसान को परती भूमि जोतने की विशेष सुविधायें दे । साथ ही जरूरतमन्द किसानों को तकावी धन देकर सहायता करे और बेईमान हो तो उसे

---

1. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 86 ; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द IV ,पृ. 109-10.
2. आइने अकबरी, भाग II, पृ.49 ; आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग II, पृ. 143.
3. वही, परमात्माशरण ने इस धारा को गलत माना है, पृ. 285.

आदेश थे कि वह उनसे सख्ती से पेश आये । अपने जिले की प्रजा जागीरदारों और पड़ोसी लोगों की स्थिति के बारे में और उपद्रवियों के दमन, बाजारभाव, मकान के चालू किरायों, गरीबों, कलाकारों और अन्य किसी दूसरी बातों के बारे में भी वह केन्द्र को माहवारी विवरण भेजता रहता था। वह केवल खालसा भूमि की ही देखरेख नहीं करता था बल्कि वह अपने जिले के जागीरदारों की भूमि पर भी नजर रखता था। जिले में जमा की जाने वाली धनराशि की पूरी जिम्मेदारी अमलगुजार पर होती थी। यदि जिले के मुख्य नगर में कोई कोतवाल न हो तो अमलगुजार को कोतवाल के भी कार्य करने पड़ते थे ।[1] इस प्रकार अमलगुजार का काम काफी जिम्मेदारी और कठिनाई का था।

बितिक्ची

अमलगुजार का यह सहायक अधिकारी था। वह इस बात का कागजपत्र रखता था कि कौन सी भूमि किस प्रकार की है । उसकी उपज कैसी है और कितनी है । इसी के आधार पर भूमि कर निर्धारित किया जाता था। बितिक्ची भूमिकर के समस्त आंकड़ों और उनसे सम्बन्धित बातों का रिकार्ड रखता था। वह अपने क्षेत्र के कानूनगो और पटवारियों के कागजातों और कार्यों का निरीक्षण करता था। उसे अपने कार्यों की वार्षिक रिपोर्ट केन्द्रीय सरकार को प्रतिवर्ष भेजनी पड़ती थी। उसे यह निर्देश था कि - साल के अंत में जब मालगुजारी की वसूली बन्द हो जाय तो वह प्रत्येक गाँव की बकाया रकमों का ब्यौरा लिखकर उसे अमल गुजार को दे, और उसकी एक प्रति दरबार में भेजें ।[2] उसे यह भी आदेश थे कि वह अपनी जगह तभी छोड़े जबकि अमलगुजार उसके हिसाब किताब कार्य से पूर्ण संतुष्ट हो।[3]

फोतदार या खजानदार

अमलगुजार का दूसरा सहायक अधिकारी फोतदार या खजानदार होता था।

---

1. आईने अकबरी, भाग II, पृ. 50.
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग II, पृ. 148.
3. आईने अकबरी, भाग II, पृ. 52.

वह जिले के राजकोष का अधिकारी होता था। वह अपने जिले के भूमिकर को नकद सिक्कों में अथवा सोना चाँदी या अनाज के रूप में प्राप्त करके उसे शाही कोष में जमा करके अपने पास संभालकर रखता था। वसूल किये गये भूमि कर की राशि जब राजकोष में जमा होती थी, तब उसके लिए फोतदार एक रसीद देता था और वह इस प्रकार से प्राप्त धन का पूर्ण हिसाब रखता था। जिले के राजकोष की एक चाबी अमलगुजार के पास और दूसरी खजानदार या फोतदार के पास रहती थी, जिससे कोई भी राजकोष को खोलकर उसमें संग्रहीत धनराशि में कोई गड़बड़ी नहीं कर सके ।[1]

परगने का शासन

परगना प्रशासन और राजस्व की इकाई थी। सूर शासन काल के प्रारम्भ में शेरशाह ने परगने के शासन को सुव्यवस्थित किया तथा प्रत्येक परगनें में एक शिकदार, एक अमीन (मुंसिफ) एक फोतदार (खजांची) और दो कारकुन (लिपिक) एक नागरी लिपि में दूसरा फारसी लिपि में हिसाब रखने के लिए नियुक्त किये ।[2] हुमायूँ ने वही नीति कायम रखी परन्तु अकबर ने परगने के शासन में और सुधार कर परगनों का शासन सुव्यवस्थित एवं संगठित किया। भौगोलिक एवं ऐतिहासिक परम्परा के आधार पर परगनों की सीमायें निश्चित की गयी । अकबर के शासन के अंत में सौ से अधिक सरकारें तथा लगभग 5000 महाल या परगने थे (1600 ई. में अहमदनगर के प्रांत को छोड़कर अकबर के साम्राज्य में 124 सरकारें थीं)। इसके काल में हर परगने में निम्न अधिकारी थे, जैसे - एक शिकदार, आमिल, खजांची, एक कानूनगो और एक कारकुन होता था।[3]

शिकदार

शिकदार परगने का सर्वोच्च कार्यपालिका अधिकारी होता था जिसका मुख्य कार्य अपने अधीनस्थ छोटी सैनिक टुकड़ी की सहायता से परगने में शान्ति व्यवस्था और

---

1. आईने अकबरी , भाग II, पृ.52-53 ; लूनिया, पृ. 411.
2. कानूनगो : शेरशाह, पृ. 352-53.
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, II, पृ. 149.

सुरक्षा बनाये रखना था। वह परगने में भूमि कर वसूल करवाने और उसे राजकोष में जमा करवाने वाले अधिकारियों को सहायता देता था। वह परगने के फौजदारी मुकदमों को सुनकर उन पर निर्णय देता था और इस प्रकार समाज विरोधी तत्वों पर अंकुश रखता था।[1]

आमिल

यदि परगने में शिकदार सामान्य प्रशासन कानून व व्यवस्था का प्रधान होता था तो आमिल राजस्व विभाग का प्रमुख था। इसका कार्य परगने की मालगुजारी निश्चित करना और उसकी वसूली करना था। इस कारण किसानों के साथ उसका निकट सम्पर्क रहता था। शान्ति व्यवस्था बनाये रखने व समाज विरोधी तत्वों का दमन करने में वह शिकदार की सहायता करता था। परगने के कृषकों को वह तकावी देता था।

अकबर के शासन काल में आमिल परगने का मुख्य अधिकारी था। अपने शासन के 18वें वर्ष में अकबर ने प्रत्येक महाल में जिसकी मालगुजारी एक करोड़ दाम थी, एक आमिल नियुक्त किया । यद्यपि उसका मुख्य कार्य मालगुजारी वसूल करना था, परन्तु वह इसके साथ-साथ परगनें का प्रशासन कार्य भी देखता था।[2]

डॉ. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव लिखते हैं कि - आमिल परगने में वही कार्य करता था जो अमलगुजार सरकार में करता था।[3] इस प्रकार वह परगने में सरकार के अमलगुजार का प्रतिरूप था।[4]

खजानदार अथवा पोतदार

प्रत्येक परगने में एक खजाना होता था। इसका प्रमुख शासनाधिकारी खजान-

---

1. बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 511 ; सुनिया, पृ. 412.
2. कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 232.
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग II, पृ. 140 (अ.).
4. हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ. 118.

दार या पोतदार कहलाता था।[1] अकबर के काल में शिकदार, आमिल तथा कारकुन खजाने के प्रबन्ध से सम्बन्धित थे।[2] खजानदार परगने के खजाने के धन के हिसाब-किताब का उत्तरदायी होता था। वह अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की सहायता से इस बात का हिसाब रखता था कि परगने में कृषि योग्य कितनी भूमि है, कितनी भूमि पर कृषि हुयी है, कौन सी और कितनी उपज हुयी है, कृषकों ने कितना भूमि कर दे दिया है और कितना भूमिकर वसूल करना शेष है। वसूल किये गये भूमि कर व अन्य करों की धनराशि वह राजकोष में जमा करता था। सल्तनत काल से ही इसके ये कार्य चले आ रहे थे। मुगल काल में उसके कार्यों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया।[3]

कानूनगो

परगने में राजस्व का वह एक प्रमुख अधिकारी था। इनकी नियुक्ति राजाज्ञा द्वारा होती थी। आवश्यकता पड़ने पर राजाज्ञा द्वारा कानूनगो को उसके पद से हटाया भी जा सकता था। वह परगने के पटवारियों का प्रमुख नेता भी होता था। पटवारियों की सहायता से वह परगने के कृषकों की भूमि, उसके भेद, उपभेद, उनकी फसल, उनका भूमिकर और इनसे सम्बन्धित सभी बातों का विवरण प्राप्त कर उनको लिपिबद्ध कर उनका रिकार्ड रखता था। परगने की भूमि की पैमाइश और उसके बन्दोबस्त का विवरण भी वह रखता था।[4] वह इस बात का विवरण भी रखता था कि कृषकों ने कितना भूमिकर दे दिया है और कितना शेष है। वह इतना प्रभावशाली और महत्वपूर्ण अधिकारी था कि उसे कृषकों का आश्रयदाता कहा जाता था। वह परगने के शासन में रीढ़ की हड्डी के समान था।[5]

---

1. आईने अकबरी, भाग II, पृ. 52 ; कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 235.
2. वही, पृ. 52-53.
3. कुरेशी : ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि सल्तनत ऑफ देलही, पृ. 209, 259, 260.
4. वही, पृ. 236-37.
5. लूनिया, पृ. 412.

कानूनगो द्वारा वसूल किये गये लगान का एक प्रतिशत उसे दस्तूरी के रूप में मिलता था जिसे नानकार कहा जाता था। अकबर ने इसके स्थान पर उनका वेतन निश्चित कर दिया और उसके मूल्य की जागीर उन्हें दे दी जाती थी। कानूनगो को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया और उनका वेतन क्रमशः 20, 30 तथा 50 रुपये प्रतिमाह निश्चित किया गया । ऐसा प्रतीत होता है कि कानूनगो माफी जागीर के अतिरिक्त कमीशन भी वसूल करता था, जिसे रसूम कहा जाता था।[1]

ग्राम शासन

मुगल शासन काल के ग्राम्य शासन का वृहत वर्णन उपलब्ध नहीं है, किन्तु विदेशी यात्रियों, आईन-ए-अकबरी व कुछ अन्य ग्रन्थों से प्राप्त उल्लेखों के आधार पर यह पता चलता है कि प्राचीन तथा मध्यकालीन ग्राम्य संस्थाओं का अस्तित्व 18वीं तथा 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक था। फादर मान्सरेट ने कोंकण सल्सेट द्वीप के शासन का विवरण दिया है, इससे 16वीं सदी के ग्राम्य शासन का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।[2]

मुगल काल में प्रशासकीय सुविधा की दृष्टि से परगने गाँवों में विभाजित थे । मुगलकाल की अधिकतर जनता गाँवों में रहती थी। अकबर के शासन काल में गाँव दो प्रकार के थे - प्रथम, जमींदारी गाँव और द्वितीय रैयतवाड़ी । जमींदारी गाँवों में कृषक अपना भूमिकर जमींदारों को देते थे और जमींदार भूमिकर शासन को देते थे । वे कृषकों से अधिक वसूलते थे और सरकार को कम राशि देते थे । किसान व सरकार के बीच जमींदार होता था। रैयतवाड़ी गाँवों में किसानों का सीधा सम्पर्क सरकार से रहता था और वे अपना भूमिकर सीधा राजकोष में जमा करते थे । गाँव के अधिकारियों में निम्नलिखित प्रमुख थे -

मुकद्दम

गाँव का सबसे बड़ा अधिकारी मुकद्दम होता था। मुकद्दम साधारणतया गाँव का निवासी ही होता था। परन्तु कभी-कभी गाँव के बाहर का व्यक्ति भी

---

1. इरफान हबीब : एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इंडिया, दिल्ली 1963, पृ. 29.
2. वही, पृ. 124.

मुकद्दम नियुक्त कर दिया जाता था। यदि मुकद्दम अपना कार्य ठीक से नहीं करता था तो महकमा माल के सरकारी अधिकारी उसको पदच्युत कर सकते थे। जमींदारी गाँवों में मुकद्दम सरकारी कर्मचारी होता था, पर रैय्यतवाड़ी गाँवों में गाँव के किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति को मुकद्दम नियुक्त कर दिया जाता था। उसका प्रमुख कार्य यह था कि वह गाँव के कृषकों से भूमिकर वसूल करने में सरकारी अधिकारियों व कर्मचारियों को सहयोग दें। वह गाँव में शान्ति व्यवस्था और सुरक्षा बनाये रखता था, समाज विरोधी तत्वों को दबाता था तथा चोरों, डाकुओं, बदमाशों को पकड़ने में सरकारी कर्मचारियों की सहायता करता था। वह अपनी प्रतिष्ठा और प्रभाव के आधार पर गाँव के छोटे-छोटे झगड़ों को निपटाता था। वही किसानों को परती भूमि तथा तकावी बाँटता था।[1]

पटवारी

गाँव का एक महत्वपूर्ण कर्मचारी पटवारी होता था। जमींदारी गाँवों में वह जमींदार का नौकर तुल्य होता था। पटवारी गाँव की भूमि, भूमि का क्षेत्रफल, उसका नक्शा और नाप, उसके स्वामी, भूमि में बोई जाने वाली फसल और उसके विभिन्न प्रकार की फसल की दशा और उपज का विवरण आदि रखता था। वह गाँव के कृषकों से भूमिकर की वसूली और बकाया का भी हिसाब रखता था।[2]

प्रांतीय और स्थानीय शासकीय अधिकारी ग्रामीण क्षेत्रों में दौरा करके कर वसूल करते थे और प्रायः पटवारियों, मुकद्दमों, कानूनगोओं और चौधरियों, जमींदारों के द्वारा ग्रामीण व कृषकों पर नियंत्रण रखते थे। ग्रामीण क्षेत्रों में चोरी, डकैती, लूट-पाट और हत्याओं को रोकने के लिए शासन की ओर से थाने भी स्थापित किये गये थे और वहाँ पुलिस अधिकारियों को रहने की व्यवस्था थी। संभव है, ग्रामीण क्षेत्रों में शेरशाह द्वारा प्रचलित स्थानीय उत्तरदायित्व की प्रथा प्रचलित रही

---

1. हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ. 123 ; लूनिया, पृ. 413.
2. लूनिया, पृ. 413.

हो । परन्तु यदुनाथ सरकार लिखते है कि - मुगलों ने जो असल में नगर निवासी थे, गाँवों की उपेक्षा की । देहात के जीवन से वे दण्ड के समान भयभीत थे ।[1] वे आगे यह भी लिखते हैं कि फौजदारों के द्वारा, राजस्व विभागों के कर्मचारियों द्वारा तथा स्वकीय दौरों के द्वारा, सूबेदार गाँवों से सम्पर्क रखता था किन्तु राज्य सामाजिक कार्यों की अवहेलना करता था तथा जब तक स्थान विशेष में कोई विशेष भयंकर घटना नहीं होती थी या राजकीय सत्ता का विरोध नहीं होता था, तब तक शासन कार्य के लिए भी गाँव स्वतन्त्र छोड़ दिये जाते थे ।[2]

जहाँ तक ग्रामीण क्षेत्रों में बाबर के प्रयत्नों का प्रश्न है, देहात के भाग केन्द्रीय सरकार से पूर्ण रूप से नियंत्रित नहीं थे । बाबर ने इसके लिए कोई प्रयत्न नहीं किया था। उसका परिणाम यह हुआ कि शासन केवल शक्ति के बल पर आधारित था।[3] इस सम्बन्ध में डॉ. एस. के. बनर्जी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि - बाबर को योग्य व्यक्तियों को दूरवर्ती परगने में भेजकर शासन प्रबन्ध कराने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त बाबर में शासन की योग्यता भी नहीं थी। बाबर को यह साम्राज्य जल्दी में प्राप्त हुआ था और उसके संगठन का प्रबन्ध ढीला था।[4]अपने विशाल साम्राज्य के कुछ क्षेत्रों पर उसने स्थानीय जमींदारों की सहायता से भी शासन किया क्योंकि उसे यह मालूम हो चुका था कि यह जमींदार इस देश की शासन व्यवस्था के आधार स्तम्भ है अतएव उनके अस्तित्व को मिटा देना उसने ठीक न समझा ।[5] जो प्रशासनिक व्यवस्था बाबर ने की वह उसके तथा अफगान सरदारों, स्थानीय अमीरों, जमींदारों तथा स्थानीय वातावरण के अनुकूल थी ।

---

1. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 55.
2. वही, पृ. 14.
3. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द IV , पृ. 21 ; रशब्रुक विलियम्स, पृ. 162.
4. एस.के. बनर्जी : हुमायूँ, भाग 1, पृ. 30.
5. राधेश्याम : बाबर, पृ. 395,397.

उससे सभी के हितों की सुरक्षा हुयी । इसके अतिरिक्त उसे ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था को लागू करने की आवश्यकता थी जो थोड़े से थोड़े समय में मुगल साम्राज्य में सामान्य राजनैतिक एवं आर्थिक दशा पुनः प्रतिष्ठित कर दे और साम्राज्य पर उसके प्रभुत्व को सुदृढ़ कर दे ।[1]

हुमायूँ भी लगातार युद्धों में संलग्न रहने के कारण शासन को संगठित न कर सका ।

ग्राम पंचायत

न्याय की निम्नतम इकाई गाँव की पंचायतें थी। मुगल काल की अधिकतर जनता गाँवों में रहती थी। गाँवों में प्राचीन काल से ग्राम पंचायतों तथा बिरादरी पंचायतों का अस्तित्व था। वस्तुतः लोगों के सामाजिक एवं आर्थिकजीवन से सम्बन्धित सभी प्रकार के झगड़े पंचायत के सम्मुख प्रस्तुत किये जाते थे।[2] अधिकतर गाँवों से परगना अथवा सरकार के न्यायालयों में जाने के सुविधाजनक साधन नहीं थे । जनता में राजनीतिक चेतना भी उस समय नहीं थी इस कारण अधिकतर साधारण धार्मिक एवं दीवानी के मुकदमों का फैसला ग्राम पंचायतों में होता था।

लगभग सभी बड़े गाँवों में पंचायत होती थी। ग्राम के प्रमुख परिवारों के ज्येष्ठ सदस्य ग्राम पंचायत के सदस्य होते थे । ये सदस्य ईमानदार, सच्चरित्र, श्रेष्ठ, आचार-विचार वाले समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति होते थे । इनका मत और निर्णय सबको मान्य होता था। गाँव का मुकद्दम मुख्य पंचायत की बैठकों में अध्यक्ष का कार्य करता था। पंचायत का अध्यक्ष सरपंच कहलाता था। ग्राम पंचायत के मुख्य कार्य थे - गाँव की शान्ति, सुरक्षा और व्यवस्था करना, चौकीदार नियुक्त करना, गाँवों की स्वच्छता, स्वास्थ्य, चिकित्सा, गलियों, तालाबों, कुओं, मेलों, हाट, बाजारों और उत्सवों तथा स्थानीय सिंचाई की व्यवस्था करना । ग्राम पंचायतें न्यायालय

---

1. राधेश्याम : बाबर, पृ. 387-98.
2. परमात्माशरण, पृ. 246-47 (अ.).

का भी कार्य करती थी और गाँव वालों के मुकदमें सुनकर उन पर निर्णय भी देती थी। ग्राम पंचायतों के प्रयत्नों और कार्यों को सफल बनाने के लिए अकबर और उसकी सरकार की ओर से सहयोग भी मिलता था। ग्राम पंचायतें सरकारी आज्ञाओं और शाही फरमानों का पालन कराती थी। बड़ी ग्राम पंचायत के अतिरिक्त गाँवों में विभिन्न जातियों की छोटी-छोटी पंचायतें भी होती थी। वे अपनी जाति के सदस्यों के झगड़े निपटाती थी और जाति में समाज, धर्म, व्यवसाय और नैतिकता का स्तर बनाये रखती थी।[1]

प्रांतीय राजस्व व्यवस्था

मुसलमान विजेताओं को भारत में अपना शासन स्थापित होने के समय देश में अत्यन्त उन्नत और सुदृढ़ वित्तीय पद्धति मिली थी, जिसे उखाड़ना या नष्ट करना न तो सुगम था और न लाभदायक। न ही वे अपने साथ कोई सुनिश्चित पद्धति लाये थे, जिसको भारतीय पद्धति के स्थान पर लागू करने में सफलता की आशा की जा सकती थी, फलतः उन्हें देश की ही प्रचलित प्रशासनिक संस्थाओं विशेषकर राजस्व पद्धति को अपनाना पड़ा। इसका प्रमुख कारण यह था कि हिन्दुस्तान में प्रवेश करने वाले अरब और तुर्क मुख्य रूप से योद्धा थे - शासक नहीं, इसलिए वे अपने विजित प्रदेशों में इस्लामी मालगुजारी व्यवस्था पूर्ण रूप से लागू नहीं कर सकते थे, फिर इन प्रदेशों में सदियों से चली आ रही व्यवस्था को एक बारगी हटा देना संभव न था, अतः उन्होंने यही उचित समझा प्राचीन भारतीय मालगुजारी व्यवस्था को विशेषतया राजकर निश्चित करने और उसे वसूल करने के प्राचीन तरीकों को ही अपना ले। इसके बावजूद भी इस्लामी देशों में जो व्यवस्था काफी अरसे से चली आ रही थी, उसकी भी वे उपेक्षा न कर सके। यही कारण था कि उन्होंने भारतीय और इस्लामी व्यवस्था को मिला-जुलाकर एक नयी व्यवस्था स्थापित कर दी।[2]

---

1. लूनिया, पृ. 417-418; हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ. 124.
2. घोषाल, पृ. 73.

भूमि की उपज पर कर और राज्य कर भाग निर्धारित करने वाले जो आधारभूत सिद्धान्त स्मृतियों के युग में निर्मित होकर ईसा के 300 वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में विकसित हुये थे, वही भारत में युगों-युगों से अपनाये जाते रहे हैं । मध्यकालीन युग में भी इनमें कोई बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ।

शेरशाह ने जो सुधार कार्य किये थे वे केवल उनकी कार्य प्रणाली में सुधार मात्र थे, जिनका उद्देश्य शासन में किसी प्रकार समरूपता लाना और उन्हें अधिक अच्छे रूप मे कार्यान्वित कराना था, लेकिन इन सुधारों में कोई विशेष मौलिकता नहीं थी । अकबर ने भी उपज पर कर और राज्य का भाग निर्धारित करने में जो प्रयोग किये थे, वे भी कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रतिपादित कृषि नीति के सिद्धान्त के विपरीत नहीं थे और न आधुनिक व्यवस्था ही प्राचीन अथवा मध्यकालीन व्यवस्था से बहुत भिन्न है ।[1] इस देश की कृषि सम्बन्धी व्यवस्था सदैव से ही सरकार की बहुत ही रूढ़ परम्पराबद्ध व्यवस्था रही है, इसके अतिरिक्त हम राजस्व सम्बन्धी मध्ययुगीन भारत के इतिहास में कुछ ऐसे विशेष लक्षण पाते हैं, जो पूर्वकाल के ही समान थे, जैसे भूमि के सर्वेक्षण के तरीके और नकदी में राजस्व देने की व्यवस्था, तो हमें उनमें नैमित्तिक सम्बन्ध को मानने में तनिक भी संकोच न होना चाहिए ।[2]

मध्यकालीन राजस्व व्यवस्था इस प्रकार मौलिक रूप से प्राचीन भारत की कृषि व्यवस्था का ही थोड़ा सा भिन्न रूप रही लेकिन इस्लामी आदर्शों को बनाये रखने के लिए अलग-अलग प्रकार की भूमि के नाम बदल दिये गये और हिन्दू तथा मुसलमान किसानों से एक सा कर वसूल न कर उनकी अलग-अलग दरें निश्चित कर दी गयीं।[3]

इस्लामी भूमि व्यवस्था के सिद्धान्त

भू-राजस्व निर्धारित करने के लिए मुस्लिम न्यायशास्त्रियों ने भूमि को

---

1. घोषाल, पृ. 4-5.
2. हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. 16.
3. घोषाल, पृ. 28-29.

तीन मुख्य वर्गों में विभाजित किया है - {1} उशरी, {2} खराजी, {3} सुल्ही ।

उशरी भूमि

इसमें निम्न प्रकार की भूमि आती है -

1. मक्का, तायफ, यमन, ओमन और बहरया की भूमि ।
2. वह भूमि जिसके स्वामी ने स्वेच्छा से इस्लाम ग्रहण कर लिया है।
3. वह भूमि जिसे जीतकर मुसलमानों में बाँट दिया गया हो ।
4. वह भूमि जिस पर मुसलमान स्वामी ने मस्जिद बना दी हो या अंगूर की बेलें या बगीचा लगाया हो अथवा मिट्टी पानी देकर उपजाऊ बनाया हो ।
5. वह भूमि जो बेकार पड़ी हो और जिसे किसी मुसलमान ने अपने स्वामी की अनुमति से जोत लिया हो ।[1]

खराजी भूमि

खराजी भूमि वह होती है, जो गैर मुसलमान किसानों या जमींदारों के पास छोड़ दी जाती थी या कहीं और की गैर मुस्लिमों को प्रदान की जाती थी। अगर कोई गैर मुस्लिम किसी मुसलमान भू-स्वामी से उशरी भूमि खरीद लेता था तो वह खराजी भूमि हो जाती थी लेकिन अगर खराजी भूमि का कोई गैर मुस्लिम स्वामी मुसलमान हो जाता था, तो भी उसकी भूमि प्रायः खराजी ही बनी रहती थी।[2]

सुल्ही भूमि

सुल्ही उन भू-भागों को कहा जाता था जो किसी सन्धि के अन्तर्गत प्राप्त

---

1. आईन अकबरी, भाग II, पृ. 61-62.
2. वही ; कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 164.

हुये हों । यह नाम प्रारम्भ में बनी, नजरान और बनी तगलीब के प्रदेशों के लिए ही प्रयोग किया जाता था ।[1]

मध्ययुगीन भारत में विशिष्ट इस्लामी लक्षणों के प्रभाव तथा उशारी और खराजी के विभेद को देखते हुए यह भी स्वीकार करना हानिकारक होगा कि मुस्लिम विजय के कारण स्थानीय पद्धति और लगभग तदनुत्य विजेताओं की पद्धति का समन्वय हुआ होगा ।[2]

इस्लामी कर सिद्धान्त

दिल्ली सल्तनत काल के शासक इस्लाम द्वारा निर्धारित कर व्यवस्था अपने साथ लाये । इस्लाम के विधि वेत्ताओं ने चार प्रमुख करों को वसूल करने की स्वीकृति दी है - (1) खराज (2) जकात (3) खम्स (4) जजिया ।

खराज

यह भूमि कर है । यह कर प्रारम्भ में केवल गैर मुसलमानों से लिया जाता था तथा बाद में यह मुसलमानों से भी लिया जाने लगा ।[3]

जकात

जकात का अर्थ है, शुद्धिकरण । इसकी स्वीकृति कुरान में दी गयी है । इसका लक्ष्य था कि धनी मुसलमानों की आय से निर्धन स्वधर्मियों को आर्थिक सहायता प्राप्त हो सके । जकात कर दैनिक जीवन की आवश्यक वस्तुओं जैसे - रहने का मकान, कपड़ा, बर्तन, सवारी या कृषि के लिए प्रयोग में आने वाले पशु इत्यादि पर नहीं लगता था । सिद्धान्ततः यह कर दृष्टिगत या प्रकट सम्पत्ति पर देय था । जैसे - सोना, चाँदी, पशु और व्यापारिक वस्तुएँ । नियमानुसार यह कर तभी वसूल किया

---

1. कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 164.
2. मोरलैंड, पृ. 16.
3. त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 343.

जाता था जब वह सम्पत्ति करदाता के पास कम से कम एक साल तक रही हो और उसका मूल्य निश्चित सीमा से अधिक हो । यह कर ढाई प्रतिशत (सम्पत्ति का चालीसवाँ) की दर से वसूल किया जाता था। भारत में यह कर धार्मिक कर के रूप में नहीं बल्कि आयात शुल्क (सीमा शुल्क) के रूप में वसूल किया जाता था।[1] जकात से प्राप्त धन किसको दिया जाये इसके विषय में इस्लामी विधि वेत्ताओं ने नियम निर्धारित किया, जिसके अनुसार सात तरह के लोगों को जकात से प्राप्त धन दिया जा सकता है जैसे फकीर । ऐसे मुसलमान जिनके पास कोई सम्पत्ति न हो, जकात एकत्रित करने वाले कर्मचारी, कर्जदार, धर्मयुद्ध में भाग लेने वाले तथा यात्रीगण ।[2]

मुगल सम्राट जकात केवल आयात या सीमा शुल्क के रूप में वसूल करते थे । यह भी सभी मुगल सम्राटों द्वारा वसूल नहीं किया गया। अपने शासन के सातवें वर्ष अकबर ने जिन करों को बन्द किया उनमें जकात भी एक था। उसने दैनिक जीवन में प्रयोग आने वाली वस्तुओं जैसे ऊनी, सूती कपड़े, लकड़ी तांबे के बर्तन, चमड़े का सामान, बेंत तथा बांस की बनी वस्तुओं एवं पशुओं परलगाया जाने वाला कर बंद कर दिया गया।[3]

खम्स

इस्लामी कानून के अनुसार युद्ध में लूट का $\frac{1}{5}$ भाग राज्य को तथा $\frac{4}{5}$ भाग सैनिकों को प्राप्त होता था । इस कर को खम्स कहा जाता था । दिल्ली सल्तनत काल में अलाउद्दीन खिल्जी ने इसे उलट दिया था । वह राज्य के कोष में 80 प्रतिशत जमा करा लेता था और सैनिकों को केवल 20 प्रतिशत देता था । यह नियम फिरोज तुगलक के पूर्व तक चलता रहा ।

मुगल सम्राटों ने इस्लामी कानून अथवा दिल्ली सल्तनत काल में प्रचलित व्यवस्था का परित्याग कर दिया । मुगल सैनिक वेतन भोगी कर्मचारी थे । इस

---

1. ह्यूग टी.पी. : ए डिक्शनरी ऑफ इस्लाम, पृ. 699-700 ; त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 345-6.
2. ह्यूग्स : डिक्शनरी ऑफ इस्लाम, पृ. 699-700.
3. ओरियंटल मिसलेनी, 1798, पृ. 26, उद्धृत, कुरेशी: मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 146.

कारण उन्हें युद्ध में प्राप्त धन में हिस्सा लेने का औचित्य नहीं था। इस प्रकार इस्लामी कानून के विरुद्ध मुगल काल में युद्ध में प्राप्त सम्पूर्ण सम्पत्ति राज्य को प्राप्त होती थी।[1]

जजिया

जजिया का सिद्धान्त कुरान की एक आयत पर आधारित है, जिसमें कहा गया है कि जो लोग खुदा में विश्वास नहीं करते, खुदा एवं पैगम्बर द्वारा वर्णित बातों को नहीं मानते, सत्य धर्म स्वीकार नहीं करते और जो धर्म ग्रंथ रखते हैं, उनसे अंतिम दिन तक जब तक उनके अधीन होकर खुद जजिया न दे, लड़ो। इसी आधार पर इस्लामी धर्मशास्त्र में जजिया की विवेचना जेहाद (धर्मयुद्ध) के संदर्भ में की गयी है। इसके अनुसार ऐसे धर्म के अनुयायी जिसमें मूर्तिपूजा स्वीकृत है, उन्हें धर्मयुद्ध द्वारा या तो इस्लाम स्वीकार करना चाहिए अन्यथा उन्हें मार डाला जायगा। ऐसे धर्म के अनुयायी जिनका धर्म, धर्म पुस्तक पर आधारित है, उन्हें इस्लामी धर्म स्वीकार न करने पर जजिया देकर अपनी तथा अपने परिवार की सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार है, ऐसे लोगों को जिम्मी कहा जाता था।

भारत में इस्लाम धर्म के आगमन के पश्चात् ही यहाँ के निवासियों से जजिया लिया जाने लगा। दिल्ली के सुल्तान जजिया वसूल किया करते थे। यह कर निर्धन लोगों से 12 टनके, मध्यमवर्गीय लोगों से 24 टनके और धनी लोगों से 28 टनके प्रतिवर्ष के हिसाब से लिया जाता था।[2] सल्तनत काल के प्रारम्भ में जजिया ब्राह्मणों से नहीं लिया जाता था। संभवतः उन्हें साधु सन्यासियों की श्रेणी में स्वीकार किया गया था। फिरोज तुगलक ने तो उन पर भी जजिया कर लगाया।

बाबर तथा हुमायूँ के काल में वर्षों से चला आ रहा जजिया कर लिया जाता

---

1. कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 143.
2. त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 341.

था । अकबर प्रथम शासक था जिसने पहली बार इसे समाप्त कर (1564 ई. में) दिया यद्यपि इस बीच कुछ रूढ़िवादी लोगों ने जजिया पुनः लगाने का प्रयत्न किया था। 16वीं शताब्दी के अंत में $3\frac{1}{3}$ रु. में जो न्यूनतम जजिया था, 9 मन गेहूँ का आटा प्राप्त हो सकता था । इससे जजिया के भार का अनुमान लगाया जा सकता है।[1]

पूर्व मुगल शासकों की कर निर्धारण नीति

भारत पर अधिकार करने से पूर्व इस्लाम धर्म के अनुयायियों को भूमि की पैमाइश तथा कर वसूल करने की तीनों पद्धतियों (बंटाई, पैमाइश, कनकत) का ज्ञान था। अलाउद्दीन खिलजी से पूर्व दिल्ली के किसी सुल्तान ने मालगुजारी के निर्धारण में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली का प्रथम सुल्तान था, जिसने खेती की जाने वाली भूमि की पैमाइश करवायी । अलाउद्दीन किसानों को मालगुजारी उपज में ही देने को प्रोत्साहित करता रहा, किन्तु कनकत और बंटाई की प्रणालियाँ भी प्रचलित रहीं । गयासुद्दीन तुगलक ने बंटाई व्यवस्था अपनायी। फिरोज तुगलक के काल में मालगुजारी आंशिक रूप में नकद तथा आंशिक रूप में उपज में ली जाती थी। सिकन्दर लोदी ने $41\frac{1}{2}$ सिकन्दरी का गज प्रचलित किया जो कालान्तर में सिकन्दरी गज के नाम से प्रसिद्ध हुआ । यह गज $41\frac{1}{2}$ सिकन्दरी सिक्कों के व्यास के बराबर था। यह गज अकबर के शासनकाल के 21वें वर्ष तक चलता रहा। इब्राहिम लोदी ने मालगुजारी उपज में देने की प्रथा जारी की।[2]

मुगल शासकों द्वारा कर निर्धारण

बाबर

भारत में अधिकार करने के पश्चात् बाबर ने मालगुजारी से सम्बन्धित नियमों में कोई परिवर्तन नहीं किया बल्कि सल्तनत काल से चली आ रही राजस्व व्यवस्था को

---

1. इरफान हबीब : दि एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इंडिया, पृ.120, फु.नो.5 ; कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 143-45.
2. त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 294.

अपना लिया ।[1] उसने केवल इतना ही परिवर्तन किया था कि मुसलमानों पर से चुंगी (तमगा) हटा ली थी जबकि हिन्दुओं पर ये कर पुरानी दर से ही कायम रहा।[2] लगान व्यवस्था में वह कोई परिवर्तन न कर सका । उसने लोदियों के काल में प्रचलित परिपाटी का ही अनुसरण किया और लगान गल्ला तथा नकद दोनों रूपों में लेता था।[3]

जब बाबर हिन्दुस्तान आया तो यहाँ सिकन्दरी गज प्रचलित था, उसने इसको बन्द करके बाबरी गज प्रचलित किया जो जहाँगीर के काल तक प्रचलित रहा।[4] उस समय मुख्य कर भूमिकर ही था। शान्त प्रदेशों से यह कर सरकार ही वसूल किया करती थी, परन्तु जो प्रदेश देशी सरदारों के अधीन थे और जिन पर बादशाह का पूरा अधिकार नहीं हुआ था, वहाँ पर बादशाह सरदारों से कर लिया करता था।[5]

बाबर ने हिन्दुस्तान की विजय के समय अपने विभिन्न स्वामी भक्त अमीरों और सहायकों में विजित राज्यों को जागीर के रूप में बाँट दिया था। वे भूमिकर के रूप में एक निश्चित धनराशि सम्राट को देते रहते थे । इसकी पुष्टि स्वयं बाबरनामा में बाबर के लेखों से होती है । वह लिखता है कि - उसने विजित भू भाग में से कुछ भाग अफगान अमीरों को, कुछ मुगल अमीरों को जागीर के रूप में प्रदान कर दिया था। भीरा से बिहार तक के उसके साम्राज्य की मालगुजारी 52 करोड़ टनके थी, जिसमें आठ नौ करोड़ टनके की आय उन परगनों से होती थी जो पुराने राजा व रायों के अधिकार में थे ।[6] इस विशाल साम्राज्य के कुछ भाग ऐसे थे जिन्हें बाबर ने खालसा

---

1. त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 297.
2. बाबरनामा, पृ. 519.
3. वही, पृ. 522-23.
4. फरिश्ता, ब्रिग्स, भाग II, पृ. 66-67.
5. एस.के. बनर्जी : (बाबर एण्ड हिन्दूज), जर्नल ऑफ दि यू.पी. हिस्टोरिकल सोसाइटी, भाग II, 1936, पृ. 11.
6. बाबरनामा, पृ. 520-21 ; अर्सकिन, भाग I, पृ. 540-41.

भूमि घोषित किया। 16 मई 1529 ई. को वह लिखता है कि - अफगानों के लिए बिहार में व्यवस्था करते समय बिहार की कुल मालगुजारी 40560,000 टंकों में से एक करोड़ को खालसा बनाकर मैंने पचास लाख महमूद खाँ नूहानी को प्रदान कर दिया। बिहार की शेष मालगुजारी {3 करोड़ 99 लाख, 60 हजार टंका - मालगुजारी} जलाल खाँ को प्रदान कर दी गयी। उसने एक करोड़ राजकर के रूप में अदा करना स्वीकार कर लिया।[1]

मुहम्मद जमान मिर्जा के हाथों बिहार की कमान सौंपी गयी और मुर्शिद ईराकी को बिहार का दीवान नियुक्त कर दिया गया।[2]

बाबर द्वारा अमीरों और सहायकों में विजित राज्यों को जागीर स्वरूप बाँट देने का परिणाम यह हुआ कि भूमिकर के रूप में एक निश्चित धनराशि सम्राट को देते रहते थे तथा अपने जागीर का कृषकों से मनमाना धन वसूल करते थे। दूसरा परिणाम यह हुआ कि राज्य के कृषकों और कृषि की दशा अत्यन्त सोचनीय और दयनीय हो गयी। राजा और सम्राट को उनकी दशा सुधारने के लिए उनके पास न तो अवकाश था और न इच्छा ही। हिन्दुस्तान के लोगों का शोषण और उन्हें लूटना उचित माना जाता था, ऐसी दशा में भूमिकर व्यवस्था में कोई परिवर्तन होना संभव न हो सका। बाबर अपने अधीन शासकों से विभिन्न जिलों की मालगुजारी और नजरानों की वसूली टंकों में लेता था। इससे यह अनुमान होता है कि वह अधिकतर वसूली नकदी में ही करता था।[3]

<u>हुमायूँ</u>

यद्यपि हुमायूँ राजनीतिक और सैनिक समस्याओं में ही उलझा रहा परन्तु फिर भी उसने अपने शासन काल में भू-राजस्व में कुछ साधारण सुधार भी किये।

---

1. बाबरनामा, पृ. 676 ; रिजवी : {बाबर}, पृ. 329.
2. त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 297.
3. बाबरनामा, पृ. 520-21.

सुल्तान सिकन्दर लोदी का गज $41\frac{1}{2}$ इस्कन्दरी के बराबर था । हुमायूँ ने उसे बढ़ाकर 42 इस्कन्दरी कर दिया जिससे यह पूरा 32 इकाइयों का हो गया ।[1] भूमि की पैमाइश के लिए उसने शिसरी गज का प्रयोग किया।[2]

हुमायूँ के शासन के प्रथम काल में तो बाबर की ही व्यवस्था चलती रही, उसने पिता की तरह ही समस्त भूमि को जागीर स्वरूप वितरित किया । साम्राज्य की भूमि चार श्रेणियों में विभाजित थी[3]-

1. खालसा भूमि, जो सम्राट के निजी अधिकार में थी।
2. माफी भूमि, जो विद्वानों या धार्मिक व्यक्तियों को दी जाती थी।
3. जागीर, जिसे अधिकारियों को दिया जाता था।
4. जमींदारों के अधिकार की भूमि, ये भाग अपनी सुव्यवस्था शांति तथा आन्तरिक शासन के लिए स्वतन्त्र थे ।

हुमायूँ के शासन में कदाचित अकबर के काल से कम मालगुजारी ली जाती थी। उसके काल में एक खरवार (आठ मन से कुछ अधिक) अनाज पर दो बाबरी तथा चार टनका कर देय था। अकबर के समय में इसी वजन पर चार बाबरी देना पड़ता था।[4] इसके अलावा कर लगान के रूप में $\frac{1}{2}$ तथा $\frac{1}{3}$ लिया जाता था। कहीं-कहीं जमीन अच्छी नहीं होती थी तो $\frac{1}{10}$ और $\frac{1}{20}$ कर दिया जाता था। संसार में अल्प समय जीवित रहने के कारण वह सोचते हुये भी विशेष परिवर्तन न कर सका । इस सम्बन्ध में आर.पी. त्रिपाठी का कथन है कि हुमायूँ अपनी सैनिक और राजनीतिक परेशानियों में लगातार उलझा रहा। परिणामस्वरूप राजस्व संकलन की ओर वह विशेष ध्यान न दे सका।[5]

---

1. एस.के. बनर्जी : हुमायूँ, भाग II, पृ. 343.
2. मोरलैंड, पृ. 72.
3. खवन्दमीर, कानूने हुमायूँनी, अ.अनु. बेनी प्रसाद, लन्दन 1902, पृ. 13.
4. बनर्जी, भाग II, पृ. 343-4.
5. त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 298.

इस्लामशाह की राजस्व व्यवस्था

शेरशाह के पुत्र और उसके उत्तराधिकारी इस्लामशाह की लगान व्यवस्था के सम्बन्ध में हमें विशेष जानकारी नहीं मिलती क्योंकि इतिहासकारों ने उसके शासन प्रबन्ध के बारे में कम रुचि ली है । जो कुछ उसके बारे में जानकारी मिलती है वह अकबर के समकालीन इतिहासकारों (विशेषतया वाकयाते मुश्ताकी) द्वारा मिलती है। इतिहासकारों की मान्यता है कि उसने अपने पिता के पदचिन्हों का अनुसरण किया और शेरशाह द्वारा बनाये गये नियमों को अपने पूरे साम्राज्य में क्रियान्वित किया।[1] जहाँ तक लगान व्यवस्था का प्रश्न है सम्भवतः उसने लगान विभाग को ज्यों का त्यों अपने पिता के समान रखा । उसमें किसी प्रकार की फेरबदल नहीं की। इसकी पुष्टि आर.पी.त्रिपाठी द्वारा भी होती है । वे भी लिखते हैं कि उसने अपने पिता की नीतियों को जारी रखा, इसके अतिरिक्त वह भू-व्यवस्था को केन्द्रीय प्रशासन के अन्तर्गत रखना चाहता था।[2] कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि उसने जागीर व्यवस्था को समाप्त कर दिया था और समस्त विलायत को खालसा घोषित कर दिया।[3] परन्तु यह अतिशयोक्ति जान पड़ता है । मुश्ताकी लिखता है कि उसने जागीरों को सैनिकों में वितरित कर दिया । इससे स्पष्ट होता है कि वह खालसा भूमि को विस्तृत करना चाहता था और इसके विस्तार के लिए उसने हर संभव प्रयास किया।[4]

मुहम्मद तुगलक की भाँति इस्लाम शाह भी प्रशासनिक मामलें में, नियमितता एवं क्रमबद्धता में अधिक विश्वास करता था। यह कहा जाता है कि उसके नियम व्यावहारिक आवश्यकताओं को पूरा करने में पर्याप्त थे ।[5]

---

1. एडवर्ड थामस : रिवेन्यू रिसोर्सेज ऑफ दि मुगल एम्पायर (फ्राम - 1553 टू 1707), 1871, लन्दन, पृ. 298-299.
2. त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 306.
3. रैंकिग, पृ. 496.
4. त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 306.
5. रैंकिग, पृ. 496.

उसने प्रशासनिक व्यवस्था [साधनों] में कोई परिवर्तन नहीं किया। उसके समय में शिकदार भी हुआ करते थे। उसने शिकदारों पर जिम्मेदारी सौंपी। शेरशाह के समय में यह उत्तरदायित्व मुकद्दम पर था। शिकदार एक दैनिक सरकारी अधिकारी था। यह आवश्यकता पड़ने पर मुंसिफ की सहायता भी करता था।[1]

उसके समय में भी परगना लगान का सबसे नीचा शासन था। वहाँ इस्लाम शाह ने लगान के लिए मुंसिफ तथा अमीन की नियुक्ति अधिकारी के रूप में की। कर्रोंची, कारकुन, कानूनगो और क्लर्क किसानों के यहाँ लगान वसूल करने जाते थे। ये लोग पर्शियन नहीं बोलते थे, बल्कि हिन्दी भाषा बोलते थे।[2] कारकुन अपना कैंप लगाकर एक जगह रहता था और हिसाब-किताब करता था, लेकिन आमिल दूर [दौरे] कार्य करता था। कानूनगो कृषि का हिसाब-किताब रखता था और उसकी छान-बीन किया करता था। सभी मुकदमों को पटवारी देखता था। यह गाँव का कृषि सम्बन्धी हिसाब-किताब रखता था।[3]

इस्लामशाह पूरे साम्राज्य में प्रत्येक मौसम में एक प्रकार का नियम लागू करना चाहता था। वह जरीब पद्धति को बढ़ाना चाहता था और $\frac{1}{3}$ भाग पैदावार की माँग कर रहा था। वसूली के लिए अपने अधिकारियों को समय-समय पर निर्देशित भी करता रहता था।[4]

अकबर

मुगलकालीन भू-राजस्व व्यवस्था के संगठन का श्रेय अकबर को है। इस समस्या की ओर उसका सर्वप्रथम ध्यान तब आकर्षित हुआ, जब अपने शासन के प्रारम्भ में उसने कोषाध्यक्ष से 18 रुपये की माँग की और उसे सूचित किया गया कि कोष में इतना धन उपलब्ध नहीं है।[5] अकबर के समय में भी साम्राज्य का आर्थिक ढाँचा मूलतः भू-

---

1. त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 307; स्मिथ, पृ. 289.
2. एडवर्ड थामस, पृ. 298-99.
3. अकबरनामा, भाग II, पृ. 113 ; आईने अकबरी, भाग II, पृ. 48.
4. वही, पृ. 87.
5. यू. एन. डे : दि मुगल गवर्नमेन्ट, पृ. 108.

राजस्व पर निर्भर करता था। भूमि व्यवस्था को व्यवस्थित करने का शुभारंभ अकबर ने 1560 ई. में किया, किन्तु प्रयोग का क्रम 1590 ई. तक चलता रहा। इस तरह भू-राजस्व को संगठित करने में लगभग 30 वर्ष लगे।

अबुलफजल के लेखों से स्पष्ट होता है कि - जिस समय अकबर सम्राट हुआ, शेरशाह द्वारा गठित भूमिकर व्यवस्था प्रचलित थी। अकबर ने इस भूमि कर प्रणाली को अपनेशासन के प्रारम्भिक 15 वर्षों तक कायम रखा। इसके बाद भूमि कर व्यवस्था की ओर ध्यान दिया।[1]

अकबर के प्रारम्भिक प्रयोग

प्रथम प्रयोग - अकबर ने प्रारम्भ में शेरशाह की ही अनाज की दरें {रई} और जमा {मालगुजारी} अपनायी। उस समय लाहौर, दिल्ली, आगरा, इलाहाबाद और अवध ही ऐसे प्रदेश थे, जिनपर मुगलों का पूरा-पूरा अधिकार था अतएव इन प्रदेशों में सरकारी माँग इन्हीं रई और जमा दरों के आधार पर निश्चित की गयी थी, इसलिए शेरशाह की उपज की दरों को नकदी की दरों में बदल दिया गया था। दिल्ली के आस-पास के प्रदेश में इसे निश्चित करने के लिए वहाँ के बाजारों में प्रचलित विभिन्न अनाजों के भावों को ध्यान में रखा जाता था। लेकिन यह व्यवस्था संतोषजनक सिद्ध न हुयी और इससे वसूली में परेशानी के साथ-साथ देर भी हो जाती था, क्योंकि सारे साम्राज्य में उपजों की यही एक सी दरें लागू की जाती थी और अनाजों के भावों को सम्राट की स्वीकृति से निश्चित किया जाता था, फिर देहाती इलाकों में मूल्य कम रहते थे, जिससे किसानों को सरकार को नकद मालगुजारी चुकाने में कठिनाई होती थी, इसलिए यह व्यवस्था असफल सिद्ध हुयी।

द्वितीय प्रयोग - प्रथम प्रयोग की असफलता के पश्चात् एतिमाद खाँ ने द्वितीय प्रयोग किया, जिसे 1562 ई. में खालसा का दीवान नियुक्त किया गया।

---

1. आईने अकबरी, भाग II, पृ. 58-67, 94.
2. वही, पृ. 68-94.

उसने मालगुजारी व्यवस्था बड़ी ही अस्त-व्यस्त पायी। फलतः सर्वप्रथम उसने खालसा भूमि को जागीरी भूमि से अलग कर दिया और फिर खालसा भूमि में मालगुजारी वसूली के नये नियम बनाकर उन्हें सितम्बर 1562 ई. से लागू कर दिया। अबुलफजल इनका कोई विवरण न देकर केवल यही कहकर संतुष्ट हो जाता है कि इससे गबन समाप्त हो गये ।[1] इस व्यवस्था को मुजफ्फर खाँ ने 1567 ई. में समाप्त कर दिया और खालसा प्रदेशों को एक सी मालगुजारी के बराबर-बराबर भागों में बाँटने का प्रयास इसी समय किया गया ।[2] यद्यपि यह कदम पूर्णरूपेण ठीक तो नहीं था, फिर भी इस कदम से मालगुजारी विभाग में कुछ सुधार अवश्य हुआ ।

<u>तृतीय प्रयोग</u> - मुजफ्फर खाँ व टोडरमल ने 1567 ई. में एक तीसरा प्रयोग किया, जिसके अन्तर्गत राज्य का भाग उपज के रूप में निश्चित करने [जमा-ए-रकमी-कलमी] की प्रथा समाप्त कर दी और एक नयी प्रकार की नकद जमा की प्रथा का श्री गणेश किया ।[3] इसके लिए उन्होंने स्थानीय कानूनगोओं से आँकड़े एकत्र करके नयी लगान अनुसूची [जमा-ए-हाली-हासिल] तैयार करवायी और उसके आधार पर सारे साम्राज्य के कुल भू-राजस्व [जमा] का लेखा तैयार किया। प्रत्येक परगने के लिए अनाजों की अलग-अलग नकद कीमतें तय की गयीं । चूंकि कानूनगोओं ने अनुमान से काम लिया था, अतः नये सिरे से एकत्र किये गये आँकड़े भी पूर्णतः ठीक नहीं थे । फिर भी ये पहले के आँकड़ों से श्रेष्ठ थे । 1568 ई. में अब्दुल्ला खाँ के स्थान पर शिहाबखाँ [शिहाबुद्दीन] वित्त मंत्री नियुक्त हुआ। नया मंत्री चिन्ताशील प्रवीण व्यक्ति था और उसने गबन को रोकने का यथासम्भव प्रयत्न किया। "जब्ती हरसाला प्रणाली" अर्थात् प्रति वर्ष लगान निर्धारण की व्यय साध्य प्रणाली के स्थान पर नस्क प्रणाली लागू की क्योंकि यह अत्यधिक व्यय का कारण था और इससे गबन फैला ।[4] इसके अन्तर्गत राजस्व मंत्रालय में प्रत्येक परगने से आये भू-राजस्व के आँकड़ों के आधार

---

1. अकबरनामा, भाग II, पृ. 276-77 ; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 63-64.
2. वही, भाग II, पृ. 402-3.
3. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : अकबर महान्, भाग II, पृ. 184.
4. अकबरनामा, भाग II, पृ. 438 ; स्मिथ, पृ. 397-98.

पर लगान निश्चित किया गया ।[1] अबुल फजल लिखता है कि - शिहाबुद्दीन ने एक दर की स्थापना की और अपनी तीक्ष्णता द्वारा धोखेबाजी का दमन किया ।[2] अकबर के शासन के पन्द्रहवें वर्ष (1570-71 ई.) पुनः अधिक निश्चयात्मक सुधारों की स्थापना हुयी, जब मुजफ्फरखाँ तुरबती ने, टोडरमल की सहायता से, स्थानीय कानूनगोओं द्वारा प्रस्तुत और केन्द्र के दस उच्च कानूनगोओं द्वारा परिशोधित प्राक्कलनों (आर्थिक अनुमानों) पर आधारित संशोधित भू-राजस्व निर्धारण की व्यवस्था की । लगान की माँग विगत वर्षों की अपेक्षा कुछ कम था, किन्तु प्राक्कलन और वास्तविक प्राप्ति का अन्तर घट गया था। आरम्भिक कर निर्धारण केवल अटकल पर आधारित थे, जिनमें स्थानीय परिस्थिति से अवगत वंशानुगत कर्मचारियों से अल्प सहायता ली गयी थी, या नहीं भी ली गयी थी ।[3]

चतुर्थ प्रयोग - अबुल फजल लिखता है कि - लेकिन अकबर अभी तक प्रचलित मालगुजारी की किन्हीं भी व्यवस्थाओं से संतुष्ट न था। वह बराबर यह सोचा करता था कि मालगुजारी व्यवस्था में और क्या सुधार किये जायें कि वे किसानों के लिए अधिक हितकर और राज्य के लिए संतोषप्रद एवं असुविधाजनक बन जायें ।[4] इस चिन्ता से उबरने के लिए उसने 1573-74 ई. में चौथा प्रयोग किया। इस प्रयोग में तीन मुख्य बातें थीं - 1. खालसा प्रदेश का विस्तार, 2. जागीरी प्रदेश में आनुपातिक रूप से कमी (स्मिथ लिखते हैं कि - अकबर दूर राजाओं का अनुकरण करते हुये, जागीरी प्रथा के विरुद्ध था, कारण कि वह व्यय साध्य था और उससे सामंतों को अत्यधिक शक्ति और स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती थी । प्रत्येक जागीरदार अपने अधिकार क्षेत्र में एक छोटा मोटा राजा था। अकबर ने जागीरों को खालसा में परिवर्तित करने का बहुत प्रयास किया अर्थात् यथासम्भव उसने अपने मनसबदारों को नकद वेतन दिया, उसने खालसा भूमि का प्रशासन अपने ही पदाधिकारियों द्वारा करवाया। इस प्रकार उसने अधिक धन

---

1. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग II, पृ. 184.
2. अकबरनामा, भाग II, पृ. 493 ; स्मिथ, पृ. 398.
3. स्मिथ, पृ. 398.
4. अकबरनामा, भाग III, पृ. 164-65.

और शक्ति एकत्रित की ये दोनों वस्तुएँ जिनकी उसे सबसे अधिक कामना थी।[1]

5. भूमि की राज स्वीकृत पैमाने या गज से पैमाइश कर उसकी वास्तविक उपज निश्चित करना और उसके आधार पर मालगुजारी निश्चित करना।[2]

खालसा प्रदेश के विस्तार के लिए अगस्त-सितम्बर 1574 ई. में कदम उठाये गये और जौनपुर, चुनार, बनारस, कर्मनासा नदी तट तक के प्रदेशों को सरकारी अधिकारियों के सीधे शासन के अन्तर्गत लाने के प्रयास प्रारम्भ हो गये।[3] इस समय जौनपुर का सूबेदार मुनीम खाँ था। उपरोक्त योजना के अन्तर्गत मुनीमखाँ का तबादला बिहार कर दिया गया और उसके स्थान पर रिजवी खाँ को जौनपुर से लेकर कर्मनासा तट तक के खालसा प्रदेश का शासक बना दिया गया। उसके पश्चात् एक के बाद एक सूबे खालसा प्रदेश में शामिल होते गये और 1575 ई. तक बिहार, बंगाल, गुजरात तथा पुराने राजे-रजवाड़ों के राज्यों को छोड़कर साम्राज्य का अधिकांश भाग खालसा प्रदेशों में परिवर्तित कर दिया गया।[4] साम्राज्य के प्रदेशों का खालसा में परिवर्तन का अर्थ यह है कि - यह भूमि अमीरों को जागीर रूप में नहीं दी जाती थी, जिसका प्रशासन वे स्वयं करते, बल्कि इन क्षेत्रों का प्रशासन साम्राज्य के अधिकारियों द्वारा परोक्ष रूप से होता था, जो स्वयं भूमिकर एकत्र करते थे।[5]

इस प्रकार उसने जागीर व्यवस्था समाप्ति की घोषणा (1575 ई. में) कर दी और राजकोष से अपने अधिकारियों और सैनिकों को नकद वेतन देना प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि जागीरी प्रदेश कम हो गये पर जागीरी व्यवस्था अभी भी पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुयी थी। 1581-82 ई. तक का लम्बा सफर इन सुधारों को साम्राज्य में कार्यान्वित करने में तय करना पड़ा था, फिर भी 1583 ई. के महान विद्रोह को

---

1. स्मिथ, पृ. 393.
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग II, पृ. 185.
3. स्मिथ, पृ. 130.
4. वही, पृ. 122.
5. वही.

समाप्ति के बाद पुनः कुछ जागीरें दी जाने लगीं, परन्तु स्थानान्तरण और शासन द्वारा लगान वसूली कायम रही । इन सुधारों को क्रियान्वित करने के बाद भी विद्वानों और धार्मिक लोगों को जीवन-यापन के भत्ते के लिए भूमि ही दी जाती रही । पर हर स्थिति में मालगुजारी तथा दूसरे करों का वसूल करना और प्रशासन के अन्य कार्य, जागीरों में भी जागीरदारों के हाथों से लेकर केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त मालगुजारी विभाग के अधिकारियों को सौंप दिये गये । यह सुधार इस प्रकार जागीरों को खालसा में परिवर्तित करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम था। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम मुनीमखाँ की सूबेदारी में परिवर्तन हुये (अगस्त-सितम्बर 1574 ई.) जिसमें जौनपुर, बनारस, चुनार और कर्मनासा नदी तक का प्रदेश शामिल था ।[1] बिहार, बंगाल, गुजरात को छोड़कर शेष साम्राज्य में यह नीति 1575 ई. में ही लागू कर दी गयी थी । उन प्राचीन राजवंश के राजाओं के राज्यों में यह नीति नहीं लागू की गयी, जिन्हें अधीनता स्वीकार कर लेने के पश्चात् अपने राज्यों का शासक बने रहने दिया गया था।

इसके पश्चात् अब दूसरा कदम यह था कि 1575-76 ई. में बंगाल, बिहार, गुजरात के अतिरिक्त सर्वत्र भूमि की जाँच की गयी और साम्राज्य के खालसा भू-भाग को 182 क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया ।[2] प्रत्येक क्षेत्र की मालगुजारी की आय 1 करोड़ टनका था, जो 250,000 रुपये के बराबर थी । उसे करोड़ी नामक एक अनुभवी अधिकारी के अन्तर्गत रख दिया गया। यह भूमिकर का संग्रहकर्ता था। करोड़ी का काम कारकुन और फोतदार की सहायता से अपने प्रदेश की सीमायें निश्चित करना और उसमें स्थित गाँवों के भूमि की पैमाइश करना था। भूमि की नपायी का कार्य पूरा करने के लिए पूरे साम्राज्य की खालसा भूमि में कुल 182 करोड़ी नियुक्त किये गये ।[3] करोड़ी को आमिल भी कहा जाता था।[4]

---

1. तबकाते अकबरी, भाग II, पृ. 216.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 167.
3. वही, पृ. 166-67 ; त्रिपाठी : सम आस्पेक्टस ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 317 ; स्मिथ, पृ. 399.
4. वही, पृ. 167 ; त्रिपाठी, वही, पृ. 317.

राजस्व व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए भूमि को सही नाप बहुत आवश्यक थी, अतः अकबर ने भूमि की पैमाइश तथा अन्य सभी पैमाइश सम्बन्धी कार्यों के लिए सिकन्दर लोदी के गज को सरकारी पैमाने की इकाई मान लिया। उसने जरीब में भी सुधार किया, क्योंकि जिन जूट की रस्सियों से अभी तक नपायी की जाती थी, वे हवा में नमी की मात्रा के कारण सिकुड़ती व बढ़ती रहती थीं, इससे नपायी में अन्तर आ जाता था, अतः अकबर ने बांसों के डंडों के पैमाने प्रचलित किये। 1575 ई. से रस्से का स्थान बाँस के जरीब ने ले लिया, जो लोहे के छल्ले द्वारा जुड़ा होता था, जिसके कारण उसकी लम्बाई एक सी बनी रहती थी।[1] करोड़ी खेती की जाने वाली भूमि की मालगुजारी (कैद-जब्त) भी निश्चित करता था। उसे ऐसी भूमि की पैमाइश करनी पड़ती थी, जो कृषि योग्य तो होती थी, पर जिसपर खेती नहीं की जाती थी। वह किसानों को ऐसी भूमि पर खेती करने के लिए प्रोत्साहन देता था और धीरे-धीरे प्रायः तीन वर्ष में उससे भी मालगुजारी वसूल करने लगता था। करोड़ियों को अपने-अपने क्षेत्रों की आय का ब्योरा तैयार करना पड़ता था और कृषि क्षेत्र को और बढ़ाने के लिए अपने सभी प्रयत्न करने पड़ते थे। उन्हें अपने प्रदेशों में प्रत्येक जागीरदार के अधिकार की जाँच कर जागीरों में दिये गये कुल क्षेत्र को निश्चित करना पड़ता था। उनके कार्यों में यह भी था कि वे रैयत से मालगुजारी वसूल करें और उसे राजकोष में भेज दें, लेकिन उन्हें अन्याय या कठोरता से कार्य करने की मनाही थी और उन्हें किसानों के हितों की वृद्धि करने के निर्देश रहते थे।[2] इस त्वरित कार्यवाही के कारण 1574-78 ई. के मध्य लाहौर, बिहार, मालवा और पूर्वी तथा दक्षिणी गुजरात की भूमि नापने की कार्यवाही भी पूरी कर ली गयी, परिणामस्वरूप 1580 ई. तक सरकार के पास राजस्व व्यवस्था के सम्बन्ध में पर्याप्त

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 167 ; स्मिथ, पृ. 402.
2. वही, पृ. 167 ; तबकाते अकबरी, भाग II, पृ. 300-301 ; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 189.

आवश्यक सामग्री एकत्र हो गयी । अब सुनियोजित ढंग से सारे सुधार क्रियान्वित किये गये । इस समय दीवान टोडरमल था, किन्तु सुधारों का क्रियान्वयन उसके सहयोगी ख्वाजाशाह मंसूर ने किया ।[1] सर्व प्रथम 1580 ई. में विस्तृत साम्राज्य को 12 सूबों में विभाजित कर दिया गया और प्रत्येक सूबे में राजस्व सम्बन्धी मामलों की देखभाल के लिए एक दीवान की नियुक्ति की गयी ।[2]

"भूमि की नपाई बीघों में की जाने लगी । एक बीघा 60 गज लम्बा 60 गज चौड़ा अर्थात् 3600 वर्ग गज था। भूमि की पैमाइश का काम एक समिति की देखरेख में होता था, जिसके सदस्य चार मुख्य अधिकारी होते थे । प्रारम्भ में इस समिति के सदस्य थे - शाहबाज खाँ, अलफ खाँ द्वितीय, राय पुरुषोत्तम और राय राम-दास ।[3] भूमि की पैमाइश के बाद उसकी जो वास्तविक उपज निर्धारित की जाती थी, उसी के आधार पर मालगुजारी निश्चित होती थी ।[4]

यद्यपि भूमि की पैमाइश के आधार पर मालगुजारी का निश्चित किया जाना उचित दिशा में सही कदम था, पर इस नियम की मुख्य कमी यह थी कि साम्राज्य को 182 कृत्रिम क्षेत्रों में बाँटकर यह मान लिया गया कि हर भाग से एक करोड़ दाम मालगुजारी वसूल होगी ।[5]

भूमि व्यवस्था की नवीन प्रणाली में लगान निर्धारण करने के लिए जहाँ एक ओर पहला कदम भूमि की नपाई का उठाया गया वहाँ दूसरा कदम जमीनों के

---

1. जनवरी 1580 ई. में बंगाल के विद्रोह का दायित्व जब टोडरमल पर आ गया तो समस्त कार्यभार शाह मंसूर को संभालना पड़ा जो अत्यन्त कुशल लेखाकार था. -अकबरनामा, भाग III, पृ. 414.
2. स्मिथ, पृ. 195.
3. अकबरनामा, भाग III, पृ. 167 ; तबकाते अकबरी, भाग II, पृ. 300-301; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 192.
4. वही.
5. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान्, भाग 1, पृ. 173.

वर्गीकरण का भी था। लगान निर्धारण की दृष्टि से भूमि को चार वर्गों में रखा गया। स्मिथ यह आरोप लगाते हुये लिखते हैं कि - टोडरमल और अकबर ने मिट्टी के प्रकारों पर चाहे वे स्वाभाविक हों या कृत्रिम, कोई ध्यान नहीं दिया और उन्होंने खेती के सांतत्य अथवा असांतत्य [चालू अथवा स्थगित] पर वर्गीकरण आधारित किया।[1] चार वर्ग इस प्रकार थे - पोलज, परती, चाचर और बंजर । सम्भवतः यह वर्गीकरण भूमि में लगातार जितने समय तक फसल ली जाती थी, उसके आधार पर किया गया था -

पोलज - पोलज वह भूमि थी, जिसमें बराबर खेती होती थी अथवा जिससे प्रतिवर्ष फसल ली जाती थी ।[2]

परती - यह वह भूमि थी जिसे एक फसल के बाद अपनी शक्ति पुनः संचित करने के लिए एक या दो वर्षों तक परती रखा जाता था ।[3]

चाचर - यह वह भूमि थी, जो तीन या चार वर्षों तक परती छोड़ दी जाती थी।[4]

बंजर - वह भूमि जो पाँच वर्ष या उससे अधिक वर्षों के लिए बिन जोती पड़ी रही हो ।[5]

श्रेष्ठता के अनुसार पोलज और परती भूमि की तीन श्रेणियाँ थीं - उत्तम, मध्यम और निकृष्ट । इन तीनों श्रेणियों की भूमि की प्रति बीघा फसल का अलग-अलग औसत निकालकर पोलज या परती भूमि की प्रति बीघा फसल का अनुमान लगाया जाता था। उदाहरणार्थ - यदि पोलज भूमि की उत्तम प्रकार की भूमि में प्रति बीघा 30 मन फसल, मध्यम प्रकार की भूमि में 25 मन और निकृष्ट भूमि में

---

1. स्मिथ, पृ॰ 402-403.
2. आईने अकबरी, भाग II, पृ॰ 68.
3. वही.
4. वही.
5. वही.

20 मन फसल होती है तो पोलज भूमि की औसत प्रति बीघा फसल $75 \div 3 = 25$ मन मानी जाती थी । परती की प्रति बीघा फसल का अनुमान इसी प्रकार लगाया जाता था। इस औसत फसल का एक तिहाई भू-राजस्व के रूप में लिया जाता था। चाचर भूमि पर पहले वर्ष राज्य के भाग का $\frac{1}{5}$, दूसरे वर्ष $\frac{3}{5}$, तीसरे और चौथे वर्ष $\frac{4}{5}$ और पाँचवें वर्ष पूरा लगान लिया जाता था। बंजर भूमि पर भी इसी प्रकार पहले कम और फिर क्रमशः अधिक लगान लिया जाता था। पाँचवें वर्ष पूरी फसल लगान के रूप में ली जाती थी ।[1] स्थिति भेद के अनुसार लगान या तो उपज के रूप में या नकद रुपये के रूप में दिया जाता था। तीसरे वर्ष पाँच फीसदी और प्रतिबीघा एक दाम बढ़ा दिया जाता था ।[2]

अकबर की राजस्व प्रणाली के सम्बन्ध में विल्टन ओल्डहम कहता है कि - अकबर की राजस्व प्रणाली रैयतवाड़ी थी और भूमि की वास्तविक खेती करने वाले कृषक निर्धारित वार्षिक लगान देने के उत्तरदायी थे ।[3] लगान बंदी न तो इजारादारों के साथ की गयी थी और न गाँवों के मुखियाओं के साथ की गयी थी। उदाहरणार्थ, संग्राहक को निर्देश दिया गया था कि वह यह निर्धारित करे कि किसान निश्चित अवधियों में स्वयं अपना लगान दाखिल करें, जिससे निम्न प्रकृति के मध्यस्थों के अनाचारों से बचा जा सके ।[4] चिटिकची अथवा लेखाकार को निर्देश दिया गया कि जब पूरे गाँव का सर्वेक्षण हो जाय तो वह किसान का लगान निश्चित करे और पूरे गाँव का भूमिकर निर्धारित कर दे ।[5] किन्तु यदि गाँव का प्रधान सम्पूर्ण लगान की वसूली में अधिकारियों की सहायता करे, तो उसे प्रत्येक बीघा का $\frac{1}{20}$ वाँ भाग दिया जाय या उसे अन्य किसी प्रकार से अपनी सेवाओं के परिमाण में पुरस्कृत किया जाय।[6]

---

1. आइने अकबरी, भाग II, पृ० 72-75.
2. वही, पृ० 62-67.
3. मेमोयर ऑफ गाजीपुर डिस्ट्रिक्ट , 1870, इलाहाबाद, भाग 1, पृ० 82.
4. आइने अकबरी, भाग II, पृ० 49.
5. वही, पृ० 51.
6. वही, पृ० 46, फु० नो० 62.

खालसा भूमि की फसलों और लगान का ठीक निर्धारण होने के बाद इस बात की आवश्यकता थी कि लगान को नकद में परिवर्तित करने के लिए विभिन्न अनाजों के भावों की सूची तैयार की जाये। साम्राज्य के निरन्तर विस्तार के कारण प्रतिवर्ष भावों की अनुसूची तैयार करना असुविधाजनक होता था, क्योंकि सुदूर स्थानों से अनाजों के भावों की सूचना राजधानी पहुँचने और सरकारी सम्मोदन के बाद उसके लौटने में न केवल विलम्ब हो जाता था, बल्कि तब तक भावों में पुनः परिवर्तन हो जाता था। इस असुविधाजनक स्थिति से निपटने के लिए अकबर ने 1580 ई. में "आइन-ए-दहसाला" की व्यवस्था लागू की।[1] इसके अनुसार 1571 ई. से लेकर 1580 ई. तक के भू-राजस्व और अनाज की प्रचलित कीमतों के योग में 10 का भाग देकर औसत निकाल लिया गया और इसे वार्षिक नकद लगान मान लिया गया। दूसरे शब्दों में पिछले 10 वर्षों की औसत उपज को उन वर्षों की औसत कीमतों के आधार पर नकद मूल्य में परिवर्तित कर दिया गया।[2] मोरलैण्ड ने "आइन-ए-दहसाला" के अनुसार पिछले 10 वर्षों की नकद लगान का औसत निकालकर नकद की जो दर तय की गया, उसे त्रुटिपूर्ण माना है।[3]

इस व्यवस्था को सही बनाने के लिए एक से उपजाऊपन और अनाज की एक-सी कीमतों वाले क्षेत्र के परगनों को इकट्ठा करके एक दस्तूर-उल-अमल (मंडल) निर्मित कर दिया जाता था और इनके पिछले 10 साल के लगान और कीमतों के औसत से ही अगले वर्षों के लिए लगान निर्धारित किया जाता था।[4] यह बन्दोबस्त का असली तरीका कहलाता था। यह बिहार, इलाहाबाद, अवध, आगरा, मालवा, दिल्ली, लाहौर और मुल्तान के सूबों में और अजमेर व गुजरात में प्रचलित था। दस साला प्रणाली के अनेक लाभ थे। इससे जहाँ कृषकों को पहले से यह मालूम रहता था कि उन्हें कितना लगान देना है वहाँ राज्य को भी अपनी आय का पहले से ही

---

1. त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 321 ; मोरलैण्ड और युसुफ अली, जे.आर.ए.एस., 1918, पृ. 1, 42.
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग 2, पृ. 137-38.
3. मोरलैण्ड, परिशिष्ट ई.
4. आइने अकबरी, भाग II, पृ. 95-96.

अनुमान हो जाता था ।[1] इस प्रकार प्रतिवर्ष राजस्व निर्धारित करने की जटिल, श्रमसाध्य और व्ययसाध्य व्यवस्था के स्थान पर यह सरल व्यवस्था कायम हुयी और अनाज की बदलती हुयी कीमतों की परेशानी से मुक्ति मिली ।

भू-राजस्व की नयी व्यवस्था कायम होने के पश्चात् राजस्व एकत्रित करने वाले कर्मचारियों के कार्य को सुचारु रूप देने की ओर भी ध्यान दिया गया, जिससे किसानों के हित सुरक्षित रहें । उन्हें निर्देश दिया गया कि किसानों से निश्चित राशि से अधिक भू-राजस्व वसूल किये जाने पर वे दण्ड के भागी होंगे और जो कर्मचारी ईमानदारी से कार्य करेंगे उन्हें पुरस्कार प्रदान किया जायेगा। फसल खराब होने की स्थिति में किसानों को कर्ज देने के आदेश दिये गये । वसूल किये गये लगान का विवरण नियमित रूप से भेजने का भी निर्देश दिया गया ।[2]

1584 ई. में अकबर ने सरकारी काम-काज के लिए इलाही संवत् जारी किया, जो सौर वर्ष पर आधारित था। यह किसानों के लिए भी लाभप्रद था क्योंकि पहले प्रचलित हिज्री संवत चंद्र वर्ष पर आधारित होने के कारण सौर वर्ष से 10-11 दिन कम होता था, फलतः 31 हिज्री वर्ष में 30 सौर वर्ष होते थे ।[3] जहाँ किसान सौर वर्ष के अनुसार 30 वर्ष में 30 फसलें लेता था, वहाँ हिज्री वर्ष के आधार पर उसे 31 बार लगान देना पड़ता था। इलाही वर्ष जारी होने से अब किसानों को होने वाली यह हानि समाप्त हो गयी ।

1592 ई. में समस्त खालसा भूमि को चार राजस्व क्षेत्रों में बाँट दिया गया और चार अधिकारी नियुक्त किये गये । पंजाब, मुल्तान, काबुल और कश्मीर का एक क्षेत्र, अजमेर, गुजरात और मालवा का दूसरा क्षेत्र, आगरा, इलाहाबाद, बंगाल, बिहार का तीसरा क्षेत्र और दिल्ली का चौथा क्षेत्र। प्रथम क्षेत्र का अधिकारी

---

1. त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 321.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 562-64.
3. आईने अकबरी, भाग II, पृ. 29.

ख्वाजा शमसुद्दीन था, दूसरे क्षेत्र का ख्वाजा निजामुद्दीन अहमद बख्शी, तीसरे क्षेत्र का राय पतरदास और चौथे क्षेत्र का राय रामदास था। ये समस्त अधिकारी दीवान कुलीजखाँ के अन्तर्गत रखे गये[1], [इस समय तक टोडरमल की मृत्यु हो चुकी थी], लेकिन 1595 ई. में इस व्यवस्था के स्थान पर दूसरी व्यवस्था स्थापित की गयी, जिसमें प्रत्येक सूबे का दीवान सूबेदार से स्वतन्त्र कर दिया गया, अब दीवान सीधे केन्द्रीय दीवान के अन्तर्गत कार्य करने लगा।[2] इस भू-राजस्व व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग यह था कि प्रत्येक किसान को एक पट्टा दिया जाता था, जिसमें उसकी भूमि और उससे लिये जाने वाले लगान का उल्लेख रहता था। इसके बदले वह एक स्वीकृत पत्र अमलगुजार को सौंपता था, जिसे कबूलियत कहा जाता था। लगान चुकाने पर उसे रसीद दी जाती थी।

यद्यपि अकबर के समय लगान निर्धारण में भूमि की नाप को प्राथमिकता दी जाती थी, किन्तु स्थानीय परम्पराओं की उपेक्षा नहीं की जाती थी। समानान्तर रूप से लगान निर्धारण की अन्य प्रणालियाँ कानकूत और बंटाई भी प्रचलित थीं। कानकूत का अर्थ था खेत की उपज का मोटा अनुमान लगाकर उसका एक तिहाई भाग लगान के रूप में लिया जाना। बंटाई जिसे गल्ला बख्शी भी कहते थे तीन प्रकार की होती थी, रास बंटाई अर्थात् महाई के बाद खलियान में लगे अनाज के ढेर का $\frac{1}{3}$ भाग लेना, खेत बंटाई अर्थात् बोनी के बाद खेत का $\frac{1}{3}$ भाग अलग कर उसकी उपज ले लेना, लाक बंटाई अर्थात् कटाई के बाद और महाई के पहले के ढेर का $\frac{1}{3}$ भाग ले लेना।[3] यह प्रणाली सामान्यतया दक्षिणी सिंध, काबुल के एक भाग, कंदहार तथा कश्मीर में प्रचलित थी।

कानकूत और बंटाई के अतिरिक्त नस्क को लगान निर्धारण की एक प्रणाली कहा गया है, लेकिन इस सम्बन्धमें विद्वानों में बहुत मतभेद है। आर.पी. त्रिपाठी

---

1. मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 411 ; अकबरनामा, भाग III, पृ. 924.
2. वही, पृ. 1029. 1585 ई. में रामदास बिहार का दीवान नियुक्त किया गया.
3. आईने अकबरी, भाग II, पृ. 47.

का मत है कि - नस्क प्रणाली में भूमि की नाप और उपज का बंटवारा[1] नहीं होता था, बल्कि यह शासन तथा भू-पति (किसान या जमींदार) के मध्य मोटे अनुमान पर आधारित शुद्ध तथा सादा समझौता था। यह बंगाल, काठियावाड़ तथा गुजरात के एक भाग में प्रचलित थी ।[1] श्री राम शर्मा के मतानुसार - इसमें न तो भूमि की नाप होती थी और न फसलों का सामयिक विवरण तैयार किया जाता था । पिछले 10-12 वर्षों में जो लगान दिया जाता था, उसके औसत के आधार पर भूमि में किये गये सुधार को ध्यान में रखते हुये लगान निर्धारित किया जाता था । जोत की भूमि या कोई नयी फसल से इसमें कोई अन्तर नहीं आता था ।[2] मोरलैण्ड नस्क को ग्राम का संक्षिप्त कर निर्धारण मानते हैं ।[3]

सामान्यतया मुस्लिम शासकों का एक परम कर्तव्य होता था, धार्मिक संस्थाओं, विद्वानों, संतों, अपंगों को सहायता देना। नकद सहायता को वजीफा और भूमि के रूप में दी गयी सहायता को मदद-ए-माश कहा जाता था और ऐसी भूमि को सयूरगाल की संज्ञा दी जाती थी । अकबर के समय में राज्य की भूमि का काफी बड़ा भाग सयूरगाल के रूप में चला जाता था। अकबर के समय सयूरगाल भूमि की व्यवस्था राजस्व विभाग के अधीन न होकर अलग विभाग के अधीन था, जिसका प्रधान सद्र होता था ।

अकबर की राजस्व व्यवस्था में राज्य की आय में वृद्धि के साथ किसानों की सुविधाओं का भी ध्यान रखा गया था। अधिकाधिक भूमि को खेती के अन्तर्गत लाने के लिए अधिकारियों को प्रोत्साहित किया गया। किसानों के हितों की रक्षा करने के लिए राजस्व कर्मचारियों को निर्देश दिये गये और किसानों को तकावी और सिंचाई जैसी सुविधायें भी उपलब्ध करवायी गयीं । फसल खराब होने या अकाल पड़ने

---

1. त्रिपाठी : राइज एण्ड फाल ऑफ मुगल एम्पायर, पृ॰ 242॰
2. एस॰आर॰ शर्मा : मुगल गवर्नमेन्ट एण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन, 1951, पृ॰75॰
3. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, 1920, पृ॰ 43॰

पर किसानों को लगान में पर्याप्त छूट दी जाती थी । इसके साथ ही किसान अपनी सुविधा से लगान निर्धारण का कोई भी तरीका चुन सकता था। जहाँ पट्टा दिये जाने से किसान असंतुष्ट हुये, वहाँ इलाही वर्ष जारी होने से भी किसानों को लाभ हुआ। अमलगुजारों को आदेश थे कि वे दौरा करके किसानों की स्थिति की जानकारी लें । बाढ़ ग्रस्त भूमि को लगान में 12.5 प्रतिशत तथा बंजर भूमि को 15 प्रतिशत छूट देने की अनुमति थी ।[1] इतनी अधिक सुविधायें किसानों व भू-पतियों को प्रदान करने के पश्चात् भी निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि अकबर का कर निर्धारण वास्तव में असंदिग्ध रूप से कठोर था ।

सैनिक संगठन

वस्तुतः राज्य की दो आवश्यकतायें होती हैं - 1. प्रजापालन तथा राज्य की समृद्धि एवं 2. काफिरों का विनाश, दुराचारियों का विच्छेदन तथा अत्यधिक राज्यों को विजय करना ।[2] इस दूसरी आवश्यकता के लिए सेना एवं सैन्य विभाग आवश्यक है -

बरनी कहता है कि - राज्य दो स्तम्भों पर आधारित है - 1. प्रशासन 2. विजय । दोनों का आधार सेना है, यदि शासक सेना के प्रति उदासीन है तो वह अपने ही हाथों राज्य का विनाश करता है ।[3] एक सुव्यवस्थित प्रशासन के लिए एक सुसंगठित सेना की आवश्यकता है और सुसंगठित सेना के लिए एक सुव्यवस्थित प्रशासन की । एक विशाल और सुदृढ़ सेना के बिना प्रशासन का सुचारु रूप से संचालन असम्भव है ।

---

1. त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 325.
2. रिजवी : तुगलककालीन भारत, अलीगढ़ 1957, जिल्द 2, पृ. 110.
3. बरनी : फतवा-ए-जहाँदारी, अनु. हबीब एवं अफसर बेगम, पालिटिक्स थ्योरी ऑफ दि दिल्ली सल्तनत, पृ. 22.

सैद्धान्तिक रूप से सभी युग में सेना को राज्य एवं प्रशासन का आधार शिला माना गया है। मुस्लिम शासकों का शासन तो सेना पर ही निर्भर था। अतः सभी शासकों ने सैनिक संगठन पर विशेष जोर दिया। निरंकुश राजतन्त्र को शक्तिशाली बनाने में शक्तिशाली सेना ने विशेष योगदान दिया है। 16वीं सदी में बाबर प्रथम मुगल सम्राट था, जिसने सैनिक संगठन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उसकी सेना में पैदल, घुड़सवार, तोपखाना विशेष महत्वपूर्ण था, जिसकी सहायता से उसने बहुसंख्यक पैदल सेना पर विजय प्राप्त करके अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की।

सामान्यतः किसी भी राज्य में सैनिक संगठन केन्द्रीय सरकार का एकांतिक विभाग हुआ करता है, किन्तु मुगल साम्राज्य में वस्तुस्थिति सर्वथा भिन्न थी। उनका प्रशासनिक व्यवस्था मुख्यतः सैनिक आधार पर संगठित थी। साम्राज्य का प्रत्येक समर्थ नागरिक शाही सेना का सिपाही था। सेना की भर्ती और उसका प्रबन्ध आधुनिक काल की तरह प्रांतीय सिविल (असैनिक) शासन से सर्वथा पृथक् किसी अन्य विभाग द्वारा नहीं होता था, बल्कि अधिकांश सेना की भर्ती उसका प्रशिक्षण और अनुशासन उसका रख-रखाव, उसकी अस्त्र-शस्त्रादि से सज्जा तथा सैनिक अभियानों एवं छावनियों की व्यवस्था उन अधिकारियों द्वारा होती थी, जो प्रांत के असैनिक शासन के लिए भी उत्तरदायी होते थे। वर्तमान की भाँति, जिसमें देश को कमानों में विभाजित किया जाता है, उस काल में प्रांतों को छोड़कर साम्राज्य के कोई सैनिक प्रभाग न थे, अतः सैनिक संगठन प्रांतीय शासन का उतना ही महत्वपूर्ण विषय था, जितना कि केन्द्रीय शासन का।

प्रांतीय सेनाओं से सम्बन्धित अध्ययन के लिए जो सामग्री उपलब्ध है, उस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रांतों की सेनाओं के मुख्यतया 3 वर्ग होते थे, प्रथम वह सेना, जिसे सूबेदार से नीचे तक के अधिकारी को अपने मनसब के अनुसार रखना पड़ता था। यह निस्सन्देह साम्राज्य की स्थायी सेना का अंग होती थी। यह प्रांत की अपेक्षा सामान्यतया साम्राज्य की सेवा के लिए रखी जाती थी। आरम्भ में इनको वेतन देने के लिए मनसबदारों को उसके वेतन के बराबर आय वाली जागीर

दी जाती थी, किन्तु बाद में अकबर ने जागीर प्रथा को निरुत्साहित किया और वेतन सीधे राजकोषों से दिया जाने लगा। प्रांतीय सेना के दूसरे वर्ग में कतिपय छोटे-छोटे जमींदारों के वे सैन्यदल थे, जो आवश्यकता पड़ने पर काम आने के लिए प्रांतीय सूबेदारों से संलग्न रहते थे।

स्थानीय सेना के तीसरे और सबसे महत्वपूर्ण वर्ग में अश्वारोही पैदल व अन्य सैनिक होते थे।[1] सेना के तीनों वर्गों का उल्लेख करने के बावजूद भी तीनों शासकों के सैन्य संगठन का क्रमशः उल्लेख अति आवश्यक है -

बाबर की सैन्य व्यवस्था

बाबर की सेना का संगठन उसके पूर्वज तैमूर के सैन्य संगठन जैसा ही था। तिमुर ने अपनी सेना के संगठन में महान् मंगोल सेनापति चंगेजखाँ (1154-1227 ई.) का अनुसरण किया। चंगेज खाँ का सैन्य संगठन पाँच सिद्धान्तों पर आधारित था-
1. सेना का नियमित रूप से अलग सैन्य दलों या टुकड़ियों में बंटा होना, इन सैन्य दलों को तुमान कहते थे। हर तुमान में 10 हजार सैनिक थे। 2. कठोर अनुशासन, 3. केवल योग्य सेनापतियों का चुनाव। ये सेनापति दूर-दूर स्थित सेनाओं का स्वतन्त्र रूप से परिचालन करते थे। 4. बहुत ही स्वामीभक्त और वीर शाही रक्षकों की सैन्य दल का इस सेना का सबसे महत्वपूर्ण अंग होना। 5. सेना का असाधारण रूप से द्रुतगामी होना।[2]

तिमुर ने अपनी सेना के संगठन में इसी मंगोल सैन्य संगठन को अपनाया था और बाबर ने भी उसी का अनुकरण किया था। बाबर की सैन्य शक्ति तोपखाने से और अधिक बढ़ गयी थी। तोपों का प्रयोग उसने ईरानियों से सीखा था। उसके तोपखाने में बंदूकें और भारी-भारी तोपें थीं।[3] बाबर को अपने तोपखाने एवं बन्दूकों

---

1. कुरैशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 114.
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग 2, पृ. 226.
3. रशब्रुक विलियम्स, पृ. 111.

पर सबसे अधिक विश्वास था। रशब्रुक विलियम्स ने लिखा है कि - अगर किसी एक साधन से हिन्दुस्तान को जीतने में बाबर को सहायता मिली तो वह साधन उसका तोपखाना था ।[1] तोप चलाने के लिए उचित व्यवस्था हेतु मुहस्सिलों तथा बेलदारों की नियुक्ति का उसने कई स्थानों पर उल्लेख किया है ।[2] इसके अतिरिक्त बाबर ने तुर्कों, मंगोलों, उजबेगों एवं अफगानों की सैन्य व्यवस्था की बहुत सी महत्वपूर्ण बातें और युद्ध प्रणाली के तरीके भी अपना लिये थे, जिसका प्रयोग उसने इब्राहिम लोदी और राणा सांगा के विरुद्ध सफलतापूर्वक किया था ।[3]

बाबर के शासनकाल में मुगल सेना मंगोल, अफगान, तुर्क, उजबेग, ईरानी आदि विभिन्न जातियों के सैनिकों का मिश्रित समूह था। इन सैनिकों और उनके सेनानायकों को भूमि व जागीरें दी जाती थीं । बड़े-बड़े अमीरों और सरदारों के पास प्रायः उनकी अपनी ही जाति की सेना रहती थी । इस कारण ये अमीर तथा सरदार मुगल शासन का विरोध करते थे । इस सैन्य व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह था कि अमीर और सरदार सम्राट द्वारा निश्चित संख्या में सैनिकों को नहीं रखते थे, यद्यपि इसके लिए उन्हें निर्दिष्ट जागीर दी गयी थी ।[4] इस सम्बन्ध में आई. एच. कुरेशी लिखते हैं कि - इसका प्रमुख कारण यह था कि प्रारम्भ में यह अव्यवस्थित ढंग से संगठित की गयी थी । बाबर और हुमायूं उन योद्धा सरदारों पर निर्भर थे, जिनकी अपनी सवार टुकड़ियाँ थीं । इन सरदारों को उनके महत्व के आधार पर रकम दी जाती थी, यह रकम युद्ध में उनकी सैन्य शक्तियों की प्रभावशीलता के अनुसार निर्धारित होता थी । प्रारम्भिक दो मुगल शासकों के शासनकाल में सम्राट की वह भूमि जो उनके प्रत्यक्ष एवं प्रभावशाली नियन्त्रण में थी, वह इतनी विस्तृत नहीं था, कि बादशाह को उन क्षेत्रों में स्थित सैन्य टुकड़ियों के बारे में सूचना प्राप्त करने में

---

1. रशब्रुक विलियम्स, पृ. 112.
2. बाबरनामा, पृ. 229,36,65.
3. स्मिथ, भाग 1, पृ. 369.
4. जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, त्रिवेन्द्रम, अप्रैल 1956, पृ. 51.

अधिक कठिनाई होती । निरन्तर युद्धों में प्राप्त सफलता इस सूचना सम्बन्धी व्यवस्था की अचूक परीक्षा थी । अकबर के शासनकाल के प्रारम्भिक कुछ वर्षों में यह स्थिति बदलने लगी और इस व्यवस्था में धीरे-धीरे कमियाँ आने लगी ।[1]

हुमायूँ की सैन्य व्यवस्था

हुमायूँ को (1530-56 ई.) अपने पिता की शक्तिशाली सेना, सैन्य संगठन तथा युद्ध प्रणाली विरासत में मिली थी ।[2] लेकिन जैसा कि यदुनाथ सरकार का कथन है कि - तुर्क जन्म जाति सैनिक होते हुये भी केवल श्रेष्ठ नेतृत्व में ही लड़ सकते थे ;[3] हुमायूँ में सेनापति के गुण नहीं थे । उसमें अपने पिता की दृढ़ इच्छा शक्ति और असीम शक्ति की कमी थी । यही कारण है कि अपने अन्तर्गत प्रथम श्रेणी की सेना होते हुये भी वह शेरशाह से चौसा (26 जून, 1539 ई.) और बिलग्राम (17 मई, 1540) के दो निर्णायक युद्धों में पराजित हुआ और भारत के बाहर खदेड़ दिया गया ।[4]

हुमायूँ सब ओर से चतुर एवं शक्तिशाली शत्रुओं से घिरा हुआ था। अतः उसके लिए आवश्यक था कि सैनिक स्थिति पर उसका काबू हो और उनका सामना करने के लिए उसमें दृढ़ता हो, परन्तु इन दोनों ही गुणों की हुमायूँ में कमी थी, और उसके सामने ऐसी स्थिति उपस्थित हो गयी था, जिसके लिए अत्यन्त शक्ति और सैनिक चातुरता की आवश्यकता थी ।

हुमायूँ की सेना राष्ट्रीय नहीं थी । उसकी न एक भाषा थी और न उसका एक देश। वह साहसी लोगों का एक लश्कर था, जिसमें चगताई, उजबेग, मुगल, ईरानी, अफगानी और हिन्दुस्तानी लोग शामिल थे । वह वास्तव में क्रान्ति का युग था ।[5] इस प्रकार अपने पिता बाबर की तरह ही उसकी सेना विभिन्न जातियों के सैनिकों का मिश्रित समूह था। इन सैनिकों और उनके सेनानायकों को भूमि व जागीरें दी

---

1. कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 114.
2. स्मिथ, भाग 1, पृ. 362 ; आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव: अकबर महान, भाग2, पृ.226.
3. सरकार : मिलेट्री हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, कलकत्ता 1960, पृ.59.
4. स्मिथ, भाग1, पृ.362; आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव: अकबर महान्, भाग 2, पृ.226.
5. अर्सकिन, भाग 2, पृ. 2-4.

जाती थीं । हुमायूँ ने साम्राज्य को सामन्तों, अमीरों, सरदारों, और जागीरदारों में विभाजित कर दिया था। उनका प्रमुख कर्त्तव्य यह था कि वे आवश्यकता पड़ने पर सम्राट को अपनी सेना भेजकर सहायता करते थे । परन्तु चूँकि बड़े अमीरों और सरदारों के पास प्राय: उनकी अपनी ही जाति की सेना होती थी, इससे वे अमीर और सरदार अपनी इस सेना के आधार पर मौका पाकर मुगल सम्राट का विरोध एवं विद्रोह करते और अपनी सत्ता और शक्ति में अधिकाधिक वृद्धि करते थे । इसके लिए उन्हें निर्दिष्ट जागीर दी गयी थी । इस सैन्य व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह था कि सम्राट को जब सेना की आवश्यकता पड़ती थी, तो वे अमीर और सरदार कृषकों, श्रमिकों, जुलाहों, शिल्पियों तथा छोटे-छोटे व्यक्तियों को एकत्र कर सैनिक वेश-भूषा पहनाकर अपनी एक सेना बना लेते थे और उसी के आधार पर वेतन लेते थे । इन्हीं अप्रशिक्षित सैनिकों को सम्राट के पास भेजते थे । इस सेना में सैनिक प्रशिक्षण और सैन्य गुणों का सर्वथा अभाव रहता था और यह सेना एक विशाल भीड़ के समान होती थी, जिसका संचालन करना सेनानायकों के लिए दुष्कर होता था। इन दोषों का निवारण अकबर ने किया ।[1]

यदि सूक्ष्म दृष्टि से हुमायूँ के जीवनकाल का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट होता है कि वास्तव में हुमायूँ एक शान्तिप्रिय सम्राट था। यही कारण था कि इस स्वभाव के वशीभूत यह युद्ध में शत्रु की सैन्य शक्ति का सन्तुलन नहीं कर पाता था ।[2] निःसन्देह पग-पग पर प्राप्त होने वाली असफलताओं की दिशा में यह उसकी सबसे बड़ी सैनिक कमजोरी थी ।

अकबर कालीन सैन्य व्यवस्था

अकबर ने उत्तराधिकार में सवारों की एक शक्तिशाली सेना पायी थी। इस सेना में सवार और पैदल सैनिकों के अतिरिक्त तोपें, बन्दूकें भी थीं । हुमायूँ की अधीनता में इस सेना का अनुशासन ढीला पड़ गया था, क्योंकि उसमें एक प्रतिभाशाली

---

1. वे.आई.एच., पृ. 51.
2. डॉ. कानूनगो : शेरशाह, पृ. 100.

सेनापति की कमी थी । सिद्धान्ततः और रिवाज के अनुसार मुगल सम्राट ही अपनी सेना का प्रधान सेनापति हुआ करता था, चूँकि अकबर अभी केवल 13 वर्ष का बालक ही था, इसलिए मुगल सेना के सेनापतित्व का भार उसके संरक्षक बैरम खाँ को संभालना पड़ा, पर तारदबिग खाँ अबुलमाली और कुछ अन्य लोग बैरम खाँ के प्रधान सेनापति होने के विरोधी थे। फलस्वरूप 1556 ई. के प्रारम्भ से ही मुगल सेना में फूट पड़ गयी थी । सवार सेना मुगल सेना का मुख्य भाग था। इस प्रकार प्रारम्भ में ही अकबर की सेना में एकरूपता नहीं थी । घुड़सवार सेना के सेनानायकों को अपने अधीन सवार सैनिकों को चुनने की छूट थी । इन सेनानायकों को नकद वेतन के बजाय, बाबर हुमायूँ की भाँति जागीरें प्रदान कर दी जाती थीं, जिनकी मालगुजारी से वे अपने सैनिकों के और अपने वेतन प्राप्त करते थे । पूर्व मुगल शासकों की भाँति अभी भी पैदल सेना में अधिकांश सैनिक विदेशी तुर्क, उजबेग और मंगोल ही थे । यद्यपि उसमें कुछ अफगान और भारतीय सैनिक भी होते थे । यह सेना विशेष शक्तिशाली नहीं थी, केवल तलवारों और तीर-कमानों से ही मुख्य रूप से सुसज्जित रहती थी ।[1]

अकबर महत्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी शासक था। वह भारत के विभिन्न राज्यों और प्रदेशों को जीतकर एक विशाल साम्राज्य स्थापित और संगठित करना चाहता था। उसके लिए उसे विशाल सुसज्जित और सुसंगठित सेना की आवश्यकता थी, इसके अतिरिक्त साम्राज्य में विरोधियों और विद्रोहियों का दमन करने, आन्तरिक शान्ति व्यवस्था बनाये रखने तथा साम्राज्य की उत्तरी पश्चिमी सीमा की सुरक्षा व देश के बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा के लिए भी उसे एक दृढ़ स्थायी विशाल सेना की आवश्यकता थी । अतएव अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सैन्य व्यवस्था में उत्पन्न दोषों को दूर करने व सेना को सुसंगठित करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाये ।

अकबर के प्रारम्भिक सुधार

हुमायूँ के समय से जो सैन्य संगठन चला आ रहा था, अकबर ने उसमें प्रारम्भिक

---

1. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान्, भाग 2, पृ. 228.

10 साल तक कोई हस्तक्षेप नहीं किया, केवल यही हुआ कि कुछ पुराने अधिकारियों की पदोन्नति कर दी गयी अथवा कुछ नये सेनानायक और सैनिक भर्ती किये गये और कुछ अन्य अधिकारियों को उनकी विद्रोही प्रवृत्तियों पर निकाल दिया गया। लेकिन अपने शासन के 11वें वर्ष में 1566 ई. में उसका ध्यान इस समस्या की ओर गया, जिसमें उसने सैनिक अधिकारियों द्वारा रखे जाने वाले सैनिकों की संख्या निश्चित करने का प्रयत्न किया। शाही अधिकारियों को यह शिकायत थी कि वेतन के बदले में उन्हें जो जागीरें प्रदान की थीं उनकी आय का निर्धारण मनमाने रूप से बढ़ा-चढ़ा कर किया जाता था। अबुल फजल लिखता है कि - चूँकि तब दाग प्रथा का अस्तित्व नहीं था, इसलिए अब सभी अधिकारियों और राज्य के सेवकों के लिए सैनिकों की संख्या निश्चित कर दी गयी ताकि सभी लोगों को सेवा के लिए तत्पर रहें । इन अधिकारियों को तीन वर्गों के सामान्य सैनिक रखना आवश्यक कर दिया गया। प्रथम वर्ग के सैनिक रखने के लिए 48,000 दाम वार्षिक, द्वितीय के लिए 32,000 और तृतीय वर्ग के लिए 25,000 दाम प्रदान किये जाते थे ।[1]

इससे स्पष्ट है कि अकबर ने पहली बार अपनी घुड़सवार सेना को तीन भागों में विभाजित कर दिया था और प्रत्येक सेनानायक कितने सैनिक रखेगा यह भी निश्चित कर दिया गया था। 1566 ई. तक स्थिति सम्भवतः यह थी कि राज्य की ओर से हर सेनापति के अन्तर्गत सैनिकों की संख्या निश्चित न किये जाने से सभी सेनानायक मनमाने ढंग से अपने सैन्य दल में जितने सैनिक चाहें उतने भर्ती कर लेते थे और फिर वे उनका वेतन राज्य से वसूल कर लेते थे । लेकिन यह व्यवस्था अल्पकालीन ही थी और एक प्रकार से भविष्य की विशद मनसबदारी की भूमिका मात्र थी । इसलिए इसमें तुरन्त पश्चात् ही परिवर्तन करना पड़ा ।[2]

दाग प्रथा

उपरोक्त नियम पूर्ण नहीं समझे गये , क्योंकि उनमें अभी भी कमियाँ थीं फलतः अकबर ने सेना में महत्वपूर्ण सुधार करने की सोची । उसने अपने शासनकाल के

---

1. अकबरनामा, भाग II, पृ. 403.

2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान्, भाग 2, पृ. 229-30.

18वें वर्ष [1573 ई.] में दाग प्रथा जिसे अलाउद्दीन खिलजी ने[1] प्रारम्भ किया था और शेरशाह ने सफलता पूर्वक अपनाया था, चलाने का निश्चय किया।[2] इस प्रथा के अन्तर्गत महली घोड़ों को और सेनानायक के अन्तर्गत सभी घोड़ों को दो जगह दागा जाता था। उसकी एक रान पर सरकारी अंक दगा होता था तथा दूसरी रान पर सेनानायक का अंक दागा जाता था। इस प्रकार घोड़ों को दागने की प्रथा अकबर ने इसलिए अपनायी थी ताकि निरीक्षण के समय जो सरकार की ओर से दिये घोड़ों और टट्टुओं के बजाय पुराने और रद्दी घोड़े, टट्टू ले आने का भ्रष्ट प्रथा थी, उसे रोका जा सके और ऐसे घोड़े न दिये जा सकें।[3]

मनसबदारी प्रथा का उद्भव एवं विकास

सम्राट अकबर की शासन व्यवस्था में सैन्य संगठन की दिशा में मनसबदारी प्रणाली विशेष उल्लेखनीय है।[4] सिद्धान्ततः साम्राज्य का प्रत्येक समर्थ नागरिक शाही सेना का सिपाही था, परन्तु व्यावहारिक सेवाओं के लिए अकबर ने सेना को मनसबदारी प्रथा के आधार पर संगठित किया, जिसका प्रचलन सिकन्दर लोदी और इब्राहिम लोदी ने किया। इन दोनों सम्राटों ने 10,000 से 12,000 तक मनसब देने का फरमान किया।

मनसब कुछ अंशों में अनोखी प्रथा थी और इसका अर्थ जटिल है। साधारण विचार में इसका अर्थ ओहदा, प्रतिष्ठा या नौकरी होता है। मुगल शासनकाल में मनसब का अर्थ है स्थान निश्चित करना। मुगल शासन में सरकारी कर्मचारियों और अधिकारियों के पद व वेतन का निश्चय और शासन तथा दरबार में उनकी श्रेणी व सम्मान का निश्चय मनसब से किया जाता था। मनसब धारण करने वाले मनसबदार मुगल राज्य

---

1. एस.के. लाल : खिलजी वंश का इतिहास, आगरा 1964, पृ. 190.
2. मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग 2, पृ. 193 ; अकबरनामा, भाग 3, पृ.165 ; परमात्माशरण, पृ. 219, 243 ; स्मिथ, पृ. 122.
3. अकबरनामा, भाग 3, पृ. 165-66 ; आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग 2, पृ. 230.
4. जे.आर्ई.एच., पृ. 52-53.

के नौकर थे ।[1] कुरेशी लिखते हैं कि - मनसब का तात्पर्य है स्थान अथवा स्थिति जहाँ कोई वस्तु स्थित होती है या रखी जाती है, परन्तु तकनीकी सन्दर्भ में मनसब शब्द का अर्थ है, सैन्य व्यवस्था में एक स्थान या स्थिति ।[2] मुगल सेना के सम्बन्धमें इरविन लिखता है कि - इसका लक्ष्य सही दर्जा बन्दी करना और दरमाहे की दर निश्चित करना था ।[3] साम्राज्य के उच्च पदाधिकारी मनसब के हकदार कहलाते थे ।[4] जिस किसी को मनसब मिलता था, उसे राज्य की सैनिक या दूसरे प्रकार की सेवायें करनी पड़ती थीं । मनसबदारी व्यवस्था का उद्देश्य यह था कि सेना के अधिकारियों में एक क्रमानुसार पद व्यवस्था स्थापित कर दी जाय और अधिकारियों को उनके पदानुसार मनसब प्रदान कर उन्हें मनसबदार बना दिया जाय और उनके मनसब पाँच से दस हजार तक के हों । पाँच हजार से 10 हजार तक के मनसबदारों का उल्लेख समस्त सूरी काल में मिलता है ।[5] इस्लामशाह के शासनकाल में 5 से 10 हजार तक के मनसबदार थे ।

बाबर तथा हुमायूँ के समय में अपने सम्बन्धियों तथा बड़े-बड़े अमीरों और सैनिकों को मनसब प्रदान किया जाता था। इन दोनों सम्राटों के समय में मनसबदारी प्रथा का उतना महत्व नहीं था, जितना अकबर के समय में । उनके समय में तो सिपाही और दरबान तक को मनसब प्रदान किया जाता था ।[6]

शेरशाह ने इस मौजूदा प्रचलन में (मनसबदारी प्रथा) काफी रुचि ली। उसने इस प्रथा को पूर्ण मान्यता दी और जागीर प्रथा को बन्द करने तथा अलग रूप में चलाने का प्रयत्न किया।[7] इस प्रकार शेरशाह के शासनकाल में मनसबदारी का स्वरूप

---

1. कमेण्टेरियस, पृ॰ 93॰
2. कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ॰ 88॰
3. विलियम इर्विन : आर्मी ऑफ दि इण्डियन मुगल्स, लन्दन 1903,पृ॰58-59॰
4. कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ॰ 115॰
5. मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग 1, पृ॰ 384-85॰
6. इलियट एण्ड डाउसन, भाग IV ,पृ॰ 426॰
7. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ॰ 551 ; जे.आर.ए.एस.,पृ॰51॰

मुद्दत था, लेकिन शासन को शक्तिशाली बनाने के लिए अकबर ने इस प्रथा का पुनर्गठन किया ।[1]

मनसबदारी प्रथा अकबर के शासन की प्रमुख विशेषता थी । अकबर ने मनसबदारी प्रथा का प्रचलन धोखाधड़ी को समाप्त करने, सैनिक संगठन में सुव्यवस्था और स्थायित्व लाने तथा उसके कार्यान्वयन को सुविधाजनक बनाने के लिए किया था। उसके राज्यकाल में उसके कठोर अधीक्षण में यह पद्धति सफलतापूर्वक कार्यान्वित हुयी, परन्तु उसके उत्तराधिकारियों द्वारा किये गये परिवर्तनों और नियन्त्रण से अपेक्षाकृत ढिलाई के कारण उसकी कार्यकुशलता को अतिशय क्षति पहुँची ।[2]

अकबर ने मनसबदारों को 66 श्रेणियों में विभाजित किया जाता था, जो 10 सवारों के मनसबदारों से 10 हजार के मनसबों तक जाती थी ।[3] पद का कोई भी भाग वंशानुगत नहीं था। सबसे निचली श्रेणी मनसबदार के अधीन 20 सिपाही रहते थे और सबसे ऊँची श्रेणी मनसबदार के अधीन 5,000 सिपाही तथा 6,000 और 10,000 के बीच की श्रेणियाँ राजपरिवार के सदस्यों के लिए सुरक्षित थी । प्रत्येक वर्ग का वेतन निर्धारित था, जिसमें धारक को अपने पदांश के घोड़ों, हाथियों बोझा ढोने वाले जानवरों और गाड़ियों का व्यय भार वहन करना पड़ता था।इसके अतिरिक्त 5,000 से नीचे की प्रत्येक श्रेणी में 3 वर्ग और विभाजित थे ।[4]

मनसबदारों की नियुक्ति, तरक्की, मुअत्तली और बरखास्तगी बादशाह अपने हाथ में रखता था। जब कोई नया व्यक्ति मनसबदार बनाया जाता था तो नियमानुसार घुड़सवारों को भर्ती करना उसका कर्तव्य हो जाता था और सेना संग्रह के समय यह जाँच की जाती थी कि सिपाही, घोड़े और साजो-सामान निश्चित कसौटी के अनुसार हैं अथवा नहीं । नियमानुसार तो रंगरूट को अपना घोड़ाआप

---

1. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ॰ 556.
2. परमात्मा शरण, पृ॰ 246.
3. आइने अकबरी, भाग 1, पृ॰ 248-49 ; कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ॰ 90; स्मिथ 33 श्रेणियों का जिक्र करते हैं । -स्मिथ, पृ॰ 144-390.
4. वही, पृ॰ 248 ; स्मिथ, पृ॰ 390.

जुटाना पड़ता था, परन्तु व्यवहार में मनसबदार ही घोड़ा और साजोसामान देता था ।

मनसबदारों को अपने सैनिकों सहित पहरा देना पड़ता था और सैनिक सेवाओं आदि का आदेशानुसार पालन करना पड़ता था और समय-समय पर होने वाला सैनिक निरीक्षण, परेडों में अपनी सेनाओं को जाँच के लिए और घोड़ों को दागने के लिए लाना पड़ता था। जब तक नियमानुसार वह अपने 20 सवार के घोड़ों को दागे जाने के लिए लाये, तभी उसे 100 या इससे अधिक का नायक बनाये जाने का प्रावधान था ।[1] इसी नियमानुसार उन्हें अपने मनसबदार के अनुसार हाथी, घोड़े और ऊँट रखने पड़ते थे । जब वह अपनी नयी सेना पूर्ण रूप से तैयार कर निरीक्षण के लिए ले जाते थे, तब उनकी योग्यता और स्थिति के अनुसार हजारी, दु हजारी या इससे भी पाँच हजारी मनसब तक पदोन्नति कर दी जाती थी, लेकिन अगर वे निरीक्षण में ठीक न उतरे तो उनकी पदावनति कर दी जाती थी और उनके अधीन सैनिकों की संख्या कम कर दी जाती थी ।[2]

मनसबदार की प्रतिष्ठा पैतृक नहीं थी और अपने पिता के मरने के बाद उसके पुत्रों को अपना जीवन नये सिरे से शुरू करना पड़ता था। क्या छोटे और क्या बड़े, क्या गैर फौजी अफसरों को भी मनसब मिले हुये थे । अभिजात वर्ग में केवल मनसबदार थे, यह वर्ग सरकारी था और इस प्रथा में सेना, सामन्त, पद और नागरिक शासन सब एक में मिला दिये गये थे ।[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि दागने की प्रथा और मनसबदारी व्यवस्था से सम्बन्धित आदेश 1573 ई. के अन्त में जारी तो हो गये थे लेकिन उन्हें व्यवस्था

---

1. आईने अकबरी, भाग 1, पृ. 242-43 ; मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 193.
2. वही, पृ. 242-43 ; वही, भाग II, पृ. 193 ; स्मिथ, पृ. 145.
3. जे.आर्.एच., पृ. 138 ; कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 107.

का रूप लेने में काफी समय लग गया। बिहार विजय से लौटने के बाद (जनवरी 1579 ई0) अकबर ने इस नये नियम को कठोरता से लागू करने की सोचा । अबुल फजल लिखता है कि - यद्यपि पूर्वीय प्रदेशों में उपद्रव (1580-83 ई.) होने के पूर्व सम्राट ने इस दाग प्रथा को क्रियान्वित करने की दिशा में कदम उठाये थे और उसके अधिकारियों ने काम शुरू कर दिया था, लेकिन फिर भी इस महान् कार्य की व्यवस्था तभी जम सकी जब-कि सौभाग्य पताकायें राजधानी में ही थीं।[1] इसका प्रमुख कारण यह था कि अकबर की नीतियों के कारण बिहार बंगाल में बहुत समय से असन्तोष भड़क रहा था। बिहार में जागीरें जब्त कर ली गयीं थीं तथा भत्ते कम कर दिये गये थे । मनसबदारों के घोड़ों तथा पशुओं को दागने के नियम कठोरता से क्रियान्वित किये जा रहे थे और उन्हें सामयिक निरीक्षण के लिए अपने सैनिकों को लाना अनिवार्य कर दिया गया था। इन नियमों को कार्यान्वित करने के फलस्वरूप आर्थिक असन्तोष फैल गया और फिर अकबर के धार्मिक विचारों तथा सदियों से उलेमाओं द्वारा उपभोग किये जाने वाले विशेष अधिकारों की अवहेलना से यह विरोध 1581 ई. तक अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था और 1585 ई. तक चलता रहा। यद्यपि 1580 ई. में अभी हाल में नियुक्त बख्शी राय पुरुषोत्तम और दीवान मौलाना तैय्यब को सैय्यद मुजाउद्दीन और शमशेरखाँ के साथ व्यवस्था ठीक करने बिहार भेजा परन्तु इन अधिकारियों ने सावधानी तथा युक्ति से कार्य करने के बजाय, पशु दागने तथा सैनिक निरीक्षण सम्बन्धी नियमों को कठोरता से लागू करना शुरू कर दिया। नतीजा यह हुआ कि काबुल के मिर्जा हकीम के एक प्रतिनिधि "मासूम खाँ काबुली" के नेतृत्व में बिहार के अधिकांश जागीरदारों तथा अधिकारियों ने विद्रोह का झण्डा ऊँचा कर दिया । इनमें सैय्यद बदख्शी, अरब बहादुर, सहादत अली, हाजी कोलाबी, दर्विश अली शावल, सैय्यद बदख्शी तथा अन्य लोग शामिल थे । निम्न अधिकारियों जैसे हाजीपुर के शहिम , मीर मुइजुलमुल्क, मीर अली अकबर, आरा का सालन जी आदि के अलावा निकटवर्ती जिलों ने भी इनका अनुसरण किया। यह विद्रोह केवल बिहार

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 166.

बंगाल तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु इन दो सूबों के अलावा, उड़ीसा, गाजीपुर, बनारस के जिलों, सूबा इलाहाबाद, अवध और कटेहर (रुहेलखण्ड) तक फैला हुआ था। यह विद्रोह लगभग 4 वर्ष तक चलता रहा। अकबर ने स्थिति का सही निरूपण किया और दूरदर्शिता पूर्वक आक्रमणकारी को निकालने के कार्य को प्राथमिकता दी। उसने अपने सेनापतियों को बिहार तथा बंगाल में विद्रोह के दमन के लिए भेजा। बिहार के विद्रोहियों को तहसनहस कर दिया गया। इसके पश्चात् जाँच पड़ताल की गयी और अधिकारियों के मनसब तय कर दिये गये। अधिकारी और अन्य कर्मचारी नकद वेतन पाते थे और उनके मनसब उनकी योग्यता और उनके सैन्य दलों के अनुसार निश्चित कर दिये गये।[1]

डॉ. स्मिथ लिखते हैं कि - 1580 ई. में बंगाल बिहार विद्रोह का कारण कुछ अंश तक यह था कि अकबर ने जागीरें लौटाने, हुलिया रखने और घोड़ों को सिलसिले से दागने का जो हठ किया उससे लोगों को क्रोध हो आया।[2] परिणामस्वरूप अकबर को उच्च अमीरों तथा अधिकारियों के विरोध के कारण दाग प्रथा को लागू करने में काफी कठिनाई हुयी। 1580-3 के बीच होने वाले इस भारी विद्रोह को जब अकबर ने सफलतापूर्वक दबा दिया, तब कहीं इस व्यवस्था का साम्राज्य के सभी भागों में कठोरता से पालन कराया जा सका। वस्तुस्थिति जो भी हो, पर अकबर के इन कार्यों (दाग प्रथा, हुलिया आदि) से सेना की पूर्ण सज्जा व्यवस्था हो गयी थी और देश में सुशासन स्थापित हो गया था, साथ ही धोखे तथा गबन से भी मुक्ति मिल गयी।[3]

अबुल फजल लिखता है कि - सम्राट ने मनसबदारों के मनसब दहबाशी से (10 के नायक) से 10 हजारी (10 हजार का सेनापति) तक निर्धारित कर दिये

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 166 ; आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव: अकबर महान्, भाग 1, पृ. 263, 264, 288, 289 ; भाग II, पृ. 232.
2. स्मिथ, पृ. 366.
3. अकबरनामा, भाग III, पृ. 166.

लेकिन 5,000 से ऊपर के मनसब अपने श्रेष्ठ पुत्रों के लिए सीमित कर दिये।[1] 1593ई. में सर्वोच्च मनसब 12,000 का कर दिया गया और अमीरों को 6,000 और 7,000 के मनसब दिये जाने लगे। 1605 ई. में मानसिंह को 6,000 सवार का मनसब प्रदान किया गया था।[2]

विलियम इर्विन को सन्देह है कि मनसबदार लोग अपने ओहदे के अनुसार सवारों को निश्चित संख्या में रखते हों। वह लिखता है कि - परेड और दाग के बावजूद भी हम लोग आसानी से यह मान सकते हैं कि ऐसे बहुत कम मनसबदार थे जो उतने ही घुड़सवार रखते हों, जितने के लिए उन्हें वेतन मिलता था।[3]

अकबर की मनसबदारी व्यवस्था का उसके भूमि तथा मालगुजारी के सुधारों से घनिष्ट सम्बन्ध था। इस समय भूमि की पैमाइश की गयी थी, अधिकारियों में जागीरों के स्थान पर नकद वेतन दिये जाने लगे थे और जिन स्थानों को खालसा बना लिया गया था, उनके शासन के लिए 182 करोड़ी नियुक्त कर दिये गये थे। अकबर के इन कार्यों से सेना सुव्यवस्थित हो गयी, और देश में सुशासन स्थापित हो गया। यहाँ तक कि चोरी, धोखा या गबन जैसी हरकतों की अब कोई गुंजाइश नहीं थी।[4]

मनसबदारों के वेतन

इन्हें ऊँचे-ऊँचे वेतन दिये जाते थे। इन वेतनों का भुगतान नकद या जागीर के रूप में दिया जाता था। 1575 ई. में अकबर ने जागीर व्यवस्था समाप्त कर दी और राजकोष से अपने अधिकारियों और सैनिकों को नकद वेतन देना प्रारम्भ कर दिया।[5] मनसबदारों को अपने-अपने वेतन से ही राज्य की सेवा के लिए घोड़े,हाथी,

---

1. आईन अकबरी, भाग I, पृ. 243.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 1257.
3. इर्विन : दि आर्मी ऑफ दि इण्डियन मुगल्स,पृ.59.
4. अकबरनामा, भाग III, पृ. 167.
5. तबकाते अकबरी, भाग II, पृ. 296.

भारवाहक पशु तथा गाड़ियाँ आदि रखना पड़ता था और जो शेष वेतन बचता था, उससे घरेलू काम चलता था। डॉ॰ स्मिथ ने विलियम इर्विन का अनुकरण करते हुये लिखा है कि – मनसबदारों को केवल चार महीनों का वेतन मिलता था।[1] पर यह सत्य प्रतीत नहीं होता, उन्हें पूरे 12 महीने का वेतन दिया जाता था।

मनसबदारों को इसकी अनुमति थी कि वे अपने सैनिकों पर किये गये विभिन्न खर्चे के लिए, उनके वेतन का 5 प्रतिशत काट लें।[2]

सैनिक-असैनिक या नागरिक प्रशासन में कोई निश्चयात्मक स्पष्ट भेदभाव या अन्तर नहीं था। काजी और सद्र के अतिरिक्त शासन में सभी पदाधिकारी मनसबदार होते थे।[3] मनसबदारों की निम्न श्रेणी में 10 के मनसबदार थे। स्मिथ ने लिखा है कि मनसबदारों की तीन और श्रेणियाँ थी –

1. 20 से 400 तक मनसब पाने वाले को मनसबदार कहा जाता था।
2. 500 से 2500 तक को उमरा कहा जाता था। 3000 और इससे ऊपर वाले को उमरा-ए-अकबर कहा जाता था।
3. सर्वोच्च मनसब वाले को अमीर-उल-उमरा, कहा जाता था। केवल निम्न स्तर के सरकारी कर्मचारियों को मनसबदार न कहकर "रोजिनदार" कहा जाता था।[4]

कुछ मनसबदार ऐसे भी थे, जो सैनिक सेवाओं के योग्य माने जाते थे, परन्तु वे कोई सैनिक नहीं रखते थे। जब उन्हें युद्ध स्थल में जाना पड़ता था तो दाखिला सैनिक उनके साथ भेजे जाते थे। दाखिला सिपाहियों का वह जत्था था जो मनसबदारों के सेनापतित्व में रखा जाता था, परन्तु खर्च उनका राज्य से मिलता

---

1. स्मिथ, पृ॰ 391.
2. आइने अकबरी, भाग 1, पृ॰ 275.
3. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ॰ 556.
4. स्मिथ, पृ॰ 392.

था।[1] इन्हीं सैनिकों की सहायता से वे युद्ध करते थे ऐसे सैनिक विहीन मनसबदारों का वेतन कम होता था।[2]

मनसबदारों को उनकी श्रेणी के अनुसार मासिक दर दिया जाता था अथवा वेतन के रूप में किसी प्रदेश विशेष के भूमिकर की वसूली उनके सुपुर्द कर दिया जाता था, ~~कर दिया जाता था~~ परन्तु वे कृषकों से सरकार द्वारा निश्चित किये गये भूमि-कर से अधिक वसूल नहीं कर सकते थे। मनसबदारों को जो वेतन मिलता था उनमें उनके अधीन सैनिकों का वेतन तथा अश्वों, हाथियों, ऊटों, बैलगाड़ियों आदि का भत्ता सम्मिलित होता था। इस तालिका से विवरण लगभग पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।[3]

मनसबदार	घोड़े	हाथी	बोझा ढोने वाले जानवर	वेतन मासिक रूप में		
5000	340	100	260	30,000	29,000	28,000
1000	94	31	67	8,200	8,100	8,000
500	30	12	27	2,500	2,300	2,100
100	10	3	7	700	600	500
10	4	-	-	100	$82\frac{1}{2}$	75

मुगल सम्राटों ने मनसबदारों के लिए जब्ती प्रथा प्रारम्भ की, जिसके द्वारा मनसबदार की सम्पत्ति पर उसके पुत्रों अथवा सम्बन्धियों के स्थान पर राज्य का अधिकार माना जाता था। राज्य इसका अधिकारी होता था। सरकार उसकी संपत्ति

1. आईने अकबरी, भाग 1, पृ॰ 241 ; कुरेशी, मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ॰ 123.
2. कमेण्टेरियस, पृ॰ 93.
3. आईने अकबरी, भाग 1, पृ॰ 250-51 ; स्मिथ, पृ॰ 391.

को जब्त कर लेती थी और उसे शाही कोष में जमा कर लेती थी। राज्य के लिए सम्पत्ति छोड़ देने की अपेक्षा वे अपनी सम्पत्ति का उपयोग अपने जीवनकाल में ही कर लेना अच्छा समझते थे। इसलिए वे अधिक विलासी, इन्द्रिय लोलुप और व्यसनी हो गये थे।[1]

पुरानी कबाइली सरदारी व्यवस्था और सामन्तों पर निर्भर संगठनों से मनसबदारी व्यवस्था निश्चय ही श्रेष्ठ थी। मनसबदारों और उनके अधीन सैन्य दलों पर केन्द्रीय कठोर अनुशासन और नियन्त्रण रहता था। अस्तु इस दिशा में यह व्यवस्था पूर्ण सैन्य व्यवस्थाओं पर प्रगति का द्योतक था जैसा कि अब्दुल अजीज ने लिखा है कि - कबाइली रिश्तों के कारण, अपने सरदार के प्रति निष्ठावान रहते थे। इस लिए एक बड़ी सेना बना लेना आसान होता था। इसकी भर्ती में किसी बहुत बड़े केन्द्रीय संगठन की आवश्यकता नहीं पड़ती थी, न सरदारों के विद्रोहों अथवा उनके स्वतन्त्र हो जाने का डर ही रहता था।[2]

मनसबदारी व्यवस्था के कारण मनसबदार सम्राट के प्रति वफादार रहता था, इससे उसकी सेना में कम से कम एक स्तरीय सक्षमता और अनुशासन बना रहता था।[3] क्योंकि मनसबदारों को अपनी कार्य कुशलता के आधार पर ही तरक्की मिलती थी।

तत्कालीन लेखकों का कथन है कि - अकबर अपने सैनिकों और मनसबदारों पर कठोर अनुशासन एवं नियंत्रण रखता था।[4] इसके अतिरिक्त गुप्तचर विभाग की कड़ी व्यवस्था के कारण भी लोगों में भय बना रहता था जिससे वे किसी प्रकार की

---

1. सरकार : मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ॰ 561.
2. अब्दुल अजीज : दि मनसबदारी सिस्टम एण्ड दि मुगल आर्मी, लाहौर 1945, पृ॰ 169.
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग II, पृ॰ 260.
4. कमेण्टेरियस, पृ॰ 90.

गल्ती नहीं कर सकते थे जैसे सड़क पर खड़े लोगों को फौजी वर्दी पहनाकर और उनके घोड़ों को अपना बताकर सैनिक निरीक्षण व परेड में प्रस्तुत करना आदि।[1]

रोकथाम के इन उपकरणों और स्थानीय प्रशासन पर नियमित पर्यवेक्षण पर विचार करते हुए यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि सरकारी अव्यवस्था और अत्याचार के यदा कदा कुछ दृष्टांत होते हुए भी मध्यकाल में शान्ति और सुरक्षा थी और प्रजा प्रायः सुखी एवं संतुष्ट थी।[2]

दाखिल व अहदी सैनिक

मनसबदारों के अतिरिक्त दूसरे सिपाही थे जो दाखिल या अहदी कहलाते थे। दाखिल सिपाहियों का वह जत्था था जो मनसबदारों के सेनापतित्व में रखा जाता था परन्तु उनका खर्च राज्य से मिलता था।[3] एक वर्ग संभ्रान्त सैनिकों का भी था, जिनकी भर्ती अलग-अलग की जाती थी और वे अहदी कहलाते थे। वे मनसबदारों के सैन्य दल में सम्मिलित नहीं किये जाते थे, बल्कि किसी बड़े अमीर के अंतर्गत रखा जाता था। अहदियों के लिए एक अलग कर्मचारी वर्ग रहता था जिसमें एक दीवान, एक बख्शी रहते थे और कोई बड़ा अमीर उनके सरदार के पद पर नियुक्त किया जाता था।[4] अहदी का वेतन कभी-कभी 500 रुपये से भी अधिक होता था किन्तु उसे वर्ष में केवल 10 महीने का ही वेतन दिया जाता था।[5] जहाँगीर के राज्याभिषेक पर इनका वेतन 50 प्रतिशत बढ़ा दिया गया था। इन्हें भी अपने घोड़ों को दगवाना पड़ता था। ये अधिक से अधिक घोड़ा रख सकते थे। इन्हें अपने घोड़ों को हर चार महीने बाद निरीक्षण के लिए प्रस्तुत करना पड़ता था लेकिन बाद में

---

1. इरविन : दि आर्मी ऑफ दि मुगल्स, पृ. 45-59.
2. परमात्माशरण, पृ. 193.
3. आइनि अकबरी, भाग 1, पृ. 241.
4. कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 119.
5. आइनि अकबरी, भाग 1, पृ. 259-60.

राज्य की ओर से प्रदान किये जाने लगे ।[1] अहदियों को कभी-कभी प्रशासकीय कार्यों पर भी लगा दिया जाता था। ये सन्देशवाहक का कार्य भी करते थे।[2]

दाखिल सैनिकों की भर्ती सीधे राज्य से होती थी तथा शाही खजाने से वेतन दिया जाता था, लेकिन इन्हें मनसबदारों के अधीन रखा जाता था। दो के बीच में एक घोड़ा होता था। दाखिली सैनिकों में से एक चौथाई बन्दूकची होते थे और शेष तीर कमान से सुसज्जित रहते थे ।[3] इसके अतिरिक्त बरकंदाज व शमशीरबाज सैनिक भी होते थे । अहदी, दाखिली सैनिकों की भाँति यह वर्ग भी राजधानी में रहता था। राजधानी की सुरक्षा का भार इन सैनिकों में से श्रेष्ठ सैनिकों को सौंपा जाता था। जब कभी सम्राट राजधानी से बाहर जाता था तब ये सैनिक उसके साथ जाते थे । प्रांतों में सूबेदारों और सरकारों में फौजदारों के अधीन स्थानीय शांति व्यवस्था बनाये रखने तथा उपद्रवों के दमन के लिए सेना रखी जाती थी। साम्राज्य में जो बड़े प्रसिद्ध सामरिक महत्व के दुर्ग होते थे उनमें भी फौजदारों के अधीन अनुभवी सैनिक रखे जाते थे । जब कोई सैनिक अभियान या विद्रोह का दमन करना होता था और उनके लिए विशाल सेनाओं की आवश्यकता होती थी तब मीरबख्शी प्रांतों के सूबेदारों से सेनायें मंगवाता था या विभिन्न राजाओं और मनसबदारों को अपनी सेनाओं समेत आकर सैनिक अभियानों और युद्धों में सम्मिलित होने के लिए निमंत्रित करता था। विशेष अवसरों पर या युद्ध की महत्ता को देखते हुए अस्थायी सैनिक भर्ती कर लिये जाते थे और कार्य समाप्त हो जाने पर उनकी सेवायें समाप्त कर दी जाती थी।

सैनिकों का वेतन

आईन-ए-अकबरी के द्वारा सैनिकों के वेतन की पुष्टि होती है। अबुलफजल

---

1. आईने अकबरी, भाग 1, पृ. 259-60.
2. वही, पृ. 264.
3. वही.

लिखता है कि - एक घुड़सवार को निम्नलिखित दरों के अनुसार वेतन दिया जाता था । अगर उसका घोड़ा ईराकी होता था तो उसे 30 रुपये प्रतिमाह वेतन दिया जाता था, अगर मुजन्नास हुआ तो 25 रुपये, तुर्की हुआ तो 20 रुपये, याबू हुआ तो 18 रुपये, ताजी हुआ तो 15 रुपये और जंगली हुआ तो 12 रुपये दिया जाता था।[1] सितम्बर 1595 में जारी हुए एक आदेश के अनुसार मुगल अफगान और हिन्दुस्तानी सैनिक के लिए एक सी वेतन दरों का निर्धारण किया गया था। जिसके अनुसार एक घोड़े के सवार को 15 रुपये प्रतिमाह, दो घोड़े के सवार के लिए 20 रुपये तीन घोड़े के सवार के लिए 25 रुपये।राजपूतों के लिए स्वीकृति वेतन क्रम यह थे कि दो घोड़े वाले सवार के लिए 15 रुपये प्रतिमाह और तीन घोड़े वालों के लिए 20 रुपये प्रतिमाह ।[2]

सेना की शाखायें

मुगल सेना के चार विभाग थे - {1} पैदल, {2} घुड़सवार, {3} तोपखाना, {4} जलसेना ।

पैदल सेना

पैदल सेना मुगल सेना का सबसे बड़ा भाग होती थी। उसका अपना एक मुंशी, एक खंजाची और एक दरोगा होता था। उच्च पदस्थ बंदूकचियों को 260 दाम से 300 दाम तक प्रतिमाह वेतन मिलता था लेकिन शेष को 110 से 150 के बीच वेतन दिया जाता था । अकबर की सेना में कुल 12,000 बंदूकची थे ।[3] इन्हें पाँच श्रेणियों में बाँटा गया था। प्रत्येक श्रेणी को तीन और छोटी श्रेणियों में विभाजित कर दिया गया था। प्रथम श्रेणी के बंदूकचियों को 130 से 150 दाम वेतन होता था। द्वितीय

---

1. आईन अकबरी, भाग 1, पृ. 244-45.
2. अकबरनामा, भाग III, पृ. 1032.
3. आईनि अकबरी, भाग 1, पृ. 261 ; कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 132.

का 200 से 220, तृतीय का 170 से 190 तथा चौथे का 140 से 160 तक और पाँचवीं का 110 से 130 दाम तक ।[1]

बन्दूकचियों के बाद वे सैनिक आते थे जिनकी भर्ती केन्द्रीय सरकार करती थी । उन्हें वेतन भी कम देती थी। उन्हें उच्च मनसबदारों के पास रखा जाता था। ये ज्यादातर पैदल सैनिक होते थे । इनमें से एक चौथाई बंदूकची होते थे, शेष तीरंदाज, बढ़ई, कहार, लुहार, भिश्ती और बेलदार आदि होते थे ।[2] अबुलफजल ने अन्य सैनिकों का भी उल्लेख किया है जिनमें थे - दरबान, खिदमतिया, मेवरा, शमशेरबाज, पहलवान, चेला और बाल्किया ।[3] कुरेशी इनमें से कुछ के कार्यों का विवरण देते हैं जैसे - कहारों का कार्य अपने कन्धों पर डोलियों, पालकी आदि को ढोना था। खिदमतिया महल की चौतरफा सुरक्षा करते थे तथा छोटे-मोटे सन्देश पहुँचाया करते थे । ये सभी हिन्दू जाति के थे । वास्तविक रूप में खिदमतिया का अर्थ नौकर है । इनमें से प्रमुख व्यक्ति को खिदमतराय का पद मिलता था। मेवराह जो धावक थे सन्देशवाहक का कार्य करते थे । वे सैन्य उद्देश्यों हेतु भी कार्य करते थे। अतः उन्हें सिपाही भी कहा जाता था हालांकि वे लड़ाकू सैनिक मुश्किल से ही होते थे । वे गुप्तचरी का भी कार्य करते थे ।[4]

तीरंदाजों के बारे में कुरेशी का कथन है कि - कभी-कभी तीरंदाज युद्ध में बंदूकधारियों से अधिक प्रभावकारी सिद्ध होते थे क्योंकि इस समय तक बन्दूक अधिक समुन्नत अवस्था में नहीं थे । उन्हें दागने के बाद गर्म करना पड़ता था और पुनः प्रयोग करने से पूर्व ठंडा करने के लिए छोड़ना पड़ता था। एक मीरदाह के अधीन

---

1. आईने अकबरी, भाग 1, पृ. 261.
2. वही, पृ. 261-62 ; कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 131-32.
3. वही, पृ. 261-4.
4. कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 131.

10 तीरंदाज होते थे जिनको 120 से 180 दाम तक वेतन मिलता था। सामान्य तीरंदाज का वेतन 100 दाम से 120 दाम तक होता था।[1]

मुगल सेना में पैदल सेना सबसे कमजोर पक्ष थी। इन्हें उचित युद्ध शिक्षा प्राप्त नहीं थी, इनमें अनुशासन बोध भी कम मात्रा में था परिणामस्वरूप शत्रु से प्रथम मुकाबले में ही ये उनका मार्ग प्रशस्त कर देते थे।[2] डॉ. परमात्माशरण का कहना है कि - मुगल काल में प्रांतों के अधीन जो तथाकथित सेनायें थी वह नियमित सेना न होकर वस्तुतः एक प्रकार की मिलिशिया के समान थी और न ही वह जमींदार द्वारा संग्रहीत सैन्य दल का अंश थी। प्रत्येक स्थान से अश्वारोहियों के योगदान का अनुपात केवल जन शक्ति की संख्या की अपेक्षा सैनिक गुणों पर और पैदल सेना की सैनिक गुणों की अपेक्षा जनशक्ति पर अधिक निश्चित होता था। इस सिद्धान्त से वास्तविक संख्या स्पष्ट हो जाती है। संयुक्त बंगाल और उड़ीसा, क्षेत्रफल और जनसंख्या दोनों में सबसे बड़े थे अतः वहाँ की पैदल सेना की संख्या सबसे अधिक अर्थात् 8,01,150 आदि थे जबकि इसमें अजमेर का स्थान छठा था। पैदल सेना के योगदान देने में विभिन्न प्रांतों का क्रम क्रमशः इस प्रकार रहा - उड़ीसा युक्त बंगाल, आगरा, मालवा, बिहार, लाहौर, अजमेर, दिल्ली, इलाहाबाद, काबुल, अवध, थट्टा सहित मुल्तान, गुजरात, कश्मीर युक्त कन्धार।[3]

जहाँ तक अकबर कालीन पैदल सेना का प्रश्न है अकबर की पैदल सेना के सम्बन्ध में स्मिथ की मान्यता है कि - अश्वारोही सैनिकों की अपेक्षा अकबर की पैदल सेना अंत तक निम्न कोटि की बनी रही इसी कारण उसे सदैव अपने अश्वारोही सैनिकों पर ही आश्रित रहना पड़ता था।[4]

साम्राज्य के विकास और अस्तित्व के लिए सामरिक योग्यता अनिवार्य है अतः डॉ. स्मिथ के इस कथन को स्वीकार करना कठिन है कि - अकबर का सैनिक

---

1. कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 132.
2. वही.
3. परमात्माशरण, पृ. 254.
4. स्मिथ, पृ. 394.

संगठन निम्न कोटि का था। उसका विस्तृत साम्राज्य उसकी सैनिक कुशलता का स्पष्ट उदाहरण है जो इससे पूर्व के मुगल शासकों के वश में नहीं था।

सवार सेना

मुगल सेना का सबसे प्रमुख भाग घुड़सवार दल था। इरविन कहता है कि - वस्तुतः सेना घुड़सवारों की थी। आक्सस नदी के पास के मुगल केवल घोड़े पर चढ़कर ही लड़ने के अभ्यस्थ थे। पैदल सिपाही से वे घृणा करते थे।[1] इसका स्पष्ट उदाहरण बाबर द्वारा इब्राहिम लोदी व राणा सांगा की पराजय थी। बाबर लिखता है कि - उसकी इब्राहिम लोदी व राणा सांगा पर विजय का प्रमुख कारण उसकी घुड़-सवार सेना के साथ तुगलुमा रणनीति अपनाना था, जो भारतीय सेना चारों ओर से होते हुए भी उन्हें पीछे छोड़ देती थी।[2]

मुगलों को विजयश्री प्रदान करवानेमें सवार सेना का प्रमुख योगदान रहा है।[3]

इस सेना में मनसबदारों के अधीन सैन्य दल और केन्द्रीय सरकार द्वारा सीधे भर्ती किये गये अहदी होते थे।

समय-समय पर सैनिक निरीक्षण हुआ करते थे। सैनिकों की सुरक्षा के लिए शिरस्त्राण, कवच, लोहे के पटाखे आदि दिये जाते थे और घोड़ों की गर्दन छाती, पीठ के बचाव की भी व्यवस्था की जाती थी। अकबर ने घोड़ों की परेड भर्ती आदि के लिए विस्तृत नियम बना दिये थे। यहाँ तक कि अपने अस्तबल में वह स्वयं घोड़ों का निरीक्षण किया करता था और यदि अधिकारियों को कर्तव्य विमुख या भ्रष्ट पाता था तो उन्हें दण्ड देता था।

भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए घोडों को दागना आवश्यक समझा गया, इसे दाग-ओ-महली अथवा केवल दाग कहते थे। प्रत्येक सैनिकों का हुलिया लिखना

---

1. इरविन, पृ. 332-33.
2. बाबरनामा, पृ. 473-74, 569.
3. कुरेशी : मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 126.

जरूरी था। मनसबदार अपने अधीन घोड़े का प्रत्येक तीसरे वर्ष निरीक्षण करता था, अगर ऐसा नहीं करता था तो मनसबदार के जागीर के 10वें भाग को काट लिया जाता था। जिसे नकद वेतन मिलता था उसे 18 माह बाद घोड़े निरीक्षण के लिए प्रस्तुत करना पड़ता था। प्रथम निरीक्षण के बाद जो अन्य निरीक्षण होते थे उन्हें दाग-ए-मुकर्रर (दाग की पुनरावृत्ति) कहते थे।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि - समूची मनसबदारी प्रथा वास्तव में घुड़सवार फौज के ही आधार पर कायम थी।

सवारों को सार्टीफिकेट (प्रमाणपत्र) देने की भी व्यवस्था थी। इसे सक्त-नामा[2] कहा जाता था। यदि किसी सवार का घोड़ा मर जाता था तो उसे जब से घोड़ा मरा है तब तक का भत्ता प्रदान किया जाता था। यदि सवार ऐसे प्रमाणपत्र प्रस्तुत नहीं कर पाता था, तो अंतिम सरकारी तिथि से उसका भत्ता काट लिया जाता था। बेईमानी से बचने हेतु प्रमाणपत्र जारी करने वाले अधिकारी के सम्मुख मरे जानवर की खाल प्रस्तुत करनी पड़ती थी। उस प्रमाणपत्र में मृतक जानवर का पूरा विवरण लिखा रहता था। कभी-कभी तो रिपोर्ट के साथ जानवर की खाल पर दाग के चिन्ह को मुख्यालय भेजा जाता था। जब घोड़ा वृद्ध हो जाये अथवा चोट लगने के कारण हटाया जाता था तो घोड़ा भिन्न नियम अपनाया जाता था। रिपोर्ट को बर्तरफी कहा जाता था जिसे जानवरों के रिकार्ड के लिए मुख्यालय भेजा जाता था।[3]

तोपखाना

मुगलों के आगमन से तोपखाना में भी बढ़ोत्तरी हुयी। अबुलफजल लिखता है कि - तुर्की को छोड़कर किसी अन्य देश के पास भारत से अच्छा तोपखाना नहीं था। मुगल तोपखानों में बड़ी-बड़ी तोपें थी। इन्हें कई एक हाथी और एक-एक हजार जानवर खींचते थे। यह 12 मन के गोले फेंकती थी, लेकिन यह तोपें केवल किलों के

---

1. आईने अकबरी, भाग 1, पृ॰ 252, 266-67.
2. वही, पृ॰ 260 ; कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ॰ 128.
3. वही, पृ॰ 264-65.

घेरों के समय ही काम आती थी, खुले युद्धों में इनका प्रयोग नहीं होता था।[1]

इस विभाग का प्रधान उच्च अधिकारी मीर आतिश या दरोगा-ए-तोपखाना होता था। मीर आतिश के अलावा अन्य भी कई अधिकारी थे, जिनमें दरोगा और मुशारिफ मीर आतिश के सहायक अधिकारी थे।[2] अकबर के समय पतरदास मीर आतिश था जिसे उसने राय-रायन की उपाधि दी थी।

बाबर तथा हुमायूँ ने भारत में किये गए युद्धों में इनका खुलकर प्रयोग किया। शेरशाह ने भी युद्धों में इनका प्रयोग किया था। इस प्रकार तोपों और बन्दूकों का महत्व अकबर के समय तक काफी बढ़ गया था पर अकबर के शासनकाल में तोपखाना पूर्व मुगल शासकों की भाँति मुगल सेना का विशेष महत्वपूर्ण अंग नहीं था। अकबर ने यह समझकर कि तोपें विजय द्वार की कुंजियाँ हैं और रक्षा के उत्तम साधन हैं,अपनी सेना में उसने बड़ी और छोटी दोनों प्रकार की तोपों की व्यवस्था की थी और सेना का तोपखाना विभाग अलग ही रखा था। अकबर स्वयं इस विभाग को बड़ी सावधानी से देखता था। उसने तोपों की ढलाई, उनकी किस्मों और बनावट में सुधार आदि में विशेष रुचि प्रदर्शित की। उसने कई तोपों का आविष्कार भी किया। उसने कई तोपे ऐसी बनवायी थी जो कूच के समय उसकी विजय सेना के साथ रहा करती थी। तोपों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जाता था। इनमें भारी और हल्की दोनों प्रकार की तोपे होती थी। भारी तोपों को खींचने के लिए हाथियों या पशुओं का उपयोग किया जाता था। इन तोपों को सरकारी कारखानों में ढाला जाता था। तोपों के ऐसे गोले भी बनाये जाते थे जिनका वजन 12 मन तक होता था।[3] तोपों को अब अधिकतर पहियेदार गाड़ी पर लगाया जाने लगा था। बन्दूकों के नाले की लम्बाई इतनी बढ़ायी जाने लगी थी कि उनकी लम्बाई 6 फीट

---

1. इरविन, पृ. 178.
2. कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 129.
3. आइनि अकबरी, भाग 1, पृ. 119.

111 इंच होने लगी थी और लकड़ी की काटियों पर लगी गजनाली और शतुरनाली की संख्या बढ़ा दी गयी थी। इनका वजन कभी-कभी 50 पौंड तक का होता था और उनसे 3-4 औंस की गोलियाँ चलती थी।[1] उस्ताद कबीर और हुसैन अकबर के काल के प्रसिद्ध बन्दूक बनाने वाले थे ।[2] अबुलफजल लिखता है कि - सारे साम्राज्य में शाही तोपें बड़ी सावधानी से बाँटी गयी थी। दुर्ग विरोध या विजय के लिए प्रत्येक सूबे में तोपें रखी गयी थी। इन तोपों पर ढालते समय उनके निर्माण का स्थान, दिन, वजन, निर्माण करने वाले शिल्पी का नाम तथा शाही चिन्ह अंकित किये जाते थे ।[3]

तोपखाने में तोपों व बन्दूकों के विभागों तथा उनके गोलाबारूद एवं शास्त्राण के लिए अलग अधिकारी होते थे । इनमें अमीर और अहदी लगे हुये थे । पैदल का वेतन 100 से 400 दाम तक था। तोपखाने के समस्त कर्मचारी और अधिकारी तोपखाने के सर्वोच्च अधिकारी मीर आतिश के अधीन रहते थे। तोपखाने के मामले में मुगल सैनिक निपुण नहीं थे इसलिए अकबर तोपखाने की कला में निपुण पुर्तगालियों से सहायता प्राप्त करने को इच्छुक था।

हाथी

मुगलों ने युद्धों में प्राचीन कालीन व्यवस्था की भाँति लड़ाकू हाथियों का भी प्रयोग किया। हाथी अधिकतर दुर्ग द्वार अथवा फाटक तोड़ने, भारी-भारी तोपें ले जाने और शाही सेना को नदी नाले पार कराने में मदद करते थे । अकबर के पास हाथियों की संख्या बाबर, हुमायूँ की अपेक्षा हजारों में थी। हाथी अकबर की सेना के महत्वपूर्ण अंग थे । इनमें अधिकांश युद्ध में काम आते थे । ये सात श्रेणियों में विभाजित थे । हर श्रेणी के हाथियों को उनके डील-डौल के अनुसार तीन और श्रेणियों में बाँट दिया जाता था।[4] हाथी शाही झंड़ों और नगाड़ों को लेकर चलते थे । युद्धों में

---

1. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 55.
2. आईन अकबरी, भाग 1, पृ. 120.
3. वही ; कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 129.
4. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 57.

इन हाथियों को पूर्ण रूप से अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर दिया जाता था। उनको बचत के लिए उनके मस्तक पर लोहे का तवा अथवा खाल लपेट दी जाती थी और उनके पैर एवं शरीर के अन्य भी भरसक सुरक्षित कर दिये जाते थे ।[1] हर हाथी अपने सूंड़ में एक तलवार और दो कटारें लेकर चलता था। प्रत्येक के हौदे में चार सैनिक रहते थे । ये धर्नुधारी अथवा बन्दूकची होते थे । सामान्यतया हाथियों का प्रयोग अधिकतर फाटक तोड़ने में किया जाता था।[2]

नौ सेना

उस समय पाश्चात्य देशों के समुद्री बेड़े के समान नौ सेना या जल सेना नहीं थी। स्मिथ लिखते हैं कि - अकबर की सेना में पैदल, घुड़सवार, हाथी व तोपखाने थे किन्तु नौ सेना का उल्लेख नहीं करते ।[3] सम्भवतः उस समय विशाल सुसज्जित नौ सेना की उसे आवश्यकता ही नहीं थी। फिर भी अकबर के पास पंजाब, बिहार और बंगाल में बड़ी नदियों को पार करने के लिए या सेना को नदी के पार ले जाने के लिए या जल डाकुओं का दमन करने के लिए बड़ी-बड़ी नावें और छोटे-छोटे जहाज थे । नावों से मूल्यवान वस्तुएं आती थी। सम्राट के निजी उपयोग के लिए भी अनेक वस्तुएं मंगायी जाती थी।[4] कुछ ऐसी विशाल और दृढ़ नावें भी तैयार की जाती थी जो जलमार्ग से हाथियों को ले जा सकती थी। नदी तट के स्थानों पर और वहां के दुर्गों पर आक्रमण करने और उनको जीतने के लिए भी नावें काम में आती थी। इन नावों पर अनुभवी नाविक नियुक्त किये जाते थे । ये ज्वार भाटे से समुद्र और नदियों की गहराई से वायु की दिशाओं से तथा समुद्र के उथले भागों से परिचित थे । उनको वेतन मिलता था। बड़ी-बड़ी नदियों के घाटों पर विशाल नावों द्वारा व्यापारिक वस्तुएं भेजी और लायी जाती थी। इनके लिए

---

1. आईने अकबरी, भाग 1, पृ. 124-131, 246.
2. यू.एन.डे : मुगल गवर्नमेंट, दिल्ली 1970, पृ. 147.
3. स्मिथ : अकबर महान, पृ. 394.
4. आईने अकबरी, भाग 1, पृ. 289-92.

घाटों पर कर लगाये जाते थे । नावों में माल लाने, ले जाने के भाव निश्चित थे। प्रत्येक नाव के एक हजार मन के वजन के माल पर एक कोस दूरी का एक रुपया लगता था। शर्त यह थी कि नाव और व्यक्ति एक ही स्वामी के हो परन्तु यदि नाव एक व्यक्ति की हो और शेष सब उस व्यक्ति का हो जिसने वह किराये पर ली हो, तो ढाई कोस का एक रुपया लिया जाता था। नाव घाटों पर एक हाथी को ले जाने का दस दाम, भरी गाड़ी के चार दाम, लदे हुए जानवर का डेढ़ आना, खाली का एक पैसा, दूसरे लद्दू जानवरों पर एक दाम और नदी को पार करने के लिए बीस आदमियों को मिलाकर एक दाम लिया जाता था,परन्तु उनको प्रायः निःशुल्क उतारा जाता था। इस प्रकार के करों से जो आय होती थी,उसका आधा या तिहाई भाग राजकोष में जमा किया जाता था।[1] समुद्री बंदरगाहों पर जहाज बनाये जाते थे । कभी-कभी ये जहाज बड़ी नदियों के मुहानों पर बसे हुए नगरों और बन्दरगाहों की सुरक्षा करते थे । इन जहाजों में युद्धपोत नहीं होते थे । जो भी नावें और छोटे जहाज थे, वे नौ सेना के अंग थे । सारी नौ सेना के अधिकारी "मीर बहर" कहलाता था। बन्दरगाहों पर सरकार कुछ कर लेती थी परन्तु उसकी मात्रा ढाई प्रतिशत से अधिक नहीं होती थी। पहले के करों की अपेक्षा यह इतना कम था कि व्यापारी लोग समझते थे कि कर उठा लिये गये है।[2]

अकबर के सैन्य संगठन के सम्बन्ध में डॉ. स्मिथ की यह धारणा है कि - अकबर का सैनिक संगठन वस्तुतः कमजोर था, यद्यपि यह उसके लापरवाही पड़ासियों से बहुत अच्छा था । अपेक्षाकृत अच्छे समकालीन यूरोपिय सिपाहियों के सामने उसकी सेना एक क्षण भी नहीं ठहर सकती थी।[3] साम्राज्य के विकास और अस्तित्व के लिए सामरिक योग्यता अनिवार्य है अतः इस विचार के विषय में सन्देह है क्योंकि भारतवर्ष में पुर्तगालियों और अकबर के बीच ताकत की कोई आजमाइश नहीं हुयी थी, जिसके आधार पर यह विचार प्रकट किया जा सके।

---

1. आइनि अकबरी, भाग 1, पृ. 289-92.
2. एस.आर.शर्मा : भारत में मुगल साम्राज्य,पृ.293 ; कुरेशी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ.138.
3. स्मिथ, पृ. 395.

प्रांतीय न्याय व्यवस्था, पुलिस प्रशासन एवं गुप्तचर विभाग

न्याय सामाजिक संगठन एवं नागरिक व्यवस्था का आधार है। यह वह मापदण्ड है जिस पर शासक के क्रियाकलापों, अच्छाइयों और बुराइयों को तौला जाता है। न्याय के द्वारा ही शासक के नैतिक चरित्र का प्रभाव प्रजा पर पड़ता है । निष्पक्ष न्याय विभाग के बिना एक सुव्यवस्थित प्रशासन अधूरा ही रह जाता है।[1] इस सम्बन्ध में बिना अतिशयोक्ति कहा जा सकता है कि मुगल सम्राट भी अपनी प्रजा को सुरक्षा और न्याय प्रदान करना अपना उच्चतम एवं सर्वाधिक आवश्यक कर्तव्य समझते थे और वे इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हृदय से सचेष्ट रहते थे ।

मुगलकालीन न्यायपालिका का संगठन एवं सिद्धान्त इस्लामी सिद्धान्त, इस्लामी ऐतिहासिक परम्पराओं, दिल्ली सल्तनत काल तथा भारतीय परम्पराओं से प्रभावित था।[2]

केन्द्रीय न्यायिक संगठन

कुरान में ऐसा लिखा माना जाता है कि -"अपने अल्लाह की आज्ञाओं को पूरा करो" इसलिए प्रत्येक मुगल सम्राट कुरान की इस आज्ञा के अनुसार चलने का प्रयत्न करता था।

मुस्लिम विधिवेत्ताओं ने राजा को न्याय प्रशासक के लिए सर्वोच्च पद और अधिकार प्रदान किये हैं । अतः यह कहा जा सकता है कि मुगल सम्राटों ने अपनी प्रजा की सुरक्षा और न्याय प्रदान करना अपना उच्चतम और पवित्र कर्तव्य समझा और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हृदय से सचेष्ट भी रहते थे परन्तु मुगल साम्राज्य

---

1. बरनी : फतवा-ए-जहाँदारी, अनु. हबीब एवं अफसर बेगम, पालिटिकल थ्योरी ऑफ दि दिल्ली सल्तनत, पृ. 96.
2. हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ. 214.

जैसे विशाल साम्राज्य में इस दिशा में वास्तविक सफलता का स्तर कितना ऊँचा हो सकता था, यह वैयक्तिक, सामाजिक एवं पर्यावरण सम्बन्धी अनेक लक्षणों पर निर्भर था फिर भी यह कहना उचित होगा कि वे अपनी प्रजा को सुरक्षा एवं न्याय प्रदान करने में कुछ कम सफल नहीं हुए ।[1] न्याय प्रणाली की रूपरेखा निर्धारित करने के लिए जो सामग्री प्राप्त है, सामान्यतः सम्राट स्वयं न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था। शासकीय कार्यों में सम्राट को हकों और न्याय का समुचित सम्मान था।[2] वे बराबर आम-खास {सार्वजनिक दरबार भवन} में नियमित रूप से कचहरी करते थे और प्रतिदिन अपना कुछ समय दाद फरियाद और न्याय करने में लगाते थे । इन अदालतों का तरीका इतना सरल था कि साधारण से साधारण व्यक्ति की भी पहुँच बिना बाधा के सम्राट तक हो सकती थी। अपराधियों की अर्जियाँ सम्राट के सम्मुख उपस्थित की जाती थी। वह उन्हें पढ़वा कर सुनता और प्रत्येक फरियादी को बुलाकर खुद जिरह करता और आवश्यक कार्यवाही के लिए आज्ञा प्रदान करता था। अबुलफजल लिखता है कि - सम्राट अकबर न्याय कार्य में नित्य प्रति कम से कम डेढ़ पहर समय लगाता था।[3]

मुगल सम्राट न्याय कार्य के लिए नित्य कुछ न कुछ समय तो देते ही थे। सप्ताह में उन्होंने एक विशेष दिवस भी न्यायिक कार्यों के लिए नियत कर रखा था। उस दिन वे अधिक महत्वपूर्ण मुकदमों को देखते थे । दौरों, भ्रमण और सैनिक अभियानों के बीच में भी न्याय कार्यक्रम में व्यतिक्रम नहीं होने पाता था। प्रथा के अनुसार अपीलें छोटी अदालतों से क्षेत्राधिकार के अनुसार बड़ी अदालत और वहाँ से उससे बड़ी और अंत में स्वयं सम्राट के सम्मुख पेश की जा सकती थी।[4]

ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय आज की तरह अपीलों के कोई निश्चित अथवा परिष्कृत नियम न थे, परन्तु उनके अभाव में किसी प्रकार से न्याय में कमी न

---

1. परमात्माशरण, पृ. 251.
2. कमेन्टेरियस, पृ. 210 ; परमात्माशरण, पृ. 352.
3. अकबरनामा, भाग III, पृ. 373.
4. परमात्माशरण, पृ. 354.

होती थी। इसका स्पष्ट उदाहरण अकबर की निष्पक्ष न्यायप्रियता थी जिसके सम्बंध में अबुलफजल ने लिखा है कि - सम्राट अपने न्यायलय में सम्बन्धी और अपरिचितों में, फकीरों तथा भिखारियों में कोई भेदभाव नहीं करता था।[1] यद्यपि अकबर के शासनकाल में कानूनी न्यायालयों में ऊपर से नीचे तक आजकल की तरह कोई नियमित श्रेणी बद्धता नहीं थी। न्यायालयों का समुचित विभाजन नहीं था और न ही न्याय की कोई सुव्यवस्थित प्रणाली थी, परन्तु फिर भी मध्ययुग की सीमित प्रशासकीय व्यवस्था को देखते हुए विभिन्न न्यायालयों और उनमें न्यायदान की व्यवस्था थी। केन्द्रीय न्यायालय में निम्न अधिकारीगण थे - §1§ काजी उल कुजात, §2§ दीवान ए- आला §3§ काजी-ए-लश्कर §4§ सद्र-उस-सुदूर का न्यायालय।

सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायिक अधिकारी सम्राट के पश्चात् प्रधान सद्र होता था, जिसके साथ प्रधान काजी का पद भी सम्मिलित था। अबुलफजल ने आईने अकबरी में सर्वोच्च न्यायालय के उच्चतम अधिकारियों की सूची में केवल वकील, वजीर, बख्शी और सद्र का उल्लेख किया है । काजी उल कुजात का उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः न्याय की कुछ शाखाओं में सद्र की सहायता करने वाला दूसरा अधिकारी दीवाने-आला अथवा वजीर अवश्य रहा होगा।[2] इस प्रकार इतना तो निश्चित है कि सम्राट के अतिरिक्त न्याय के समस्त कार्य सद्र और दीवाने आला के मध्य बंटे हुए थे ।

प्रांतीय न्यायिक संगठन

सर्वोच्च और प्रांतीय अदालतों की रचना का क्या रूप था इस बारे में निश्चयात्मक रूप से जानना कठिन प्रतीत होता है क्योंकि इस विषय के सभी उल्लेख प्रायः अस्पष्ट एवं अनिश्चित से हैं।

प्रांत में प्रमुख न्यायिक अदालत काजी-ए-सूबा की अदालत थी। डॉ॰ डी॰पंत कृत कमर्शियल पालिसी ऑफ दि मुगल्स, पृ॰ 43 में लिखा है कि - मुस्लिम न्यायकाल

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ॰ 387॰
2. परमात्माशरण, पृ॰ 338-9॰

में प्रांतीय न्याय प्रशासन काजी द्वारा होता था और न्यायपालिका का संगठन निम्न प्रकार से होता था। काजी मुकदमों की जाँच कर मीर अदल[1] के पास भेज देता था और वही फैसला सुनाता था। इनकी अपील सूबेदार के पास होती थी उसके बाद मुख्य काजी के पास। मुख्य काजी के फैसले की अंतिम अपील सम्राट के पास होती थी जिसका अचल और अंतिम होता था। यह आज के प्रिविकौंसल के निर्णय सरीखा था। अबुलफजल स्पष्ट उल्लेख करता है कि - प्रांतीय सद्र, काजियों और मीर अदलों का प्रधान होता था। वे लोग उसके हस्ताक्षर से नियुक्त होते थे तथा उसकी आज्ञा के अधीन काम करते थे।[2]

डॉ• कुरेशी लिखते हैं कि - मुगल साम्राज्य में प्रांतीय और स्थानीय काजी की नियुक्ति साम्राज्य के प्रधान काजी संतुति पर सम्राट द्वारा होती थी। उसे दीवानी और फौजदारी के आरम्भिक एवं अपीली दोनों तरह के मुकदमों में निर्णय करने का अधिकार था। काजी की सहायता के लिए, मुफ्ती, मुहतसिब, दरोगा-ए-अदालत, मीर अदल, पंडित स्वानेहनवीस तथा वाकिया निगार नियुक्त रहते थे। काजी के सम्मुख मुफ्ती कानून सम्बन्धी मत तथा मीर अदल तथ्य (असलियत) उपस्थित करते थे। इसी आधार पर काजी निर्णय देता था। निर्णय के पश्चात् उसे क्रियान्वित करने के लिए मीर अदल को दिया जाता था। मीर अदल अदालत का उच्चतर लिपिक था।[3] इसके अतिरिक्त वह रिवाजी कानूनों से सम्बन्धित मुकदमों को सुनता था और निर्णय देता था। वह एक प्रकार से स्वतन्त्र न्यायाधिकारी था। मुफ्ती इस्लामी कानूनों का पूर्ण जानकार था। वह कानून विद् होता था और कुरान की आज्ञाओं तथा शरा के सम्बन्ध में काजी को परामर्श देता था। जब भी काजी को शरा के सम्बन्ध में संदेह होता था तो वह मुफ्ती से परामर्श लेता था। उसे वकील-ए-शरह

---

1. 1580 के पश्चात् अकबर ने सूबे का न्याय प्रशासन मीर अदल को सौंप दिया क्योंकि वह काजियों के काम से संतुष्ट नहीं था और अब काजियों को मीर अदल के अधीन रख दिया गया। - आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग II, पृ• 293•
2. आईने अकबरी, भाग I, पृ• 6-15•
3. मुहम्मद बशीर अहमद : दि ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ जस्टिस इन मेडिवल इंडिया, पृ• 79•

भी कहते थे । वह आजकल के शासकीय वकील के समान होता था।[1] काजी की अदालत में हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के माल और फौजदारी के मुकदमों का निर्णय होता था। फौजदारी कानून सबके लिए एक समान था और दण्ड देने में किसी प्रकार के धार्मिक विभेद पर ध्यान नहीं दिया जाता था। वे प्रायः कुरान और हदीस के प्रमाणों का अनुसरण करते थे । बादशाह सब नियमों से परे था। और काजी के निर्णयों को अपनी इच्छानुसार फेर-बदल कर सकता था। दण्ड प्रायः कठोर होते थे ।

दीवान-ए-सूबा का न्यायालय

राजस्व सम्बन्धी मुकदमें प्रांतीय दीवान द्वारा निर्णित होते थे । जिले तथा परगनों की अदालतों के राजस्व सम्बन्धी मुकदमों की अपील भी इसकी कचहरी में होती थी।

सरकार का न्यायिक संगठन

सरकार के प्रशासन की विभिन्न शाखाओं के प्रभारी चार मुख्य अधिकारी होते थे । फौजदार, कोतवाल, अमलगुजार और काजी (काजी-ए-सरकार) । इनमें फौजदार एक प्रकार से सामान्य कार्यकारी प्रशासक था, जिसके कर्तव्य विधि और व्यवस्था, शांति और सुरक्षा को बनाये रखना तथा राजकीय कर्मचारियों को अपने कर्तव्यों को पूरा करने में उपद्रवी जनता द्वारा दी जाने वाली बाधा दूर कर, सहायता देना था। इस कार्य सम्पादन के लिए उसके पास सैनिक पुलिस का एक दस्ता रहता था। इस प्रकार वह राज्य के आदेशों एवं भावनाओं को जनता पर लागू करने और शासन संचालन को सुगम बनाने में सम्राट की शक्ति को व्यक्त करता था। उसे कोई न्यायिक अधिकार प्राप्त नहीं थे । वह प्रांतीय सिपहसालार की कार्यपालिका के कर्तव्यों का सरकार में प्रतिनिधित्व करता था।[2]

---

1. इब्नहसन : सेन्ट्रल स्ट्रक्चर ऑफ मुगल एम्पायर, लन्दन, 1936, पृ. 314.
2. परमात्माशरण, पृ. 346-47.

मुगल काल के प्रारम्भ में वह एक जिले से दूसरे जिले में जल्दी-जल्दी स्थानान्तरित होता था और सैनिक अभियानों में भी जाता रहता था किन्तु उत्तर मुगल काल {18वीं शताब्दी} में उसके न्यायिक अधिकार बढ़ गये थे।[1]

कोतवाल के कार्य बड़े विस्तृत थे। वह दण्डनायक {मैजिस्ट्रेट} पुलिस का नायक और नगरपालिका का अधिकारी संयुक्त रूप से तीनों था। दण्ड नायक की हैसियत से वह पूरी सरकार में होने वाले फौजदारी के मुकदमें का विचारण ले सकता था किन्तु अन्य हैसियत से उसका क्षेत्राधिकार सरकार के मुख्य नगर तक ही सीमित था। यद्यपि कोतवाल के अधिकारों के अन्तर्गत आने वाले मुकदमों का स्पष्ट वर्गीकरण प्राप्त नहीं है फिर भी ज्ञात मुकदमों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लौकिक फौजदारी के मुकदमें कोतवाल की अदालत में जाते थे। कोतवाल की अनुपस्थिति में अमलगुजार को उसका कार्य करना पड़ता था।[2]

सरकार का मुख्य न्यायाधिकारी काजी-ए-सरकार था। सरकार के काजी की नियुक्ति सद्र-उस-सुदूर तथा प्रांतीय सद्र की संतुति पर सम्राट द्वारा होती थी। वह सम्राट द्वारा कभी भी अपने पद से हटाया जा सकता था।[3] यदुनाथ सरकार लिखते हैं कि - सरकार के काजी का न्यायक्षेत्र उसके सम्पूर्ण हलके तक होता था और सरकार के क्षेत्र के अन्तर्गत सभी नगरों के निवासी सरकार की अदालत में अपने मुकदमें निर्णयार्थ ले जा सकते थे।[4] यद्यपि काजी के अधिकारों के अन्तर्गत आने वाले मुकदमों का स्पष्ट वर्गीकरण प्राप्त नहीं है किन्तु ज्ञात मुकदमों के आधार पर कहा जा सकता है कि धार्मिक मुकदमें जैसे उत्तराधिकार, विवाह, तलाक, दीवानी विवाद, आदि काजी की अदालत में जाते थे।[5]

---

1. हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ. 216 ; कमीशन ऑफ सीक्रेसी की रिपोर्ट, 1973, पृ.321-51.
2. परमात्माशरण, पृ. 347-48.
3. बशीर अहमद, पृ. 164-65.
4. यदुनाथ सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 108.
5. परमात्माशरण, पृ. 347.

काजी की अदालत के अन्य कर्मचारियों में पेशकार, कातिब, (गवाहों के बयान तथा फैसला लिखने वाला) अमीन, नाजिर, दफ्तरी, मुचलकानवीस, मिर्दहा आदि प्रमुख हैं ।[1] इनके अतिरिक्त दरोगा-ए-अदालत, मीर अदल, मुफ्ती, पंडित, मुहतसिब-ए-बलदाह, वकील-ए-शरा उसके कार्य में सहायता देते थे ।

सरकार का अमलगुजार राजस्व सम्बन्धी मुकदमों का निर्णय करता था । परगने में निर्णित मुकदमों की अपील भी उसके सम्मुख पेश की जाती थी। करोड़ियों द्वारा निर्णित मुकदमों की अपील उसकी अदालत में होती थी। अमलगुजार को भूमि सम्बन्धी विशेष अनुभव होता था।

परगना न्यायालय

परगने में न्याय का कार्य शिकदार, काजी, कोतवाल, आमिल द्वारा सम्पादित होता था।

शिकदार परगने का प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी था। शांति सुव्यवस्था के अतिरिक्त वह परगने के फौजदारी मुकदमों का निर्णय करता था। शिकदार कोतवाल के दण्डनायक सम्बन्धी पद का प्रतिनिधित्व करता था। अपने क्षेत्राधिकार में शिकदार का कार्य मालगुजारी की वसूली में राजस्व अधिकारियों को सहायता देना और केवल लौकिक फौजदारी वर्ग के मुकदमों पर विचार करना था।[2] जैसे शांति भंग करने वालों, डाकुओं, लुटेरों, उपद्रवियों आदि पर चले मुकदमें की सुनवायी शिकदार या फौजदार के न्यायालय में होती थी।

परगने के कोतवाल के न्यायालय में शाही आज्ञाओं का उल्लंघन करने वालों को दण्ड दिया जाता था। परगने के कस्बों में साधारण मारपीट लड़ाई झगड़े, चोरी आदि के मुकदमें कोतवाल के न्यायालय में होते थे । एक तरह से फौजदार व कोतवाल के न्यायालय शुद्ध राजनीतिक न्यायालय थे । इनमें वे मुकदमें सुने जाते थे जिनका शरा

---

1. बशीर अहमद, पृ. 156-58.
2. परमात्माशरण, पृ. 349.

की किसी बात से कोई सम्बन्ध नहीं था। शाही आज्ञाओं का उल्लंघन करने वालों को कोतवाल ही दण्ड देता था। कोतवाल के निर्णय के विरुद्ध अपील प्रांतीय राजधानी में और उससे आगे सम्राट के न्यायालय में हो सकती थी।[1]

कोतवाल की कचहरी को चबूतरा कहा जाता था। कोतवाल का दफ्तर एक प्रकार की चौकी थी जहाँ दण्डाधिकारी उस स्थान के निवासियों के विवादों पर न्याय करता था।[2]

परगने में आमिल (राजस्व-अधिकारी) का न्यायालय था। आमिल का प्रमुख कार्य भूमि की व्यवस्था तथा भूमि कर की वसूली एवं इनसे सम्बन्धित मुकदमें सुनना व उन पर अपना निर्णय देना था। आमिल को भूमि सम्बन्धी विशेष अनुभव प्राप्त था। किन्तु आमिल को कुछ अंशों तक ऐसे कार्यों में काजी और कोतवाल का हाथ बंटाना पड़ता था जिन्हें हम अर्ध पुलिस न्यायिक कार्य कह सकते हैं। यथा डाकुओं, चोरों, एवं अन्य दुष्टों को दण्डित कर शांति और सुरक्षा स्थापित करना। कोतवाल की अनुपस्थिति में आमिल को कोतवाल के दण्ड नायक सम्बन्धी कार्य को संभालना पड़ता था।[3] परन्तु सरकार के राजस्व अधिकारी की हैसियत से आमिल के भ्रमणकारी कर्तव्यों को देखते हुए यह मानना कठिन है कि उससे कोतवाल के अति विस्तृत पुलिस और नगरपालिका के कार्यों की संभाल प्रत्याशित थी।

जिला या सरकार की तरह परगनें में भी एक स्थायी काजी की नियुक्ति की जाती थी। इनकी भी नियुक्ति मुख्य काजी की सिफारिश पर सम्राट स्वयं करता था और वह अपने क्षेत्र में वही कार्य करता था जो प्रधान काजी राजधानी में करता था। परगने के अधिकतर मुकदमें काजी के पास भेज दिये जाते थे । परगने भर में काजियों का जाल सा बिछा था और परगनें बहुत छोटे-छोटे न्यायिक प्रभागों में

---

1. लूनिया : अकबर महान, पृ॰ 457,
2. ट्रेवेनियर : ट्रेवेल्स इन इंडिया (अनु.) विलियम क्रुक द्वारा सम्पादित, आक्सफोर्ड, 1925, पृ॰ 92.
3. परमात्माशरण, पृ॰ 347.

विभक्त थे । जिस गाँव में मुसलमानों की संख्या अधिक होती थी, वहाँ भी एक काजी नियुक्त किया जाता था क्योंकि कतिपय धार्मिक कृतियों के सम्पादन के हेतु ग्राम समूहों में काजी का होना आवश्यक था। काजियों के अधीन मस्जिदों की देखरेख भी थी और वे शिक्षा भी दिया करते थे । ये ग्रामीण काजी सही अर्थों में हिन्दू पंडितों के समतुल्य थे क्योंकि पंडित भी हिन्दू जनता के मध्य वही कार्य सम्पादन करते थे । प्रांतीय स्तर के नीचे मीर अदल के किसी अदालत में होने के अवशेष के संकेत प्राप्त नहीं है।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि परगनों में मीर अदल नहीं होते थे । जब कभी काजी के अधीन मुकदमों का अधिक भार होता था तब उसकी सहायता के लिए मीर अदल नियुक्त किया जाता था।

ग्राम पंचायतें और जाति पंचायतें

न्याय की निम्नतम इकाई गाँव की पंचायतें थी। गाँवों में प्राचीन काल से ग्राम पंचायतें तथा बिरादरी पंचायतों का अस्तित्व था। प्राचीन काल में झगड़े गाँव के मुखिया के सम्मुख पंच निर्णय के लिए रखा जाता था । छोटे मामलों का वह स्वयं निर्णय कर देता था पर महत्वपूर्ण प्रश्नों पर बड़े बूढ़ों की परिषद की सहायता से फैसला करता था। मुखिया को दण्ड न्याय के भी अधिकार प्राप्त थे ।

प्रारम्भिक काल में संभवतः सभी झगड़े ग्राम परिषदों द्वारा निपटाये जाते थे किन्तु मुगल काल में गंभीर अपराधों के सम्बन्ध में उनके अधिकार कुछ सीमित कर दिये गये और उन्हें सभी प्रकार की जातीय एवं वैवाहिक, मालगुजारी राजस्व, खेतों की सिंचाई, फसल की कटाई सम्बन्धी झगड़ों पर विचार करने का अधिकार था। वस्तुतः लोगों के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन से सम्बन्धित सभी प्रकार के झगड़े पंचायत के सम्मुख प्रस्तुत किये जाते थे । इनका सभापतित्व मुखिया करता था। इसे उत्तरी भारत में चौधरी दक्षिण में वेट्टी तथा पश्चिमी भारत में पटेल कहा जाता था।[2]

---

1. परमात्माशरण, पृ. 351.
2. मथाई : विलेज गवर्नमेंट इन ब्रिटिश इंडिया, पृ.162 उद्धृत हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ. 224.

मुगल काल में अधिकतर जनता गाँवों में रहती थी अतः साधारण जनता की समस्याओं को सुलझाने तथा छोटे-मोटे मुकदमों को सुनने व फैसला देने के लिए हर गाँवों में ग्राम पंचायतें और जाति पंचायतें होती थी। मुकदमों का निर्णय सामाजिक व पारिवारिक रीति रिवाजों के आधार पर होता था। ये पंचायतें धार्मिक दीवानी और फौजदारी के मामले निपटाती थी।[1]

इन पंचायतों के पंच किसी सरकारी अधिकारी द्वारा नियुक्त नहीं किये जाते थे बल्कि वे जाति और गाँव की अपनी सेवाओं, अपने चरित्र और आय के कारण ही पंच के सम्मानीय पद को प्राप्त करते थे। पंचायत के निर्णय प्रायः एक मत से होते थे। इन पंचायतों में जुर्माने, लोगों की नजर में गिराने, जाति से निष्कासित करने आदि से सम्बन्धित दण्ड दिये जाते थे। इन पंचायतों को बड़े सम्मान से देखा जाता था और उनकी सत्ता राजनीतिक अथवा प्रशासकीय न होकर नैतिक ही अधिक थी। जनमत का भय अपराध रोकने में सबसे अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता था और शायद ही कोई मामला गाँव की सीमाओं के बाहर जाता था। सामान्यतः सभी मामले यहाँ तक कि हत्या के मामले भी गाँव में निपटा दिये जाते थे।[2]

अधिकतर गाँवों से परगना अथवा सरकार के न्यायालयों में जाने के सुविधा-जनक साधन नहीं थे। जनता में राजनीतिक चेतना भी उस युग में नहीं थी। इस कारण अधिकतर साधारण धार्मिक एवं दीवानी के मुकदमों का फैसला ग्राम पंचायतों में हो जाता था। इन ग्राम पंचायतों का कोई कानूनी अस्तित्व नहीं था इसी कारण समकालीन ग्रंथों में इनका वर्णन नहीं मिलता।[3]

इन पंचायतों के अलावा कभी-कभी निष्पक्ष प्रभावशाली व्यक्ति भी अपनी शक्ति और बुद्धि विवेक के आधार पर झगड़े निपटा देता था।

---

1. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग II, पृ. 295.
2. वही.
3. यदुनाथ सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 103.

न्यायिक प्रक्रिया

न्याय की दृष्टि से मुस्लिम कानून दो भागों में विभक्त है - धार्मिक एवं लौकिक । धार्मिक कानून पूर्णतया मुस्लिम प्रजा के लिए था। लौकिक कानून दो भागों में विभक्त था - दीवानी, फौजदारी । मुसलमानों के दीवानी के मुकदमों का फैसला इस्लामी कानून के आधार पर होता था। फौजदारी का कानून हिन्दू तथा मुसलमानों के लिए समान था। इसी तरह इस्लामी साक्ष्य एवं अनुबन्ध सम्बन्धी कानून दोनों के लिए समान थे । हिन्दुओं के उत्तराधिकार, विवाह इत्यादि से सम्बन्धित मुकदमों का फैसला हिन्दू धार्मिक कानून के आधार पर हिन्दू पंडितों की राय से किया जाता था,जो न्यायालय में नियुक्त रहते थे ।[1]

इस्लामी कानून के अनुसार अदालतें मस्जिद में अथवा काजी के निवास पर लग सकती थीं किन्तु मुगल काल में ये कचहरियाँ इसी कार्य के लिए बने भवनों में होती थीं।

सम्राट की अदालत में सामान्यतः वादियों और प्रतिवादियों के सम्मुख फरियाद को पढ़कर सुनाया जाता था। दोनों पक्षों की बात सुनने के पश्चात् फैसला सुना दिया जाता था। आवश्यक होने पर कानूनी विशेषज्ञों से परामर्श लिया जाता था। काजी सूबेदार, फौजदार के मुकदमों में इसी तरह निर्णय करते थे । दीवानी मुकदमों में साक्ष्य के लिए परिपत्रों की आवश्यकता पड़ती थी जो सम्राट के सम्मुख पेश किये जाते थे ।[2]

मुगलकाल में साक्ष्य की प्रणाली थी । यदि साक्षी ईसाई हो तो बाइबिल की, यदि मुसलमान हो तो कुरान की और यदि हिन्दू हो तो गीता या गाय की शपथ लेनी पड़ती थी।[3] केवल शपथ पर ही विश्वास नहीं कर लिया जाता था बल्कि जाँच पड़ताल भी की जाती थी।

---

1. इब्नहसन , पृ. 308-9.
2. परमात्माशरण, पृ. 353.
3. सत्यप्रकाश सागर : क्राइम एण्ड पनिशमेंट इन मुगल इण्डिया, दिल्ली 1967, पृ. 24.

वादी-प्रतिवादी की अनुपस्थिति में फरियाद प्राप्त होने पर उन्हें सम्मन भेजकर बुलाया जाता था। दोनों की बातें सुनी जाती थी। उसके पश्चात् मुकदमें का निर्णय होता था।[1]

न्याय कार्य में शीघ्रता मुगल शासन का स्पष्ट एवं प्रमुख लक्षण था। यह तत्कालीन प्रणाली के कारण स्वतः संभव था क्योंकि शीघ्र न्याय के लिए न्यायिक समितियों की भी नियुक्ति होती थी । उस समय दो प्रकार की न्यायिक समि-तियाँ थीं - §1§ स्थायी §2§ विशिष्ट समिति ।

सभी पूर्ववर्ती लेखकों ने न्यायिक प्रणाली की इस स्पष्ट वास्तविकता की पूर्णतया उपेक्षा की है । वास्तविक तथ्य स्पष्टतया प्रमाणित करते हैं कि विशेष अथवा स्थायी न्यायिक समितियों द्वारा विचारण प्रणाली न्याय करने का अंतिम उपाय और अधिकरण था और इसे साम्राज्यिक सद्र की अदालत से भी श्रेष्ठतर माना जाता था क्योंकि न्यायिक समिति की सेवाओं की सहायता उन कठिन और महत्वपूर्ण मुकदमों में ही ली जाती थी जो साधारण अदालतों के लिए अतीव जटिल और उनकी विचार क्षमता के बाहर समझे जाते थे ।[2]

अकबर ने न्यायकार्य में तत्परता लाने तथा दीर्घकालिक फैसलों से होने वाले कष्टों से प्रजा को बचाने और साथ ही न्याय की भावना एवं प्रथा में सुधार करने के उद्देश्य से §1585 ई.§ में एक स्थायी न्यायिक समिति की स्थापना की थी। इसमें चार सदस्य थे - राजा बीरबल, हकीम, हम्माम शमशेर खाँ, कोतवाल और कासिम खाँ ।[3] पर इस नवीन व्यवस्था की आलोचना करते हुए अबुल फजल ने लिखा है कि - एक पक्ष का काम बहुत नीचता का होता है और दूसरे पक्ष, फरियादी, की दशा व्याकुलतापूर्ण होती थी । वह आगे यह भी लिखता है कि - अत्याचारी की घूस और उसकी उच्च हैसियत तथा त्रसित की असहाय अवस्था के कारण यह आवश्यक

---

1. हरिशंकर श्रीवास्तव : मुगल शासन प्रणाली, पृ. 226.
2. परमात्माशरण, पृ. 371.
3. अकबरनामा, भाग III, पृ. 599.

था कि जाँच में तनिक भी देरी न हो ।[1]

इस आलोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह समिति अन्यायी एवं अत्याचारी सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध शिकायतें और अपील सुनने के लिए बनायी गयी थी। इस समिति को निर्देश थे कि केवल साक्षियों एवं शपथों पर ही निर्णय न लिया जाये वरन् पूरी गहराई से उसकी जाँच की जाये । अकबर के काल में इस प्रकार की समितियों का अस्तित्व था अथवा नहीं इसका पता नहीं चलता। ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च वर्ग के लोगों के लिए व विशेष मामले की जाँच के लिए ही विशिष्ट समितियाँ नियुक्त की जाती थी।

छोटे-छोटे दीवानी और फौजदारी के मुकदमों की बहुत बड़ी संख्या प्रारम्भ में ग्राम और बिरादरी पंचायतों द्वारा निपटा दी जाती थी और शेष जिलाधिकारियों द्वारा । फलस्वरूप प्रांतीय अथवा साम्राजिक अदालतों में जाने वाले मुकदमों की संख्या नगण्य थी । यही एक कारण था जिससे न्यायप्राप्ति में द्रुत गति होती थी । उस समय मुकदमों के दाखिले और अदालतों की क्रिया विधि ऐसी थी कि मुकदमें विचारार्थ पेश होने के पूर्व जाब्ते की कार्यवाही से इतने दबे न थे कि विचारण में अनिवार्यतः देरी हो । उस समय का वकील वर्ग भी ऐसा न था, जो वाक् चातुर्य से अनिश्चित कालीन देरी कर दे।[2]

अबुलफजल लिखता है कि -"अकबर ने अदालतों में होने वाली देरी के कारण मुवक्किलों को होने वाले घोर कष्टों का पूर्णतया अनुभव किया था । इसलिए मुख्यतया न्यायिक कार्यों में शीघ्रता करने और छल कपट का निराकरण करने के उद्देश्य से उसने 26वां §1581§ इलाही वर्ष में साम्राज्यिक सदारत को §न्यायिक विभाग§ पृथक क्षेत्राधिकारों में विभाजित करना आवश्यक समझा जिससे फरियादियों को देरी के कारण कष्ट न उठाना पड़े ।[3]

---

1. अकबरनामा, भा ग III, पृ. 599-602.
2. परमात्माशरण, पृ. 370.
3. अकबरनामा, भाग III, पृ. 546.

दण्ड

इस्लामी कानून के अनुसार दण्ड की निम्न श्रेणियाँ थी - §1§ हद, §2§ किसास §3§ ताजीर ।[1]

हद

यह वह दण्ड था जिनकी सीमा का निर्णय हदीस के आधार पर किया जाता था। हद ईश्वरीय अपराध का दण्ड था और उसे कोई भी क्षमा नहीं कर सकता था इसे हक्क अलाह भी कहा जाता था। इसके न्याय क्षेत्र में यौन दुराचार, धर्म त्याग, मद्यपान, चोरी तथा डाका आता है।[2] इसके अलावा पर स्त्री गमन के लिए पत्थर से मारने, किसी विवाहित व्यक्ति पर व्यभिचार का झूठा आरोप लगाने पर अपराधी को अस्सी कोड़े,मद्यपान के लिए अस्सी कोड़े, चोरी के लिए दाहिना हाथ काटने, डाका के लिए हाथ पैर काटने, डाका में यदि किसी की मृत्यु हो जाये तो उसे दण्ड देने का नियम था।

इस सम्बन्ध में निर्देश थे कि अपराधी को अपनी सफाई देने का पूरा अवसर देना चाहिए और उन्हें अपराध स्वीकार करने के लिए विवश नहीं करना चाहिए।

किसास

इसका अर्थ है - प्रतिकार । यह वह दण्ड है जो कानून द्वारा निर्धारित तो है परन्तु जिस व्यक्ति के प्रति अपराध किया गया है वह या उसके अधिकारी अपराधी को क्षमा कर सकते हैं।[3]

ताजीर

यह वह दण्ड था जिसमें ताजीर अर्थात् न्यायाधीश अपने स्वतंत्र विचार के अनुसार जो उचित समझता था दण्ड देता था। इसका लक्ष्य अपराधी को सुधारना है।

---

1. इब्नहसन , पृ. 328.
2. टी.पी. ह्यूग : ए डिक्शनरी ऑफ इस्लाम, लन्दन 1885,पृ.153,476-77.
3. वही, पृ. 481-82.

इसके अन्तर्गत अपराधों का दण्ड न्यायाधीश की इच्छा और विवेक पर निर्भर था। यदि वह चाहें तो अपराधी को क्षमा भी कर सकता था।

सार्वजनिक निन्दा

इस्लामी कानून के अन्तर्गत अपराधी को सार्वजनिक रूप से दण्डित करना था। उसका सार्वजनिक अपमान मान्य था। तशहीर के अनुसार अन्य दण्ड थे - अपराधी का सिर मुड़ाना, मुँह पर धूल या काजल पोतना, गधे पर घुमाना, अपराधी का मुँह काला करना।

अंग भंग का दण्ड

कठोर दण्ड के साथ-साथ अंग-भंग का दण्ड भी प्रचलित था। भयंकर अपराध करने वाले के हाथ पैर काट लिये जाते थे । इस विषय में अबुलफजल लिखता है कि - उन दुष्ट व्यक्तियों के हाथ पैर काट डालना उचित है जिनके काले कारनामें अनेकों को कष्ट देते हैं और विश्व के गहरे दुःख और संताप में झोंकने से बचाते हैं।[1]

मुगल काल में मुगल शासकों ने इस्लामी विधि के अनुसार निष्पक्ष न्याय व्यवस्था को अपना आदर्श माना । इस दिशा में अकबर का निष्पक्ष न्यायिक योगदान काफी सराहनीय है। उसकी यह भावना उसके इस कथन में निहित थी कि - अगर मैं किसी अन्यायपूर्ण कार्य का अपराधी होऊँगा तो मैं स्वयं अपने विरुद्ध न्याय करूँगा । तब मैं अपने पुत्रों सम्बन्धियों और दूसरे के बारे में क्या कहूँ ।[2]

अबुलफजल आईने अकबरी में उस समय के दण्ड सिद्धान्तों की विवेचना करता है । उसके अनुसार अपराधी दो तरह के होते हैं - विवेकहीन और दुष्ट व्यक्ति । विवेकहीन व्यक्ति को चेतावनी या अन्य तरह से सुधारा जा सकता है किन्तु दुष्ट व्यक्ति को कठोरतम दण्ड मिलना चाहिए । वह आगे पुनः लिखता है कि इसलिए

---

1. आईने अकबरी, भाग III, पृ. 280.
2. वही, पृ. 434.

न्यायप्रिय शासकों के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि वे अन्तःदृष्टि एवं बुद्धि के प्रकाश से व्यक्तियों की हैसियत और चरित्र का ज्ञान प्राप्त करें और उसके अनुसार कार्य करें।[1] अकबर इस विचार से सहमत था। उसने इस बात को पूर्णतया हृदयगम कर लिया था कि दण्ड देना प्रशासन की कला के सबसे कठिन कार्यों में से एक है और इसलिए उसने अपने न्यायाधिकारियों को आदेश दे रखा था कि वे नरमी और समझदारी से दण्ड दें क्योंकि कभी-कभी दण्ड से कठोर अपराधी बन जाता है।[2]

जहाँ तक मृत्यु दण्ड का प्रश्न है - मृत्यु दण्ड केवल भयानक अपराधों के लिए ही दिया जाता था और वह भी प्रायः सम्राट के द्वारा ही दिया जाता था। अबुल-फजल ने लिखा है कि - अकबर मृत्यु दण्ड देने में बड़ा सतर्क था और इसमें वह पूर्ण विवेक से काम लेता था। किसी के प्राण लेने में वह बहुत धीमा था।[3] विद्रोह, हत्या, व्यभिचार आदि अपराधों के लिए प्रांतपतियों या प्रांत के सूबेदारों को भी मृत्यु दंड देने का अधिकार था परन्तु उसके लिए सम्राट की आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक था। अकबर के शासन के 27वें वर्ष (1582) प्रांतीय सूबेदारों को मृत्यु दण्ड के अधिकार से वंचित कर दिया गया था परन्तु यदि वे किसी अपराधी को मृत्यु दण्ड दें तो उसकी स्वीकृति उन्हें सम्राट से लेनी पड़ती थी।[4] उन मामलों में भी जिनमें स्वयं सम्राट द्वारा दण्ड निश्चित किया गया हो, यह नियम था कि जल्लाद उस समय तक फाँसी न दे जब तक कि सम्राट फाँसी की आज्ञा को तीन बार न दुहरा दे।[5]

मुगल न्यायिक प्रणाली इस्लामी विधि वेत्ताओं द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों पर आधारित थी। डॉ॰ इब्नहसन का यह कथन महत्वपूर्ण है कि मुगल साम्राज्य के

---

1. आईने अकबरी, भाग III, पृ॰ 426.
2. वही, पृ॰ 427.
3. वही, पृ॰ 551-2.
4. अकबरनामा, भाग III, पृ॰ 559.
5. वही.

राजनीतिक संगठन में इस्लामी सिद्धान्तों का जितना प्रभाव था उससे बहुत अधिक प्रभाव न्यायिक प्रणाली पर था।[1]

मुगल सम्राट न्यायालय को निष्पक्ष न्याय करने की सुविधा देना चाहते थे जिससे लोगों के मन में न्याय के प्रति विश्वास हो।[2] वे इस बात पर विशेष जोर देते थे कि न्यायधीशों को हर मामलें में हर संभव तरीके से तथ्यों की जांच पड़ताल करनी चाहिए । उन्हें गवाहों और शपथ से संतुष्ट नहीं होना चाहिए बल्कि कई प्रकार से जाँच पड़ताल करनी चाहिए जैसे - शारीरिक गठन का अध्ययन और दूर-दर्शिता का प्रयोग । उसका बोझ उन्हें दूसरे पर नहीं डालना चाहिए और न उन्हें जनहित कामना से मुक्त होना चाहिए।[3] मीर अदल और काजियों को निर्देश थे कि वे पूर्ण रूप से जाँच पड़ताल करें, मामले की परिस्थितियों का पता लगायें । हर तथ्य से जो बात निकले उसे ध्यान में रखें और मामले पर विशेष रूप से सोचें । इस प्रकार हर गवाह की गवाही अलग-अलग रखें । न्यायधीशों को मामला सुनने और उस पर निर्णय देने के बीच सोचने के लिए कुछ समय रखना चाहिए और बारीकी से जाँच पड़ताल कर अपना न्याय सुनायें ।[4] मुगलों की दृष्टि में सम्मान प्रजा का विश्वास प्राप्त करने में है भय दिखाने में नहीं ।

मुगल सम्राट न्याय के सम्बन्ध में सतर्क रहते थे तथा इसका पूरा प्रयत्न करते थे कि प्रजा को न्याय प्राप्त हो । उनकी नजर में सभी को बराबर समझा जाता था। मुकदमों का फैसला शीघ्र होता था। कानून की नजर में सभी को समान समझा जाता था।

इतनी सुव्यवस्था होने के बावजूद भी मुगल न्याय प्रणाली में गंभीर दोष थे, जिनमें मुख्य दोष काजियों का भ्रष्टाचार था इसका प्रमुख कारण यह था कि

---

1. इब्नहसन, पृ. 339.
2. बशीर अहमद, पृ. 250.
3. आईने अकबरी, भाग II, पृ. 38-39 ; आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव,: अकबर-महान, भाग III, पृ. 295.
4. वही, पृ. 43.

उनका पद व्यवहार में प्रायः वंशानुगत बन गया था।[1]

यद्यपि अकबर ने न्यायिक विभाग से भ्रष्टाचार समाप्त करने के अभिप्राय से काजियों के पद एवं गौरव को कम करने का प्रयत्न किया। उसने सूबेदारों को आज्ञा दी थी कि वे काजियों पर नजर रखे । अन्य शासकों ने भी इसका प्रयत्न किया, किन्तु काजियों पर पूर्ण अंकुश संभव न हो सका।

इसके अतिरिक्त इस्लामी कानून की महत्ता होने के कारण अधिकतर जनसंख्या न्याय से वंचित हो जाती थी। दीवानी के मुकदमों में जहाँ एक पक्ष मुसलमान तथा दूसरा हिन्दू रहता था वहाँ मुस्लिम कानून के निर्णय होते थे, जिससे हिन्दुओं की हानि होती थी।

फिर भी तत्कालीन न्यायिक प्रक्रिया को देखने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि मुगल न्यायिक प्रणाली अपने युग तथा समकालीन समाज के अनुरूप थी।

पुलिस प्रशासन

मुगलों की पुलिस प्रणाली देशी और विदेशी तत्वों का सम्मिश्रण थी।[2] पश्चिमी एशिया के इस्लामी राज्य सर्वथा धर्मतन्त्र होने का दावा करते थे इसलिए उनके यहाँ पुलिस अधिकारियों का मुख्य कार्य प्रजा के आचार-विचार की जाँच करना और उन्हें धर्म पथ पर कायम रखना था। यह अधिकारी मुहतसिब अर्थात् प्रजा के आचरण का विवरण रखने वाला कहलाता था। स्थायी साम्राज्यों की स्थापना और बढ़ते हुए नागरिक उत्तरदायित्वों के साथ-साथ मुहतसिब के कर्तव्य धीरे-धीरे अधिक विस्तृत हो गये । धार्मिक कर्तव्यों के साथ ही नगरपालिका और पुलिस का कार्य भी उसके सुपुर्द हो गया।[3]

---

1. परमात्माशरण, पृ. 363.
2. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 297.
3. परमात्माशरण, पृ. 389.

भारत के मुस्लिम साम्राज्य में पहले तो मुहतसिब का कार्य केवल धार्मिक जाँच करना मात्र था किन्तु बाद में वे बाजारों की जाँच और कतिपय पुलिस का कार्य भी करने लगे । पुलिस का नियमित कार्य कोतवाल करता था।

मुगलों का पुलिस संगठन अन्य शासकीय विभागों की भाँति ही शेरशाह की पुलिस व्यवस्था के उन अवशेषों पर आधारित था, जो उसकी मृत्यु के पश्चात् होने वाली दुर्व्यवस्था में जीवित रह सके थे । उसने अपने सम्पूर्ण साम्राज्य में जो अद्भुत और अभूतपूर्व सुरक्षा का प्रबन्ध किया था उसका निर्माण स्थानीय उत्तर-दायित्व के आधारभूत सिद्धान्त पर हुआ था।[1]

मुगल कालीन पुलिस व्यवस्था

फौजदार और कोतवाल सदृश स्थानीय पुलिस अधिकारी अपने क्षेत्र के अन्तर्गत होने वाली चोरियों और डकैतियों के लिए उत्तरदायी थे ।[2] मुखिया और मुकद्दम अपने गाँव की सीमा की रक्षा के लिए जिम्मेदार बनाये गये । अपने सीमा क्षेत्र की रक्षा करने में मुखियों के आमिल और शिकदार सहायता करते थे । यदि मुखिया डाकू चोर का पता नहीं लगा पाते थे तो उन्हें चोरी गये सामान की क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी।

16वीं सदी में पुलिस का शासकीय संगठन विस्तृत और व्यापक था, क्योंकि इस काल में पुलिस का कार्य केवल शांति की स्थापना और धन-जन की रक्षा तक ही सीमित नहीं था बल्कि नगरपालिका सम्बन्धित विस्तृत एवं व्यापक कार्य भी पुलिस के कर्तव्यों और क्षेत्राधिकार के अंतर्गत आते थे । सरकार में पुलिस विभाग का सम्पूर्ण अधिकार और उत्तरदायित्व फौजदार और कोतवाल के बीच बंटा था। फौजदार ग्राम में और कोतवाल नगर, उसके उपनगरों का कार्यभारी था। परगनों में इन दोनों अधिकारियों की सहायता शिकदार और आमिल करते थे । बहुत

---

1. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 12-13.
2. परमात्माशरण, पृ. 391.

ही खतरनाक स्थानों पर जो चोर और डाकुओं से भरे होते थे, विशिष्ट फौजदार नियुक्त किये जाते थे और उनके साथ काफी सैनिक और उपयुक्त संख्या में मातहत कर्मचारी होते थे ।[1] इलियट लिखते हैं कि प्रत्येक परगने में एक फौजदार होता था और उनके अन्तर्गत कई थाने जिनमें से हर एक के ऊपर एक थानेदार होता था। थानेदार फौजदार के मातहत होता था और ग्रामों की संख्या एक दर्जन से दो दर्जन तक होती थी।[2]

यह अनुमान प्रायः उचित ही प्रतीत होता है कि साम्राज्य के सभी प्रांतों में पुलिस व्यवस्था संगठित रूप से कार्य करती रही अतः ऐसा मालूम होता है कि सम्पूर्ण बिहार के ग्रामों में पुलिस का एक विस्तृत संगठन था । इसकी पुष्टि तत्कालीन यूरोपीय यात्री एवं व्यापारीगण जो इस विषय की जानकारी देने के प्रधान स्रोत हैं, के द्वारा भी होती है। वे लिखते हैं कि रास्तों एवं राजमार्गों पर इतनी हिफाजत की जाती थी कि व्यापार व वाणिज्य निर्बाध रूप से चलाया जा सकता था। देश के दूरस्थ प्रदेशों से जल और स्थल मार्गों से व्यापार वाणिज्य का संचालन होता था और सड़कों के किनारे यात्रियों के ठहरने के लिए सभी तरह की सुविधाओं से सम्पन्न सराय और विश्रामालय थे । इन सुविधाओं से सामान्य समय में यात्रायें सरल व भय-मुक्त होती थी और वाणिज्य को प्रोत्साहन मिलता था। मैनरिक ने सरायों के कार्य-कर्ताओं के सौजन्य और कार्यक्षमता की यथेष्ट प्रशंसा की है और यूरोपीय प्रतिकूल दशा से उसकी तुलना की है।[3]

कोतवाल के कर्तव्य

मध्यकाल में कोतवाल नगरों तथा उपनगरों का पूरा प्रशासन संभालता था। नगर के अन्दर उसके कर्तव्य कम से कम सिद्धान्त रूप से तो अत्यन्त व्यापक थे और

---

1. परमात्माशरण, पृ. 392.
2. इलियट, भाग 7, पृ. 171.
3. मैनरिक : ट्रवेल्स, अनु. सी.ई.लार्ड एण्ड हास्टन, भाग II, 1927, लन्दन, पृ.101-103 ; परमात्माशरण, पृ. 395.

कतिपय अंशों में आज की नगरपालिका के निकायों से भी कहीं अधिक थे ।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि कोतवाल बड़े नगरों का प्रधान पुलिस अधिकारी होता था। उसकी नियुक्ति एक शाही सनद द्वारा की जाती थी। उसके नेतृत्व में सैनिकों का एक दल रहता था और वह पहरे, चौकी और लोगों की सुरक्षा की व्यवस्था करने के लिए उत्तरदायी होता था। इसके लिए वह नगर को कई मुहल्लों में बाँट देता था और हर मुहल्ले में अपने अधीन एक अधिकारी रख देता था।[2]

उनके कार्यालय में लोगों के नाम, उनका व्यवसाय, उनके आचार-विचार व्यवहार और मनोरंजन के साधनों का विवरण दर्ज रहता था। वह एक रजिस्टर रखता था जिसमें उन सब लोगों के नाम दर्ज रहते थे जो व्यापार या किसी कारण से नगर में आते थे या नगर से बाहर जाते थे ।[3]

जहाँ तक कोतवाल के कर्तव्यों का प्रश्न है उसके निम्न कर्तव्य निश्चित किये गये थे -

1. नगर पर पहरा और निगरानी ।
2. बाजार पर नियंत्रण ।
3. व्यावहारिक सम्पत्ति पर उचित व्यवस्था एवं देखरेख ।
4. जन साधारण के आचरण की देखरेख और अपराधों की रोकथाम ।
5. सामाजिक कुरीतियों, जैसे सती प्रथा को रोकना, श्मशान समाधि स्थल तथा कसाई खाने को कानून के अन्दर व्यवस्थित करना ।

कोतवाल को प्रत्येक मुहल्ले में एक या दो चौकीदार नित्य की घटनाओं की सूचना देने के लिए नियुक्त करने का आदेश था और उसे जनता के प्रति ईमान-

---

1. इलियट एण्ड डाउसन, भाग II, पृ. 219.
2. मीराते अहमदी : अली मुहम्मद खाँ , भाग 1, पृ. 173 उद्धृत आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग II, पृ. 302.
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग II, पृ. 302,

दारी से व्यवहार करने की उम्मीद की जाती थी।[1]

जनता के अतिरिक्त कोतवाल को यह भी आदेश दिया गया था कि जब कोई चोरी, आग, हत्या आदि जैसी दुर्घटना हो तो वह ऐसी व्यवस्था करे जिससे वहाँ के निवासी, मुखिया, चौकीदार तुरन्तर सहायता दे सके । बेकार व्यक्ति को बेकार न रहने देने का आदेश था क्योंकि बेकार आदमी शरारत के स्रोत होते हैं। इसके साथ ही उन्हें यह भी बतला दिया गया था कि नगर के अन्दर होने वाली चोरियों और डकैतियों का उत्तरदायित्व उसी पर होगा और यदि पता लगाने में वह असमर्थ होगा तो उसे ही क्षतिपूर्ति करनी पड़ेगी । यह अनुदेश केवल आत्म-सन्तोष के लिए ही नहीं था । थेविनो ने विवरण दिया है कि - कोतवाल के आदमी रात में तीन बार गश्त लगाते और घोर अंधेरी रात में विचरण करने वाले संदिग्ध व्यक्तियों को गिरफ्तार करते तथा आवाज लगाकर,घरवालों को सजग करते रहते थे ।[2]

मनूची ने चोरियों और डकैतियों के प्रति कोतवाल के उत्तरदायित्व का उल्लेख किया है और बताया है कि घरों में दो बार पाखाना साफ करने वाले मेहतरों से जासूसी का काम लिया जाता था।[3]

नगर पुलिस व्यवस्था के अतिरिक्त कोतवाल का कार्य बाजारों पर नियंत्रण रखना था जिससे सामान उचित मूल्य पर लिया जा सके । लावारिस मरने वाले व्यक्तियों की सूची तैयार करके अदालत को सूचना देना ताकि उनके सम्पत्ति की उचित व्यवस्था की जाय और शराब बनाने तथा उसके प्रयोग को रोकना, वेश्याओं को नगर से अलग स्थानों में तथा वहाँ जाने वालों पर चौकसी करना भी उसके प्रमुख कार्य थे ।[4] जबरदस्ती की जाने वाली सती प्रथा को रोकना और जो स्वेच्छा से सती

---

1. इलियट एण्ड डाउसन, भाग II, पृ. 221.
2. थेविनो, भाग III, पृ. 20.
3. मनूची, भाग II, पृ. 421.
4. मुन्तखबे-उत-तवारीख, भाग II, पृ. 311.

होना चाहती हों उन्हें समझा बुझा कर विमुख करना भी कोतवाल का कार्य था। कसाई खाने पर नियन्त्रण भी उसी को रखना पड़ता था। मृत्युदण्ड के अपराधी को भाले पर छेदने या यंत्रणा से रोकना भी उसका कर्तव्य था। वर्ष में कुछ निश्चित दिनों में पशु-वध को रोकना तथा शहर के बाहर ऐसे स्थान पर कब्रिस्तान और समाधि-स्थल स्थापित करना, जिससे कि नागरिकों के स्वास्थ्य पर बुरा असर न पड़े, भी उसका प्रमुख कार्य था।

केन्द्रीय शासन इस बात को जानती थी कि कोतवाल को दिये गये ये कार्य इतने व्यापक और विभिन्न हैं कि एक व्यक्ति के लिए उनका करना सम्भव नहीं है, इसलिए उसे आवश्यक संख्या में सहायक रखने का अधिकार दिया गया था और उसके पद से सम्बद्ध कार्यों को करने के लिए उसके पास पृथक कर्मचारी होते थे ।[1]

फौजदार के कर्तव्य

जिले के देहाती क्षेत्रों में पुलिस के कार्य करने का उत्तरदायित्व फौजदार पर रहता था। थेविनो ने स्पष्ट लिखा है कि - फौजदार ग्रामों की सुरक्षा के लिए उसी प्रकार उत्तरदायी था, जिस प्रकार कोतवाल नगर के लिए।[2]उसकी मातहती में प्रत्येक स्थान में आवश्यकतानुसार थानेदारों और सिपाहियों का सर्वोच्च कर्मचारी वर्ग था। परगनों के शिकदार और आमिल उसकी सहायता करते थे । परगनों को कई थानों में बाँट दिया जाता था। हर थाने के अन्तर्गत कई गाँव होते थे । हर थाने में एक थानेदार की नियुक्ति की जाती थी ।[3]जिन स्थानों में चोर और डाकू रहते थे उन स्थानों में विशेष फौजदारों को नियुक्त किया जाता था। इन फौजदारों के पास एक सैनिक दल होता था और हर थानेदार के पास 5 से 50 तक निश्चित संख्या में सिपाही रहते थे ।[4] इन सिपाहियों की संख्या थाने की भौगोलिक स्थिति और

---

1. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 63-69.
2. थेविनो, भाग III, पृ. 19-20 , उद्धृत परमात्मा शरण, पृ. 398.
3. मीरात-ए-अहमदी, भाग 1, पृ. 189 ; आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान्, भाग 2, पृ. 302.
4. वही.

थाने के अन्तर्गत रहने वाले लोगों के चरित्र पर निर्भर करती थी ।[1]

यह अनुमान प्रायः उचित ही प्रतीत होता है कि साम्राज्य के सभी प्रांतों में पुलिस व्यवस्था संगठित रूप से कार्य करती रही अतः ऐसा मालूम होता है कि सम्पूर्ण बिहार के ग्रामों में पुलिस का एक विस्तृत संगठन था। पुलिस प्रबन्ध के विषय में फौजदारों के कर्तव्य महान् हैं। यह अपने ग्रामीण क्षेत्र में होने वाली चोरी डकैतियों के लिए पूर्ण उत्तरदायी था। ग्रामों की सुरक्षा के सम्बन्धमें यह कहना कि नगरों के विपरीत वहाँ विधि व्यवस्था कायम रखने के लिए कोई अधिकारी नियुक्त न था नितान्त गलत होगा ।

गुप्तचर विभाग

भारत में सदैव किसी न किसी प्रकार समाचार प्रेषक और गुप्तचर व्यवस्था रही है। वास्तव में ये दोनों जुड़वा विभाग जन सेवा के अनिवार्य अंगों के रूप में कार्य करते रहे हैं, क्योंकि इन सुसंगठित स्रोतों से शासकों को तत्कालीन सूचना प्राप्ति के अभाव में इतने बड़े देश का शासन चलाना असम्भव सा था। प्राचीन भारतीय शासन-शास्त्र के रचयिताओं ने तो इसको राजाओं का एक कर्तव्य ही निश्चित कर दिया था कि वह निश्चित समय पर दिन और रात्रि में दो बार समाचार सुनें और गुप्तचरों से भेंट करें । इसका तात्पर्य था कि खुले और गुप्त समाचार लेखकों का जाल सा बिछा दिया जाय और उनके समाचारों को शीघ्र से शीघ्र राजधानी भेजने की व्यवस्था की जाय। दिल्ली के सुल्तानों ने पहले से चली आयी इस समाचार प्राप्त करने की व्यवस्था को चालू रखा और उसमें कुछ सुधार भी किये । इतिहासकार बरनी ने सुल्तानों का यह एक आवश्यक कर्तव्य बताया है कि वे सुसंगठित गुप्तचर व्यवस्था रखे और उसमें निष्ठावान, योग्य, गुप्तचर अधिकारियों को नियुक्त करें।[2]

---

1. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 70.
2. बरनी : फतवा-ए-जहाँदारी {अ.अनु.}, पृ. 32.

वह आगे फिर लिखता है कि - गुप्तचर कहने और लिखने में सत्यवादी, विश्वासी, उच्च घरानें का और विश्वसनीय होना चाहिये और उसे अपने पद और निवास स्थान के प्रति सचेत रहना चाहिये और लोगों से अक्सर मिलते जुलते रहना चाहिये ताकि सुल्तान की सेवा के लिए उसका जो लक्ष्य सही सूचना प्राप्त करने का है, वह पूरा हो सके ।[1]

डॉ. कुरेशी लिखते हैं कि - सुल्तान बलबन ने अपने गुप्तचर व्यवस्था और समाचार लेखकों को स्थानीय सूबेदारों से स्वतन्त्र रखा था। अलाउददीन खिलजी और सिकन्दर लोदी ने बलबन की इस व्यवस्था को और विकसित कर अधिक पूर्णता प्रदान की थी ।[2]

गुप्तचर सेवा इसलिए और भी आवश्यक थी कि सरकारी कर्मचारियों और कार्यालयों के क्रियाकलापों के सम्बन्ध में रिपोर्ट मिलती थी । इस विभाग की आवश्यकता सरकारी समाचार लेखक की गुप्त गुटबन्दी के कारण पड़ी, क्योंकि वे विरोधी समाचारों को दबा देते थे और कभी-कभी समाचारों में वे अतिशयोक्ति भी करते थे अथवा झूठी रिपोर्ट बना देने का भी उनमें सन्देह था। अतः रिपोर्टरों (प्रतिवेदकों) का एक नया तबका बनाया गया, जो खुफियानवीस कहलाते थे । उन्हें सब महत्वपूर्ण स्थानों में गुप्त रूप से रहकर न केवल सरकारी कर्मचारियों के बारे में बल्कि अन्य सभी घटनाओं की सूचनाभेजनी पड़ती थी । ये पूरे साम्राज्य में प्रांतीय डाक दरोगा द्वारा नियुक्त होते थे । इस कार्य को रोकने के लिए डाक दरोगा के साथ 20 सवार संलग्न रहते थे । कुछ समय बाद ये सवानहवीस (गोपनीय संवाददाता) डाक अधीक्षक का भी कार्य करते थे । ये सब समाचारों, रिपोर्टों, नाजिमों एवं दीवानों के प्रेषणों तथा अन्य पत्रों व संदेशों को लिफाफे में बन्द कर, डाक थैलों में रखकर सरकारी डाक ले जाने वाले निश्चित स्थानों पर नियुक्त राजकीय धावकों के सुपुर्द कर देते थे ।[3]

---

1. बरनी : फतवा-ए-जहाँदारी (अ.अनु.), पृ. 32.
2. कुरेशी : दि ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि सल्तनत ऑफ देलही, पृ. 192.
3. परमात्माशरण, पृ. 185.

गुप्तचरों द्वारा दिया हुआ समाचार सम्राट के पास पहुँचाने के लिए धावक साम्राज्य के प्रधान डाक दरोगा के पास ले जाते थे । वाकयानिगारों की तरह सवानहवीसों के एजेण्ट भी सूबेदार के दरबार और अन्य विभागों पर निगरानी रखने के लिए नियुक्त किये जाते थे । उनके ही माध्यम से मृत या निकाले गये फरार मनसबदारों के जागीरों की कुर्की अथवा अन्य प्रशासनिक कार्यवाही के सम्बन्धमें प्रधान कार्यालय से फरमान और आदेश भेजे जाते थे । साम्राज्यिक कार्यालय डाक से आने वाले पत्रों को उनके पतों पर भेजता था ।

गुप्तचर व्यवस्था का इस प्रकार खुली सेवा में रूपान्तर होने के कारण एक अन्य गुप्तचर सेवा विभाग के निर्माण की आवश्यकता पड़ी । उसको हरकारा नाम दिया गया। साम्राज्य के सभी प्रदेशों में वे प्रधान अधीक्षक, हरकारा कार्यालय से नियुक्त किये जाते थे । ये सूबेदार को अपने स्थानों की घटनाओं और हालातों के बारे में सूचित करते थे और एक बन्द लिफाफा डाक थैलों में बन्द करके शाही दरबार की ओर रवाना करते थे ।[1] हरकारों के एजेण्ट भी सूबेदार के दरबार में व अन्य दफ्तरों में, वाकयानवीसों और सवानहवीसों की तरह ही बैठा करते थे । इन एजेण्टों को एक ही नाम अखबारनवीस के नाम से पुकारा जाता था ।

शेरशाह ने लोगों की रक्षा के लिए अमीरों की प्रत्येक टुकड़ी के साथ विश्वास पात्र गुप्तचर भेजा करता था, जो सरदारों , उनके सैनिकों तथा जनता से गुप्त रूप से समाचार पाकर सूचना उसके पास भेजते थे, क्योंकि दरबारी और मंत्री लोग अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए, बादशाह के पास राज्य की ठीक-ठीक खबरें नहीं पहुँचाया करते थे, उन्हें भय रहता था कि यदि सच्ची खबरें पहुँचेंगी तो न्यायालयों में जो त्रुटि और अव्यवस्था होगी वह ठीक कर दी जायेगी ।[2]

शेरशाह की तरह अकबर भी इस बात को बहुत अधिक महत्व देता था कि उसके साम्राज्य के सभी भागों और उसके पड़ोसी स्वतन्त्र राज्यों की सही-सही खबरें

---

1. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 59-60.
2. कानूनगो : शेरशाह, पृ. 361-62.

उसके पास शीघ्रता से पहुँचती रहें, इसलिए उसने पहले से चली आ रही गुप्तचर व्यवस्था को पुनर्संगठित किया । सरकार का चलना चार किस्म के लोगों पर निर्भर होता है। इनमें खबरें देने वालों का चौथा स्थान है, जबकि ईमानदार आमिल, सच्चरित्र सेनानायक और प्रधान न्यायाधीश अन्य तीन श्रेणियों में आते हैं ।

अबुल फजल ने अपने शब्दों में लिखा है कि - "गुप्तचर वह होता है जो समसामयिक घटनाओं की सूचना बिना घटाये-बढ़ाये समझदारी से सदैव सत्य के सूत्र का अनुसरण कर प्रेषित करता है ।"[1] यह कहना अनुचित न होगा कि शासन के अन्य विभागों की तरह गुप्तचर विभाग का वह स्वरूप और संगठन जो अकबर के उत्तराधिकारियों के शासन में प्रचलित था, वास्तव में अकबर की ही देन थी ।

गुप्तचर विभाग दरोगा-ए-डाक चौकी के अधीन रहता था। यह वजीर के अधीन कार्य करता था । दरोगा-ए-डाक चौकी की सिफारिश पर प्रत्येक प्रांत, जिले और परगने में चार प्रकार के खबर भेजने वाले नियुक्त किये जाते थे ।[2] 1. वाकयानवीस, 2. सवानहनिगार, 3. खुफियानवीस, तथा 4. हरकारा ।

वाकयानवीस को वाकियानिगार भी कहा जाता था। यह सार्वजनिक समाचार प्रेषक था। उसका कार्य उस प्रांत, जिले और परगने की जहाँ भी वह नियुक्त हो सभी प्रकार की महत्वपूर्ण घटनाओं की गुप्त खबरें भेजना था। वाक्यानवीसों, वाक्यानिगारों को प्रांतों, जिलों, परगनों, बड़े-बड़े नगरों और महत्वपूर्ण मण्डियों में नियुक्त किया जाता था। ये स्थानीय लोगों के साथ ही रहते थे । सवानह निगारों को केवल विशेष स्थानों पर और केवल महत्वपूर्ण अवसरों पर ही नियुक्त किया जाता था। वह एक प्रकार का जासूस होता था और वाकयानवीसों पर नज़र रखता था । मीराते अहमदी का लेखक हमें सूचित करता है कि - वाकयानवीसों को शुरू-शुरू में महत्वपूर्ण घटनाओं की सूचना भेजने के लिए रखा जाता था, लेकिन कभी-कभी वे

---

1. आइने अकबरी, भाग 1, पृ. 7.
2. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 53.

स्थानीय अधिकारियों से मिल जाते थे और अपना कार्य संतोषजनक रूप से नहीं कर पाते थे। इसलिए एक दूसरे प्रकार के खबर देने वाले रखे गये। इन्हें सवानह निगार अथवा खुफियानवीस कहते थे। ये लोग गुप्त रूप से प्रांतों में रहते थे और वहाँ की खबरें भेजते थे। कुछ समय बाद जब इन्हें डाक चौकी का कार्य सौंप दिया गया तो सभी को जानकारी हो गयी, इसलिए खबरें भेजने वालों में सबसे खुफिया हरकारों को हर प्रांत में नियुक्त कर दिया गया। ये वास्तव में छुपे हुये जासूस होते थे। ये अधिकतर लिखित खबरें भेजते थे और कभी-कभी मौखिक भी।[1]

प्रांतों में वाकयानवीस परगनों और नगरों में अपने सहायक वाकयानवीस नियुक्त करता था। ये सब प्रांतीय राजधानी को बराबर समाचार भेजते रहते थे। सूबेदार, दीवान, जिले के फौजदार के कार्यालयों और प्रांतीय काजियों की अदालतों और कोतवाल तक के दफ्तर में भी गुप्त समाचार देने वाले नियुक्त रहते थे। कभी-कभी खुफियानवीसों और हरकारों जैसे समाचार लेखक और गुप्तचर अपने विवरण प्रांतीय राजधानी को भेजते थे, जहाँ से उन्हें दरबार में भेज दिया जाता था। ये विवरण दरोगा-ए-डाक चौकी को प्राप्त होते थे और वह उनमें से गुप्त विवरणों को बिना खोले वजीर को प्रेषित कर देता था, जो सम्राट के सामने प्रस्तुत करता था। कभी-कभी खुफियानवीस अपनी खबरें गुप्त रूप से सीधे सम्राट के ही पास भेज देते थे। प्रायः प्रांतीय या स्थानीय अधिकारी ये नहीं जानते थे कि कौन-कौन खुफियानवीस हैं और इसलिए वे सदैव ही इस बात से डरते रहते थे कि कहीं उनकी किसी गलती या जुर्म की खबर सम्राट तक न पहुँच जायें। हरकारे उनकी खबरों को सीधे सम्राट को प्रेषित न कर प्रांतीय डाक के साथ राजधानी भेज देते थे।[2]

सामान्यतः वाकयानवीस सप्ताह में एक बार, सवानह निगार सप्ताह में दो बार और हरकारा माह में एक बार अपने-अपने विवरण भेजते थे। इन विवरणों को प्रांतीय राजधानी में अन्य समाचारों और डाक के साथ धातु के नलकों में रखकर

---

1. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : अकबर महान, भाग Ⅱ, पृ. 314.
2. वही.

राजधानी भेज दिया जाता था, लेकिन आवश्यक खबरों की सूचना मौखिक दी जाती थी और उन्हें तुरन्त राजधानी भेजा जाता था ।[1]

सवार और सन्देशवाहक इन खबरों को ले जाते थे । वे मार्गों पर एक-एक दो-दो मीलों पर नियुक्त रहते थे । डाक ले जाने वाले घोड़े और धावक सरायों में रखे जाते थे । एक और प्रकार के सन्देशवाहक थे, जिन्हें मेवरा कहा जाता था। ये सन्देश ले जाने में विशेष कुशल होते थे ।[2] प्रत्यक्षदर्शी पादरी मांसरेट ने स्वयं लिखा है कि - इन सन्देश धावकों में कुछ ऐसे सन्देशवाहक हैं, जो एक दिन में इतना दौड़ते हैं कि जितना एक सवार अपनी पूरी गति से दौड़ पाता है। ये शीशे के जूते पहनकर अभ्यास करते हैं और पंजों के बल दौड़ पड़ते हैं। उनके वेगगामी होने से सम्राट बहुत जल्दी खबर पा जाता है और साम्राज्य की खबरें उसे शीघ्र ही मिल जाती हैं ।[3]

मुगल काल के प्रशासन का सबसे अधिक भयानक निग्रह गुप्तचर विभाग के कारण था, जिसकी कारगुजारी, पूरे साम्राज्य पर छायी हुयी थी और जिसके भय से सरकारी कर्मचारी अपने कर्तव्यों के प्रति सदैव सजग रहते थे । बख्शी के अक्सर स्वयं वाकयानवीस होने के कारण उसके हाथों में अतीव शक्तिशाली अस्त्र था। सूबेदार को न तो अपने कार्यों में न किसी प्रकार के अतिशय ज्यादती करने और न अपने प्रति प्रजा का विश्वास खोने का साहस होता था। इससे भी अधिक रुकावट खुफिया संवाददाताओं और हरकारों का भय रहता था। गुप्तचर विभाग अकबर को शेरशाह द्वारा विरासत में मिला था, जिसे अकबर ने बड़े उत्साह से आगे बढ़ाया।

सम्राट भी व्यक्तिगत दौरा जल्दी-जल्दी किया करते थे, जिससे किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं होती थी, क्योंकि गल्ती पा जाने पर सम्राट कभी भी जल्दी क्षमा नहीं करता था। सम्राट के अतिरिक्त नियुक्त उच्च अधिकारियों द्वारा भी औपचारिक निरीक्षण होता था ।[4]

---

1. सरकार : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन , पृ०, 61-64.
2. आइने अकबरी, भाग I, पृ० 8.
3. कमेण्टेरियस, पृ० 212.
4. मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग II, पृ० 410.

सप्तम अध्याय

बिहार का सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन

1. सामाजिक जीवन

- समाज का स्वरूप - हिन्दू एवं मुस्लिम समाज
- समाज में नारी की स्थिति
- पर्दा प्रथा
- विवाह पद्धति - बाल विवाह, बहु विवाह
- दहेज प्रथा, तलाक, सती प्रथा, वेश्यावृत्ति
- जन्मोत्सव एवं मृत्यु संस्कार
- खान-पान, पर्व तथा त्योहार
- वस्त्राभूषण, पुरुष परिधान, स्त्रियोचित परिधान, सौन्दर्य प्रसाधन।

2. आर्थिक जीवन

- उद्योग एवं व्यापार
- हाट एवं बाजार
- कृषि उत्पादन ।

3. सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन

- 16वीं सदी से पूर्व शिक्षा का स्वरूप
- 16वीं सदी में शिक्षा का स्वरूप
- बिहार में संस्कृत साहित्य, फारसी साहित्य, हिन्दी साहित्य मैथली साहित्य, भोजपुरी एवं मगही साहित्य
- संगीत कला, नाटक कला, लोक कला
- धार्मिक जीवन - हिन्दू एवं मुस्लिम धर्म ।

बिहार का सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन

यदि हमें देश की सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दशाओं का ज्ञान न हो तो केवल राजनैतिक इतिहास से किसी देश, जाति की पूर्णता का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। यद्यपि राजनैतिक इतिहास के समान §16वीं सदी के§ बिहार के सामाजिक और आर्थिक जीवन के अध्ययन करने के पूर्ण साधन हमारे पास उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु 16वीं और 17वीं सदी में आये विदेशी यात्रियों के विवरणों से हमें कुछ बहुमूल्य तथा कुछ समकालीन ऐतिहासिक दस्तावेजों और उस समय के लोकभाषा साहित्यों के विषय में जहाँ तहाँ उल्लेख मिलते हैं, जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि 16वीं सदी में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सामाजिक और धार्मिक जीवन के पुराने संसर्ग कई आघातों के बावजूद भी लगभग बने रहे ।

सामाजिक जीवन

समाज का स्वरूप

भारतीय सामाजिक संगठन मूलतः प्राचीनकाल से आधुनिक समय तक एक समान रहा है, परन्तु निरन्तर परिवर्तित कालचक्र के परिणामस्वरूप भारतीय समाज के स्वरूप में परिवर्तन होना स्वाभाविक था, क्योंकि यह सर्वविदित है कि समय का प्रभाव मनुष्य पर तथा मनुष्य का प्रभाव समाज पर पड़ता है। परिणामस्वरूप बिहार का हिन्दू मुस्लिम समाज भी तत्कालीन मान्यताओं, परम्पराओं से प्रभावित हुये बिना न रह सका ।

हिन्दू समाज

भारत पर तुर्की आक्रमण के समय हिन्दू समाज की दशा बड़ी ही शोचनीय थी। यह उच्च, निम्न एवं अछूत जातियों में विभक्त था। जाति बन्धन और जाति संकीर्णतायें पहले से और भी कठोर हो गयी थीं। समाज के निम्न वर्गों के प्रति भेदभाव बरता जा रहा था और यहाँ तक कि उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता था ।[1] समाज में राजा और प्रजा आर्य और म्लेच्छ, ब्राह्मण और शूद्र जातिवाद, वर्गीकरण, धनाढ्यता और गरीबी जैसे दुर्गुणों का बोलबाला था ।[2] हिन्दुओं के चार वर्णों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र] में ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च थी । हिन्दू समाज में इनका प्रभुत्व था, उनकी प्रसन्नता और अप्रसन्नता से किसी भी व्यक्ति का समाज में उत्थान या पतन निश्चित था। सभी राजा ब्राह्मणों की प्रभुता स्वीकार करते थे । सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था में ब्राह्मणों को सर्वोपरि माना जाता था ।[3] इनका प्रमुख कार्य पठन-पाठन तथा मनन था ।

यद्यपि मुस्लिम शासन के आगमन का पहला गम्भीर प्रभाव ब्राह्मणों की स्थिति और उनके कार्यों पर विशेष रूप से पड़ा, जिसके कारण ब्राह्मण अब अपने विद्यानुराग से काफी धन नहीं अर्जित कर पाते थे, यहाँ तक कि इस आकस्मिक परिवर्तन के कारण सभी ब्राह्मण वैदिक अध्ययन और आत्मिक तथा बौद्धिक कार्यों में उतना समय नहीं लगा पाते थे, जितना मुस्लिम समाज के स्थापित होने से पूर्व लगाया करते थे, परन्तु फिर भी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनका प्रमुख कार्य पठन-पाठन, अध्ययन तथा मनन

---

1. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : मध्य कालीन भारतीय संस्कृति, आगरा 1982, पृ. 18.
2. उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 366-67.
3. जयशंकर मिश्र : ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी 1970, पृ. 102.

था ।[1]

16वीं सदी में तत्कालीन समाज में विशेषकर ब्राह्मण वर्ग में एक विशेष परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, वह यह कि इस समय तक ब्राह्मण वर्ग भी अन्य वर्गों की भाँति कृषि और व्यापार की ओर उन्मुख हो चुका था, क्योंकि सभी जाति के लोगों के लिए सामान्यतया खेती और व्यापार करने सम्बन्धी नियम स्पष्ट कर दिये गये थे ।[2] सम्भवतः इसका प्रमुख कारण बिहार की सत्ता पर मुस्लिम शासन का प्रभाव था।

उपेन्द्र ठाकुर ने अपनी पुस्तक "हिस्ट्री ऑफ मिथिला" में मिथिला के ब्राह्मणों के चार उपवर्गों का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि 14वीं शताब्दी में मिथिला नरेश हरिकृष्णदेव ने ब्राह्मणों को चार भागों में विभाजित किया, जिनमें प्रथम वर्ग श्रुति ब्राह्मणों का था , जो प्रातःकाल से सांयकाल तक धार्मिक कार्यों में अपना समय व्यतीत करते थे । दूसरे वर्ग में कुलीन अथवा योग्य ब्राह्मण थे, तीसरी श्रेणी पंजीबद्ध ब्राह्मणों की थी और चौथी श्रेणी में जैबर ब्राह्मणों का वर्ग था ।[3]इस प्रकार के वर्गीकरण के पीछे मूल भावना समाज में धार्मिकता को बढ़ावा देना व मिथिला के जन जीवन में धार्मिक आध्यात्मिक रुचि जागृत करना था ।[4] इस आदर्श की ओर लोगों को आकर्षित करने के लिए हरिकृष्णदेव

---

1. जयशंकर मिश्र, पृ. 103 ; आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 19.
2. कुरेशी : दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दिल्ली सल्तनत, पृ. 57.
3. उपेन्द्र ठाकुर, हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 360.
4. वही.

के पश्चात् हरिसिंह देव भी प्रयासरत रहे और उन्होंने विवाह के नियमों में एक यह नियम भी बनाया कि हर निम्न वर्ग का (ब्राह्मण) व्यक्ति अपने से ऊँचे वर्ग के व्यक्ति का सम्मान करेगा। अनेक शताब्दियों बाद आज भी यह प्रथा वहाँ प्रचलित है। इन नियमों के कारण पंजीकर और घटक नामक वर्ग का जन्म हुआ। पंजीकर ब्राह्मण का कार्य वंशावली तैयार करना और विवाह प्रमाण-पत्र तैयार कर उसे जारी करना था। इसके बिना कोई भी विवाह पूर्ण नहीं माना जाता था। पंजीकरों को राज्य की ओर से भी वंशावली तैयार करने का अधिकार था। इसके अतिरिक्त उन्हें शास्त्र के नियम, स्थानीय प्रथा और आपसी स्वीकृति के आधार पर विवाह तय करना तथा वैदिक रीति-रिवाज के अनुसार विवाह कराना भी था ।[1]

भारतीय इतिहास में 16वीं सदी को उदारवादी युग माना गया है। इस युग में हिन्दू मुसलमानों में अच्छे सम्बन्धों और सहयोगों के बावजूद भी जहाँ तक हिन्दू समाज में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का प्रश्न है वास्तव में यह कई शताब्दियों तक सर्वोपरि रही और आज भी इसकी श्रेष्ठता को अस्वीकारा नहीं जा सकता।

समाज में क्षत्रियों का प्रतिष्ठा एवं सर्वप्रियता ब्राह्मणों से कम न थी ।[2] समाज के पोषण तथा रक्षण में क्षत्रिय वर्ण का सदैव ही सराहनीय योगदान रहा है। आक्रमण के समय देश और प्रजा की सुरक्षा का दायित्व क्षत्रियों पर ही विशेष रूप से निर्भर था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब भी देश पर संकट की घड़ी आयी (चाहे आन्तरिक हो या बाह्य) सदैव ही निष्ठा एवं साहस से इस वर्ग ने, देश को संकट से मुक्ति दिलायी ।

हिस्ट्री ऑफ मिथिला,
1. उपेन्द्र ठाकुर, पृ. 362.
2. जयशंकर मिश्र, पृ. 112.

ब्राह्मणों की भाँति मिथिला के क्षत्रिय एवं वैश्यों (कायस्थों) को भी कुलीन और गृहस्थ नामक दो वर्गों में विभाजित किया गया था । ब्राह्मणों की भाँति क्षत्रिय एवं वैश्यों में भी पंजीकरण और वंशावली की प्रथा प्रचलित थी, जिसमें अपने से उच्च वर्ग को सम्मान की दृष्टि से देखना था ।[1]

कदाचित् इस विशिष्ट समाज सुधार का उद्देश्य भले ही सामाजिक ढाँचे की सुरक्षा और एक कुलीन और सदाचारी समाज की ओर अग्रसर होना रहा हो, परन्तु इन तथाकथित सुधारों ने जन सामान्य के दैनिक जीवन पर विपरीत प्रभाव डाला । परिणामस्वरूप हिन्दू सामाजिक जीवन अवनति की सीढ़ियाँ उतरता हुआ आज ऐसे मोड़ पर खड़ा है, जिसका मुख्य उद्देश्य जाति एवं वंश की सुरक्षा करना है ।

जहाँ तक शूद्रों की स्थिति का प्रश्न है, 16वीं शताब्दी में इनकी प्रतिष्ठा में पर्याप्त वृद्धि हो गयी थी । 15वीं शताब्दी से पूर्व तक शूद्रों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था ।[2] धर्म, राजनीति तथा समाज में उनके लिए कोई स्थान नहीं था। इन्हें अछूत समझा जाता था। इनकी छाया तक ब्राह्मणों के लिए पाप समझी जाती थी। इतना ही नहीं अनेक जन-सुविधाओं से भी इन्हें वंचित रखा जाता था ।[3] परिणामस्वरूप अधिकांश शूद्रों ने इस्लामियत की सामाजिक समानता से आकृष्ट होकर हिन्दू धर्म से इस्लाम धर्म स्वीकारना प्रारम्भ कर दिया ।

---

1. जे.के. मिश्र : हिस्ट्री ऑफ मैथली लिटरेचर, भाग 1, पृ. 30, फु.नो. 78.
2. पी.एन. प्रभु : हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन, बम्बई 1958, पृ. 322.
3. उपेन्द्र ठाकुर, हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 368.

भक्ति आन्दोलन के प्रमुख समाज सुधारकों (रामानन्द, कबीर, नानक, चैतन्य आदि) ने अपने अथक प्रयास द्वारा शूद्रों को समाज में प्रतिष्ठित स्थान देकर हिन्दू समाज की रक्षा करने का सराहनीय कार्य किया ।[1] भक्ति आन्दोलन के कारण जहाँ एक ओर शूद्रों के उत्थान के संकेत मिलते हैं, वहीं दूसरी ओर 16वीं 17वीं शताब्दी में इनके उत्थान में विशेष प्रगति दृष्टिगोचर होती है ।[2] इस समय तक शूद्रों के प्रति कुछ ब्राह्मणों का दृष्टिकोण लगभग बदलने लगा था। शूद्रों ने इस काल में भगवत्गीता और पुराण जैसे पवित्र ग्रन्थ पढ़ने, शालीग्राम शिला की पूजा करने तथा तांत्रिक मंत्रों द्वारा धार्मिक व अन्य संस्कारों में भाग लेने का अधिकार प्राप्त कर लिया था। इतना ही नहीं कुछ शूद्रों ने तो गुरु का आसन भी प्राप्त कर लिया ।[3] आनन्द भट्ट के अनुसार - "इस समय (16वीं शताब्दी के आरम्भ में) वे उच्च जातियों के विरुद्ध आर्थिक स्तर पर भी लड़ने में सक्षम थे ।"[4] इसकी पुष्टि तुलसीदास के द्वारा भी होती है। वे तत्कालीन समाज का चित्रण करते हुये लिखते हैं कि - "शूद्र अब ब्राह्मणों के गुरु हो गये हैं, उपनयन संस्कार करते हैं और दान ग्रहण करते हैं, जो निम्नतर श्रेणी के हैं, जैसे- तेली, कुम्हार, चांडाल, कलवार या वे जो अपनी सम्पत्ति या पत्नी विहीन हो गये हैं, अपना सिर मुण्डन कर संन्यासी बन जाते हैं, ऐसे लोग अपनी चरण-पूजा ब्राह्मणों से करवाते हैं और इस तरह वे लोग इहलोक और परलोक दोनों ही का नाश करते हैं।जप,व्रत, पुराण की शिक्षा देने का दंभ भरते हैं। इतना ही नहीं वे तो ब्राह्मणों के साथ अपनी बराबरी करने का प्रयत्न करते हैं और अपने को ब्राह्मणों के समान मानकर कहते हैं कि ब्राह्मण वही है, जिसे ब्रह्म ज्ञान

---

1. डॉ. झारखंड चौबे एवं कन्हैयालाल श्रीवास्तव : मध्ययुगीन समाज एवं संस्कृति, लखनऊ, 1979, पृ. 9.
2. जे.बी.आर.एस. , पटना 1968, पृ. 154.
3. वही.
4. वही, पृ. 158.

हो ।[1] किन्तु ब्राह्मणों का एक रूढ़िवादी वर्ग ऐसा भी था, जिसने शूद्रों की इस प्रकार बढ़ती हुयी परम्परा का तीव्र विरोध किया, फलतः प्रचंड विरोध के कारण अधिकतर शूद्रों ने तो अपने तुच्छ स्थान को यथावत् ही स्वीकार कर लिया, हालाँकि कुछ साहसी शूद्र ऐसे भी थे, जो 18वीं, 19वीं शताब्दी तक धर्म-गुरु के स्थान तक पहुँच गये थे ।[2]

इस प्रकार ब्राह्मणों के आक्रोशपूर्ण विरोध और समाज की रूढ़िवादी विचारधारा के कारण शूद्रों का उत्थान यद्यपि अल्पकालीन घटना मात्र प्रतीत होती है, परन्तु फिर भी यह बात पूर्णतया स्पष्ट है कि 16वीं सदी में सम्पूर्ण भारत में अपने पूर्व निम्न स्तर से उठकर ये उत्थान की सीढ़ी चढ़ चुके थे । इनकी विचारशक्ति बदल चुकी थी, जिनमें मुस्लिम शासकों का उनके प्रति उदारवादी दृष्टिकोण, उनके हित की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण सफलता थी ।

मुस्लिम समाज

मुसलमान लोग राज्य के कृपापात्र थे ।[3] मुस्लिम समाज में अरब, तुर्क, अफगान, मंगोल, उजबेक तथा धर्म परिवर्तित मुसलमान थे ।[4] कुछ समय पश्चात् मुस्लिम वर्गों का स्वरूप मुस्लिम जातियों के परस्पर सम्मिश्रण से पूर्णतया भारतीय

---

1. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरित मानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा 65, चौपाई 3-4, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी । इन्होंने शूद्रों के उत्थान को उचित नहीं माना है। उनका कहना है कि -

   "ढोल गवांर शूद्र पशु नारी , सकल ताड़ना के अधिकारी ।"

2. जे.बी.ओ.आर.एस., पृ. 159.
3. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम, पृ. 484-86.
4. मुहम्मद यासीन, सोशल हिस्ट्री ऑफ इस्लामिक इण्डिया (1605-1748), लखनऊ 1958, पृ. 9.

बन गया ।[1] पण्डित नेहरू ने भी इसका समर्थन किया है ।[2] यद्यपि मुस्लिम समाज की विशेषता सामाजिक समानता रही है, परन्तु भारतीय परिवेश में उनमें भी ऊँच-नीच की जातिगत भावना 16वीं सदी में प्रबल हो उठी । इसकी पुष्टि बाबर के लेखों से भी होती है। वह लिखता है कि मुगल शासन की स्थापना के बाद यहाँ की मुस्लिम प्रजा उसके आदमियों से घृणा करती थी ।[3]

मुगल शासनकाल में मुस्लिम समाज में तुरानी ﴾तुर्क﴿, ईरानी अफगान ﴾सूर, फारमुली, करानी, सरवानी, नियाजी आदि﴿, उजबेक तथा भारतीय मुसलमान थे ।[4] इसके अतिरिक्त सुन्नी और शियाओं में धार्मिक मतभेदों को लेकर परस्पर वैमनस्य रहता था। इन दोनों का आपसी विरोध पूरे मध्यकाल तक चलता रहा । यद्यपि मुगल सम्राट इनके बीच संतुलन बनाये रखने के लिए और इसलिए भी कि इनमें से कोई अधिक शक्तिशाली बनकर साम्राज्य के लिए समस्या न उत्पन्न कर दे, कभी एक दल की ओर झुक जाते थे, तो कभी दूसरे दल की ओर । फिर भी मुगल अफगानों के कट्टर शत्रु थे और वे उन्हें विदेशी आक्रमणकारी ही मानते थे ।[5] इन पारस्परिक विरोधों के कारण मुस्लिम समाज अपनी सामाजिक समानता के अस्तित्व को लगभग खो चुका था ।

16वीं सदी में मुस्लिम समाज तीन वर्गों में विभक्त था - शासक वर्ग, अभिजात वर्ग, साधारण वर्ग ।

---

1. कुरेशी, पृ॰ 608॰
2. डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, पृ॰ 255॰
3. बाबरनामा, पृ॰ 523 ; ए॰ रशीद : सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन मेडिवल इण्डिया ﴾1206-1556﴿, कलकत्ता, 1969, पृ॰ 11॰
4. मुहम्मद यासीन, पृ॰ 2॰
5. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ॰ 25-26॰

शासक वर्ग

शासक अपने को तत्कालीन समाज का अधिष्ठाता समझते थे । डॉ. अशरफ के अनुसार - "वह मुस्लिम समाज का प्रधान होता था ।"[1] दिल्ली के सुल्तानों की अपेक्षा मुगल सम्राटों का जीवन अधिक विलासप्रिय था। वह अधिक से अधिक धन अपने विलासमय जीवन के लिए खर्च करता था। ईरानी ढंग से दरबार सजाते थे। दरी, कालीन और उनके भोजनालय के पात्र ईरानी थे । अकबर ने राजमहल के गौरव और शोभा बढ़ाने के लिए राजपूत राजकुमारियों से विवाह किया ।[2]

अभिजात वर्ग

शासक वर्ग के बाद समाज में इनका दूसरा स्थान था। डॉ. अशरफ ने इस वर्ग को दो उपभागों में विभाजित किया है - प्रबुद्ध वर्ग और दूसरा सैनिक-वर्ग ।[3] प्रबुद्ध वर्ग को अहल-ए-सादात अथवा अहल-ए-कलम के नाम से जाना जाता था। इस वर्ग के अन्तर्गत उलेमा, काजी, सैय्यद, सूफी संत और अन्य लोग थे, जिनका सम्पर्क धार्मिक कार्य से था ।[4]

सैनिक वर्ग के अन्तर्गत वे लोग आते थे जो राजधानी में तथा प्रांतों में सैनिक अधिकारी तथा सैनिकों के पद पर आसीन थे । वे खान, मलिक, सिपह-सालार, आदि श्रेणियों में विभाजित थे । अमीर वर्ग में तुर्क, अफगान तथा भार-

---

1. के. एम. अशरफ : लाइफ ऐण्ड कन्डीशन्स ऑफ दि पिपुल ऑफ हिन्दुस्तान, दिल्ली 1959, पृ. 81.
2. स्मिथ, अकबर महान्, पृ. 53-54.
3. अशरफ, पृ. 82.
4. ए. रशीद, पृ. 5.

तीय मुसलमान थे ।[1] मुस्लिम शासन की स्थापना में तुर्क अमीरों ने महत्वपूर्ण योग-दान दिया था। बहलोल लोदी का शासन काल अमीरों की शक्ति के विकास का चरमोत्कर्ष माना जाता है। वह उनके बीच दरी पर बैठता था। उन्हें मनाने के लिए उनके पैर पर अपनी पगड़ी रख देता था ।[2] सिकन्दर लोदी ने उन सभी विशेषाधिकारों तथा जागीरों को समाप्त करने का सफल प्रयास किया। वह इतना अधिक शक्तिशाली था कि अमीर वर्ग उसके विरुद्ध आवाज नहीं उठा सके।[3] इब्राहिम लोदी के शासनकाल में अमीरों तथा सुल्तान के बीच खुलकर संघर्ष प्रारम्भ हुआ, परिणाम स्वरूप लोदी साम्राज्य का विघटन तथा वंश का पतन हुआ ।[4]

मुगल सम्राटों ने भी अमीर वर्ग का संगठन किया। सामाजिक जीवन में अमीर वर्ग {अहल-ए-दौलत - राजकुमार तथा सैनिक अधिकारी ; अहल-ए-सादात - काजी, उलेमा, प्रबुद्ध वर्ग; अहल-ए-मुराद - संगीतकार नर्तकी इत्यादि वर्ग} शासक का अनुकरण करता था ।[5] इस काल में ईरानी, तूरानी, अफगान, उजबेग, भारतीय धर्म परिवर्तित मुसलमान तथा राजपूत राजा और राजकुमार थे ।[6] उनका दैनिक जीवन बहुत कुछ मुगल सम्राटों की भाँति था। इनके पास जागीर, मनसब तथा सैनिक होते थे ।

सर्व साधारण वर्ग

प्रो. रशीद ने सर्वसाधारण वर्ग को आवाम-ए-खल्क की संज्ञा दी है ।

---

1. अशरफ, पृ. 95.
2. रशीद, पृ. 12.
3. अशरफ, पृ. 93.
4. रशीद, पृ. 13.
5. अशरफ, पृ. 82.
6. मोहम्मद यासीन, पृ. 4.

उनके अनुसार इसके अन्तर्गत सर्राफ, साहू, तुज्जर, गुलाम तथा साधारण वर्ग के पेशेवर व्यक्ति थे ।[1] मुस्लिम समाज में फकीरों का भी प्रभाव था और उनकी निर्धनता को स्वर्ग का मार्ग समझा जाता था ।[2]

डॉ. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव के अनुसार - मुस्लिम समाज में निम्न वर्ग में - कारीगर, दुकानदार, मुंशी और छोटे-छोटे व्यापारी थे । इन सबके नीचे कलन्दर और फकीर होते थे ।[3] व्यापारी अनाज, घोड़े तथा दैनिक जीवन की सामग्री का क्रय-विक्रय किया करते थे ।[4]

मुगल काल में मुस्लिम समाज का साधारण वर्ग धर्म परिवर्तित हिन्दू था। इनका समाज में महत्वपूर्ण स्थान नहीं था। ये व्यापारी, जुलाहे, मोची तथा कारीगर थे । इसके अलावा बहुत से मुसलमान भिश्ती, कसाई, शव नहलाने वाले, खुदाई का काम करने वाले, चित्रकार, मशालची, धोबी, नाई, बढ़ई और लुहार, दर्जी तथा लकड़हारे भी थे ।[5] इनमें से कुछ सुन्दर लिखायी का काम करते थे और कुछ कुरान की नकलें किया करते थे ।[6] बंगाल तथा बिहार के धर्म परिवर्तित मुसलमान खेती भी करते थे ।[7] साधारण वर्ग की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दशा दयनीय रही ।

---

1. रशीद, पृ. 25.
2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : मध्य कालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 26.
3. वही.
4. रशीद, पृ. 26.
5. मनूची, IV ,पृ.175.
6. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : मध्य कालीन भारतीय संस्कृति,पृ.26-27.
7. मोहम्मद यासीन, पृ. 29.

समाज में नारी की स्थिति

16वीं सदी में बिहार में स्त्रियों की स्थिति प्राचीन भारत जैसी उच्च नहीं थी ।[1] भारत में मुसलमानों के आक्रमण के कारण स्त्रियों की दशा निरन्तर ह्रासोन्मुख होती गयी । शूद्र और स्त्री की स्थिति को समान माना जाने लगा।[2] स्त्री केवल एक प्रयोग की वस्तु बनकर रह गयी थी । 16वीं सदी में अकबर के समकालीन गोस्वामी तुलसीदास द्वारा लिखे गये लेख "ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी" द्वारा भी स्त्रियों की दयनीय स्थिति की पुष्टि हो जाती है ।[3]

हिन्दू समाज में नारी जीवन पर्यन्त पुरुष वर्ग के अधीन और आश्रित रहती थी ।[4] उसे स्वतन्त्र नहीं रहने दिया जाता था। कौमार्य की अवस्था में वे अपने पिता के कठोर नियन्त्रण में रहती थीं। विवाह के पश्चात् पति के नियन्त्रण में और पति की मृत्यु के पश्चात् अपने युवा पुत्रों के नियन्त्रण में रहती थी ।[5]

---

1. डॉ. कालिकिंकर दत्त : कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, जिल्द 3, भाग II, पटना, 1976, पृ. 337 ; फ्रांसिस बचनन : एन एकाउण्ट ऑफ दि डि. ऑफ बिहार ऐण्ड पटना इन 1811-12, भाग 1, पटना, पृ. 290.
2. जे.बी.आर.एस., जिल्द 37, भाग I-II, पृ. 121.
3. रामचरित मानस, सुन्दरकाण्ड, 65/3-4.
4. विवाद रत्नाकर , संम्पादक दीनानाथ विद्यालंकार, कलकत्ता, 1887, पृ. 409.
5. अशरफ, पृ. 166.

इस काल में मुस्लिम स्त्रियों की दशा भी समुन्नत अवस्था में नहीं थी। वे भी हिन्दू स्त्रियों की भाँति पुरुषों के अधीन थीं और बहुपत्नियाँ रखने वाले पतियों का अत्याचार मनमाना रहता था। कोई भी स्वतन्त्र पैदा हुआ मुस्लिम पुरुष एक ही साथ चार पत्नियाँ रख सकता था। अतः मुस्लिम परिवार में कोई भी स्त्री गृहस्वामिनी बनने का स्वप्न नहीं देख पाती थी। स्त्रियों का कार्य पुरुषों की सेवा करना, जीवन की प्रत्येक स्थिति में उनपर निर्भर रहना था। वह कन्या के रूप में पिता के निरीक्षण में रहती थी, स्त्री या पत्नी की स्थिति में वह पति की निरीक्षणमें और विधवा की स्थिति में वह ज्येष्ठ पुत्र के निरीक्षण में रहती थी।[1] विधवा होने पर उसे बड़ा ही संयम का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। वह अच्छे आभूषण व वस्त्र नहीं पहन सकती थी और विवाह जैसे शुभ अवसरों पर वह भाग नहीं ले सकती थी।[2] समाजमें इनका कोई स्थान न था, उनकी दशा एक गुलाम से बदतर थी।[3] हालांकि मुगलकाल में इनकी स्थिति सल्तनतकाल की अपेक्षा अधिक संतुलित दिखायी देती है, (स्त्रियाँ राजनीति में भाग ले रही थीं), परन्तु बिहार के सामाजिक परिवेश में यह संतुलन नगण्य ही रहा।

पर्दा प्रथा

प्राचीन युग में भारत में पर्दे की प्रथा का प्रचलन न था। पर्दा प्रथा इस्लामी सभ्यता की देन है।[4] बुर्का द्वारा पर्दा का प्रचलन मुस्लिम समाज की विशेषता थी और स्त्रियों का एकान्त निवास हिन्दू समाज की विशेषता।

---

1. अशरफ, पृ. 166.
2. सावित्री सरन : सोशल हिस्ट्री इन बिहार इन द फर्स्ट हाफ ऑफ दि नाइन्टीथ सेंचुरी, पी-एच.डी. थीसिस, पटना, पृ. 277 ; कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री आफ बिहार, जिल्द 3, भाग II, पृ. 338.
3. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 364.
4. अशरफ, पृ. 173 ; एलिजाबेथ कूपर : दि हरम ऐण्ड दि पर्दा, लन्दन 1915, पृ. 102.

समाज की विशेष परिस्थितियों में हिन्दू तथा मुसलमानों ने इस प्रथा को अपने-अपने ढंग से अपनाया। पं. जवाहरलाल नेहरू ने पर्दा प्रथा के बारे में लिखा है कि - पर्दा प्रथा का रिवाज मुस्लिम समाज में प्रचलित रहा है। स्त्रियाँ बुर्का पहनकर अपने मुख को ढंकती हैं ।[1] हिन्दू स्त्रियों के लिए घूंघट से मुख ढकना सम्मान का विषय समझा जाता था ।[2] एस.एम. जाफर ने तो पर्दा को हिन्दू-स्त्रियों के लिए धार्मिक कर्तव्य माना है ।[3]

16वीं सदी में अकबर जैसे उदार शासक ने भी पर्दा से सम्बन्धित फरमान जारी करवाया था। बदायूँनी लिखता हैकि - सम्राट ने आदेश दिया कि यदि कोई युवती गलियों एवं बाजारों में बगैर घूंघट के दिखायी दे या उसने जानबूझ कर पर्दा तोड़ा हो तो उसे वेश्यालय में रखा जाय और पेशे (वेश्यावृत्ति) को अपनाने दिया जाय ।[4] इस प्रकार यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि पर्दा प्रथा वास्तव में स्त्री सम्मान के सुरक्षा की दृष्टि से समाज का एक महत्वपूर्ण अंग रही है, जो मुख्यतः धनी और उच्च परिवारों तक ही सीमित रहा।[5] यह स्त्रियों की उच्च प्रतिष्ठा का द्योतक था ।[6]

बिहार में हिन्दू और मुस्लिम दोनों समाज की स्त्रियाँ पर्दा प्रथा का पालन करती थीं, उनका बाहर निकलना प्रायः प्रतिष्ठा के विपरीत समझा

---

1. डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, पृ. 255.
2. अशरफ, पृ. 172.
3. एस.एम. जाफर : सम कल्चरल आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, दिल्ली, 1972, पृ. 198-99.
4. बदायूँनी, भाग II, पृ. 405 ; आईन, भाग I, पृ. 217.
5. पी.एन. चोपड़ा : सोसाइटी ऐण्ड कल्चर ड्यूरिंग मुगल एज, आगरा 1955, पृ. 104.
6. अशरफ, पृ. 139.

जाता था ।[1] यदि किन्हीं विशेष अवसरों पर वे बाहर निकलती भी थीं तो उनकी पालकी ढकी रहती थी और हिजड़ों तथा नौकरों से घिरी रहती थीं । उनका दर्शन दुर्लभ था। यदि किसी का पर्दा किसी कारणवश टूट जाता था तो उस पर विपत्तियों का पहाड़ टूट जाता था। मनूची लिखता है कि - मुस्लिम समाज में स्त्रियों से अपने चेहरे से पर्दा हटाने के लिए कहना अत्यन्त अपमान-जनक था ।[2]

तिरहुत के राजपूत परिवारों में पर्दे का कठोरता से पालन किया जाता था। यहाँ तक कि नवविवाहित जोड़ों का दिन के समय आपस में बात करना भी बुरा माना जाता था। परन्तु दरियापुर और पटना के आस-पास के क्षेत्रों में यह प्रथा इतनी कठोर नहीं थी ।[3] अग्रहरी जाति की स्त्रियाँ अपने पति के व्यवसाय में खुलकर सहयोग प्रदान करती थीं ।[4] परमार राजपूतों में स्त्रियाँ विवाह के पश्चात् अपने माता-पिता, बहन या बड़े भाई से नहीं मिल सकती थीं। छोटे भाई से मिलने की आज्ञा थी ।[5] परन्तु इनके अलावा अन्य राजपूत घरानों में इतना कठोर नियम प्रचलित नहीं था। उनकी स्त्रियों को अपने नजदीकी रिश्तेदारों या सम्बन्धियों से मिलने की आज्ञा थी पर वे उनके घर भोजन या पानी नहीं पी सकती थीं। बच्चन का कथन है कि - इसके पीछे उनकी मान्यता थी कि विवाह के पश्चात् स्त्रियों को अपने सम्बन्धियों को

---

1. बच्चन, पृ. 290.
2. मनूची, जिल्द 2, पृ. 175 ; जिल्द 1, पृ. 63.
3. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, जिल्द 3, भाग II, पृ. 337.
4. ओ. मैली : मुंगेर डि. गजेटियर, पृ. 138.
5. सावित्री सरन, पृ. 275.

छोड़कर अपने पति के प्रति पूर्णतया समर्पित रहना चाहिए ।[1]

निम्न वर्ग की स्त्रियाँ विशेषकर गाँवों में रहने वाली ग्रामीण व अन्य पेशे वाली स्त्रियाँ पर्दे की प्रथा से बिल्कुल स्वतन्त्र थीं । वे खेतों में काम करती थीं और परिवार का भरण-पोषण करती थीं ।[2] बिहार की अहीर जाति की स्त्रियाँ घी, दूध, मक्खन आदि द्वार-द्वार जाकर बेचा करती थीं। बहुत सी स्त्रियाँ सब्जी और मछली बेचती थीं । कुछ पानी पहुँचाने का कार्य भी करती थीं ।[3]

इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्थिक कारणों से बिहार की निम्न वर्गीय अथवा ग्रामीण स्त्रियाँ पर्दा धारण करने में असमर्थ थीं ।

विवाह-पद्धति

बाल-विवाह

के. एम. अशरफ लिखते हैं कि -"मध्ययुग में विवाह के लिए कोई निर्धारित उम्र नहीं थी, परन्तु फिर भी हिन्दू-मुस्लिम समाज में बाल-विवाह का प्रचलन था ।"[4] समाज में बाल-विवाह की प्रथा 16वीं सदी की एक प्रमुख विशेषता थी ।[5] वास्तव में मुसलमानों के भय और अत्याचारों के कारण बाल्यावस्था में विवाह करा देने का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। यह प्रचलन क्रमशः सम्पूर्ण मुगलकाल

---

1. बच्चन : शाहाबाद डि. इन 1812-13, पटना 1954, पृ. 212.
2. मुंगेर डि. गजेटियर, पृ. 138 ; सरन डि. गजेटियर, पृ. 43.
3. सावित्री सरन, पृ. 274.
4. अशरफ, पृ. 179.
5. रेखा मिश्रा : वोमेन इन मुगल इण्डिया, दिल्ली, पृ. 5 ; हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 364 ; जाफर, पृ. 168.

तक हिन्दू तथा मुस्लिम, दोनों सम्प्रदायों में विद्यमान रहा ।[1]

बाल विवाह की प्रथा में कन्या का पालन पोषण उसके माँ-बाप के घर में होता था और विवाह के समय माता-पिता, दामाद तथा पुत्रवधू के चुनाव में मुख्य भूमिका निभाते थे ।[2] राजनीतिक उथल-पुथल के कारण माँ-बाप अपनी कन्या का विवाह शीघ्रातिशीघ्र करने की चेष्टा करते थे। प्रायः वे छः या सात वर्ष की अवस्था से लेकर नौ या दस वर्ष की अवस्था तक ब्याह दी जाती थीं ।[3] हिन्दू समाज में कन्या के रजस्वला होने की आयु तक या उसके पश्चात् होने वाले विवाहों को उत्तम नहीं माना जाता था और माता-पिता के लिए पाप समझा जाता था ।[4] मनूची लिखता है कि ब्राह्मण वर्ग अपनी कन्याओं का विवाह 4 या 5 वर्ष की अवस्था तक कर देते थे । कभी-कभी 10 वर्ष की आयु में विवाह होता था, परन्तु इससे आगे नहीं ।[5]

जहाँ तक बिहार के क्षत्रिय,कायस्थ व अन्य वणिक वर्ग का प्रश्न है ये अपनी कन्या का विवाह 5 वर्ष की आयु के बाद ही करते थे ।[6] निम्न वर्ग जैसे

---

1. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 20.
2. वही.
3. आईन, भाग I, पृ. 287 ; भाग III, पृ. 340.
4. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 341.
5. मनूची, जिल्द 3, पृ. 54-59 ; पालिटिकल लीगल ऐण्ड मिल्ट्री हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द 5, (लेख पी.एन. ओझा : मैरिज ऐण्ड डाइवोर्स अण्डर मुगल्स), दिल्ली 1984, पृ. 267.
6. सावित्री सरन, पृ. 213-214.

शूद्र, धोबी, लुहार, ग्वाला आदि जातियों में भी बाल-विवाह का प्रचलन था। यदि कोई परिस्थितिवश अपनी कन्या का सही समय पर विवाह नहीं कर पाता था तो उसे अपनी जाति से हाथ धोना पड़ता था।[1] यद्यपि अकबर ने इस प्रथा का विरोध करते हुये विवाह की आयु लड़कों के लिए 16 वर्ष तथा लड़कियों के लिए 14 वर्ष निश्चित की थी[2] परन्तु विवाह की अवस्था के इस निर्धारण का कहाँ तक पालन किया जाता था, यह कहना कठिन है। सम्भवतः उसे इस कार्य में पूर्ण सफलता नहीं मिली, क्योंकि 19वीं शताब्दी में पूर्णियाँ में एक दो ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जो इस बात का संकेत हैं कि इस समय तक भी बाल विवाह का कठोरता से पालन किया जाता था ।[3] यद्यपि इस प्रथा को दूर करने के हर सम्भव प्रयास किये जाते रहे हैं और वर्तमान सरकार ने तो इसे समाप्त करने की दिशा में क्रान्तिकारी कदम भी उठाया है, परन्तु आज भी बिहार तथा उत्तर प्रदेश की निम्न जातियों में यह प्रथा अंशतः विद्यमान है ।

मनूची एक बात और स्पष्ट करता है कि - यद्यपि समाज में बाल-विवाह का प्रचलन तो था, पर कन्या के माता-पिता अपनी पुत्री को विवाहोपरान्त भी तब तक अपने पास रखते थे, जब तक कि वह रजस्वला न हो जाये । इसके पश्चात् ही कन्या को ससुराल भेजा जाता था। इस प्रथा को गौना कहा जाता था।[4] बिहार के कुछ भागों में यह प्रथा आज भी विद्यमान है ।

मुस्लिम वर्ग में विवाह प्रायः निकट के सम्बन्धी में ही होता था । इस सम्बन्धमें उनकी मान्यता थी कि इस विवाह से उत्पन्न बच्चे शुद्ध रक्त के

---

1. बुचनन : एन एकाउण्ट ऑफ पूर्नियाँ इन 1809-10, पटना 1928, पृ. 260.
2. बदायूँनी, भाग II, पृ. 315.
3. एन एकाउण्ट ऑफ पूर्नियाँ इन 1809-10, पृ. 260.
4. मनूची, जिल्द 3, पृ. 58.

होंगे। जब तक विधि के अनुसार लड़के विवाहित नहीं हो जाते उन्हें लड़की देखने की भी अनुमति नहीं होती थी ।[1] इस्लामी सिद्धान्त के अनुसार चचेरी बहन से विवाह होने की अनुमति है। मुसलमानों के विवाह में आज की भाँति निकाह एक महत्वपूर्ण क्रिया मानी जाती थी ।

विवाह से पूर्व कन्या एवं वर की जन्म पत्री मिलायी जाती थी । कायस्थ और राजपूत परिवारों में तो जन्म पत्री मिलाकर विवाह तय करना उनके परिवार के लिए सुख एवं शांति का प्रतीक था, यह उनके लिए महत्वपूर्ण भी था ।[2] वर का कन्या की तुलना में बड़ा होना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, कायस्थ परिवारों में गोत्र का भी ध्यान रखा जाता था। वैश्य, ग्वाला और अन्य निम्न वर्ग की जाति में गोत्र के स्थान पर, मूल के आधार पर विवाह तय करने की प्रथा थी । बिहार में एकलद्वीपी ब्राह्मणों की 95 शाखायें थीं ।

हिन्दू समाज में मुस्लिम समाज की भाँति रक्त सम्बन्धी से विवाह पूर्णतया वर्जित था। कम से कम 3 पीढ़ी का अन्तर होने पर उस परिवार से विवाह मान्य था, अन्यथा सात पीढ़ी का अन्तर अवश्य होना चाहिये ।[4]

हिन्दू तथा मुस्लिम समाज में पिता विवाह की सभी रस्मों को पूरा करता था। यह एक पारिवारिक मामला था इसमें वर-वधू से कोई मतलब न

---

1. मनूची, जिल्द 3, पृ. 152.
2. रिसले : ट्राइब ऐण्ड कास्ट ऑफ बंगाल, भाग 1, पृ. 446 ;
   उद्धृत - कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 343.
3. वही, भाग 1, पृ. 285.
4. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, जिल्द 3, भाग II, पृ. 342.

था ।[1] विवाह तय हो जाने के बाद हिन्दू समाज में तिलक और मुस्लिम समाज में मंगनी की रस्म अदा की जाती थी ।[2] इसके पश्चात् शुभ मुहूर्त में लगन निकाली जाती थी । साधारणतया विवाह वैसाख एवं जेठ में अथवा फाल्गुन एवं असाढ़ के महीने में सम्पन्न किया जाता था ।[3] विवाह के दिन मटकोड़वा, हल्दी चढ़ाई, इमली घोटाई, आदि रस्मों को किया जाता था ।[4] वधू के घर के द्वार को आम के पत्तों से तथा मण्डप को फूलों से सजाया जाता था ।[5] परन्तु वर के घर में मण्डप बनाने की प्रथा नहीं थी । बारात लगने से पूर्व वर को नहाना पड़ता था और उसके पश्चात् नये परिधान धारण करने पड़ते थे । इसके पश्चात् वर दुल्हन के द्वार पर बारातियों सहित जाता था। सुहाग के गीत गाये जाते थे, परछन, गाल सेकाई, द्वारपूजा आदि रस्में पूरी की जाती थीं। इसके बाद बारात को जनवासे में ले जाया जाता था ।[6] विवाह के समय पुरोहित मंत्रोच्चार करते थे, स्त्रियाँ विवाह गीत गाती थीं । लगन मण्डप में गाँठ बाँधकर अग्नि के आगे सात फेरे के साथ-साथ वर द्वारा कन्या की माँग में सिंदूर भरने की भी परम्परा थी । यह एक प्रकार से बन्धन का प्रतीक था। इसके पश्चात् वर एवं कन्या के चूमने की भी प्रथा थी ।[7] मिथिला के ब्राह्मणों के विवाह में शास्त्र नियमों का कठोरता से पालन किया जाता था ।[8]

---

1. अशरफ, पृ. 179.
2. जाफर, पृ. 168.
3. बचन : एन एकाउण्ट ऑफ बिहार ऐण्ड पटना, पृ. 355.
4. सर जी.एच. ग्रियर्सन : बिहार पीजेन्ट लाइफ, कलकत्ता, 1885, पृ. 362-65.
5. अशरफ, पृ. 180.
6. ग्रियर्सन, पृ. 367-68, 374-86.
7. वही, पृ. 369-70 ; रिसले, भाग 1, पृ. 32 ; कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 344-45.
8. वही, पृ. 375.

कुर्मी जाति में विवाह पहले आम और महुआ के वृक्ष से कराया जाता था, इसके बाद मण्डप में विवाह संस्कार होता था। चमार जाति में मण्डप जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी, परन्तु नाई के घर मण्डप के स्थान पर चौक की व्यवस्था थी । मेहतर जाति में विवाह का एक अलग रिवाज था। विवाह के समय कन्या एवं वर अपने-अपने पिता की जांघ पर आमने सामने बैठते थे और पाँच फेरे बाद स्थान की अदला-बदली करते थे, इस प्रकार यह विवाह सम्पन्न हो जाता था।[1] बारात को एक दिन अथवा अधिक से अधिक 10 दिन रोका जा सकता था। यह आर्थिक सम्पन्नता पर निर्भर था ।

मुस्लिमों में शरा एवं उर्फी के आधार पर निकाह होता था। शरा शिक्षित वर्ग में अधिक प्रचलित था और अर्फी साधारण वर्ग में । शरा के नियमों के आधार पर विवाहोपरान्त कन्या अथवा पत्नी को तुरन्त पति के घर के लिए प्रस्थान करना पड़ता था ।[2]

उर्फी विवाह में दहेज के रूप में सदैव भारी रकम अदा करनी पड़ती थी । विवाह से पूर्व दोनों परिवारों में रतजगा समारोह का आयोजन होता था। जिसमें गीतों द्वारा जोड़ों (वर एवं कन्या) के जीवन पर्यन्त सुखी रहने की ईश्वर से कामना की जाती थी । हिन्दू विवाह की भाँति मुसलमानों में भी कन्या पक्ष के यहाँ मण्डप फूलों से सजाया जाता था। आँगन में एक कलश रखा जाता था, उस पर जलता हुआ दीपक रखने की प्रथा थी, जब तक कि विवाह की सभी रस्में पूरी नहीं हो जाती थीं । विवाह से पूर्व दोनों परिवारों में वर एवं कन्या को तेल मालिश करने की प्रथा थी । बारात जाने से पूर्व वर मण्डप में ही वस्त्र धारण करता, इसके पश्चात् कन्या के घर की ओर अपने सगे-सम्बन्धियों, ईष्ट मित्रों के साथ प्रस्थान करता था ।[3]

---

1. सावित्री सरन, पृ. 235-238.
2. ग्रियर्सन, पृ. 376.
3. वही.

कन्या के द्वार पर पहुँचने पर बारात द्वारा कन्या को विवाह के लिए लायी गयी भेंट {कपड़े-गहने आदि} भेजा जाता था। वर पक्ष की भेंट स्वीकार कर लेने के पश्चात् कन्या पक्ष द्वारा भी वर के लिए उचित भेंट {वस्त्रादि} भेजना पड़ता था। भेंट के आदान-प्रदान के पश्चात् वर कन्या के घर पदार्पण करता था, जहाँ एक रस्म अदा की जाती थी, जिसमें कन्या की माँ और छः अन्य स्त्रियाँ जोड़ों के हाथ गरम करती थीं और चूमती थीं । तुरन्त बाद कन्या अपने पैर से वर के पीठ को छूती थी ।[1]

दूसरे दिन कन्या को तेल लगाया जाता था और फिर सजाया जाता था। वर को मण्डप में बुलाकर "गहना देब" रस्म अदा की जाती थी, जिसमें वर रंगीन रूमाल में रखे चावल एवं हल्दी को कन्या के ऊपर छिड़कता था। इसके बाद वर कन्या के माथे को अंगूठी से छूता था। "घर-भरब" रस्म भी अदा की जाती थी । इसके अन्तर्गत जोड़े को घर में चावल छिड़कना पड़ता था। तीसरे दिन रुखसती, नाबत, चूनब, आदि रस्में पूरी की जाती थीं । इन सभी रस्मों को पूरा करने के बाद दूल्हा-दुल्हन के साथ अपने घर वापस लौटता था। चौथे दिन दूल्हे के घर चौथी की रस्म होती थी, यह प्रथा हिन्दुओं में भी था । इस रस्म में जुआ {दूल्हा-दुल्हन को} खेलने की भी प्रथा थी । चौथी के दो या तीन दिन पश्चात् कन्या के नजदीकी सम्बन्धी आकर जोड़े को पुनः अपने घर वापस ले जाते थे । दूल्हा कन्या के पिता के साथ 10 दिन तक रहता था, इसे "दशहरा खाना" कहा जाता था। यह रस्म भी विवाह के विभिन्न रस्मों में सम्मिलित थी ।[2]

बहु विवाह

बहु विवाह प्रथा उच्च कुलीन मुसलमानों में थी । इस्लाम धर्म के अनुसार

---

1. ग्रियर्सन, पृ. 383-84.
2. वही, पृ. 384-87.

एक मुसलमान एक समय में चार पत्नियाँ रख सकता था। विद्वानों का ऐसा विचार है कि पुरुषों की प्रवृत्ति स्वभावतः बहु विवाह की तरफ होती है, इसलिए इस्लाम ने इसकी व्यवस्था की, जिससे समाज में व्यभिचार न फैले ।[1] बहु विवाह करने वाले पुरुष को यह आश्वासन देना पड़ता था कि वह अपनी सभी पत्नियों के साथ निष्पक्ष और न्यायपूर्वक व्यवहार करेगा ।[2] परन्तु इसका परिणाम विपरीत हुआ।

मध्ययुगीन भारत में मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति गिर गयी । वे अपने बहु वैवाहित पति के पूर्णतया अधीन हो गयीं । उन्हें अपने पतियों के निर्देश पर चलना पड़ता था। वे दासियों की भाँति जीवन व्यतीत करती थीं और उनके भोजन के उपरान्त भोजन करती थीं ।[3] साधारणतया मुसलमानों की धारणा थी कि वे एक साथ चार पत्नियाँ रख सकते थे और इस संख्या में तलाक देकर परिवर्तन किया जा सकता था ।[4] अकबर प्रथम शासक थाा, जिसने इस व्यवस्था में सुधार लाने का प्रयास किया। उसका कहना था कि एक पुरुष के लिए एक स्त्री पर्याप्त थी ।[5] उसकी मान्यता थी कि एक से अधिक पत्नी रखने से स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है ।[6]

कुछ हिन्दू राजकुमारों को छोड़कर निम्न वर्ग के हिन्दू और मुसलमानों में एक विवाह प्रथा प्रचलित थी । हिन्दू प्रायः एक विवाह करता था और उसे

---

1. मुहम्मद मजहरुद्दीन सिद्दिकी : वीमेन इन इस्लाम, लाहौर 1959, पृ. 139.
2. कुरान, जिल्द 4, पृ. 3 उद्धृत मध्ययुगन समाज एवं संस्कृति, पृ. 99.
3. सर टामस रो और डॉ जान फ्रायर : ट्रवेल्स इन इण्डिया इन दि सिवटींथ सैंचुरी, लन्दन 1973, पृ. 450.
4. मुहम्मद यासीन, पृ. 125.
5. बदायुँनी, भाग II, पृ. 367 ; आईन, भाग 1, पृ. 214, 288.
6. आईन, भाग 1, पृ. 288.

चरित्रहीन होने के अतिरिक्त जीवन पर्यन्त तलाक नहीं देता था। यदि किसी की स्त्री बांझ होती थी तो वह ब्राह्मण की सहायता से दूसरा विवाह कर सकता था ।[1]

दहेज-प्रथा

आज की भाँति 16वीं सदी में भी समाज में (हिन्दू-मुस्लिम दोनों में) दहेज प्रथा का प्रचलन था। यह प्रथा विशेषतया धनी वर्ग का अंग थी । मध्यम एवं निम्न वर्ग में यह प्रथा एक प्रकार से समस्या प्रधान ही थी, क्योंकि कभी-कभी दहेज की अत्यधिक माँग के कारण, कन्याओं का विवाह, माता-पिता के लिए समस्या बन जाता था, जिनके पास पुत्रियों की संख्या अधिक होती थी, उनकी स्थिति तो और भी दयनीय हो जाती थी ।[2] मुख्यतया यह प्रथा परिवार की आर्थिक क्षमता पर आधारित थी । ऐसा विश्वास किया जाता है कि ब्राह्मण वर्ग में दहेज की प्रथा नहीं थी ।[3] परन्तु बिहार एवं उत्तर प्रदेश के निर्धन वर्ग में यह प्रथा अधिक प्रचलित थी[4]। कुम्हारों में दहेज उनकी जाति की उच्चता एवं निम्नता पर निर्भर करता था। निम्न वर्ग में वर पक्ष को कन्या पक्ष के संरक्षक को दहेज के रूप में धन देना पड़ता था। दहेज केवल रकम के रूप में ही नहीं बल्कि आभूषण, मिठाई, वस्त्र आदि के रूप में भी प्रदान किया जाता था।[5] बिहार में हिन्दू समाज में दो प्रकार के विवाहों का प्रचलन था - एक ब्रह्म-विवाह और दूसरा असुर विवाह । ब्रह्म विवाह के अन्तर्गत कन्या का पिता कन्या को सुयोग्य वर के साथ-साथ आभूषण एवं वस्त्र भेंट स्वरूप प्रदान करता था।[6]

---

1. कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 348.
2. रिसले, भाग 1, पृ. 447.
3. आईन, भाग 3, पृ. 339.
4. रेखा मिश्रा, पृ. 131.
5. चम्पारन डि. गजेटियर, पृ. 55.
6. जे.बी.ओ.आर.एस., भाग 3, पृ. 55.

असुर विवाह में दूल्हे का पिता कन्या के माता-पिता की हैसियत को देखते हुये कन्या का उचित मूल्य चुकाता था। यह प्रथा साधारणतया निम्न वर्ग में प्रचलित थी ।[1]

मुस्लिमों में आर्थिक स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए पति को दहेज महरे मिस्ल के रूप में देना पड़ता था । यह धन दोनों पक्षों की स्वीकृति पर निश्चित किया जाता था। कोई भी मुस्लिम विवाह तब तक वैधानिक नहीं माना जाता था जब तक कि दहेज निश्चित न किया गया हो ।[2] दहेज निश्चित करने की कोई सीमा नहीं थी । यह कम से कम और अधिक से अधिक दोनों पक्षों की सहमति से तय किया जाता था।

तिलक और मंगनी में भी दहेज देने की प्रथा थी ।[3]

तलाक

मुस्लिम कानून के अनुसार पति पत्नी यदि जीवन निर्वाह करने में असफल हों तो उन्हें एक-दूसरे को तलाक देने का अधिकार था। मनूची लिखता है कि समाज में तलाक कोई नयी बात नहीं थी, परन्तु पति को तलाक के पश्चात् पत्नी की जीविका के लिए हर्जाना देना पड़ता था ।[4] परन्तु हिन्दू समाज में निम्न जातियों और शूद्रों को छोड़कर तलाक की अथवा वैवाहिक सम्बन्ध तोड़ने की अनुमति नहीं था । मृत्यु के पश्चात् ही वैवाहिक सम्बन्ध टूटता था। हिन्दू विवाह एक पवित्र संस्कार था, अतः तलाक का कोई महत्व नहीं था। हिन्दू शास्त्र के अनुसार परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को विवाह करना पड़ता था और

---

1. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 343.
2. वीमेन इन इस्लाम, पृ. 54.
3. रिसले, भाग 1, पृ. 447 ; ग्रियर्सन, पृ. 376.
4. मनूची, जिल्द 3, पृ. 1652.

यह धार्मिक तथा सामाजिक अनुबन्ध था। यद्यपि हिन्दू समाज के उच्च वर्ग (ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ, बौद्ध) में तलाक की अनुमति नहीं थी, परन्तु फिर भी बिहार के राजपूत परिवारों में पति पत्नी की आपसी स्वीकृति के आधार पर एक-दूसरे से अलग रहने की व्यवस्था थी ।[1] निम्न वर्ग में तलाक कोई नवीन बात नहीं थी ।

सती-प्रथा

इस समय हिन्दू समाज में सती प्रथा का भी प्रचलन था। पति की मृत्यु के उपरान्त कुछ परिस्थितियों के कारण स्त्रियाँ अग्नि में जल जाती थीं, जिसे सती कहा जाता था ।[2] सती की प्रथा हिन्दू समाज के उच्च वर्ग में अधिक प्रचलित थी । वीर राजपूत जाति में सती होना अधिक महत्वपूर्ण माना जाता था ।[3] स्त्रियाँ कभी-कभी पति के शव के साथ और कभी-कभी बिना पति के शव के साथ भी सती होती थीं । जब किसी पुरुष की कई स्त्रियाँ होती थीं तो सर्वप्रिय पत्नी पति के साथ सती होती थी और अन्य पत्नियाँ अलग अग्नि में सती होती थीं । अबुल फजल ने इस प्रकार सती होने वाली स्त्रियों का विवरण दिया है, जो विभिन्न स्थितियों में सती होती थीं । वह लिखता है कि सर्वप्रथम वे स्त्रियाँ सती होती थीं, जो अपने सम्बन्धियों द्वारा सती होने के लिए प्रेरित की जाती थीं। दूसरी स्थिति की वे स्त्रियाँ होती थीं जो स्वेच्छा से पति के प्रति अगाध स्नेह के कारण सती होती थीं । तीसरी वे थीं, जिन्हें जनमत का ध्यान रखना पड़ता था। कुछ स्त्रियाँ परिवार की परम्परा एवं रीति-रिवाज के कारण सती होती थीं ।[4] वह यह भी लिखता है कि - लोगों में

---

1. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 348.
2. अशरफ, पृ. 186.
3. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 366.
4. आईन, भाग II, पृ. 216-17.

सामान्य धारणा बनी हुयी थी कि दूसरे संसार में पति की आत्मा को एक स्त्री की आवश्यकता होती थी ।[1] मुगल शासकों (हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, औरंगजेब) ने इस प्रथा को रोकने का पूरा प्रयास किया। सर्वप्रथम हुमायूँ ने इस दिशा में कदम उठाया, उसने आदेश दिया कि यदि विधवा अधिक उम्र के कारण संतान उत्पत्ति के योग्य नहीं है तो उसे जलाया नहीं जा सकता, चाहे वह स्वेच्छा से ऐसा करने के लिए तैयार हो ।[2] परन्तु इसका प्रभाव कठोरता से पालन न होने के कारण समाज पर न पड़ सका। सम्राट अकबर ने भी इस प्रथा को रोकने का प्रयास किया और आदेश जारी किया कि - "किसी विधवा को सती होने के लिए विवश न किया जाय।"[3] यद्यपि अकबर के निर्देशों के कारण यह प्रथा कुछ समय के लिए अन्य स्थानों की अपेक्षा बिहार में रुक सी गयी थी। ब्राह्मणों को छोड़कर राजपूत, भूमिहार, कायस्थ और कुछ बनियां वर्ग में पुनर्विवाह की प्रथा भी प्रारम्भ हो गयी, परन्तु यह प्रथा पूर्णतया समाप्त नहीं हुयी और पूरे मुगलकाल तक समाज का अंग बनी रही ।[4] वास्तव में यह तत्कालीन समाज की एक अमानुषिक प्रथा थी, जो प्राचीन काल से ही समाज में प्रचलित थी ।

जन्मोत्सव एवं मृत्यु संस्कार

मध्ययुगीन समाज में भारतीय गृहस्थ जीवन प्रमुख रूप से जन्म, विवाह और मृत्यु जैसे संस्कारों, मान्यताओं एवं परम्पराओं से घिरा हुआ था ।[5]

---

1. अशरफ, पृ. 190-91.
2. वही, पृ. 191.
3. बदायूँनी, भाग II, पृ. 388.
4. रेखा मिश्रा, पृ. 134 ; बच्चन : एकाउण्ट ऑफ बिहार ऐण्ड पटना, पृ. 261.
5. जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, भाग 1, कलकत्ता,1935, पृ. 249.

प्रायः समाज में पुत्री की अपेक्षा पुत्र का जन्म अधिक महत्वपूर्ण माना जाता था और परिवार में अधिक हर्षोल्लास रहता था, जबकि पुत्री का जन्म माता-पिता के लिए बोझ स्वरूप अथवा अशुभ माना जाता था ।[1] पुत्र के जन्म पर अनेक धार्मिक क्रियाओं एवं समारोहों का आयोजन होता था, जबकि पुत्री जन्म पर धार्मिक क्रियायें सीमित थीं ।[2] यह अन्तर शाही घरानों में भी था। कन्या जन्म पर केवल हरम में ही खुशियाँ मनायी जाती थीं, जबकि पुत्र जन्म पर सम्पूर्ण दरबार खुशियाँ मनाता था। पुत्र का कितना महत्व था यह अकबर के कथन से भी स्पष्ट होता है कि - "यदि मेरे पुत्र होगा तो मैं शेख मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह पर पैदल जाऊँगा।"[3] हिन्दू परिवार में पुत्र रत्न की प्राप्ति होने पर ब्राह्मण को बुलाकर जन्मपत्री बनवायी जाती थी, उसके बाद हर्षोत्सव मनाया जाता था और बालक का नामकरण किया जाता था। मुस्लिम परिवार में पुत्र रत्न की प्राप्ति पर पुत्र के कानों में अजान पढ़ा जाता था और फिर इसके पश्चात् अशुद्धि संस्कार {सोतक} दूर करने की क्रिया क्रियान्वित की जाती थी, इसके बाद मुबारकवाद का सिलसिला शुरू होता था, अर्थात् शोर-शराबे के बीच पुत्र जन्म की खुशी में अकीका {शुभकामनायें} अर्पित की जाती थीं ।[4]

जन्म की तरह मृत्यु संस्कार का भी अपना एक अलग ढंग था, जो बड़े ही आचार निष्ठ नियम के साथ सम्पन्न किया जाता था ।[5] हिन्दुओं में नियमानुसार मृत्यु के पश्चात् दाह संस्कार की व्यवस्था थी । यद्यपि प्राचीन परम्परा के अनुसार ब्राह्मण के शव को नदी में बहाने, क्षत्रिय के शव को जलाने

---

1. आर.आर. दिवाकर, पृ. 681.
2. वही.
3. आईन, भाग 3, पृ. 302 ; स्मिथ, पृ. 101.
4. जाफर, पृ. 168.
5. वही, पृ. 169.

और शूद्र के शव को दफनाने का नियम था, परन्तु इस सदी में हिन्दुओं को जलाने की प्रथा लगभग सर्वव्यापी थी ।[1] किसी हिन्दू की मृत्यु होती अथवा वह मरने के निकट होता था तो शीघ्र ही उसे जमीन पर लिटा दिया जाता था, मंत्रोच्चारण किया जाता था और सम्बन्धी लोग गरीबों को दान देते थे, जिससे मृतक की आत्मा को शांति प्राप्त हो सके । यदि गंगा का पवित्र जल उपलब्ध होता था तो मृतक के शरीर पर छिड़क दिया जाता था। आज भी यह क्रियायें की जाती हैं। ब्राह्मण को उपहार स्वरूप एक गाय दान में दी जाती थी और मृतक व्यक्ति के सीने पर कुछ तुलसी के पत्ते रख दिये जाते थे । दाह संस्कार के पश्चात् एक वर्ष के भीतर श्राद्ध किया जाता था।[2]

मुस्लिम समाज में शव को जलाने की अपेक्षा जमीन में दफनाने की प्रथा थी, जो आज भी विद्यमान है। मुसलमान मृतक की आत्मा की शांति के लिए कुरान का पाठ करते थे । मृत्यु के उपरान्त तीसरे और चालीसवें दिन सोएम तथा चेहल्लुम संस्कार मनाया जाता था ।[3] इस अवसर पर भोजन का प्रबन्ध किया जाता था। भोजन गरीबों में बाँटा जाता था, सामान्यतया इस सन्दर्भ में उनकी यह धारणा थी कि इससे मृतक व्यक्ति की आत्मा को शांति मिलेगी । यह कार्य शोक संतप्त परिवार की क्षमता पर ही किया जाता था।[4]

वेश्यावृत्ति

16वीं सदी में वेश्यावृत्ति अभिशाप के रूप में विद्यमान थी। यद्यपि भारत में प्राचीन समय में भी इनके उदाहरण मिलते हैं, परन्तु उस समय उन्हें गणिका, देवदासियाँ, आदि कई नामों से पुकारा जाता था।

---

1. ग्रियर्सन, पृ. 395.
2. अशरफ, पृ. 183.
3. वही, पृ. 185 ; जाफर, पृ. 169.
4. जाफर, पृ. 169.

मध्ययुग में व्यभिचार जीवन का आवश्यक अंग था, अतः वेश्यायें भी समाज में सामाजिक बुराइयों के रूप में विद्यमान थीं । यद्यपि सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने इसे रोकने का प्रयास किया था, परन्तु वह असफल रहा और यह मुगल युग में भी विद्यमान रही । बिहार के समाज में यह पूर्णतया स्थापित हो चुकी थी । समाज में इनकी स्थिति दयनीय थी । बिहार में उन्हें शर्म-हीन और केवल पैसे से लगाव रखने वाला प्राणी माना जाता था ।[1]

समाज में यदि वेश्याओं के प्रति एक ओर घृणा थी[2] तो दूसरी ओर प्रत्येक सामाजिक उत्सवों में उन्हें आमंत्रित भी किया जाता था। इन वेश्याओं का सम्बन्ध संगीत तथा नृत्य के कार्यक्रमों से अधिक था, जो सामाजिक मनोरंजन के कार्यक्रमों में महत्वपूर्ण स्थान रखता था। उपेन्द्र ठाकुर "हिस्ट्री ऑफ मिथिला" में लिखते हैं कि - "वेश्याओं की आर्थिक स्थिति से उस युग में किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं थी, यही कारण थी कि अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत करने की दृष्टि से वेश्यावृत्ति में अधिक वृद्धि हुयी ।"[3] यदि वास्तव में देखा जाय तो नैतिकता के आधार पर कभी भी वेश्यावृत्ति को समाप्त करने के उच्च स्तर पर प्रयास नहीं किये गये और न नियंत्रण ही किया जा सका, परिणामस्वरूप यह प्रथा समाज का अंग बनी रही ।

खान-पान

साधारणतया लोग शाकाहारी थे, परन्तु सामिष भोजन वर्जित नहीं था। खाद्य पदार्थों में चावल, गेहूँ, दालें, गन्ना मुख्य थे ।[4] उच्च वर्ग के लोग शाह पसन्द और बासमती चावल का अधिक प्रयोग करते थे । इसके अतिरिक्त

---

1. जे.बी.आर.एस., जिल्द 37, पृ. 121-23, 183-91.
2. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 366.
3. वही.
4. ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ. 62.

सब्जी, दूध, दही[1], मक्खन, खीर आदि का भी प्रयोग किया जाता था। पथिकों का सामान्य भोजन सिवई और दूधमें पका हुआ चावल अथवा खीर था।[2] घी और मक्खन अधिकता से मिलने के कारण सभी वर्ग के लोग इसका प्रयोग करते थे। चावल कई प्रकार से बनाया जाता था, परन्तु चावल की खिचड़ी अधिक प्रसिद्ध थी। चावल को कभी-कभी चीनी के साथ और कभी माँस डालकर खाया जाता था।[3] चीनी और गुड़ का उत्पादन बिहार का प्रमुख कार्य था। इसलिए मिठाइयों का सेवन भी किया जाता था।[4] गेहूँ बिहार की मुख्य उपज थी, इसलिए वहाँ के निवासियों का मुख्य भोजन चपाती अथवा रोटी भी था। जहाँ तक दाल का प्रश्न है उस समय बिहार में अरहर, मूँग, केसारी, मसूर और खेड़ा जैसी दालें उपलब्ध थीं।[5] अबुल फजल लिखता है कि - दालें मटर के समान थीं और बिहार के ग्रामीण केसारी दाल खाने को बाध्य होते थे, जिससे लोग प्रायः रोग ग्रसित हो जाते थे।[6] चम्पारन में उड़द की दाल अत्यधिक मात्रा में पायी जाती थी, इसलिए इसका भी सेवन किया जाता था।[7]

निर्धन वर्ग का भोजन सादा था। वे रोटी, पके हुये चावल व दाल का प्रयोग करते थे। खिचड़ी साधारण वर्ग के लोगों का अधिक प्रिय भोजन था।[8]

---

1. तिरहुत दही के लिए विख्यात था। -आईन, भाग 2, पृ. 165 ; ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ. 68.
2. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 366.
3. ए. रशीद, पृ. 46.
4. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, भाग 4, 1938, पृ. 546.
5. कयामुद्दीन अहमद : पटना थ्रू द एजेस, पृ. 180.
6. आईन, भाग 2, पृ. 164.
7. वही, पृ. 165 ; ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ. 63.
8. वही, पृ. 164.

मदठा का सेवन भी किया जाता था ।[1]

मांस का भी प्रचलन था। पेल्सार्ट ने लिखा है कि - "हिन्दू लोग मांस छूते तक नहीं थे ।"[2] लेकिन यह कथन केवल ब्राह्मण एवं वैश्य पर ही लागू होता है । (वह भी मद्रास, महाराष्ट्र और गुजरात जैसे स्थानों के ब्राह्मण पर ही लागू था)। मुस्लिम परिवारों में सामान्यरूप से मांस का प्रचलन था, जिसे वे विभिन्न प्रकार से पकाते थे ।[3] कबाब, कीमा, पुलाव, तथा मीठे में हलवा व फलूदा, शकरपारा उनका मुख्य भोजन था । हिन्दू तथा मुस्लिम सभी जमीन पर आसानी बिछाकर भोजन करते थे, जिसे दस्तरखान कहा जाता था।[4]

मछली लगभग सारे उत्तर भारत में खायी जाती थी । बिहार में तो इसका व्यापार भी किया जाता था ।[5] बकरे का मांस भी सेवन किया जाता था। इसका प्रमुख कारण यह था कि बिहार में बकरे पाले जाने के कारण ये आसानी से प्राप्त हो जाते थे ।[6]

उच्च तथा मध्यम वर्ग के लोग फलों का सेवन करते थे । उस समय बिहार में आम, खजूर, केला, खरबूजा, संतरा, जामुन, अंजीर, अनार, अमरूद आदि फल उपलब्ध थे । हाजीपुर कटहल, बड़हल के आधिक्य के लिए विख्यात था।[7]

---

1. जे.बी.आर.एस., जिल्द 54, दरभंगा, 1964, पृ. 382.
2. फ्रांसिको पेल्सार्ट : जहाँगीर्स इण्डिया , अनु. मोरलैण्ड और जी पी जिल कैम्ब्रिज, 1925, पृ. 32.
3. वही, पृ. 39.
4. रशीद, पृ. 178.
5. जे.बी.आर.एस., भाग 54, पृ. 386.
6. ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ. 67.
7. आईन, भाग 2, पृ. 164.

तिरहुत में संतरों के पेड़ मीलों तक कतारों में दिखायी देते थे । शहतूत सामान्यतया 3 इंच लम्बा, 3 इंच मोटा होता था और स्वाद में मीठा होता था। आम भी बहुतायत में थे ।[1]

अबुल फजल के द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है, वह लिखता है कि -"भागलपुर से बराही तक ताड़ी के वृक्ष तथा आम के वृक्ष की भरमार थी, ये कतारों में लगे हुये दिखायी देते थे ।[2] इसके अलावा केले के वृक्ष हर घर में पाये जाते थे । उपेन्द्र ठाकुर लिखते हैं कि - "मिथिला में प्रत्येक घर में केले के वृक्ष पाये जाते थे ।"[3]

पान अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध होने के कारण, भोजन के पश्चात् पान खाने की प्रथा थी, विशेषकर मगही पान । उच्च वर्ग एवं मध्यम वर्ग के लोग पान में सुगन्धित मसालों का उपयोग करते थे ।[4]

समाज में मादक द्रव्यों का भी प्रचलन था, लेकिन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जाति की स्त्रियों के लिए मद्यपान निषिद्ध था ।[5] शराब अंगूर, ताड़ी, खजूर आदि से तैयार की जाती थी। इस्लाम में नशीली वस्तुयें वर्जित थीं, किन्तु उच्च वर्ग के लोग इस नियम का पालन न कर शराब का प्रयोग करते थे। औरंगजेब को छोड़कर शेष सभी मुगल शासक मद्यपान प्रेमी थे, यद्यपि मुगलकाल में नशीली वस्तुओं के विक्रय तथा मदिरा आदि पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था ।[6]

---

1. ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ॰ 8,63.
2. आईन, भाग 2, पृ॰ 165 ; बाबरनामा, पृ॰ 680.
3. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ॰ 366.
4. आईन, भाग 2, पृ॰ 164 ; ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवलबिहार इकोनामी, पृ॰ 7.
5. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ॰ 21.
6. श्रीराम शर्मा : मुगल गवर्नमेंट एडमिनिस्ट्रेशन, पृ॰ 263.

अन्य मादक वस्तुओं में ताड़ी, अफीम, भांग का भी प्रयोग किया जाता था। पर्व तथा उत्सवों में लोग ताड़ी का प्रयोग करते थे, जो स्वाद में उत्तम थी ।[1]

पर्व तथा त्योहार

के. एम. अशरफ लिखते हैं कि - "भारतवर्ष में धार्मिक त्योहार तथा मेला सर्वसाधारण के लिए आनन्द का अवसर होता था। सामाजिक तथा धार्मिक परिवर्तनों के बावजूद भी इनका अस्तित्व बना रहा और प्रत्येक युग में इनकी अभिवृद्धि होती रही ।"[2] सार्वजनिक मेलों तथा उत्सवों में सभी मित्र तथा सम्बन्धी आपस में मिला करते थे और आनन्द मनाते थे । हिन्दुओं के त्योहारों में मुसलमान वर्ग के लोग भी बिना भेदभाव के सम्मिलित होते थे ।[3] उदाहरण के लिए मथुरा, प्रयाग, हरिद्वार, गढ़मुक्तेश्वर, गया, उज्जैन आदि स्थानों पर वर्ष में कुछ दिनों के लिए मेले लगते थे । जहाँ स्त्री, पुरुष, बच्चे एकत्र होते थे और आनन्द मनाते थे । गया वैष्णव धर्म का महान् केन्द्र था ।[4]

हिन्दू त्योहार दशहरा या विजयदशमी क्षत्रियों का प्रसिद्ध त्योहार था। इस दिन (सितम्बर-अक्टूबर में) राजपूत और क्षत्रीय शक्ति की पूजा करते थे । शिव और शक्ति उनके मुख्य आराध्य देव थे ।[5] सर्वसाधारण वर्ग भी इस त्योहार में आनन्द लेता था ।

---

1. ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ. 63, 65.
2. अशरफ, पृ. 237.
3. स्टडीज इन इस्लाम (जर्नल), 1965, पृ. 25.
4. बिहार वासियों का जीवन और उनकी चिन्ताधारा, पृ. 15.
5. जे.बी.आर.एस., जिल्द 33, पृ. 52. ; हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ.373.

शिवरात्रि माघ के महीने में शंकर और पार्वती के विवाह के उपलक्ष्य में मनाया जाता था। अबुल फजल ने लिखा है कि - "साल में एक बार रात्रि में सभी योगीगण तथा सम्राट एकत्रित होते थे और इस व्रत में एक-दूसरे के प्रति निष्ठा, प्रतिनिष्ठा और भगवान् शिव के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करते थे।"[1]

बसंत पंचमी माघ शुक्ल पक्ष पंचमी को बसंत ऋतु के आगमन के उपलक्ष्य में, हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता था।[2]

होली हिन्दुओं का प्राचीन त्योहार होने के कारण, आधुनिक युग की भाँति सभी वर्गों द्वारा फाल्गुन के महीने में मनाया जाता था। होलिका-दहन के दूसरे दिन रंग तथा गुलाल खेला जाता था। मलिक मुहम्मद जायसी लिखते हैं कि - "होलिका दहन के दूसरे दिन गुलाल का इतना अधिक प्रयोग होता था कि सम्पूर्ण आकाश ही लाल दिखायी देता था।"[3]

दीपावली वर्तमान युग की भाँति उस युग में भी कार्तिक कृष्ण पक्ष अमावस्या को मनाया जाता था। सांयकाल दीप जलाने के बाद गणेश तथा धन की देवी लक्ष्मी की पूजा की जाती थी। जुआ खेलना पवित्र और धार्मिक कृत्य माना जाता था।[4]

रक्षा बन्धन हिन्दुओं का सबसे अधिक महत्वपूर्ण त्योहार था, जो सावन के महीने में पूर्णिमा को मनाया जाता था। यह प्रथा इतनी अधिक प्रचलित हो गयी कि स्त्रियाँ दूसरी जाति के मनुष्यों को भी राखियाँ बाँधने

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 388.
2. अशरफ, पृ. 238.
3. वही, पृ. 238.
4. आईन, भाग I, पृ. 319.

लगीं। मुगल सम्राट अकबर ने इसे राष्ट्रीय त्योहार की संज्ञा दी और स्वयं अपना कलाई पर राखी बंधवाने लगा ।[1]

इन त्योहारों के अलावा हिन्दुओं के अन्य त्योहारों में रामनवमी का त्योहार चैत्र मास में, और कृष्ण जन्माष्टमी भादों की अष्टमी को मनाया जाती थी ।

मुस्लिम त्योहार

13वीं और 14वीं शताब्दी में बिहारवासियों के सामाजिक जीवन में एक नये धर्म, इस्लाम धर्म का समावेश हुआ , जो विजयी मुसलमानी सेनाओं के साथ आया। इनके प्रमुख त्योहार इदुलफित्र, इदुल अजाह, मुहर्रम, शब-ए-रात, नौरोज, पैगम्बर मुहम्मद का जन्म तथा बरसी थे ।[2] इनका संक्षिप्त उल्लेख निम्न है - इदुलफित्र,मुसलमानों का प्रमुख पर्व था। यह रमजान अथवा रोजा तोड़ने के बाद मनाया जाता था ।[3] आज की भाँति इदुल अजाह बकरीद के नाम से भी जाना जाता था। यह त्योहार बलिदान से सम्बन्धित था। इस अवसर पर स्वस्थ भेड़-बकरी आदि की बलि दी जाती थी । मुगलकाल में यह त्योहार बड़े धूम-धाम से मनाया जाता था । प्रांतीय राज्यों में बादशाह का प्रतिनिधित्व वहाँ के सूबेदार करते थे । सर्वसाधारण वर्ग सामूहिक रूप से एकत्र होकर ईदगाह में नमाज पढ़ते थे ।[4]

मुहर्रम के साथ मुस्लिम वर्ष का प्रारम्भ होता है। यह मुसलमानों के लिए शोक का महीना होता था। इसमें हजरत इमाम हसन और हुसैन को याद

---

1. अकबरनामा, भाग III, पृ. 403.
2. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 27.
3. पी.एन. चोपड़ा : सोसाइटी ऐण्ड कल्चर ड्यूरिंग मुगल एज, आगरा, 1955, पृ. 106.
4. अकबरनामा, भाग II, पृ. 51.

किया जाता था, जो करबला में सत्य के लिए बलिदान हुये थे ।

शब-ए-रात का त्योहार शाबान की 14 ता. को मनाया जाता था। ए. रशीद लिखते हैं कि - "मुसलमानों का विश्वास है कि अल्लाह इसी रात को भावी वर्ष का सुख तथा वैभव पूर्ण जीवन निश्चित करते हैं।[1] इस दिन मुसलमान रात भर जागरण करते थे और खुदा का स्मरण करते थे तथा मजारों पर "फतहा" भी पढ़ा करते थे । डॉ. अशरफ लिखते हैं कि - "यह त्योहार सम्भवतः हिन्दू त्योहार शिवरात्रि की नकल है ।"[2]

नौ रोज का त्योहार मुगल काल की देन है। वास्तव में यह ईरानी त्योहार है। अशरफ ने इसे बसंत का त्योहार माना है। वे लिखते हैं कि यह त्योहार बड़े बगीचों में, नदी के किनारे, संगीत तथा फूलों के साथ मनाया जाता था ।[3] यह औरंगजेब से पूर्व तक मनाया जाता रहा ।

बरावफात का त्योहार रबी-उल-अव्वल की 12 ता. को खुशियों के साथ मनाया जाता था। यह पैगम्बर मुहम्मद साहब के जन्म एवं मृत्यु से सम्बन्धित है ।

इन त्योहारों के अतिरिक्त ईद मौलाद, आखिरी चहार शम्बा, चहल्लुम आदि त्योहार भी थे, जो भारतीय मुसलमानों द्वारा पूरे मध्ययुग में मनाये जाते रहे ।

वस्त्राभूषण

समाज में विभिन्न वर्गों (शाही, उच्च एवं निम्न) एवं जातियों के

---

1. रशीद, पृ. 122.
2. अशरफ, पृ. 241.
3. वही.

एक साथ निवास करने के कारण मध्ययुग में उनके पहनावे के तरीके में भी विभिन्नता थी । केवल एकरूपता कहीं पायी जाती थी तो वह कृषक एवं गरीब वर्ग में, जो मुख्यतः कम से कम वस्त्रों में ही अपना जीवन यापन करता था। इसकी पुष्टि बाबरनामा से भी होती है । वह लिखता है कि - "किसान और छोटे तबके के लोग नंगे पैर चलते थे और लंगोट बाँधे थे ।"[1]

पुरुष परिधान

हिन्दू समाज में उच्च वर्ग के लोग कमर के नीचे घुटने तक धोती पहनते थे और उसके साथ कन्धे पर दुपट्टा या शाल लेते थे । जाड़े में अंगरखा व एक बड़ी कोट भी पहनते थे । रजाई और दोहर का भी प्रयोग किया जाता था ।[2] विशेष अवसरों पर ये मुसलमानों की तरह जोड़ा भी पहनते थे। मिश्रा लिखते हैं कि - "बिहारी त्योहार आदि अवसरों पर पैजामा, चपकन, चोंगा, पगड़ी और चमड़े के जूते पहनते थे ।"[3]

मध्यम वर्ग के पुरुष धोती, अंगरखा, मलमल का लबादा धारण करते थे। जाड़े में वे शाल और दोहर इस्तेमाल करते थे । इसके अलावा वे भी प्रमुख अवसरों पर पैजामा, चपकन,टोपी और चमड़े के जूते पहनते थे । मध्यम वर्गीय किसान और भू-स्वामी विभिन्न अवसरों पर सूती या सिल्क की जरसी अथवा जैकेट धारण करते थे ।[4]

निम्न वर्ग के लोग धोती अथवा सूती कपड़ा लपेटते थे । जाड़े में दोहर का प्रयोग करते थे । खेती करने वाला मजदूर गमछा का प्रयोग करता था। गमछे

---

1. बाबरनामा, पृ॰ 519.
2. बचनन : एन एकाउण्ट ऑफ पूर्णियाँ, पृ॰ 139-140.
3. एस.सी. मिश्रा : बिहारी लाइफ इन बिहारी रिडलेस,पृ॰ 18-19; उद्धृत कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ॰ 349.
4. वही.

को सिर पर भी पगड़ीनुमा बाँधता था। ये जाड़े में कम्बल का प्रयोग करते थे। यही कम्बल उनके लिए बिस्तर एवं छतरी का भी काम करता था।[1]

हिन्दुओं में कई प्रकार की टोपी का भी प्रचलन था। भागलपुर के ब्राह्मण गोल सूती टोपी पहनते थे। सरन और तिरहुत में टोपी को मुंडा, दुपलिया, चारपलिया, कनटोप और कन्दर टोपी कहा जाता था। जाड़े में हिन्दू गरम टोपी और गर्मी में मुस्लिम टोपी पहनते थे। किसी संस्कार अथवा समारोह के समय हिन्दू पगड़ी धारण करते थे।[2]

उच्च वर्ग के लोग आरामदायक जूते पहनते थे, परन्तु गरीब तबका जूतों को घर में न पहनकर बाहर जाने पर ही पहनता था।[3] उच्च वर्ग के लोग साधारणतया जरी के काम का नागरा जूता पहनते थे।[4]

सम्पन्न मुस्लिम पुरुष वर्ग अपने वस्त्रों के प्रति विशेष सजग था। वे लम्बा वस्त्र पहनते थे, जिसे काबा कहा जाता था। इसके नीचे वे कमीज और पायजामा पहनते थे। फरगुल एक प्रकार का फरकोट था, जिसका उपयोग शीतकाल में किया जाता था। हुमायूँ ने सबसे पहले इसका प्रयोग किया था।[5] जामा जोड़ा का भी प्रचलन था। जाड़े के दिनों में कन्धे पर वे लम्बा शाल ओढ़ा करते थे। अन्य लोग कोट, फर की टोपी, सूती या ऊनी मोजा पहनते थे।[6]

---

1. मिश्रा, पृ. 19-20.
2. सावित्री सरन, पृ. 82-83.
3. बुकानन : एन एकाउण्ट ऑफ बिहार ऐण्ड पटना, पृ. 280.
4. वही : एन एकाउण्ट ऑफ दि डि. ऑफ भागलपुर इन 1810-11, पटना 1939, पृ. 83.
5. अशरफ, पृ. 209.
6. सावित्री सरन, पृ. 88.

मध्यम वर्गीय भी उत्सव व विशेष अवसरों पर जोड़ा पहनते थे, परन्तु उनके कपड़े उच्च वर्ग की तुलना में हल्के थे। प्रायः प्रत्येक दिन वे लुंगी, दुपट्टा, टोपी, व लकड़ी की खड़ाऊं धारण करते थे। जाड़े में वे दोहर और पगड़ी धारण करते थे।[1]

साधारण वर्ग के अन्तर्गत कृषक, कारीगर तथा श्रमिक थे। आर्थिक साधनों के अभाव के कारण इनके लिए अच्छा वस्त्र पहनना सम्भव नहीं था। साधारणतया वे लुंगी लपेटते थे, पर जाड़े में वे पायजामा पहनते थे। निर्धन वर्ग के लोग लंगोटी पहनकर ही संतुष्ट रहते थे और जाड़े में गुदड़ी का प्रयोग करते थे।[2]

स्त्रियोचित् परिधान

सामान्यतया हिन्दू स्त्रियाँ साड़ी पहना करती थीं। परन्तु पटना की कुछ राजपूत स्त्रियाँ सिल्क का DRAWERS पहनती थीं। लम्बी चोली व अंगिया भी पहना करती थीं। कभी-कभी वे सिल्क या सूती कपड़ा कमर में कस कर लपेट लेती थीं, जो पेटीकोट का कार्य करता था। इसके ऊपर वे साड़ी पहनती थीं।[3]

उच्च घरानों की स्त्रियाँ घाघरा तथा दुपट्टा (मलमल या सिल्क का) पहनती थीं। जब वे बाहर निकलती थीं तो सोने अथवा चाँदी के काम से अलंकृत दुपट्टे पहनती थीं। शादी-विवाह जैसे अवसरों पर सिल्क की साड़ी का अधिक प्रचलन था।[4] स्त्रियाँ विभिन्न रंगों की चुनरियों का भी प्रयोग करती थीं।

---

1. बचनन : एन एकाउण्ट ऑफ पूर्नियाँ, पृ. 136-137.
2. वही.
3. मनूची, भाग 3, पृ. 40 ; पटना डि.गजेटियर, पृ. 46-7.
4. सावित्री सरन, पृ. 85.

मध्यमवर्गीय स्त्रियाँ अधिकतर छपी हुयी अथवा छींट की साड़ी पहनती थीं, परन्तु विभिन्न अवसरों पर वे सिल्क अथवा मलमल की साड़ी ही पहनती थी। जाड़े के दिनों में ये शाल की तरह दूसरी साड़ी के टुकड़े को कन्धे पर लपेट कर रखती थीं, जबकि कुछ मध्यमवर्गीय स्त्रियाँ मलमल के कपड़े को दोहरा करके ओढ़ती थीं।[1]

निम्न वर्गीय स्त्रियाँ साड़ी और कुर्ता धारण करती थीं। उन्हें महीनों नहीं धुलती थीं, जब तक कि कोई उत्सव या त्योहार नहीं आ जाता था। जाड़े से बचने के लिए वे कपड़े के दो टुकड़ों को सिलाई द्वारा जोड़कर शाल जैसा बनाती थीं और उसे ओढ़ती थीं। आर्थिक साधनों के अभाव के कारण ये जूते नहीं पहनती थीं।[2]

उच्चवर्गीय मुस्लिम औरतें एक प्रकार का गाऊन पहनती थीं, जिसे पेशवाज कहा जाता था और जो ऊपर से लेकर नीचे तक लम्बा होता था। इसके निचले किनारे पर सोने तथा चाँदी का काम रहता था। वे अंगिया और दुपट्टा जिसे एक पट्टा कहा जाता था प्रयोग करती थीं। इसके अलावा वे कुर्ता शलवार भी पहनती थीं। जाड़े के समय वे कढ़ा हुआ शाल अंगिया और सिल्क का कुर्ता पहनती थीं।[3]

मध्यमवर्गीय मुस्लिम स्त्रियाँ चूड़ीदार पैजामा या शलवार तथा अंगिया और चादर का इस्तेमाल करती थीं। अधिकतर ये बाराहथी साड़ी पहना करती थीं। एक साधारण स्त्री रंगीन व छींट दार साड़ी पहनती थी।[4]

---

1. बचन : एन एकाउण्ट ऑफ पूर्नियाँ, पृ. 141-42.
2. सावित्री सरन, पृ. 86-87.
3. बचन : एन एकाउण्ट ऑफपूर्नियाँ, पृ. 138.
4. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 352.

यद्यपि इस सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं है, फिर भी इस क्षेत्र में प्राप्त लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेशभूषा के प्रति भारत की जनता में विशेष रुचि थी ।

आभूषण

शरीर को सुसज्जित करने के लिए आज की भाँति उस काल में भी आभूषणों का प्रचलन था। हिन्दुओं में आभूषण सुहाग का प्रतीक समझा जाता था। आभूषण बहुधा सोने-चाँदी के होते थे । बिहार में आभूषणों का प्रयोग बहुतायत में किया जाता था। शाहाबाद, पटना, गया में पुरुष वर्ग कान में बाली पहनता था। ग्वाला लोग कुण्डल पहनते थे । इसके अतिरिक्त मोती, गोकुली अंटी और फरकी आदि कान के दूसरे आभूषण थे । गले में माला, कंठ, सिकड़ी, हार एक लम्बी जंजीर, गले के आभूषण थे । बाजुओं में बाजूबन्द, चौक्ठा, अनन्त और ताबीज आदि आभूषण पुरुषों द्वारा पहने जाते थे । [1]

अंगुलियों में अंगूठी पहनने का प्रचलन था। इसे मुंदरी, गोल और छेल्ला कहा जाता था। बालक प्रायः अपनी कलाई पर पंहुची या कड़ा, बेरवा व तोड़ा पहना करते थे । बालक पाँव में पाजेब और घुंघरू लगी पायल पहनते थे । गरीब बच्चे टिन के आभूषण धारण करते थे । [2]

स्त्रियाँ माथे पर माँग टीका और नाक में नथ, छुच्छी, नथिया, बुलाक या बेसर आदि पहना करती थीं । कान में स्त्रियाँ कर्णफूल, जिसे खुटटी, बिजली, बाली, झुमका, झिमझिमिया, आदि कहा जाता था पहना करती थीं। गले में चन्द्रहार, चम्पाकली, जुगनू, हसुली, ताबक और कतवार जैसे हार पहनती थीं । बाजू में बाजूबन्द, बिरखी आदि पहनने का भी प्रचलन था। बाहों में

---

1. ग्रियर्सन, पृ. 151-52.

2. वही.

आभूषण पहनने का अधिक प्रचलन था। अनन्त हिन्दू स्त्रियाँ पहनती थीं, जबकि मुस्लिम स्त्रियाँ जासन, बाजू, नबगात और अन्य आभूषण धारण करती थीं। कलाई में वे कंगन, कतवा, पहुँची, बाला, लघुरी और तोड़ा पहना करती थीं। इसके अतिरिक्त उन दिनों शीशे व लाख की चूड़ियों का भी प्रचलन था। 1541 ई. के पश्चात् हाजीपुर चूड़ियों का प्रमुख केन्द्रीय स्थल था ।[1]

स्त्रियाँ पुरुषों की भाँति अंगूठी भी धारण करती थीं, जिसे अंगूठा, अंगुस्ताना, मुंदरी और बदामी आदि नामों से पुकारा जाता था। कमर में करधनी का प्रचलन था। पाँव में घुँघरू लगे हुये पाजेब, और पाँव की अंगुलियों में छल्ला या बिछिया पहनती थी ।[2]

साधारणतया ये आभूषण टिन या पीतल के धातुओं में भी बनाये जाते थे ।[3]

सौन्दर्य प्रसाधन

साधारणतया स्त्रियों के बाल लम्बे होते थे, जिन्हें वे कई रूपों में संवारती थी । उस समय चमेली व नारियल के तेल अधिक मात्रा में उपलब्ध थे।[4] स्त्रियाँ आँख में काजल लगाती थीं । पुरुष काजल केवल विवाह के समय ही लगाते थे । बहुत सी स्त्रियाँ सुरमा का भी प्रयोग करती थीं । माँग में सिंदूर लगाने का भी प्रचलन था। सिंदूर सिंदूरदानी में रखा जाता था। माथे पर बिंदी या टिकुली लगायी जाती थी । बिहारी स्त्रियों में हाथों में मेंहदी लगाना आम बात थी। स्त्रियाँ गोदना की बहुत शौकीन थीं ।[5] बच्चन लिखते हैं कि अन्ध-

---

1. जे.बी.आर.एस., जिल्द 56, पटना, 1970, पृ. 187.
2. ग्रियर्सन, पृ. 155-56.
3. बच्चन : एन एकाउण्ट ऑफ बिहार ऐण्ड पटना, पृ. 280-81.
4. जे.बी.आर.एस., जिल्द 56, पृ. 186.
5. सावित्री सरन, पृ. 98-99.

विश्वासी हिन्दू उस कन्या के हाथ से पानी नहीं पीते थे, जो गोदना नहीं गोदवायी हो ।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि 16वीं सदी में वस्त्राभूषण सम्बन्धी पर्याप्त सुविधायें प्राप्त थीं ।

आर्थिक जीवन

भारत के अन्य क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था की तुलना में बिहार की अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी प्राप्त होती है। वस्तुतः प्राप्त जानकारी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बिहार की सामान्य जनता जैसे उद्यमी, कृषक, जुलाहा, निर्धन कलाकार, धैर्यवान कुम्हार आदि ने अप्रत्यक्ष रूप से मिलकर बिहार को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व सुदृढ़ बनाने में तथा विभिन्न देशों की आवश्यकताओं की पूर्ति में विशेष योगदान दिया । परिणामस्वरूप मध्ययुगीन बिहार {16वीं सदी से 18वीं सदी तक} एशिया, अफ्रिका और यूरोप के साथ आर्थिक सम्बन्ध की श्रृंखला में एक महत्वपूर्ण कड़ी बन गया ।[2]

उद्योग एवं व्यापार

16वीं 17वीं शताब्दी भारत के आर्थिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण काल रहा है। भारत में इस युग में मुगल साम्राज्य सुदृढ़ हुआ और बिहार का विकास एक महत्वपूर्ण विश्वव्यापक आर्थिक केन्द्र के रूप में हुआ। यहाँ से वस्तुएँ और खाद्य सामग्री विदेशों में भेजी जाने लगी । परन्तु इस विकास के पूर्व एक शताब्दी का इतिहास भी है, जब विदेशों से व्यापारी और यात्री बिहार आते रहे । इस प्रकार यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुगीन बिहार

---

1. बुचनन : एन एकाउण्ट ऑफ पूर्णियाँ, पृ. 143.
2. ग्लिम्पसेस ऑफ मेडियल बिहार इकोनामी, पृ. 45.

अपनी सम्पन्नता और आर्थिक गतिविधियों के लिए सर्व विख्यात था ।[1]

वस्त्र उद्योग

16वीं शताब्दी के आरम्भ में इटली का यात्री लुडविको-डी-बर्थेमा [1503-8 ई.] भारत आया। उसने उल्लेख किया है कि - "उस समय बिहार में पटना एक ऐसा पहला नगर दिखायी पड़ा, जहाँ सबसे अधिक धनी व्यापारी थे । उसके अनुसार - यहाँ की निर्यात वस्तुएँ सूती और रेशमी वस्त्र थे, जिनकी बुनाई पुरुषों ने की थी ।"[2]

बिहार में सिल्क उद्योग का विस्तार मुगल बादशाहों की प्रेरणा का फल था। मुगल कालीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि मुगलों ने बिहार में, विशेषकर पटना में सिल्क उद्योगों के विकास में महत्वपूर्ण कदम उठाया। अकबर के शासनकाल में बंगाल और पटना सिल्क के महत्वपूर्ण केन्द्र थे ।[3] टसर सिल्क उस काल में बंगाल से बिहार में आता था। सम्भवतः छोटा नागपुर में सिल्क के घने जंगल पाये जाते थे । सिल्क बनाने की प्रक्रिया में मूलतः पारम्परिक ढंग से पौधों पर रेशम के कीड़ों को रख दिया जाता था, जिनसे एक प्रकार का रेशा निकलता था, यही रेशा रेशम कहा जाता था, जो सिल्क के कपड़े की बुनायी में काम आता था। सिल्क उद्योग को सरकारी संरक्षण प्राप्त होते रहने के कारण 17वीं शताब्दी के आधे दशक तक पटना सिल्क के व्यापार का एक बड़ा केन्द्र बन गया ।[4] इस काल तक पटना में रेशम के धागे और विभिन्न प्रकार के सिल्क के कपड़े उपलब्ध हो गये थे ।

---

1. ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ. 45.
2. वही, पृ. 46.
3. जे.बी.आर.एस., जिल्द 58, पटना, 1972, पृ. 285.
4. जगदीश नरायन सरकार : दि सिल्क ट्रेड ऑफ पटना, इन अर्ली सेवेन्टींथ सेन्चुरी, इण्डियन हिस्ट्री क्वार्टर्ली, जिल्द 15, पृ. 208.

बिहार न केवल सिल्क उद्योग की दिशा में ही अग्रणी था, बल्कि सूती व ऊनी वस्त्रों के निर्माण की दिशा में भी प्रमुख स्थान रखता था। विभिन्न विदेशी यात्रियों {फिच, 1595 ; बर्थेमा, 1503-8 ; बारबोस ; जानमार्शल ; पीटरमुण्डी ; ट्रवेनियर ; बर्नियर आदि} के लेखों से यह पता चलता है कि पटना से मोकामा तक का क्षेत्र सिल्क और सूती वस्त्रों के निर्माण हेतु सम्पन्न क्षेत्र था ।[1] स्मिथ भी लिखते हैं कि - "16वीं सदी में पटना में कपास और सूती कपड़ों का विस्तृत व्यवसाय होता था ।"[2] कश्मीर, लाहौर और पटना ऊनी वस्त्रों के उद्योग के लिए विशेष प्रसिद्ध थे । धनी वर्ग के लोग विभिन्न प्रकार के सिल्क, लिनेन तथा कई किस्म के रोयेंदार वस्त्रों का प्रयोग करते थे । निर्धन वर्ग साधारण वस्त्रों तथा घटिया किस्म के कम्बल का प्रयोग करते थे ।

अन्य उद्योग

इस काल में बिहार में केवल सिल्क या सूती वस्त्रों का ही उद्योग नहीं होता था, बल्कि यह चमेली के तेल, कागज तथा सुन्दर मिट्टी के बर्तनों, हाथी दाँत की वस्तुओं, चूड़ियों, वाद्य सामग्रियों व अन्य महत्वपूर्ण वस्तुओं के निर्माण की दिशा में भी पूर्णतया सम्पन्न क्षेत्र था ।[3]

मिट्टी के बर्तनों के लिए पटना व हाजीपुर का क्षेत्र अति महत्वपूर्ण था। शोरा के उत्पादन के लिए पटना, घाघरा और हाजीपुर का मुख्य स्थान था ।[4] मुंगेर समतल क्षेत्र के रूप में जल मार्गों से जुड़ा होने के कारण व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ पर व्यापार की निम्न वस्तुयें थीं - जैसे सुन्दर कारीगरी के आभूषण, सुन्दर पच्चीकारी किये हुये पत्थर और हथियार {बन्दूक, पिस्तौल आदि} ।[5]

---

1. जे.बी.आर.एस., जिल्द 56, पृ. 186.
2. स्मिथ : महान मुगल अकबर, पृ. 443.
3. जे.बी.आर.एस., जिल्द 56, पृ. 186-87.
4. मनूची, जिल्द 2, पृ. 83 ; जे.बी.आर.एस., जिल्द 56, पृ. 186.
5. जे.बी.आर.एस., पृ. 187.

पटना पत्थर पर विभिन्न प्रकार की कारीगरी के लिए प्रसिद्ध था।[1] वास्तव में 16वीं शताब्दी में पत्थर काटने वालों की माँग अधिक थी और इस व्यवसाय ने पच्चीकारी की कला-कुशलता को अधिक समुन्नत किया। 1541 ई. के बाद और पटना के विकसित होने के मध्य हाजीपुर भी व्यापार का केन्द्र था। यात्रियों के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि हाजीपुर के उत्तरी क्षेत्रों में मिट्टी की वस्तुएँ, चूड़ियाँ, मिठाई, हाथी दाँत की वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थीं ।[2]

जान मार्शल के अनुसार भागलपुर में धनुष बाणों का बाजार था और कहलगाँव लाठियों के व्यापार के लिए विख्यात था ।[3] व्यापार जल एवं थल दोनों मार्गों से होता था। स्थल मार्ग के मुख्य साधन हाथी, घोड़ा, बैल एवं भार ढोने वाले वाहक थे । जल मार्ग से व्यापार नाव द्वारा होता था ।[4]

तत्कालीन समाज में वाणिज्य व्यवसाय अज्ञात विषय नहीं था। ज्योतिरेश्वर ने अपने वणिक पुत्र वर्णन में सुगन्धित पदार्थ, मसाले, द्रव्य, कपड़े आदि बहुत सी वस्तुओं की सूची दी है ।[5]

चम्पारन के जंगलों में काली मिर्च और लौंग स्वतः उपजती थी । इसका अन्य देशों के साथ व्यापार भी किया जाता था ।[6]

समाज के कुछ व्यक्ति मछली, कछुआ, जलचर जीवों का व्यापार करते

---

1. पटना थ्रू द एजेस, पृ. 185.
2. जे.बी.आर.एस., जिल्द 56, पृ. 187.
3. वही.
4. वही, जिल्द 54, पृ. 383.
5. वही, पृ. 382.
6. ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ. 63.

थे । ये लोग जलाशय से जलचर को मारकर बेचते थे । उस समय राज्य के सभी नदी, नद, पुष्करिणी आदि की बन्दोबस्ती कर दी जाती थी । बन्दोबस्त लेने वाले व्यक्तियों को यह राज्यादेश रहता था कि वे अपनी सुविधानुसार क्रय-विक्रय कर उचित राज्य कर दें ।[1] व्यापार में पूँजी का स्थान सर्वोच्च था। अतएव जिन व्यापारियों को पूँजी की कमी रहती थी वे व्यापार करने के लिए ऋण भी लेते थे । महाजनों को ऋण लेने वाले व्यापारियों को ऋण पत्री देनी पड़ती थी । एक व्यापारी वर्षो व्यवस्था पर ऋण लेता और इसके लिए उसे प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह प्रत्येक वर्ष व्यापार करने के बाद महाजन को निर्धारित सूद दिया करेगा ।[2]

मिथिला में साझाव्यापार की प्रथा प्रचलित थी । उस युग में अनेक व्यापारी मिलकर एक साथ व्यापार करते थे, जिसके लिए अनेक नियम कानून बने थे । साझा व्यापार करने वाले पहले आपस में मिलकर एक व्यवस्था कर लेते थे । यदि कहीं से ऋण लेना रहता था तो सब व्यापारी मिलकर महाजन को ऋण पत्री अथवा व्यवस्था पत्री लिखते थे। इसमें ऋण लेने की सारी बातों की चर्चा की जाती थी ।[3]

साझे के व्यापार में प्रमाद का कोई स्थान नहीं था। यदि कोई व्यापारी प्रमाद में धन नष्ट कर देता था तो उसे वह नष्ट किया हुआ धन लौटाना पड़ता था। साझेदारों को यह छूट रहती थी कि यदि साझेदार कुटिलता पूर्वक धन नष्ट करें तो उसे मूलधन देकर निर्लोभ पूर्वक हटा सकते हैं और अपनी इच्छानुसार दूसरे साझेदार को रख सकते हैं। साझे के व्यापार में यदि

---

1. जे.बी.आर.एस., जिल्द 54, पृ. 386-87.
2. विद्यापति : लिखनावली, पत्र संख्या 71, उद्धृत जे.बी.आर.एस., जिल्द 54, पृ. 387.
3. वही, पत्र संख्या 74, उद्धृत पृ. 388.

कोई साझेदार मर जाता था, तो उसका अंश (सम्पत्ति) उसके दयाद को दिया जाता था। दयाद के न रहने पर उसके सम्बन्धियों को दे दी जाती थी। यदि सम्बन्धी न हो तो वे आपस में बाँट लेते थे। यदि मृतक साझेदार विदेश का रहता था तो उसके अंश की सुरक्षा तत्कालीन राज्य करता था। यदि 10 वर्ष के अभ्यान्तर मृतक के दायाद या सम्बन्धी नहीं आते थे तो वह धन राज्य का हो जाता था।[1]

जहाँ तक घरेलू उद्योग-धन्धों का प्रश्न है, घरेलू उद्योग-धन्धे जैसे - सूत-कातना, कपड़े बुनना, उसी रूप में था जैसा कि आज भी गाँवों में पाया जाता है। अन्य छोटे उद्योग धन्धों में टोपी बनाना, जूते बनाना, शस्त्र बनाना, से लेकर धनुष एवं तीर बनाना आदि विशेष रूप से था।

हाट एवं बाजार

16वीं सदी में बिहार में स्थान-स्थान पर हट्टियाँ लगती थीं। हाट पर वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए अनेक घर बने होते थे। उन घरों की शोभा बढ़ाने वाले हट्टोपजीवी होते थे। इनके बिना हाट श्रीहीन हो जाता था। प्रत्येक वस्तु को हाट अलग-अलग सुसज्जित रहती थी और उस हाट का नाम उस वस्तु के नाम पर पड़ जाता था। जैसे - धनहटा, सोनहटा, पनहटा, मछहटा इत्यादि।[2] इससे ज्ञात होता है कि हाट लगती थी, जिससे अनेक वस्तुएँ एक ही स्थल पर उपलब्ध हो जाती थीं। समाज के कुछ व्यक्ति हाट पर वस्तुओं की खरीद एवं बिक्री से अपनी जीविका चलाते थे।

---

1. जे.बी.आर.एस., जिल्द 54, पृ. 388.
2. विद्यापति : कीर्तिलता, सम्पा. बाबू राम सक्सेना, पृ.28-29 ; जे.बी.आर.एस., जिल्द54, पृ.385-86.

कृषि उत्पादन

वर्तमान युग की भाँति मुगलकाल में बिहार कृषि प्रधान क्षेत्र था। आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन का आधार कृषि ही रहा है। देश की आर्थिक सम्पत्ति व समृद्धि कृषक ही थे ।

अबुल फजल के अनुसार - "बिहार में कृषि उन्नत पर थी ।"[1] मुगलकाल में कृषि उत्पादन दो भागों में बँट थे - 1. खाद्य पदार्थ, जिन्स-ई-गल्ला या कम मूल्य के कृषि उत्पादन ; 2. जिन्स-ई-आला या जिन्स-ई-कामिल जैसे - रूई, गन्ना, पान इत्यादि ।[2] खाद्य पदार्थों में चावल, गेहूँ, दाल मुख्य थे । अबुल फजल ने पटना के चावल का मुख्य रूप से उल्लेख किया है, जो मात्रा और गुणों में सर्वोत्तम था ।[3] बावरे ने पटना के चावल का उल्लेख करते हुये कहा है कि - "राज्य में इसकी मात्रा सबसे अधिक थी,। पटना की भूमि इतनी उर्वरा थी कि यह बंगाल के लिए भी चावल पूर्ति करता था। इनमें शाह पसन्द और बासमती दो प्रमुख प्रकार की चावल की किस्में थीं । इस तरह चावल का व्यापार अन्य प्रांतों से भी होता था ।[4]

गेहूँ वर्तमान के समान ही इलाहाबाद, अवध, खानदेश और बिहार में उपजाया जाता था।

दाल के सम्बन्ध में अबुल फजल ने उल्लेख किया है कि दाल मटर के समान थी । गरीब वर्ग के लोग केसारी दाल का सेवन करते थे, जिससे प्रायः वे रोगग्रसित भी हो जाते थे ।[5] उस समय बिहार में अरहर, मूँग, केसारी,

---

1. आईन, भाग 2, पृ. 164 .
2. ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ. 61-62.
3. आईन, भाग 2, पृ. 164.
4. ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ. 62.
5. वही, पृ. 63 ; आईन, भाग 2, पृ. 164.

मसूर और खेसारी आदि दालें उपलब्ध थीं ।[1] चम्पारन में उड़द की बहुतायत थी। उड़द के बीज को बिना जोती हुयी भूमि पर डाल दिया जाता था और वे स्वतः ही उपज जाती थी।[2]

तिरहुत और उसके आस-पास के क्षेत्र चावल उत्पादन के प्रमुख केन्द्र थे। यहाँ से चावल पटना और उसके नजदीक के इलाकों में भेजा जाता था ।[3]

मसालों में काली मिर्च, लौंग जो चम्पारन के जंगलों में स्वतः ही उपजती थी, व्यापार की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण थी ।[4]

मुगलकाल में भारत में गन्ने की खेती रुई से कहीं अधिक थी । बारबोसा उल्लेख करता है कि - हालाँकि बिहार में उन दिनों उत्तम कोटि की चीनी बनायी जाती थी, किन्तु चीनी के दानों को मिलाकर उसे बड़े आकार में ढालने की क्रिया नहीं आती थी, इसलिए इसे चमड़े के थैलों में रखकर सी दिया जाता था। इन थैलों को जहाजों द्वारा निर्यात किया जाता था। अधिकतर चीनी पटना से ही आती थी । राल्फ फिच का कहना है कि - पटना से चीनी बंगाल और भारत के अन्य स्थानों पर ले जायी जाती थी ।[5] चीनी और गुड़ का उत्पादन बिहार का मुख्य उत्पादन था, बिहार के ग्रामवासियों का मुख्य व्यवसाय था ।

मुगलकाल में भारत के अन्य स्थानों (मुल्तान, सेवान, मारवाड़, मेवाड़, गुजरात, बेरार आदि) के अलावा बिहार और मालवा में भी अफीम की खेती

---

1. पटना थ्रू द एजेस, पृ. 180.
2. ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ. 63.
3. पटना थ्रू द एजेस, पृ. 180.
4. ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ. 63.
5. वही, पृ. 64.

होती थी । राल्फ फिच ने अकबर के काल में इसका व्यापार अधिकता से देखा था । अफीम का उत्पादन पटना में अत्यधिक मात्रा में होता था। यहाँ से अफीम देश के अन्य भागों में भेजी जाती थी ।[1]

अफीम के साथ-साथ बिहार पान व सुपारी के लिए प्रसिद्ध था। पटना और शाहाबाद पान-सुपारी के प्रमुख केन्द्र थे ।[2]

मध्ययुगीन बिहार में फलों का उत्पादन वर्तमान की अपेक्षा कहीं अधिक था। सरकार हाजीपुर कटहल, बड़हल, और अमरूद के आधिक्य के लिए विख्यात था। तिरहुत में संतरों के पेड़ बहुतायत में थे । शहतूत की खेती भी होती थी । शहतूत सामान्यतया 3 इंच लम्बे और 3 इंच मोटे होते थे । स्वाद में ये अत्यंत मीठे होते थे ।[3] भागलपुर से बरारी तक ताड़ के वृक्ष तथा आम के वृक्षों की भरमार थी, जो कतारों में लगे होते थे ।[4] आम का उत्पादन भी पर्याप्त मात्रा में था। आम के उत्पादन के लिए पटना विशेष प्रसिद्ध था ।[5] इसके अलावा केले की भी खेती होती थी । उपेन्द्र ठाकुर लिखते हैं कि - "मिथिला में केले के वृक्ष बहुतायत में थे ।"[6]

कागज, हाथी दाँत, लाख और सोने का उत्पादन बिहार का मुख्य व्यवसाय था। पटना कागज और सोने का प्रमुख केन्द्र था ।[7]

---

1. पटना थ्रू द एजेस, पृ. 186 ; स्मिथ, पृ. 443.
2. वही, पृ. 182.
3. ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ. 8, 63.
4. आईन, भाग 2, पृ. 165 ; बाबरनामा, पृ. 680.
5. ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ. 63.
6. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 366.
7. ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ. 67-68.

कैम्बे का कागज पूर्वी भारत के विभिन्न स्थानों में बनता था, जिनमें बिहार अपना अलग महत्व रखता था। कागज टिकाऊ होते थे, उन पर लिखी गयी हस्तलिपियाँ आज भी सुरक्षित मिलती हैं। इन कागजों पर फूलों की डिजा-इनें भी बनी रहती थीं । ये डिजाइनें कभी-कभी दृश्य को स्पष्ट करती थीं । इन दृश्यों से कागज के पृष्ठों को सुसज्जित किया जाता था।

सम्पूर्ण मुगलकाल में अन्न, फल, साग, सब्जी, दूध, घी, तेल, माँस, मछली और कपड़ा आदि वस्तुयें बहुत सस्ती थीं । अकबर के समय गेहूँ का सामान्य मूल्य एक रुपये का 12 मन, जौ 18 मन, चावल 10 मन, उड़द 16 मन, मूँग 18 मन था। एक रुपये का 16 सेर माँस और 44 सेर दूध मिलता था। मज-दूरों की दैनिक मजदूरी भी कम थी । मजदूरों को 2 दाम अर्थात् रुपये का 20वाँ भाग प्रतिदिन मिलता था। प्रथम श्रेणी के बढ़ई को सात दाम अर्थात् रुपये का 7/40 वाँ भाग मिलता था ।[1] इस आधार पर स्मिथ का कथन है कि भूमि-हीन मजदूर आज की अपेक्षा 16वीं सदी में (विशेषकर अकबर के समय) अधिक उन्नत अवस्था में था ।[2] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुगलों के शासनकाल में साधारण जनता का आर्थिक जीवन आधुनिक भारत के साधारण निवासियों से बहुत अच्छा था। इसका प्रमुख कारण यह था कि उस युग में साधारण मनुष्य की आवश्यकतायें कम थीं और आज की अपेक्षा वह अधिक संतुष्ट था। इसके अतिरिक्त वस्तुएँ भी सस्ती थीं और उनकी समस्यायें भी आज की भाँति इतनी जटिल नहीं थीं ।

---

1. स्मिथ, पृ. 413.
2. वही.

सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन

शिक्षा, साहित्य एवं कला

16वीं सदी से पूर्व शिक्षा का स्वरूप

बिहार की संस्कृति महान्, समृद्ध तथा प्रेरणापूर्ण रही है। प्राचीन काल से ही यहाँ मानव की आत्मा तथा मानव का मानस शतदल की भाँति अनगिनत सुन्दर पंखुड़ियों में विकसित हुआ, जिससे भारत की महान् संस्कृति समृद्ध हुयी । बिहार में ही ईसा से पूर्व 6ठीं शताब्दी में धर्म-सुधार की उन भाव धाराओं के महान् स्रोत प्रवाहित हुये थे, जिन्हें महावीर तथा गौतम बुद्ध जैसे धर्म प्रचारकों ने सारे विश्व में साम्य, मैत्री, प्रेम, सेवा, सहिष्णुता और अहिंसा के रूप में प्रवाहित किया।

डॉ. कालिकिंकर दत्त लिखते हैं कि - "जिस प्रकार प्राचीन काल में एथेन्स यूनान का शिक्षा केन्द्र था, उसी प्रकार बिहार भी प्राचीन काल में कई सदियों तक सारे एशिया का शिक्षा केन्द्र रहा। यहाँ नालन्दा, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी जैसे महान् विश्वविद्यालय सुप्रतिष्ठित थे । सभी राष्ट्रों के लिए प्रतिष्ठित विद्या केन्द्र होने के कारण नालन्दा तथा विक्रमशिला में आस-पास के देशों तथा विश्व के कोने-कोने से विभिन्न क्रियाओं में विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए आते रहे ।"[1] वे आगे लिखते हैं कि - "नालन्दा विश्वविद्यालय धार्मिक तथा दार्शनिक शिक्षा का केन्द्र तो था ही, इसके अतिरिक्त यहाँ कला-कौशल की भी शिक्षा व्यवस्था थी ।"[2]

यद्यपि विपरीत राजनैतिक घटनाओं (मुस्लिम आक्रमणों) के संघात

---

1. बिहारवासियों का जीवन और उनकी चिन्ताधारा, पृ. 5.
2. वही, पृ. 6.

व मुइज़ुद्दीन मुहम्मद गोरी द्वारा (1192 ई. में) भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना करने और उसके सेनापति मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी द्वारा बिहार में बौद्ध शिक्षा प्रणाली को नष्ट कर कई मदरसों का निर्माण करने से[1] ये विद्या तथा ज्ञान के केन्द्र धीरे-धीरे लुप्त हो गये, फिर भी ये हमारे लिए प्रेरणा तथा उत्साह के आधार रहे हैं।

कहना न होगा कि भारत में मुस्लिम आक्रमण से न केवल राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र प्रभावित हुआ बल्कि शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। एक विदेशी द्वारा भारत में स्थायी रूप से बस जाने और उनके द्वारा राजनीतिक संप्रभुता प्राप्त कर लेने के कारण भारत की संस्कृति और उसके आदर्श विशेष रूप से प्रभावित हुये। स्वभावतः कुछ समय के लिए स्वदेशी शिक्षण प्रणाली शाही संरक्षण एवं प्रोत्साहन से वंचित रही। इस समय राज्य का लक्ष्य एकमात्र इस्लामिक शिक्षा का विकास करना था। इस सम्बन्ध में डॉ. युसुफ हुसैन लिखते हैं कि - "मध्य युग में सोचने का दृष्टिकोण मजहबी था। राजनीति, दर्शन और शिक्षा मजहबी नियन्त्रण में थे और उन्हें मजहबी परिभाषाओं के अनुकूल बना दिया गया था।"[2] ऐसी स्थिति में पारम्परिक शिक्षा का अस्तित्व राजकीय संरक्षण के अभाव में लगभग जाता रहा। वह या तो अपना प्रबन्ध स्वयं करने के लिए उत्तरदायी थी या फिर जनता के द्वारा दी जाने वाली छुट-पुट सहायता के स्रोतों पर छोड़ दी गयी। फलस्वरूप संस्कृत का पठन-पाठन बहुत कम हो गया लेकिन वह बिल्कुल समाप्त नहीं हुयी थी। आरम्भ में भारतीय शिक्षा मुसलमानों की प्रारम्भिक विजयों के उन्माद में उनके द्वारा नीचे ढकेल दी गयी और साथ ही उत्पीड़ित भी की गयी। अनेकों प्रमुख शिक्षा केन्द्रों एवं विश्वविद्यालयों को विध्वंस कर

---

1. तबकाते नासिरी (रेवर्टी अनु.), पृ. 552 ; तारीखे फरिश्ता (ब्रिग्स), भाग 1, पृ. 190.
2. युसुफ हुसैन : ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल इण्डियन कल्चर, कलकत्ता, 1959, पृ. 69.

दिया गया, पुस्तकालयों को लूटा एवं जलाया गया, बहुसंख्यक हिन्दू और बौद्ध शिक्षक एवं शिक्षार्थी मौत के घाट उतार दिये गये, यदि कुछ जीवित बचे भी थे तो उन्हें अपना स्थान छोड़ने को बाध्य किया गया। इस प्रकार तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला जैसे प्रमुख शिक्षण संस्थाओं का एक-एक कर क्रमशः 11वीं तथा 12वीं सदी के अन्त या 13वीं सदी के आरम्भ तक अन्त हो गया और इनका स्थान मुस्लिम मक्तब एवं मदरसों ने ले लिया। एक प्रकार से यह अनिश्चितता का और संक्रमण का काल था। पुरानी परम्परा टूट रही थी और उसका स्थान एक नयी परम्परा ग्रहण कर रही थी ।[1]

इसप्रकार यह स्पष्ट होता है कि मुस्लिमों का प्रमुख उद्देश्य मस्जिदों एवं मुख्य शिक्षण संस्थाओं की स्थापना, इस्लाम के धार्मिक एवं सांस्कृतिक दर्शनों का प्रचार और यहाँ के निवासियों को इस्लाम धर्म में परिवर्तित करना था, परन्तु 16वीं सदी में मुगलों के आगमन से स्थिति में परिवर्तन हुआ, इस्लामी शिक्षा में नये सिद्धान्तों को निर्धारित किया गया और व्यवहारिक रूप से लागू करने का आदेश भी दिया गया ।

मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व दो प्रकार की शिक्षण प्रणालियाँ प्रचलित थीं - 1. ब्राह्मणिक प्रणाली, 2. बौद्ध प्रणाली । मुसलमानों के आक्रमण से दोनों ही प्रणालियाँ अत्यधिक क्षतिग्रस्त हुयीं । विप्लव की ऐसी भयंकर चोट को बौद्ध प्रणाली सहन न कर सकी, परन्तु ब्राह्मणिक प्रणाली ने अपने अस्तित्व को कायम रखा। इसने विद्वानों को देश के दूरस्थ भागों में भेजकर भारतीय शैक्षणिक आदर्शों को विस्तृत करने का भी कार्य किया ।[2]

---

1. नरेन्द्रनाथ लॉ : प्रमोशन ऑफ लर्निंग इन इण्डिया, दिल्ली, 1973 ; xcv ,xcvi, {प्रीलिमनरी}.
2. विलियम वार्ड : ए व्यू ऑफ दि हिन्दूज, जिल्द 2, मद्रास, 1863, पृ. 483 एफ.एफ.

भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना से भारतीय संस्कृति, इस्ला-मिक संस्कृति से प्रभावित हुये बिना न रह सकी। परिणामस्वरूप शिक्षा में अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन हुये। राजनैतिक परिस्थितियों के इस परिवर्तित स्वरूप ने भारत को शैक्षणिक दृष्टि से नया मोड़ प्रदान किया। मुसलमानों की शिक्षा व्यवस्था में तीन प्रकार की शिक्षा संस्थायें थीं - मकतब, मस्जिदें तथा खन-काहों के मकतब और मदरसे। प्रथम दो प्रकार के मकतब प्राइमरी पाठशालायें होती थीं, जिनमें अध्ययन लेखन का विषय फारसी तथा अरबी होता था। शिक्षा मजहबी थी जबकि पाठशालाओं में निरपेक्ष शिक्षा दी जाती थी।[1] यहाँ कुरान का अध्ययन कराया जाता था, इसकी भाषा अरबी थी। कभी-कभी आरम्भिक गणित की भी शिक्षा दी जाती थी। सूफी धर्म तथा जीवन के विषय की शिक्षा लोगों को खनकाहों के मकतब प्रदान करते थे। उच्च शिक्षा के केन्द्र मदरसे हुआ करते थे। सभी मदरसों की शिक्षा का दृष्टिकोण मजहबी था।[2] इनका संचालन राज्य सरकार के द्वारा होता था, जबकि मकतब का प्रबन्ध संस्थाओं द्वारा होता था।[3]

राजकीय संरक्षण

भारत में मुसलमानों की शिक्षा के लिए राज्य अनुदान ही नहीं देता था, बल्कि काफी हद तक वह उसे नियन्त्रित और निर्देशित भी करता था। अकबर के राज्यकाल के अन्तिम 25 वर्षों को छोड़कर शेष सारे मुस्लिम काल में सद्र (धर्म और न्यायमंत्री) ही शिक्षा का प्रधान होता था। उसका मुख्य कर्तव्य था कि वह राज्य में काजियों, मुफ्तियों, मीर अदलों, मुहातिसबों और अन्य

---

1. कम्प्रिहेंसिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 394.
2. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 36.
3. युसुफ हुसैन, पृ. 71.

प्रशासकीय पदों के लिए विद्वान् मुसलमान उलेमाओं को उपलब्ध करता रहे । वह मुसलमान विद्वान् जिन्हें उलेमा कहा जाता था, को संगठित करता था और अधिकतर स्वयं उनका प्रधान भी होता था। उसे शेख-उल-इस्लाम कहा जाता था। सद्र उलेमाओं पर कड़ी नज़र रखता था, शिक्षकों और निर्देशकों के रूप में उनकी स्थिति और योग्यताओं की जाँच पड़ताल करे और राज्य में सभी प्रकार की शिक्षा पर अपना नियन्त्रण रखे ।[1]

इससे यह स्पष्ट होता है कि राज्य नियंत्रण एवं धार्मिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप भारत की शिक्षा व्यवस्था त्रुटिपूर्ण थी । उलेमा का ही प्रभुत्व छाया था। ये उलेमा धर्मान्ध मुसलमान बनाना ही श्रेयस्कर समझते थे, जो इस्लाम का प्रभुत्व स्थायी रख सके और मुस्लिमों का एक अलग अस्तित्व बनाये रखे ।

दिल्ली के लगभग सभी सुल्तानों ने शिक्षा में गहरी रुचि ली । फिरोज तुगलक के पश्चात् §1392-99 ई. में§ तैमूर के आक्रमण और उसके बाद के प्रभावों के कारण शिक्षा की प्रगति कुछ समय के लिए रुक सी गयी, लेकिन सिकन्दर लोदी §1489-1517 ई.§ ने 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक उत्तरी भारत के अधिकांश भाग पर अपना प्रभुत्व जमाकर शिक्षा को पुनः उन्नतिशील बनाया। उसने साम्राज्य के सभी भागों में मदरसे स्थापित किये । इसके काल में ही हिन्दुओं ने विशेषकर कायस्थों ने फारसी भाषा और साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया । जौनपुर, अहमदाबाद, बिहार शेरिफ, माण्डू, गुलबर्गा, बीदर, दौलताबाद जैसी प्रांतीय राजधानियाँ और बंगाल के कई नगर स्थानीय राजवंशों की संरक्षता में मुस्लिम शिक्षा के केन्द्र बन गये । जौनपुर भारत का सिराज कहा जाने लगा ।[2]

---

1. इब्न हसन, पृ. 257.
2. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 90-91.

पाठ्यक्रम

सल्तनत युग में §1206-1526 ई.§ धर्म शिक्षा को अधिक प्राथमिकता दी गयी । इस्लामी धर्म शास्त्र के अध्ययन पर विशेष जोर दिया गया। सभी स्थानों पर मुख्य रूप से पढ़ाये जाने वाले विषय तफ्सीर §धर्म ग्रन्थों की टीका§ हदीस § परम्परायें § और फिक़ §न्याय शास्त्र§ थे। धार्मिक विषयों के अतिरिक्त व्याकरण, तर्कशास्त्र, साहित्य और कला §मुस्लिम धर्मविदों के विचार§ अध्ययन के विषय होते थे । इनका भी दृष्टिकोण पूर्णतया मजहबी ही था । उन्हें रहने का स्थान, भोजन तथा पुस्तकें मुफ्त दी जाती थीं । छात्रों से कोई शुल्क नहीं लिया जाता था ।[1]

पूरे सल्तनत काल में यही पाठ्यक्रम थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ प्रचलित रहा। सिकन्दर लोदी के शासनकाल में हिन्दुओं के प्रति एक महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखायी देता है। उसके काल में सर्वप्रथम हिन्दुओं को मकतबों में पढ़ने की अनुमति दी गयी थी ।[2] हिन्दुओं के पाठ्यक्रम भी दो प्रकार के थे - प्रारम्भिक और उच्च । टोल जो उच्च शिक्षा के केन्द्र थे उनमें मुख्यतः संस्कृत भाषा एवं साहित्य का अध्ययन होता था । मकतबों में पाठ्यक्रमों में कुरान को एक आवश्यक विषय के रूप में सम्मिलित किया गया था, जिनमें कुरान की पाँच आयतें सीखना अनिवार्य था । लिखने-पढ़ने के लिए तख्ती व कागज का प्रयोग किया जाता था। यद्यपि पाठ्यक्रम उदारवादी था, फिर भी प्रत्येक मदरसे में गणित, इतिहास, कृषि, विज्ञान आदि विषयों के अध्ययन की सुविधा प्राप्त नहीं थी । बहुत कुछ शिक्षा अलग-अलग संस्थाओं के शिक्षकों पर निर्भर करती थी ।[3] पाठ्यक्रम पूर्णतया शिक्षकों द्वारा ही निश्चित किया जाता था।

---

1. पी.एल. रावत : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एजूकेशन , आगरा, 1956, पृ. 91 ; निजामी : मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ. 74-75 ; मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 91.
2. युसुफ हुसैन, पृ. 71.
3. जाफर, पृ. 78-79.

राज्य द्वारा पाठ्यक्रम निश्चित करने की प्रथा ब्रिटिश काल से आरम्भ हुयी, जब शिक्षा राजकीय प्रशासन से जुड़ गयी ।[1]

शासक शिक्षा का संरक्षक एवं विद्वानों का आश्रयदाता था। इसलिए राजा से लेकर प्रजा तक का प्रत्येक व्यक्ति शिक्षक और शिक्षार्थियों के पोषण में अपना योगदान देता था ।[2]

16वीं सदी में शिक्षा का स्वरूप

16वीं सदी के प्रारम्भ में भारत में शिक्षा की अधिक उन्नति हुयी । विद्यानुरागी होने के कारण लगभग सभी शासकों ने (बाबर, हुमायूँ, शेरशाह, इस्लामशाह, अकबर) शिक्षा के प्रसार के लिए आवश्यक प्रयत्न किये, परन्तु मुगलकालीन भारत में राज्य की ओर से किसी शिक्षा विभाग का प्रबन्ध या संगठन नहीं किया गया था। शिक्षा वैयक्तिक चेष्टा और पेशकदमी पर आधारित थी । सम्राट एवं उनके दरबारी सामन्तगण भी जनसामान्य की क्रियाकलापों को संरक्षण एवं प्रोत्साहन प्रदान किया करते थे । मुगलों और सूर शासकों के सहयोग से शिक्षा जिस प्रकार विस्तृत पैमाने पर फैली हुयी थी उसका प्रमुख कारण मुगल शासकों द्वारा जो स्वयं भी शिक्षा प्रेमी एवं शिक्षा के महान् संरक्षक थे, इस दिशा में गहरी रुचि लेना था। शिक्षा को संरक्षण प्रदान करने की यह प्रवृत्ति मात्र मुगल व अफगान शासकों तक ही सीमित नहीं थी बल्कि सामन्तों एवं उच्चकुलीन अभिजात वर्ग ने भी इसके प्रसार में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया । शैक्षणिक विकास में न केवल केन्द्रीय शासक एवं सामन्तगण ही अभिरुचि ले रहे थे, बल्कि प्रांतीय शासक एवं प्रांतीय सामन्तगण भी इस क्षेत्र में किसी प्रकार पीछे नहीं रहे । उन्होंने न केवल इस्लामी शिक्षा के विकास

---

1. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 357.
2. वही.

में ही योगदान दिया वरन् क्षेत्रीय भाषाओं के विकास में भी अभूतपूर्व भूमिका अदा की ।[1]

बादशाह तथा बहुत से अमीर-उमरा, मठों और अलग-अलग फकीरों तथा विद्वानों को जमीन या धनराशि का दान देकर शिक्षा को प्रोत्साहन देते थे । यदुनाथ सरकार लिखते हैं कि -"यह धार्मिक कर्तव्य माना जाता था किन्तु कि राजनैतिक। इन कृपाओं के पाने वालों के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे प्राप्त धन से शिक्षण संस्थायें चलायें ।"[2]

इस काल में शिक्षा तीन स्तरों में विभाजित थी - मक्तब, मदरसा, सूफियों के खनकाह । प्राथमिक शिक्षा प्राथमिक विद्यालयों या व्यक्तिगत विद्यालयों में प्रदान की जाती थी । मदरसा या तो मस्जिद से जुड़े होते थे या इनके लिए स्वतन्त्र भवन विद्यमान थे । इनमें धार्मिक, सामाजिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी । उच्च स्तर के प्रमुख शैक्षणिक केन्द्र मुख्यतया नगरों में ही विद्यमान थे । इसका कारण सम्भवतः यही था कि विशिष्टता प्राप्त बहुसंख्यक विद्वान् केवल ऐसी जगह में ही उपलब्ध हो जाते थे ।

भारतीय सूफीगण अधिकांशतः मात्र कुरान का गूढ़ एवं सारगर्भित शिक्षा प्रदान किया करते थे । उनकी व्याख्या अधिक गम्भीर एवं अन्तर्मुखी भावों से परिपूर्ण होती थी । वे शरियत द्वारा परिसीमित जीवन के आदर्शों को लोगों के समक्ष उपस्थित करते थे, जिन्हें वे ईश्वर की निकटता प्राप्त करने का सच्चा मार्ग मानते थे । उनके उदार आदर्शवाद ने इस प्रकार जनसामान्य को मानसिक चैन एवं आध्यात्मिक शांति प्रदान की ।[3] खनकाहों में न केवल

---

1. जाफर, पृ. 130.
2. यदुनाथ सरकार : स्टडीज इन मुगल इण्डिया, पृ. 299.
3. युसुफ हुसैन, पृ. 46.

आध्यात्मवाद या रहस्यवाद (सूफी दर्शन) की शिक्षा दी जाती थी, बल्कि तफसीर, फिक्, उसूल, मन्तिक एवं व्याकरण की भी पढ़ाई होती थी ।[1]

खनकाहों में विद्यार्थियों के लिए आवासीय व्यवस्था भी होती थी । इन खनकाहों की कार्य प्रणाली पर टिप्पणी करते हुये जाफर ने लिखा है कि - "ऐसे शिक्षण केन्द्र या खनकाह राज्य द्वारा स्थापित मक्तबों एवं मदरसों द्वारा शिक्षा प्रदान करने वाले कार्यों के लिए पूर्णतः पूरक का काम करते थे ।"[2]

मुस्लिम शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना की दिशा में मुगलकाल एक गौरवमय काल माना जाता है। इस काल में मुस्लिम शिक्षा के प्रमुख केन्द्र गुजरात, पंजाब, दिल्ली, आगरा, सिन्ध, दक्षिण भारत, बंगाल, बिहार, जौनपुर, अवध एवं इलाहाबाद थे ।

प्रचलित शिक्षा में शासकों के सुधारवादी दृष्टिकोण

बाबर स्वयं एक विद्वान् और कवि था, लेकिन अपने अल्पशासन के कारण शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार के क्षेत्र में उसका योगदान प्रायः न के बराबर ही रहा। उसने प्रचलित शिक्षा प्रणाली को बिना किसी प्रकार के परिवर्तन के उसी रूप में स्वीकार कर लिया। पी.एल. रावत लिखते हैं कि - "उसने कुछ मक्तबों एवं मदरसों का निर्माण करवाया था ।"[3]

अपने पिता की भाँति हुमायूँ भी विद्वान्, साहित्य प्रेमी, गणित, ज्योतिष, नक्षत्र शास्त्र, इतिहास में रुचि रखने वाला व अरबी, फारसी तथा तुर्की का ज्ञाता था। यद्यपि उसके प्रोत्साहन से शिक्षा में विशेष उन्नति हुयी पर शिक्षा का स्वरूप इस्लामिक ही रहा।

---

1. रशीद, पृ. 153.
2. जाफर, पृ. 19.
3. पी.एल. रावत, पृ. 38.

शेरशाह भी अपने समय में सिर्फ इस्लामिक शिक्षा पद्धति को ही पसन्द करता था और इसी को उसने प्रश्रय भी दिया। सर्वप्रथम उसने मदरसा का प्रसार किया, जिसमें इस्लाम सम्बन्धी शिक्षा की व्यवस्था की । प्रत्येक गाँव में खुले रूप से मुल्ला रहते थे और मदरसों में धर्म सम्बन्धी शिक्षा देते थे । शेरशाह ने भी प्रचलित शिक्षा पद्धति को ही अपनाया। उसने उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया, परन्तु हिन्दी भाषा को प्रोत्साहन प्रदान कर शिक्षा के क्षेत्र में प्रशंसनीय योगदान दिया।

इस्लामशाह ने शिक्षा के क्षेत्र में किसी प्रकार का परिवर्तन न कर शेरशाह के पदचिन्हों का अनुकरण किया।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि उपर्युक्त सभी शासकों को सत्ता की लड़ाई में लगातार व्यस्त रहने के कारण इतना अवकाश ही नहीं मिला कि वे शिक्षा प्रणाली में अमूल परिवर्तन व सुधार करते । फलतः उन्होंने प्रचलित शिक्षा को ही अपनाया। कहना न होगा अकबर के शासनकाल के मध्य तक पाठ्यक्रम और शिक्षा प्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं हुआ ।

अकबर भारत का प्रथम मुस्लिम सम्राट था, जिसने शिक्षा के प्रसार के लिए कार्य किया और देश की इस्लामी शिक्षण संस्थाओं की रूढ़िवादिता को लक्षित किया ।[1] यद्यपि वह पढ़ा लिखा नहीं था फिर भी उसके समय में शिक्षा के सभी क्षेत्रों में प्रगति हुयी । उसने अनुभव किया कि मुस्लिम मदरसे में जो शिक्षा दी जाती थी, उससे छात्रों में वह उदार दृष्टिकोण और ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, जैसा कि भारत जैसे हिन्दू बहुमत वाले देश के नागरिकों के लिए

---

1. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 91.

आवश्यक था, इसलिए अकबर ने अबुलफजल की सलाह से शिक्षा के विस्तार के लिए पाठ्यक्रम और नियम निर्धारित किये । उसने परम्परागत शिक्षा प्रणाली में सुधार की दृष्टि से अपने आदेश जारी किये ।[1]

उसने यह निश्चय किया कि प्रत्येक छात्र को नैतिकता, गणित और गणित से सम्बन्धित धारणाओं, कृषि ज्यामिति, ज्योतिष, शरीर विज्ञान, घरेलू विषय, सरकारी कानून, औषधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, तब्बी (भौतिक विज्ञान), रियाजी (मात्रा विज्ञान), इलाही (धर्म शास्त्र) विज्ञान और इतिहास पर पुस्तकें पढ़ना चाहिये और सभी विषयों का ज्ञान धीरे-धीरे प्राप्त कर लेना चाहिये ।[2]

उसने यह भी आदेश दिये कि संस्कृत विद्यालयों में व्याकरण, न्याय और पंतजलि के भाष्य पढ़ाये जाने चाहिए।[3] उसकी मान्यता थी कि - "आधुनिक युग में जिन विषयों की आवश्यकता है, उनके अध्ययन की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये ।"[4] सम्भवतः वह मुस्लिम छात्रों को भी संस्कृत पढ़ाने का उत्सुक था ।

उसने न केवल पाठ्यक्रम निर्धारण ही किया, बल्कि उसने शिक्षा प्रणाली को सरल बनाने का उपाय किया। उसने छानबीन करने के पश्चात् यह पाया कि विद्यालयों में बालकों को बहुत सी किताबें पढ़ाकर व्यर्थ समय नष्ट किया जाता है, इसलिए उसने आदेश दिया कि पहले बालकों को अक्षर ज्ञान कराया जाये और फिर अक्षरों के विभिन्न रूपों का ज्ञान कराया जाये ।[5] इतना ही नहीं

---

1. आईन, भाग 1, पृ. 288.
2. वही, पृ. 289.
3. वही.
4. वही.
5. वही.

विद्यार्थियों को ईश्वर वन्दना अथवा चरित्र निर्माण सम्बन्धी पदों को भी याद कराया जाये । इस बात का सदैव ध्यान रहे कि शिक्षक यह देखे कि बालक सब कुछ समझ रहा है या नहीं, अगर नहीं तो वह उसे सहायता प्रदान कर सकता है। ऐसा करने से बालक 1 वर्ष के बजाय 1 महीने में ही उतना सीख लेगा ।[1] शिक्षा के क्षेत्र में प्रारम्भिक स्तर पर किये गये इन सुधारों से बालकों में शिक्षा के प्रति नयी चेतना जागृत हुयी । विद्या अध्ययन के लिए बालक स्वयं प्रयत्नशील रहने लगे । अध्यापक केवल एक सहायक मात्र ही रहा ।[2]

अकबर ने न केवल प्राथमिक स्तर के पाठ्यक्रम में ही सुधार किया, बल्कि उसने शिक्षा को धर्म निरपेक्ष बनाने का भी प्रयास किया। मध्यकालीन शिक्षा जगत् में यह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन था। उसने मदरसों में हिन्दू तथा मुस्लिमों को समान रूप से शिक्षा देने की व्यवस्था की । उसका विश्वास था कि हिन्दुओं को केवल इस्लामी शिक्षा प्रदान करने से साम्राज्य की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो सकता है[3] {यहाँ पर अकबर की साम्राज्यवादी नीति के प्रति स्वार्थपरता की भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है}। इसलिए उसने हिन्दुओं को उच्च शिक्षा देने के लिए मदरसों की स्थापना की, जहाँ उन्हें हिन्दू धर्म, दर्शन, साहित्य की शिक्षा फारसी भाषा के साथ साथ दी जाती थी ।[4] इस सम्बन्धमें एन.एन. लॉ ने लिखा है कि - "भेदभाव जैसी दुर्भावना को त्याग कर अकबर ने शिक्षा को संसार में उचित स्थान दिलाया ।"[5] इसी के प्रयासों का ही फल था कि 16वीं सदी में हिन्दुओं ने फारसी सीखना प्रारम्भ कर दिया। स्मिथ बदायूँनी के लेखों के आधार पर लिखते हैं कि - अरबी के अध्ययन,

---

1. आईन, भाग 1, पृ. 289 ; युसुफ हुसैन, पृ. 79-80.
2. वही, पृ. 288-89.
3. पी.एल. रावत, पृ. 94.
4. वही, पृ. 94-95.
5. एन.एन. लॉ, पृ. 121.

मुसलमानी विधान, कुरान के भाष्यों के अध्ययन पर प्रतिबन्ध आरोपित किया गया, विशेष रूप से अरबी वर्णमाला को बहिष्कृत कर दिया ।[1]

शिक्षकों को वेतन, वजीफे, भत्ते या जागीरों के रूप में आर्थिक सहायता भी प्रदान की जाती थी ।

पाठ्यक्रम

प्रारम्भिक विद्यालयों में क्षेत्रीय भाषायें एवं संस्कृत की शिक्षा भी दी जाती थी ।[2] मुगल काल में स्मृति की ऐसी धारा प्रवाहित हुयी, जिससे बंगाल और मिथिला में संस्कृत का विकास तीव्र गति से हुआ। स्मृति प्रणाली का प्रारम्भ रघुनन्दन द्वारा हुआ था, जो अपने समय के (16वीं सदी के) सर्वाधिक ख्याति प्राप्त विधि विशारद थे ।[3] इस युग में गणित का स्थान प्रमुख था। बदायूँनी लिखता है कि - "अकबर ने इसे मदरसों के पाठ्यक्रम में आवश्यक विषय बनाने के लिए फरमान जारी किया था ।"[4] "भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, और दर्शनशास्त्र का भी अध्ययन होता था ।"[5] भौतिकशास्त्र और रसायनशास्त्र को गणित विज्ञान का ही एक भाग समझा जाता था।[6]

पाठ्यक्रमों में सैन्य विज्ञान का स्थान वास्तव में एक महत्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय कार्य है। हिन्दी साहित्य में मुगल शासकों की रुचि ने हिन्दी के विकास में अपूर्व योगदान दिया। हिन्दी के अतिरिक्त फारसी भाषा को संरक्षण

---

1. स्मिथ, पृ. 230.
2. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 112.
3. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 339.
4. बदायूँनी, भाग II, पृ. 375.
5. वही, पृ. 375.
6. आईन, भाग 1, पृ. 289, फु.नो. 1.

प्रदान कर फारसी भाषा को सुसम्पन्न बनाया ।[1]

बदायूँनी लिखता है कि - मुस्लिम संस्थाओं के पाठ्यक्रमों में निम्न विषय थे - व्याकरण, अलंकार शास्त्र, तर्कशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, तत्व विज्ञान साहित्य एवं न्यायशास्त्र।[2] उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रमों में निम्न विषय थे - व्याकरण, फिक्र, उसूल-ए-फिकह, तफसीर, तसव्वुफ, हदीस, अदब, कान-ए-कलाम, इतिहास, अलंकारशास्त्र, भूगोल, गणित, नक्षत्रशास्त्र, शरियत, परमार्थ विद्या, प्रशासन कला, बीजगणित, रेखागणित, भौतिकशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, प्राकृतिक दर्शन, इल्म-ए-तबवी, कृषि विज्ञान, अर्थशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र आदि। संगीत की भी शिक्षा दी जाती थी ।[3]

अकबर के इन सुधारों का कोई प्रभाव पड़ा या नहीं यह तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन अकबर के युग में विभिन्न कार्यक्षेत्रों में जो महान् व्यक्ति हुये, उससे यह स्पष्ट होता है कि अकबर को अपने लक्ष्यों की पूर्ति में सफलता मिली । मुस्लिम मकतबों और मदरसों में (यह परम्परा सिकन्दर लोदी के समय से चली आ रही थी) हिन्दू छात्रों के प्रवेश दिये जाने से अकबर के युग में शिक्षा में धर्म-निरपेक्षता का समावेश हो गया ।

हिन्दू शिक्षा

मुस्लिम आक्रमण से पूर्व तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला जैसे प्रसिद्ध हिन्दू शिक्षा के केन्द्र शैक्षिक जगत् में अपना वृहद अस्तित्व बनाये हुये थे, परन्तु मुस्लिम आक्रमणकारियों की विध्वंसात्मक नीतियों के कारण ये शीघ्र ही नष्ट हो गये और इनका स्थान छोटी-छोटी शैक्षणिक संस्थाओं ने ले लिया। इनके

---

1. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ॰ 482.
2. बदायूँनी, भाग III, पृ॰ 176, 216, 232.
3. जाफर : एजूकेशन इन मुस्लिम इण्डिया, पेशावर, 1936, पृ॰ 86.

आक्रमणों के परिणामों के सम्बन्ध में डॉ. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव लिखते हैं कि मुस्लिम आक्रमणकारियों का सबसे अहितकर परिणाम यह हुआ कि उत्तरी-भारत की प्राचीन शिक्षा पूर्णतः समाप्त तो नहीं हुयी पर उनकी विध्वंसात्मक प्रवृत्ति के कारण उनका पतन अवश्य हो गया ।[1]

यद्यपि सल्तनतकाल में हिन्दू शिक्षा को राज्य द्वारा किसी प्रकार का संरक्षण व प्रोत्साहन प्राप्त न होने के कारण वह एक प्रकार से उपेक्षित ही रही, परन्तु ब्राह्मणिक शैक्षणिक प्रणाली समय के झंझावातों में भी एक वास्तविकता बनकर अपने अस्तित्व को कायम रखे रही ।[2]

16वीं सदी में हिन्दू शिक्षा पद्धति प्राचीन काल जैसी वेदों पर आधारित हो थी । इस समय बौद्ध शिक्षा प्रणाली का लगभग ह्रास हो चुका था और उनका स्थान ब्राह्मण शिक्षा ने ले लिया था। शिक्षा धर्म निरपेक्ष होते हुये भी प्रधानतः धार्मिक थी ।[3] वर्ण व्यवस्था को ब्राह्मणिक शिक्षा पद्धति में राजा से लेकर प्रजा तक का प्रत्येक व्यक्ति शिक्षक और शिक्षार्थियों के पोषण में अपना योगदान देता था। ब्राह्मणिक शिक्षा प्रणाली के अनुसार एक ओर ब्राह्मण का यह धर्म था कि वह ज्ञान और शिक्षा प्रदान करे तो दूसरी ओर राज्य तथा प्रजा का भी यह कर्तव्य था कि वह ब्राह्मण के भरण पोषण की उचित व्यवस्था करे ताकि ब्राह्मण अपना ध्यान केवल ज्ञानोपार्जन तथा शिक्षा में लगाये । पाठ्यक्रम पूर्णतया शिक्षकों द्वारा ही निश्चित किया जाता था । शिक्षा धर्म का ही एक अंग थी ।[4]

प्रारम्भिक मुगल शासकों के लगातार विजयों में व्यस्त रहने के कारण

---

1. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 96.
2. अल्बरूनी, अल्बरूनीज इण्डिया, जिल्द 1, अनु. सचाऊ, दिल्ली 1964, पृ. 173.
3. पी.एन. रावत, पृ. 115.
4. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 357.

हिन्दू शिक्षा को उनके द्वारा व्यावहारिक प्रोत्साहन नहीं मिला, परन्तु सूर शासकों व अकबर की उच्च बौद्धिक क्षमता ने उसे हिन्दू शिक्षा के विकास की ओर विशेष रूप से अभिप्रेरित किया। सूर साम्राज्य के शासकों ने राज्य एवं समाज दोनों में हिन्दी को प्रतिष्ठित करने का प्रथम प्रयास किया। उनके सिक्कों पर हिन्दी और फारसी दोनों ही भाषा में नाम खुदे होते थे, जिसका अनुसरण करानी शासकों ने भी किया। सूर शासनकाल में प्रत्येक परगने व सेना में फारसी तथा हिन्दी के लेखक नियुक्त किये जाते थे ।[1]

यद्यपि अकबर के समय में शिक्षा का माध्यम फारसी था, परन्तु मन्दिरों से जुड़े विद्यालयों एवं हिन्दुओं की व्यक्तिगत संस्थाओं में शिक्षा का माध्यम हिन्दी ही था ।[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि अकबर हिन्दू शिक्षा को प्रोत्साहित कर सभी वर्गों के बौद्धिक स्तर को समुन्नत बनाना चाहता था। उसने न केवल हिन्दी भाषा को प्रोत्साहित ही किया बल्कि विभिन्न भाषाओं की पुस्तकों को फारसी में अनुवाद करने के लिए स्थापित अनुवाद विभाग में हि. . एवं मुस्लिम दोनों प्रकार के विद्वानों की नियुक्ति भी की । अबुल फजल लिखता है कि उसके इस प्रकार के क्रियाकलापों से हिन्दू शिक्षा के विकास एवं प्रसार में अधिक सहायता मिली ।[3] उसने अरबी एवं फारसी की पुस्तकों का संस्कृत में अनुवाद करवा कर संस्कृत भाषा को भी प्रोत्साहन दिया। 16वीं सदी में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त विधि विशारद रघुनन्दन द्वारा स्मृति की प्रणाली का विकास बंगाल तथा मिथिला में संस्कृत भाषा के विकास में अमूल्य निधि है।[4] संस्कृत की पुस्तकों का भी अरबी एवं फारसी में अनुवाद किया गया ।[5]

---

1. युसुफ हुसैन : इण्डो-मुस्लिम पालिटी, पृ. 212.
2. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 98.
3. आईन, भाग 1, पृ. 110-113.
4. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 339.
5. स्मिथ, अकबर महान्, पृ. 457.

सामान्यतः संस्कृत शिक्षा सम्बन्धी ज्ञान ब्राह्मणों तक सीमित था जबकि अन्य जातियों के लिए भी कोई रोक न थी । व्याकरण, न्यायशास्त्र, अध्यात्म और ज्योतिष अधिक प्रचलित विषय थे । इनमें भी अध्यात्म और ज्योतिष शास्त्र अधिक लोकप्रिय थे । समाज में इन्हें विशेष सम्मान प्राप्त था। चूँकि ये पुस्तकें अल्पसंख्या में थीं, इसलिए प्रत्येक विषय का ज्ञान कुछ ही परिवारों तथा ग्रामों में सीमित था ।[1] वेद और तंत्रों का अध्ययन भी किया जाता था ।[2]

आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव लिखते हैं कि हिन्दू शिक्षण संस्थायें तीन प्रकार की थीं - 1. पाठशालायें, 2. विद्यालय, 3. गुरुशालायें व व्यक्तिगत शिक्षण संस्थायें ।[3]

पाठशालाओं में प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी । पढ़ने, लिखने, गणित की शिक्षा के साथ-साथ धार्मिक शिक्षा भी प्रदान की जाती थी, लेकिन वेद, उपनिषद् या भगवत्गीता की तरह का कोई निश्चित धर्म ग्रन्थ नहीं पढ़ाया जाता था, क्योंकि धार्मिक क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत था ।[4] ये पाठशालायें सभी नगरों, कस्बों, बड़े-बड़े गाँवों और मन्दिरों में हुआ करती थीं। इसके अतिरिक्त ये पेड़ों की छाया में भी लगा करती थीं । उनका कोई निश्चित शुल्क नहीं था।[5] साधारणतया बच्चे पाँच वर्ष की अवस्था में पाठशाला भेजे जाते थे । सर्वप्रथम लिखने की शिक्षा दी जाती थी। पहले पट्टी पर, फिर फलक पर इसके बाद

---

1. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 359.
2. वही, पृ. 360.
3. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 96.
4. वही.
5. वही, पृ. 99.

कागज पर लेखन कार्य किया जाता था। प्रथम चरण में वर्ण एवं शब्दों का ज्ञान दिया जाता था। दूसरे और तीसरे चरण में कृषि, वाणिज्य, अर्थ-व्यवस्था एवं निबन्ध रचना का ज्ञान दिया जाता था। इसी के साथ भूमि नाप, भारतोलन की सारिणी, कंठस्थ करनी होती थी ।[1]

विद्यालय उच्च शिक्षा के केन्द्र थे, जिनमें संस्कृत भाषा और साहित्य अध्ययन के मुख्य विषय होते थे । पाठ्यक्रम में काव्य, व्याकरण व न्याय का अध्ययन अनिवार्य था। इनके साथ ही वेदान्त, पंतजलि के भाष्य आदि विषयों के अध्ययन पर अधिक बल दिया गया ।[2] कुछ संस्थाओं में पुराण, वेद, दर्शन शास्त्र, चिकित्साशास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि विषयों की शिक्षायें दी जाती थीं ।[3] ऐसे भी विद्यालय थे, जहाँ संगीत, भक्तियोग, अलंकार, कोष, तंत्र विद्या सिखायी जाती थी ।[4]

हिन्दू शिक्षा के प्रमुख केन्द्र बनारस, मथुरा, प्रयाग, अयोध्या, नदिया, महाराष्ट्र, विजयनगर, मैसूर, गुजरात, मिथिला[5] एवं तिरहुत थे ।[6] अबुल फजल लिखता है कि - उत्तर बिहार का मिथिला ब्राह्मणिक शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। 1556-57 ई. में अकबर ने महेश ठाकुर की विद्वता से प्रभावित होकर पुरस्कार में उन्हें मिथिला का राज्य दे दिया। इस वंश {खंडवाला वंश} के

---

1. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 394.
2. आईन, भाग 1, पृ. 289.
3. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 96.
4. वही, पृ. 97.
5. जे.बी.आर.एस., जिल्द 59, पृ. 196.
6. जे.बी.आर.एस., जिल्द 45, पृ. 265 ; हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, पृ. 17.

शासकों ने आधुनिक युग तक मिथिला की सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रगति का पथ प्रदर्शन किया। व्याकरण, साहित्य तथा दर्शनशास्त्र की महत्वपूर्ण प्रगति में मिथिला की देन कम नहीं है ।[1] यह मुगलकाल में नहीं बल्कि वैदिक काल से ही सांस्कृतिक एवं बुद्धिजीवियों का देश रहा है ।[2] अकबर काल में महेश ठाकुर द्वारा स्थापित दरभंगा राज्य भी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र के रूप में विकसित हुआ ।[3] इसके अलावा अबुल फजल तिरहुत में सुप्रसिद्ध हिन्दू विद्या केन्द्र होने की पुष्टि करता है ।[4]

16वीं सदी में नष्ट प्राय हिन्दू शिक्षा का पुनर्विकास कर उसके प्राचीन उद्देश्यों एवं आदर्शों को जीवित रखना वास्तव में मुगल शासकों की शिक्षा जगत् को एक अमूल्य देन है ।

स्त्री-शिक्षा

16वीं सदी में बिहार में स्त्री-शिक्षा की क्या व्यवस्था थी, इस सम्बन्ध में हमें विस्तृत जानकारी प्राप्त नहीं होती। आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव का कहना है कि बालिकाओं के लिए अलग से शिक्षा संस्था की व्यवस्था नहीं की गयी थी । प्रारम्भिक शिक्षा प्रायः वे बालकों के साथ ही प्राप्त करती थीं, परन्तु प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर के घरों में ही उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं।[5] जबकि एस. एम. जाफर का कथन है कि बालिकाओं के लिए अलग से शिक्षा की

---

1. बिहारवासियों का जीवन व उनकी चिन्ताधारा, पृ. 8.
2. जे.बी.आर.एस., जिल्द 59, पृ. 196.
3. जे.ए.एस.बी., पृ. 269.
4. आईन, भाग II, पृ. 164.
5. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 99.

व्यवस्था की जाती थी ।[1] जटाशंकर झा लिखते हैं कि - बिहार में स्त्री-शिक्षा की व्यवस्था थी, परन्तु बालिका विद्यालय बिहार में 19वीं शताब्दी के छठे दशक {1867 ई॰ पटना में} के बाद ही खुले ।[2] यद्यपि मुगलकाल में स्त्री-शिक्षा के लिए संस्थायें खोलने का प्रयास किया गया था, परन्तु ये अधिक प्रभावकारी नहीं हो पाये सम्भवतः इसका कारण कुछ तो जातिवाद और कुछ पर्दा परम्परा था । चूँकि शिक्षा एक वैयक्तिक कार्य था न कि सार्वजनिक, जैसा कि वर्तमान में है, इसलिए स्त्रियाँ साधारणतया निरक्षर नहीं थी । पारम्परिक रूप से सभी ग्रामों में नियमित रूप से धार्मिक सभाओं का आयोजन होता था, जहाँ पंडितों के व्याख्यान होते थे । यहाँ स्त्रियों के बैठने के लिए अलग से समुचित व्यवस्था की जाती थी और इस प्रकार धर्म साहित्य का ज्ञान स्त्रियों को मिलता था।[3] बच्चन ने शाहाबाद जिले की स्त्रियों के सम्बन्ध में लिखा है कि - स्त्रियों को पढ़ने और लिखने का पूर्ण ज्ञान था और वे लेख गणना भी कर सकती थीं ।[4] जाफर लिखते हैं कि - स्त्रियों को धार्मिक पुस्तकों और गृह विज्ञान {भोजन, सिलाई, बच्चे देखना} की शिक्षा दी जाती थी ।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहार में अधिकतर स्त्रियाँ कला एवं विज्ञान में दक्ष होती थीं । इसका श्रेष्ठ प्रमाण मिथिला, गार्गी, मैत्रेयी, वाचक, लखामा जैसे सुशिक्षित महान् नारियाँ थीं, जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता ।

---

1. जाफर, पृ॰ 85.
2. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ॰ 441.
3. वही, पृ॰ 441.
4. बच्चन : एकाउण्ट ऑफ दि डि॰ ऑफ दि शाहाबाद, पृ॰ 172.
5. जाफर : एजूकेशन इन मुस्लिम इण्डिया, पृ॰ 187-98 ; सम कल्चरल आसपेक्ट्स ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृ॰ 85.

साहित्य

साहित्य के क्षेत्र में बिहार सदैव अग्रगामी रहा है। मध्यकाल में सम्पूर्ण भारत की भाँति बिहार में भी स्थानीय भाषाओं के साहित्य की विशेष प्रगति हुयी । यह प्रगति दो कारणों से हुयी थी - धार्मिक क्षेत्र में उथल-पुथल मचाने वालों तथा सुधारकों के गहरे प्रभाव से और राजा-महाराजा तथा रईस लोगों के प्रोत्साहन से ।

16वीं सदी में विभिन्न भाषाओं और साहित्य को विभिन्न रूपों में विकसित करने में बिहार ने अपनी प्रमुख भूमिका निभायी है। बिहार में साहित्य सदैव सूफियों और पण्डितों की धरोहर रही है, न कि राज्य सभाओं या दरबारों का , जैसा कि दिल्ली में था। साहित्य का घर खनकाहों, पंडितों या सूफियों का घर रहा है। यही कारण है कि हिन्दी, उर्दू, फारसी साहित्य में नैतिकता की स्पष्ट झलक मिलती है। इसके अतिरिक्त मगधी, भोजपुरी, मैथली आदि लोकभाषाओं का भी साहित्य में समागम है। बिहार साहित्य को श्रेष्ठता तक पहुँचाने में राजनीतिक परिस्थितियों का भी योगदान रहा है। शेरशाह सूर प्रथम शासक था, जिसने प्रचलित फारसी की अपेक्षा लोकभाषाओं को राजकीय और प्रशासनिक भाषा घोषित किया ।[1]

बिहार में संस्कृत साहित्य

संस्कृत हमारे देश की प्राचीनतम भाषा रही है। मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना और फारसी भाषा के आगमन से मुस्लिम प्रशासन के अन्तर्गत संस्कृत का विकास कुछ समय के लिए रुक सा गया। यदुनाथ सरकार इस सम्बन्ध में अपना स्पष्ट वक्तव्य देते हुये लिखते हैं कि - 1200 ई. के बाद प्राचीन संस्कृत साहित्य

---

1. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 436.

का विकास नहीं हुआ, जबकि इस भाषा में ग्रन्थों का लेखन कार्य चलता रहा। उनके अनुसार 1200 ई. से 1550 ई. तक का काल उत्तरी भारत के इतिहास का अन्धकार युग है ।[1] यदुनाथ सरकार के इस वक्तव्य को पूर्णतया स्वीकार तो नहीं किया जा सकता, परन्तु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि मुस्लिम प्रशासन में संस्कृत को कोई प्रोत्साहन न मिलने के बावजूद भी जमींदारों और समाज के संरक्षण में संस्कृत का विकास हुआ और मिथिला में संस्कृत साहित्य में अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी ।[2] कहना न होगा कि उत्तरी बिहार के ब्राह्मणों में मध्यकाल में संस्कृत अधिक लोकप्रिय थी ।[3]

जिन साहित्यकारों ने संस्कृत साहित्य के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है, उनमें जगधर, विद्यापति, शंकर मिश्र, वाचस्पति मिश्र अधिक उल्लेखनीय हैं। इन साहित्यकारों में 15वीं शताब्दी में विद्यापति का नाम बिहार, बंगाल के प्रत्येक घर में प्रचलित है। विद्यापति ने स्मृति नीति और रीतियों पर अनेकानेक रचनायें लिखीं, जिनमें परीक्षा, कीर्तिलता और कीर्ति-पताका प्रमुख हैं ।[4]

मुगलों के भारत में आगमन के पश्चात् सल्तनत काल की अपेक्षा मुगल काल में संस्कृत को विशेष संरक्षण प्राप्त हुआ। यद्यपि प्रारम्भिक मुगल शासकों ने संस्कृत भाषा एवं साहित्य के विकास में कोई रुचि नहीं दिखलायी, परन्तु अकबर प्रथम मुगल सम्राट था, जिसने संस्कृत को प्रोत्साहन दिया । उसके समय में ही "फारसी प्रकाश" नामक प्रथम फारसी संस्कृत शब्दकोष संकलित हुआ।

---

1. उद्धृत, एम.एल. भगी, मेडिवल इण्डिया कल्चर ऐण्ड थॉट, अम्बाला, 1965, पृ. 365.
2. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 457.
3. वही.
4. जे.बी.आर.एस., जिल्द 59, पृ. 195.

इसके अलावा विभिन्न विद्वानों द्वारा साहित्यिक रचनायें रची गयीं जैसे - पदमसुन्दर कृत अकबर शाही श्रृंगार दर्पण, जैन विद्वान् सिद्धिचन्द्र उपाध्याय कृत भानुचन्द चरित्र, देव विमल जैन विद्वान् द्वारा हरि सौभाग्यम् की रचना आदि परन्तु अकबर के राज्यकाल का संस्कृत काव्यरूप में वर्णन करने का श्रेय दरभंगा के महेश ठाकुर को विशेष रूप से प्राप्त है। महेश ठाकुर की अन्य रचनायें हैं - आलोक प्रदीप, यह पक्षधर मिश्र द्वारा रचित न्यायलोक पर एक टीका है, देयासार, तिथि तत्व चिंतामणि, अतिकारात्रि निर्णय और दर्पण, गंगेश उपाध्याय के न्याय चिंतामणि पर एक टीका है।[1] इसके अतिरिक्त धौतवस्त्र-परीक्षा उनकी संस्कृत साहित्य को उल्लेखनीय देन है। राज्य द्वारा पांडित्य की मान्यता प्राप्त करने के लिए मिथिला के प्रत्येक पंडित को यह परीक्षा देना अनिवार्य थी। विदेशी राज्यों से आने वाले पंडित भी राजकीय मान्यता प्राप्त करने के लिए यह परीक्षा देते थे। मिथिला में एक बार पुनः कर्नाटा और ओनिवार (तुगलक काल में स्थापित हुआ था) राज्यकाल के समान ही महेश-ठाकुर की राज्य सभा में देश-विदेश के बुद्धिजीवी एवं कला जीवी विद्वान् एकत्रित होने लगे थे।[2] महेश ठाकुर एक उच्चकोटि के विद्वान् होने के साथ-साथ धनुर्विद्या, कला और संगीत में भी निपुण थे। अकबर ने इनकी विद्वता पर प्रसन्न होकर इन्हें कोसी से गंडक तथा गंगा से हिमालय तक की मिथिला की भूमि दान में दे दी थी। मिथिला में इन्होंने खंडवाला वंश की स्थापना की जो संस्कृत साहित्य के विकास का स्वर्ण युग था।

लक्ष्मीश्वर सिंह के राज्यकाल में प्रति सप्ताह विद्वानों की सभा होती थी, जिसमें साहित्य आदि विषयों पर विचार-विमर्श होता था। संस्कृत भाषा विकास के लिए पाठशालाओं की स्थापना की गयी। उत्तम छात्रों को बनारस

---

1. जे.बी.आर.एस., जिल्द XLVIII, पृ. 91-92.
2. उपेन्द्र ठाकुर, अध्याय 5-6.

आदि स्थानों पर उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा जाता था ।[1]

संस्कृत साहित्य का विकास केवल अकबर काल तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि शाहजहाँ के काल तक तीव्र गति से विकसित हुआ। इसके पश्चात् औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता के कारण संस्कृत के विद्वानों का राजकीय संरक्षण समाप्त हो गया ।

फारसी साहित्य

मध्यकालीन भारत में महत्वपूर्ण साहित्यिक उन्नति हुयी, किन्तु अधिकांश साहित्य अरबी व फारसी में लिखा गया, जो धर्म से सम्बन्धित था । मुस्लिम (तुर्क-अफगान) शासक यद्यपि मूलतः सैनिक थे, परन्तु वे फारसी भाषा और साहित्य के प्रेमी तथा विद्वानों एवं कवियों के आश्रयदाता थे ।[2]

भारत पर अधिकार करने के बाद मुहम्मद गोरी ने विद्वानों को फारसी के विकास के लिए प्रोत्साहित किया । परिणामस्वरूप दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद फारसी राज्य भाषा बनी । इस भाँति दिल्ली तथा उसके निकट स्थानों में फारसी भाषा का प्रचार बढ़ने लगा। दिल्ली के सुल्तानों, अमीरों, मुस्लिम शासकों तथा प्रांत के उच्च वर्ग के लोगों ने स्वभावतः फारसी साहित्य को प्रोत्साहन तथा संरक्षण प्रदान किया। कुतुबुद्दीन ऐबक से लेकर सिकन्दर लोदी तक के दरबार में फारसी लेखकों, कवियों, दार्शनिकों का बोलबाला था। प्रसिद्ध सूफी संत बहाउद्दीन जकारिया सुहरावर्दी शाखा के प्रवर्तक ने सूफी की गजलें लिखकर फारसी साहित्य के विकास में विशेष योगदान दिया। सल्तनत कालीन दिल्ली के अतिरिक्त प्रांतीय राज्यों में भी फारसी साहित्य का विकास हुआ और अनेक रचनायें हुयीं । इतना ही नहीं ज्योतिष, औषधि-

---

1. जे.बी.आर.एस., जिल्द 59, पृ॰ 196.
2. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 103.

शास्त्र पर उपयोगी ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया। इस प्रकार सल्तनत युग में फारसी साहित्य की प्रगति उत्तरोत्तर होती रही, परन्तु इस युग में राजकीय संरक्षण व प्रोत्साहन का लाभ {आर्थिक} मुस्लिम विद्वानों को ही होता रहा , जो फारसी में रचनायें करते थे ।

16वीं सदी में भारत में मुगलकाल के आविर्भाव से फारसी साहित्य की अधिक उन्नति हुयी । इस युग में फारसी राजभाषा के रूप में विद्यमान थी ।[1] बिहार में फारसी जानने वालों को मुंशी कहा जाता था। पटना फारसी सीखने का सबसे बड़ा केन्द्र था ।[2] इस युग के शासक स्वयं विद्वान् व विद्या प्रेमी होने के साथ-साथ विद्या के प्रचार में भी अभिरुचि रखते थे ।

बाबर स्वयं तुर्की एवं फारसी का ज्ञाता तथा लेखक था। अपने पिता की भाँति हुमायूँ भी साहित्य प्रेमी था, उसने फारसी साहित्य के विकास में विद्वानों को संरक्षण प्रदान कर, अतुलनीय योगदान दिया है ।[3] हुमायूँ ने खवन्द मीर को प्रश्रय तथा प्रोत्साहन दिया, जिसने कानून-ए-हुमायूँनी की रचना की । इसमें हुमायूँ की शासन व्यवस्था का अद्भुत विवरण मिलता है। मिर्जा हैदर दौलत, हुमायूँ का प्रशंसक था, इसने तारीख-ए-रशीदी की रचना की ।

यद्यपि शेरशाह ने स्थानीय भाषाओं को अधिक प्रोत्साहन दिया, परन्तु उसके समय में फारसी साहित्य का विकास अबाध गति से हुआ और अनेक साहित्यिक रचनायें हुयीं ।

---

1. कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 482.
2. बिहारवासियों का जीवन और उनकी चिन्ताधारा, पृ. 20.
3. एस.आर. शर्मा : भारत में मुगल साम्राज्य, पृ. 99-100.

सम्राट अकबर का शासनकाल मध्यकालीन भारत के इतिहास में सभ्यता एवं संस्कृति का पुनरुत्थान काल था। वह एक धर्म सहिष्णु, उदार व विद्या-प्रेमी था। उसके इन गुणों के फलस्वरूप आंतरिक शांति एवं समृद्धि ने साहित्य के विकास में अनुकूल स्थिति उत्पन्न कर दी थी। इसीलिए यह आश्चर्य की बात नहीं कि कई असाधारण प्रतिभाशाली लेखकों ने उसके शासनकाल में बड़ी ही उच्च श्रेणी के साहित्य का सृजन किया। उसके समय में साहित्य में पत्र लेखन और काव्य रचनाओं का विशेष स्थान है।[1]

अकबर के दरबार में अनेक कवि, लेखक, विद्वान्, कलाकार तथा इतिहासकार थे। अबुल फजल ने आईने अकबरी में 59 विद्वानों का उल्लेख किया है, जिनमें शेख अबुल फैजी फारसी का सर्वश्रेष्ठ कवि था।[2] अकबर ने उसकी विद्वता से प्रभावित होकर उसे "मलिक-उर-शोहरा" की उपाधि से विभूषित किया था।[3] अन्य प्रसिद्ध व उल्लेखनीय कवियों में कासिमकाही गजाली, उर्फी शीराजी, जाफर बेग, ख्वाजा हुसैन, मेली, मिर्जकुली, हयाती शिकेबी, नजीरी, सरफी, सबूही, मुश्फिकी, सालिही, जुदाई, खुसरवी, शेख रहाई, शेख साकी, असीरी फहमी, कैदा, पयामी, सैय्यद मुहम्मद, फिक्री, कुदसी, हैदरी, फनूनी नादिरी, नवी बाबा, सालिब, कासिमी आदि थे।[4]

अकबर के शासनकाल में गद्य के क्षेत्र में अनेक उच्च कोटि की रचनायें हुयी, जिनमें बहुत से ग्रन्थ इतिहास पर भी लिखे गये। मुल्ला दाऊद ने तारीखे अल्फी की रचना की। अबुल फजल ने अकबरनामा, आईन-ए-अकबरी की रचना की। निजामुद्दीन अहमद की तबकाते अकबरी, जौहर द्वारा रचित

---

1. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 111.
2. आईन, भाग 1, पृ. 618-619. 29.
3. वही, पृ. 618.
4. वही, पृ. 618-680.

तजकिरात-उल-वाकयात, गुलबदन बेगम का हुमायूँनामा, अब्बास खाँ सरवानी कृत तारीखे शेरशाही विशेष महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनके द्वारा हमें अकबर के काल तक की सम्पूर्ण घटनाओं का विवरण प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त मुहम्मद कासिम हिन्दूशाह फरिश्ता कृत तारीखे फरिश्ता, शेख रिज्क उल्लाह मुश्ताकी की वाकियाते मुश्ताकी, आदि महत्वपूर्ण रचनायें हैं ।

जहाँ तक प्रांतों में फारसी की शिक्षा व साहित्य का प्रश्न है बिहार में फारसी की शिक्षा व्यवस्था अच्छी थी । दरबार तथा सरकारी कार्यालयों में इसकी प्रधानता के कारण व्यावहारिक सुविधाओं के ख्याल से हिन्दू भी इस भाषा को सीखते थे । मुसलमान शासक तथा रईस लोग इसके विकास में मदद करते थे ।[1] अनेक हिन्दू और मुसलमान विद्वानों ने धार्मिक और सामाजिक विषयों पर पुस्तकें, कवितायें और इतिहास फारसी में लिखे। 18वीं शताब्दी तक अधिकतर साहित्यिक गद्य और पद्य फारसी में ही उपलब्ध हैं ।[2] सुबह-ए-सादिक जो मुहम्मद सादिक द्वारा लिखित जहाँगीर कालीन रचना है, के द्वारा यह पता चलता है कि 16वीं सदी की अपेक्षा बिहार में 17वीं सदी में फारसी साहित्य की अधिक प्रगति हुयी । वह यह भी पुष्टि करती है कि बहुत से विद्वान् और साहित्यकार पटना आकर बस गये ।[3]

वास्तव में बिहार सदियों से ही विद्वानों एवं महापुरुषों का जन्म स्थान रहा है। इसने अनेक धार्मिक नेताओं, इतिहासकारों, सुधारकों, प्रशासकों, विद्वानों एवं कवियों को भारतवर्ष को प्रदान किया है। यही कारण था कि मुगल सम्राट सदैव अपने पुत्रों की शिक्षा के लिए बिहार के विद्वानों को नियुक्त करते थे ।[4]

साहित्य के क्षेत्र में बिहार सदैव ही अग्रगामी रहा है न कि अनुयायी।

---

1. बिहार वासियों का जीवन और चिन्ताधारा , पृ. 20.
2. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 432.
3. वही, पृ. 433.
4. वही.

मैथली साहित्य

संस्कृत साहित्य, फारसी साहित्य और हिन्दी साहित्य के साथ-साथ लोक भाषाओं में मैथली-साहित्य की परम्परा का विकास मध्यकाल का प्रमुख देन है।

मैथली मिथिला की लोकभाषा है। मिथिला एक समतल प्रदेश है और तिरहुत के नाम से विख्यात है। यह बिहार के उत्तर पूर्व में स्थित प्राचीन काल से ही शिक्षा एवं ज्ञान का केन्द्र रहा है। साहित्य लेखन में इसका लगभग 600 वर्षों का इतिहास है। मध्यकाल में तो मैथली ही पूरे उत्तर पूर्व भारत की साहित्यिक भाषा रही है ।

12वीं सदी से पूर्व चार्यपद के अतिरिक्त कोई मैथली साहित्य उपलब्ध नहीं है। चार्यपद में लुई, कन्हा, सहीपा, कुक्करी आदि सिद्धाचार्यों (बौद्धों) ने अपनी शिक्षा लिखी है। चार्यपदों की भाषा शैली, काल्पनिकता आदि के आधार पर मैथली साहित्य के विकास का अंकन किया जासकता है । इसके पश्चात् ज्योतिरेश्वर ठाकुर (1324 ई.) की रचना वर्ण रत्नाकर मिलती है। वर्ण रत्नाकर एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता के पुस्तकालय की सर्वाधिक प्राचीन पाण्डुलिपि है। पं. हरिप्रसाद शास्त्री की मान्यता है कि - यह पुस्तक 14वीं शताब्दी की रचना है और मैथली में रचित है। इसमें पद्यलेखन नियम और पद्धति की व्याख्या की गयी है, जैसे - यदि एक राजा का वर्णन करना हो तो उसके किन किन गुणों का उल्लेख होगा, एक राजधानी के वर्णन में किन विवरणों का उल्लेख किया जायेगा आदि ।[1] वर्ण रत्नाकर मैथली साहित्य की एक महत्वपूर्ण रचना है। डॉ. चटर्जी लिखते हैं कि - 'यह स्थानीय और संस्कृत भाषा प्रयोग का विधान निश्चित करती है। साहित्यिक उपमाओं

---

1. कॉम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 537.

का कोष है तथा अनेकों विचारों का संकलन है, जिनका सम्बन्ध पद्य से है । यह मध्ययुगीन भारत, मुख्यतया मिथिला के जीवन और संस्कृति का कोष है।[1]

इस रचना ने अवश्य ही मिथिला के स्थानीय कवियों को प्रोत्साहित किया, परिणामस्वरूप 14वीं शताब्दी तक मैथली भाषा ने साहित्यिक रूप ले लिया और विद्यापति[2] जैसे मैथिल कोकिल महाकवि का मैथिल साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण हुआ ।[3] उनके शिक्षा निर्देशन में मैथली साहित्य {गीतों} की धारा उद्दाम वेग से प्रवाहित हो चली, जिससे न केवल मिथिला का जन-समुदाय वरन् भारत का सम्पूर्ण पूर्वोत्तर भू-भाग आप्लावित हो गया ।[4] वे मैथली साहित्य के पहले कवि हैं, जिन्होंने अपनी कविताओं द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि मैथली भाषा अपने आप में पूर्ण है। उनकी मान्यता है कि संस्कृत भाषा लोकप्रिय नहीं है और न ही उसमें मधुरता है, इसलिए उन्होंने स्थानीय भाषा मैथली में रचनायें लिखीं । मैथिली भाषा में रचित पदावली कवि विद्यापति की कीर्ति का अमरस्तम्भ सिद्ध हुयी । विद्यापति के परवर्ती अनेक मैथली कवियों ने विद्यापति के गीत शैली में कृष्ण प्रेम का प्रकाशन किया। मैथली काव्य की यह परम्परा ब्रजभाषा काव्य के समानान्तर समूचे मध्यकाल {रीतिकाल} तक प्रचलित रही ।[5] सर्वप्रथम विद्यापति ने मैथली अपभ्रंश में कीर्तिलता की रचना की जिसमें कीर्ति सिन्हा की प्रशंसा है। इसके बाद अनेक रचनायें संस्कृत

---

1. जे.के. मिश्रा : ए हिस्ट्री ऑफ मैथली लिटरेचर, पृ. 124,125 ; कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 538.
2. विद्यापति का जन्म दरभंगा जिले में विस्फी नामक ग्राम में सन् 1350 और 1360 ई. के मध्य हुआ था। सन् 1448 ई. में इनकी मृत्यु हो गयी.
3. प्रभावती झा , विद्यापति और उनका दार्शनिक दृष्टिकोण, जे.बी.आर.एस., जिल्द 59, पृ. 164.
4. वही.
5. डॉ. कृष्णदेव झारी : मध्यकालीन कृष्ण काव्य, दिल्ली, 1970,पृ.270-72, 330.

अपभ्रंश में और अनेकों कवितायें अपनी मातृभाषा मैथली में लिखी। इनमें कीर्तिपताका उल्लेखनीय है। मैथली साहित्य में भक्ति (राधा-कृष्ण) और प्रेम गीतों को अधिक महत्व प्रदान किया गया। श्रृंगार के दोनों पक्ष (संयोग और विप्रलंभ) उनके काव्य में विस्तार से वर्णित हैं ।[1]

विद्यापति के पश्चात् उमापति, चन्द्रकला, जीवननाथ, अमृतकर, मानकवि, राजसिन्ह, रुद्रधर, गोविन्ददास (विद्यापति और इनमें 200 वर्षों का समयान्तर था), लोचन, किष्णुपुरी आदि ने मैथली में रचनायें कीं परन्तु इनमें से कोई भी विद्यापति की बराबरी नहीं कर सका। इनका प्रभाव दीर्घकाल तक छाया रहा, किन्तु 15वीं और 16वीं शताब्दी का कोई कवि इतना विख्यात नहीं हुआ, जितना विद्यापति ।[2]

यद्यपि दरभंगा के महेश ठाकुर, महीनाथ ठाकुर ने मैथली साहित्यकारों को प्रेरित किया और स्वयं भी भक्ति गीतों की रचनायें की । इन रचनाओं के संरक्षण से मैथली भाषा पुनः विकास की ओर बढ़ी ।[3] और प्रत्येक घर, राजघरानों, ग्रामवासियों, सम्पन्न नगरों तथा एकान्तवासियों के घरों में इतने स्थान पा लिया। कवि लोचन ने पद्य रचना करके मैथली साहित्य की परम्परा को न केवल आगे बढ़ाया अपितु अनेक पूर्ववर्ती कवियों के पद-संग्रह करके पूर्व परम्परा को रक्षित किया ।[4]

शास्त्रीय भाषाओं के विलोप हो जाने पर उत्तर भारत में यह पहली भाषा थी जिसने आम भाषा को साहित्य में स्थान दिया। वास्तव में मिथिला संस्कृति की भारतीय संस्कृति को सबसे महत्वपूर्ण देन है ।[5]

---

1. डॉ. अरविन्द नरायण सिन्हा : विद्यापति युग और साहित्य, पृ. 183.
2. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 544.
3. वही.
4. कृष्ण देव झारी, पृ. 331.
5. वर्ण रत्नाकर, भूमिका xx-xx1 , उद्धृत-हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 383.

भोजपुरी एवं मगही साहित्य

भोजपुरी एक मुख्य प्रादेशिक भाषा है। यह बिहार में मुख्य रूप से शाहाबाद ﴾वर्तमान भोजपुर व रोहतास﴿, चम्पारन, सरन, राँची, पालमऊ, हजारीबाग, वैशाली के पश्चिमी भाग और मुजफ्फरपुर के साहिबगंज और संथाल परगने के प्रांतों में प्रचलित है ।

जहाँ तक भोजपुरी के विकास का प्रश्न है, इसका विकास भोजपुर परगने में प्रारम्भ हुआ। मुगलकाल में भोजपुर शाहाबाद[1] सरकार में एक परगना था। वर्तमान समय में यह डुमराँव ﴾बक्सर﴿ से 2 मील उत्तर में एक गाँव के रूप में विद्यमान है। शाहाबाद जिले का समस्त उत्तरी भाग भोजपुर और वहाँ के निवासी और उनकी भाषा भोजपुरी है ।[2]

भोजपुर की नींव उज्जैनी के राजपूत राजाओं, डुमराँव राज, जगदीशपुर एवं बक्सर के राजाओं ने चेरो, कहरवार, भाड़ शासकों को पराजित करके 1305 ई. में डाली ।[3]

भोजपुरी साहित्य की परम्परा को प्रारम्भ करने का श्रेय वास्तव में सिद्धाचार्यों को है, जिनमें धरम्पा, महीपा, विरूपा, वेनवापा, तारकेपा, सुबरीपा, चम्पारन के ककलेपा 10 से 12वीं शताब्दी के मध्य विशेष उल्लेखनीय हैं ।[4]

---

1. शाहाबाद ﴾आरा﴿ का नामकरण 1529 ई. में बाबर द्वारा अफगानों पर विजय प्राप्त करने के बाद किया गया - शाहाबाद डि. गजेटियर, 1966, पृ. 1.
2. वही, आर.एन.प्रसाद : हिस्ट्री ऑफ भोजपुर, पटना 1987, पृ. 1.
3. कॉम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 561.
4. वही.

यद्यपि भोजपुरी साहित्य में लेखन कार्य 10वीं सदी के लगभग ही प्रारम्भ हो गया था, परन्तु 14वीं शताब्दी में समाज में संत परम्परा के समावेश हो जाने से भोजपुरी साहित्य लेखन का स्वरूप बदला और वह संत-साहित्य के नाम से जाना जाने लगा। भर्तहरि तथा अन्य निर्गुण विचारधारा (जो उस समय पूर्वी बिहार में प्रचलित था) वाले संतों ने भोजपुरी में भक्ति साहित्य की रचना की । 14वीं शताब्दी में प्रचलित यह संत-साहित्य परम्परा 19वीं सदी तक व्यापक रूप से विद्यमान रही ।[1] 17वीं शताब्दी में इसने अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया। इस काल में भोजपुरी गद्य एवं पद्य साहित्य में प्रौढ़ता आयी । इस काल में धरनीदास (1656 ई.) एवं दरिया-दास (1691 ई.) भोजपुरी साहित्य के विकास में विशेष उल्लेखनीय हैं ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मैथली भाषा के साथ-साथ भोजपुरी भाषा ने भी साहित्य में अपना प्रमुख स्थान बना लिया था और इसके विकास में बिहार ने अत्यधिक योगदान दिया है ।

मगही साहित्य

वर्तमान भाषा मगही प्राचीन मगध की भाषा मगधी का परिवर्तित रूप है। यह बिहार में पटना, नालन्दा, गया, औरंगाबाद, नवादा, मुंगेर, गिरिडीह, हजारीबाग, धनबाद, उत्तरी पूर्वी पलामू, उत्तरी राँची, सरायकेला और बरसवान आदि स्थानों पर बोली जाती है। इस भाषा के सम्बन्ध में ग्रियर्सन का कहना है कि - "मगही भाषा इण्डो-यूरोपियन परि-वार के भाषा के एक समूह इण्डो-ईरानियन भाषा की भारतीय शाखा का एक अंग है ।[2]

---

1. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 562.
2. जार्ज ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, जिल्द 1, भाग 1, पृ. 120.

डॉ. श्यामसुन्दर दास ने मैथिली, मगही और भोजपुरी को तीन बहनों के रूप में देखा है। उनका कथन है कि - "बिहार में भाषा रूपी 3 बहनें हैं, जिनमें से एक भाषा मगही है ।"[1] मगही अति प्राचीन भाषा रही है। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र नालन्दा में सिद्धों के द्वारा साहित्य की रचनायें मगही में ही की गयी हैं ।[2] मगही साहित्य की दिशा में सिद्धों का काल §800-1300§ सबसे प्रारम्भिक काल है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने भी स्वीकारा है कि "सिद्ध साहित्य" वास्तव में मगही साहित्य है ।[3]

मध्यकाल में §14वीं से 18वीं सदी§ संत साहित्य §भोजपुरी साहित्य§ की परम्परा का प्रचलन होने के बावजूद भी मगध क्षेत्र के कुछ संत कवियों ने मगही साहित्य में रचनायें कीं। जैसे कबीरदास की घुमक्कड़ी भाषा में लिखे गये बहुत से गीतों में मगही भाषा का समावेश मिलता है। उनके कुछ शिष्य जिन्होंने मगध को अपना निवास स्थान बना लिया था, अपने बहुत से गीतों §निर्गुण गीत§ की रचना मगही में की है ।[4] परन्तु हमें इससे सम्बन्धित सामग्री पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः इसके कई कारण हो सकते हैं - 1. मुस्लिम आक्रमणों के कारण ओदन्तपुरी और नालन्दा में काफी संख्या में मगही पुस्तकें इन आक्रमणों की आग में झुलस कर नष्ट हो गयी ; 2. लगातार शासकों के आक्रमणों के कारण बहुत से संत कवि मगध छोड़कर मुसलमानों के प्रभाव से बचने के लिए मगध से तिब्बत या नेपाल पलायित हो गये; 3. गहरवार, सेन वंश, कर्नाटवंश के राजाओं द्वारा मगही की अपेक्षा मैथिली, हिन्दी, बंगाली को

---

1. डॉ. श्यामसुन्दर दास : भाषा-विज्ञान, पृ. 150-51.
2. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 585.
3. डॉ. रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद 1971, पृ. 65.
4. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 587.

विशेष संरक्षण प्रदान करने के कारण ; 4. 16वीं शताब्दी तक आते-आते क्षेत्रीय भाषाओं का स्थान ब्रजभाषा {सूरदास} और अवधी {तुलसीदास} के ले लेने के कारण मगही भाषा साहित्य में विशेष स्थान न पा सकी और उसका स्थान उर्दू और फारसी भाषा ने ले लिया। इसके बावजूद भी इस मान्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मगही भाषा एवं साहित्य संत परम्परा के रूप में 18वीं तथा 19वीं शताब्दी तक कायम रही, यहाँ तक कि यह परम्परा आज भी कायम है ।[1]

हिन्दी साहित्य का विकास

भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना से पूर्व ही हिन्दी-भाषा का विकास शुरू हो गया था, परन्तु हिन्दी साहित्य का विकास तुर्क साम्राज्य के उद्भव तथा विकास से प्रारम्भ हुआ। आरम्भ में तुर्क-शासकों को भारतीय भाषा से प्रेम न था। वे अपने व्यापार कार्य फारसी भाषा के माध्यम से करते थे । इतना ही नहीं उन्होंने फारसी लेखकों को संरक्षण, प्रोत्साहन तथा आश्रय प्रदान किया और कुछ लेखकों ने फारसी में रचनायें भी कीं । धीरे-धीरे फारसी भाषा का प्रभुत्व होते हुये भी हिन्दी भाषा का विकास हुआ और यह विकास यहाँ तक हुआ कि जब 13वीं शताब्दी में तुर्क साम्राज्य की स्थापना हुयी तो उस समय हिन्दी एक विकसित भाषा के रूप में विद्यमान थी, इसका प्रमाण हमें अमीर खुसरो की रचनाओं में मिलता है। इन्हें हिन्दी भाषा के विकास का प्रारम्भिक प्रतिनिधि कवि समझा जाता था।

हिन्दी की प्रारम्भिक उत्पत्ति सिद्ध लोगों की रचनाओं में मिलती है, जो नालन्दा, विश्वविद्यालय, विक्रमशिला से सम्बन्धित थी । अपने धर्म का प्रचार करने के लिए सिद्ध लोगों ने साधारण भाषा का प्रयोग किया, जो हिन्दी के रूप में प्रख्यात हुयी ।

---

1. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 588-89.

भक्ति आन्दोलन के संतों (कबीर, नानक, रैदास, दादू दयाल तथा मलूकदास प्रमुख थे) ने हिन्दी तथा उर्दू भाषा के विकास में अधिक सहयोग दिया। धार्मिक सुधारकों एवं संतों ने जनता के समक्ष सर्वसाधारण भाषा में अपने सुधारों की शिक्षाओं का उपदेश दिया। रामानन्द तथा कबीर ने हिन्दी में शिक्षायें दीं और हिन्दी कविता के विकास में अधिक योगदान दिया ।[1] कबीर के दोहे एवं साखी के धार्मिक प्रभाव से भारत में हिन्दी साहित्य का उत्तरोत्तर विकास हुआ। हिन्दी साहित्य का विकास मुगल व सूर शासकों के संरक्षण में अधिक हुआ। यदि यह कहा जाय कि मुगल सम्राट अकबर का युग तो हिन्दी का स्वर्णयुग था तो अतिशयोक्ति न होगी । अकबर के संरक्षण में फारसी साहित्य की भाँति हिन्दी साहित्य का भी तीव्र गति से विकास हुआ।

सूर साम्राज्य के शासकों ने राज्य एवं समाज, दोनों में हिन्दी भाषा एवं साहित्य को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। सूर शासनकाल में हिन्दी को प्रोत्साहित करने के लिए प्रत्येक परगने में हिन्दी के लेखक नियुक्त किये गये थे । इस काल में मलिक मोहम्मद जायसी (1493-1542 ई॰) कृत "पद्मावत" हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण कृति है। इस ग्रन्थ में शेरशाह की प्रशस्ति लिखी गयी है। यह 1540 ई॰ में पूरी हुयी ।

अकबर के काल में तो हिन्दी के कवियों का बोलबाला था, जिनमें सूरदास, तुलसीदास, रसखान, मीराबाई, अब्दुर्रहीम खानखाना, विशेष उल्लेखनीय हैं। सूरदास कृष्ण भक्ति शाखा के प्रमुख कवि थे । इनका स्थान हिन्दी साहित्य के प्रथम श्रेणी के कवियों में है। उन्होंने न केवल भाषा की दृष्टि से साहित्य को सुसज्जित किया वरन् धार्मिक क्षेत्र में ब्रजभाषा के सहारे कृष्ण काव्य की एक विशिष्ट परम्परा को जन्म दिया। इनकी रचनायें, सूरसागर,

---

1. एम.एल. भर्गो, पृ॰ 375.

साहित्य लहरी तथा सूर सारावली अधिक प्रसिद्ध हैं । यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट होता है कि राधा कृष्ण भक्ति काव्य की परम्परा को 16वीं शताब्दी में पहुँचाने का श्रेय मिथिला के संस्कृत के महान् विद्वान् विद्यापति को है। इनकी विभिन्न रचनाओं में प्रेम के विभिन्न रूप चित्रित मिलते हैं। राधा भक्ति विषयक पदों में विद्यापति ने लौकिक प्रेम का ही चित्रण किया है। हिन्दी में विद्यापति गीत काव्य के जनक माने जाते हैं। उनसे पूर्व गीत-काव्य का इतना पुष्ट, सुन्दर और कलात्मक रूप अन्यत्र उपलब्ध नहीं था। श्रृंगार के दोनों पक्ष (संयोग - विप्रलम्भ) उनके काव्य में विस्तार के साथ वर्णित हैं ।[1] इन्हीं की प्रेरणा का फल था कि 16वीं शताब्दी में हिन्दी साहित्य गगन में कृष्ण भक्ति शाखा में सूरदास जैसे कवि का प्रादुर्भाव हुआ।

सगुण ईश्वर भक्ति के अन्तर्गत राम भक्ति धारा को प्रवाहित करने में तुलसीदास का योगदान अद्भुत है। तुलसीदास के समय में हिन्दी में छप्पय शैली, सूरदास की गीत पद्धति, गंग आदि भाटों की कविता सवैया पद्धति, सूफी कवियों की दोहा, चौपाई पद्धति तथा नीति कवियों की दोहा पद्धति आदि प्रचलित थी । तुलसी ने इन सभी पद्धतियों को अपनाया और इनमें सभी पर अपनी लेखनी चलाई ।[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी काव्य के क्षेत्र में उनके प्रादुर्भाव को एक चमत्कार मानते हैं ।[3] क्योंकि उन्होंने ऐसे अद्वितीय काव्य की सृष्टि की जिसने उत्तरी भारत की जनता का मार्ग दर्शन किया और आज भी कर रहा है ।[4]

---

1. डॉ• अरविन्द नरायण सिन्हा : विद्यापति युग और साहित्य, पृ• 23•
2. लइक अहमद : भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद, पृ• 96•
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी संवत् 2045, पृ• 86•
4. डॉ• हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, बम्बई 1963, पृ• 87•

वैष्णव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध कवि रसखान का विषय काव्य-प्रेम है। इनके द्वारा रचित सुजान रसखान और प्रेमवाटिका प्रसिद्ध रचनायें हैं। इनकी भाषा विशुद्ध ब्रजभाषा है। उन्होंने स्थान-स्थान पर अरबी एवं फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है। दोहा, सवैया, कवित्त की शैली इनके पदों में दृष्टिगोचर होती है ।[1] अब्दुर्रहीम खानखाना उच्चकोटि के कवि तथा विद्वान् थे । इन्होंने रहीम सतसई, श्रृंगार सोरठा, रास पंचध्यायी, नायिका-भेद, आदि की रचना कर हिन्दी साहित्य के विकास में अमूल्य योगदान दिया है । इसके अतिरिक्त ये अरबी, फारसी तथा संस्कृत के भी विद्वान् थे ।

अकबर के काल में जहाँ इन प्रमुख कवियों ने हिन्दी साहित्य को भावित किया, वहीं अकबर के दरबार के उज्ज्वल रत्न बीरबल, मानसिंह, टोडरमल आदि भी हिन्दी को संरक्षण प्रदान कर हिन्दी साहित्य को विकसित करने के लिए सदैव प्रयासरत रहे । दरभंगा के महेश ठाकुर ने अपने जीवन-काल में संस्कृत साहित्य के साथ-साथ हिन्दी साहित्य को विकसित करने का सतत् प्रयत्न किया ।

उपर्युक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि 16वीं सदी में हिन्दी साहित्य का विकास अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। विकास का यह क्रम 17वीं सदी में भी तीव्र गति से चलता रहा ।

जहाँ तक उर्दू साहित्य के विकास का प्रश्न है 16वीं सदी में इसने साहित्य के रूप में अपना स्थान पा तो लिया था[2] परन्तु इस समय बिहार

---

1. लइक अहमद, पृ॰ 99.
2. देशी और विदेशी भाषाओं के एक-दूसरे के सम्पर्क में आने के परिणाम-स्वरूप नयी भाषा उर्दू का प्रादुर्भाव हुआ। इसको विकसित करने में सूफी संतों, भक्ति आन्दोलन के संतों का विशेष योगदान रहा है ।

में साहित्यिक स्तर पर यह किस सीमा तक विकसित हुयी, इस सम्बन्ध में हमें पर्याप्त जानकारी नहीं मिलती, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि साहित्य के क्षेत्र में बिहार का अपना अलग अस्तित्व रहा है। यह कहना अनुचित न होगा कि - "शुद्ध साहित्यिक क्षेत्र में बिहार ने कभी किसी का अन्धानुकरण नहीं किया, बल्कि इस क्षेत्र में स्वयं अग्रणी रहा। विभिन्न परिस्थितिवश यदि कभी वह अग्रणी (अग्रसर) नहीं रहा, तो भी उसने अपना अस्तित्व (साहित्यिक) कायम रखा।"

कला

संगीत कला

संगीत हृदय की भावनाओं का रागबद्ध उद्गार है। बिहार में संगीत का प्रारम्भ वैदिक युग की देन है। संगीत के क्षेत्र में बिहार की परम्परा का इतिहास गौरवमय है।

संगीतकला अति प्राचीन काल से ही जनसामान्य तथा राजघरानों में अधिक लोकप्रिय थी, परन्तु राजाओं के संरक्षण में यह कला अधिकाधिक विकसित हुयी। मिथिला के प्रथम ऐतिहासिक राजा नन्यदेव ने मिथिला में प्रमुख रागों की रचना की। सारंगदेव के संगीत रत्नाकर से यह विदित होता है कि संगीत कला के विकास, लेखन और रचना में नैन्यदेव का विशेष योगदान रहा। उन्होंने 160 रागों पर विस्तृत निबन्ध लिखे।[1]

राजा नैन्यदेव द्वारा स्थापित संगीत कला की यह परम्परा उनके पश्चात् भी कायम रही। संगीतकार राजा सिंहदेव (कर्नाटा राजा), कविशेखर-

---

1. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 382.

आचार्य, ज्योतिरेश्वर (1324 ई.), सिंह भूपाल जगाधर, जगज्योति मल्ल, तदुपरान्त लोचन जो रागतरंगिणी के (1680 ई.) रचयिता थे, आदि संगीतकारों ने संगीत की परम्परा को बनाये रखा ।[1]

मिथिला की इस विशिष्ट कला विकास के परिणामस्वरूप मैथिली साहित्य का भी विकास हुआ, जिनमें विद्यापति, उमापति और गोविन्ददास के गीत विशेष उल्लेखनीय हैं। मध्यकाल में इन साहित्यकारों की गीत रचना ने संगीत के रूप में कीर्तनियाँ पद्धति को जन्म दिया ।[2] इस पद्धति में गीतों का समूहगान किया जाता था ।

यद्यपि इस्लाम के अधिकांश रूढ़िवादी समर्थक संगीत के विरोधी थे, उनकी दृष्टि में संगीत अधार्मिक व विलासमय जीवन का एक साधन था।[3] परन्तु समय-समय पर मुस्लिम शासकों द्वारा राजकीय संरक्षण प्रदान किये जाते रहने के कारण संगीत की कला निरन्तर विकसित होती रही । मुगल युग में संगीत के प्रति शासकों में विशेष रुचि ने इस कला को आगे बढ़ाने में विशेष योगदान दिया, परिणाम स्वरूप आज भी संगीत जीवन का एक आवश्यक अंग बन गया है ।

नाटक कला

भारत में नाट्यकला अनन्य रूप से हिन्दू धारणा थी । यह अति प्राचीनकाल से ही प्रचलित थी, परन्तु इसका महत्व धार्मिक दृष्टि से था । प्राचीन काल से ही यह राजाओं तथा अमीरों द्वारा संरक्षण प्राप्त होने के कारण फलती-फूलती रही । यद्यपि मध्ययुग में प्रत्यक्ष कारणों के कारण मुसलमान

---

1. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 383.
2. वही, पृ. 383.
3. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 227.

शासकों ने (विशेषकर अकबर) नाट्यकला को विशेष संरक्षण प्रदान नहीं किया और न ही मुस्लिम प्रजा ने इसे व्यक्तिगत रूप से स्वीकार किया, फिर भी नाट्य कला मध्य युग में निरन्तर व्यवहार में लायी जाती रही ।

कीर्तनियाँ नाटक

मिथिला की स्थानीय भाषा मैथली के साहित्यिक विकास के साथ-साथ कीर्तनियाँ नाटकों का भी जन्म हुआ। ग्रामों में नृत्य और अभिनय आम-बात थी । स्थानीय भाषा के विकास होने पर इन्हीं भाषाओं में गीतों के रूप में नाटक रचनायें लिखीं गयीं ।[1] जिससे जनसामान्य का मनोरंजन हो सके।

विद्यापति मैथली के प्रथम नाटककार हैं, जिन्होंने गोरक्षा विजय नाटक की रचना की । संवाद संस्कृत में हैं और गीत, मैथली में । इसके अलावा उनकी "मणि मंजरी" भी प्रमुख नाटक है। अन्य नाटककारों में नलचित्र के नाटककार गोविन्ददास, आनन्दविजय नाटिका के नाटककार रामदास, पारिजातरंग के नाटककार रमापति उपाध्याय विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें उमापति उपाध्याय मध्ययुग के कीर्तनियाँ नाटककारों में सर्वश्रेष्ठ हैं। ये विद्यापति के पूर्वकालीन हैं ।[2]

कीर्तनियाँ नाटक में जमाती नामक अभिनय कलाकार होते थे । इनका मुखिया नायक कहलाता था, जो सूत्रधार और मुख्य अभिनेता की भूमिका निभाता था। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इनमें जाति भेद नहीं था। किसी भी जाति का व्यक्ति इसमें भाग ले सकता था। कीर्तनियाँ अभिनेता विवाह या उपनयन संस्कार आदि के समय आमंत्रित होते थे और ये शिव

---

1. वर्ण रत्नाकर, भूमिका , xx-xx1, उद्धृत उपेन्द्र ठाकुर, पृ. 383.
2. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 548.

कृष्ण भक्ति के नाटक करते थे । ये नाटक रात्रि में किये जाते थे । राजदरबार में भी कीर्तनियाँ नाटक मण्डली जाती थी । नाटक के समय इनका पहनावा सामान्य था, जैसे - जामा, पैजामा और पादुका। उसका पूरा शरीर ढका होता था और सिर पर सथा पगा होता था हाथ में फूल हथा होता था। नायक को अपने साहित्यिक ज्ञान की जानकारी होती थी और वह जन-समुदाय को अपने इस ज्ञान से अवगत कराता था ।[1] स्थानीय भाषा के विकास और उसे लोकप्रिय बनाने की दिशा में यह प्रशंसनीय कदम था ।

लोक कला

भारतीय लोक-कला का इतिहास उतना ही प्राचीन है, जितनी भारतीय सभ्यता। यही बात बिहार की लोक कला के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वास्तव में बिहार की लोककला और शिल्प कला का इतिहास अति प्राचीन है ।[2] डॉ. कुमारस्वामी की मान्यता है कि - "लोककला का जन्म 5,000 वर्ष पूर्व की कलाओं से हुआ है।"लोककला समाज की सामुहिक प्रबलता की संकेतक है। लोककलाओं की अपनी एक विशिष्ट शैली होती है, जो प्राचीन परम्पराओं और समय के साथ अपनी पूर्णता को प्राप्त करती है। इन्हीं कलाओं से हमें आज भारतीय संस्कृति का ज्ञान हुआ है । लोककला प्रचलित रीतियों, परम्पराओं, धारणाओं और यदाकदा कलाकार की रचनात्मकता से प्रभावित थी, किन्तु मुख्यत: धार्मिक प्रसंग ही कला के विषय होते थे । एस.के. राय का कथन है कि - कला और धर्म का सम्बन्ध विश्वव्यापक है और हिन्दू धर्म में भक्त और भगवान् के बीच सम्बन्ध कला के बिना असम्भव है ।[3]

---

1. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पृ. 548.
2. दयाशंकर उपाध्याय : दि फोक पेंटिंग ऑफ मिथिला, जे.बी.आर.एस. जिल्द 54, पृ. 306.
3. एस.के.राय : दि ब्रतास ऑफ बंगाल, इण्ट्रोडक्शन, पृ.V .

भीत चित्रकला

बिहार के सांस्कृतिक जीवन में चित्रकला एक अभिन्न अंग रहा है। यह मानव के अन्तरमन और भावनाओं को, सामाजिक जीवन के अनुभवों के साथ के सम्मिश्रण को परिलक्षित करती है। साधारणतया यह कला तीन प्रकार से की जाती है[1]-

1. भीत चित्र
2. पट चित्र
3. अल्पना या भूमि शोभा ।

आर्चर लिखते हैं कि - यह चित्रकला {भीत चित्र} मुख्यतः ब्राह्मणों और कायस्थों की कृति है और शृंगार रसयुक्त है ।[2] आर्चर द्वारा कला को किसी जाति विशेष की अमानत स्वीकार करना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता। कोई भी कला किसी व्यक्ति या जाति विशेष की जागीर नहीं है। अतः इस तथ्य को स्वीकारना कि भीत चित्र केवल ब्राह्मणों और कायस्थों की ही धरोहर थी, उचित प्रतीत नहीं होता।

इस भीत चित्र कला का सर्वाधिक विशिष्ट पहलू यह है कि - यह कला बिहार में स्त्रियों में अधिक प्रचलित है ।[3] परम्परागत रूप से दीवार और भीतरी छत को सुसज्जित करना एक प्राचीन परम्परा रही है, जो आज भी लोककला के रूप में प्रचलित है। यह कला अधिकतर गाँवों में प्रचलित है। ग्रामों में स्त्रियाँ घर के बाहरी और भीतरी दीवारों को त्योहार, उत्सव, व विभिन्न अवसरों पर चित्रों द्वारा सुसज्जित करती हैं ।[4]

---

1. दयाशंकर उपाध्याय, जे.बी.आर.एस., जिल्द 54, पृ. 307.
2. मार्ग, सम्पादन मुल्कराज आनन्द, जिल्द 3, संख्या 3, पृ. 25 ; उपेन्द्र ठाकुर, पृ. 386.
3. हेतुकर झा : माइका पेंटिंग इन पूर्निया हवेली, जे.बी.आर.एस., जिल्द54, पृ. 295.
4. दि प्रतीचारी सिन्थियसिस, कलकत्ता1940, वही, पृ. 308.

भोजपुरी भाषी क्षेत्रों में भीत चित्र के लिए "उरहना" शब्द का प्रयोग किया गया है और मिथिला में भीत शोभा या कोहबर लेखनके नाम से जाना जाता है। भोजपुरी भाषी क्षेत्रों में भी ये चित्र ग्रामवासी स्त्रियों या पुरुषों द्वारा किया जाता है, जबकि मिथिला में अधिकतर स्त्रियाँ ही कलाचित्रों को बनाती थीं ।[1]

इस कला की आवश्यकतायें थी, एक योग्य दीवार, रंग तथा रंगने की कूची । रंग सीमित थे - गुलाबी, पीतवर्ण, नीला, काला, सिन्दूरी और हरा । अधिकतर सिंदूरी रंग का प्रयोग किया जाता था । रंगों को बकरी के दूध में मिलाया जाता था। काला रंग भूसा जलाकर प्राप्त किया जाता था और श्वेत रंग चावल पीसकर पानी में मिलाने से बनता था ।[2] भोजपुरी भाषी क्षेत्रों में रंगों के लिए उपयोग में लाये जाने वाली वस्तुयें चूना {श्वेत वर्ण के लिए}, सिन्दूर {लाल रंग के लिए}, हल्दी {पीत वर्ण के लिए}, काजल {काले रंग के लिए} और गेरू ।[3] ब्रुश के लिए टहनी का प्रयोग किया जाता था, जिसका एक किनारा छीलकर ब्रुश की भाँति बनाया जाता था ।[4] इसके अतिरिक्त रूई या ऊन का भी प्रयोग किया जाता था। प्रायः भोजपुरी चित्र अति साधारण और श्रृंगार रहित होते थे ।

भीत चित्र में मुख्य स्थान कोहबर घर के चित्रांकन का था, जो प्राचीनकाल से आज भी प्रचलित है। कोहबर चित्रों का विषय मुख्यतः सामाजिक और धार्मिक है। कोहबर घर के चित्रों में देवी-देवता सम्मिलित रूप से

---

1. मार्ग, जिल्द 3, संख्या 3, पृ. 25.
2. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 388.
3. जे.बी.आर.एस., जिल्द 54, पृ. 310.
4. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 388.

चित्रित किये जाते थे। शिव-पार्वती, राधा-कृष्ण, विष्णु के सभी अवतार, दुर्गा, काली, कृष्ण गोपियाँ आदि चित्रित किये जाते थे। ये चित्र विवाह के अवसर पर नव-विवाहितों को आशीर्वाद देने के लिए बनाये जाते थे। प्रत्येक चित्र पृथक् भावनाओं को परिलक्षित करता है, जैसे - शिव महाकाल का और पार्वती शक्ति का प्रतीक है।[1] सूर्य तथा चन्द्रमा को भी चित्रित किया जाता था। चन्द्र उर्वरता का प्रतीक है। इसके अतिरिक्त पशु तथा निर्जीव वस्तुओं का चित्रण भी किया जाता था। इनमें तोता, कछुआ, मछली, बाँस का वृक्ष, कमल आदि मुख्य थे। बाँस का पेड़ और कमल कामांगों के प्रतीक थे, तोता प्रेम को लक्षित करता है, कछुआ प्रेमी युगल के मिलन का और मत्स्य उर्वरता का प्रतीक है।[2]

प्रचलित धारणा है कि इस लोकप्रिय चित्रकला से नव-विवाहितों का मंगल होता है तथा संतान मिलती है, इसलिए स्त्रियों द्वारा यह चित्रण आज भी प्रचलित है।

अल्पना

यह कला वस्तुतः भारत के सभी प्रांतों में और प्रदेशों में प्रचलित है। केवल नामों में अन्तर है, उदाहरणस्वरूप- बंगाल में अल्पना, राजस्थान में मण्डला, गुजरात में रंगोली, पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा बिहार में चौकपूरना या अल्पना कहा जाता है। यह विलक्षण कला अत्यन्त प्राचीन काल से ही परम्परागत रूप में प्रचलित है। यह चित्रण पूजा, पर्व, व्रत, त्योहार अथवा अन्य संस्कारों के समय किया जाता है।[3]

---

1. जे.बी.आर.एस., जिल्द 54, पृ. 310-312.
2. मर्ग, जिल्द 3, भाग 2, पृ. 27-29, 31-32 ; उपेन्द्र ठाकुर, पृ. 389.
3. एस.के. राय : दि व्रतास ऑफ बंगाल, पृ. 42-44 ;
   जे.बी.आर.एस., जिल्द 54, पृ. 314.

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्टतः प्रतीत होता है कि भीत-चित्र हिन्दुत्व की प्राचीन मान्यता सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् की भावना का प्रतीक है ।

सिक्की लोक कला

लोक कला के अनेकों पहलुओं में सिक्की लोककला दरभंगा और मुजफ्फरपुर प्रांतों की प्राचीन परम्परा रही है ।

इस कला में स्त्रियाँ स्वर्ण रंग की सिक्की घास से वस्तुओं का निर्माण करती हैं। स्वर्ण रंग की लम्बे तने के रूप में सिक्की घास वर्षा ऋतु में अत्यधिक मात्रा में पायी जाती है। वर्षा ऋतु में यह पूर्ण रूप से पनपती है और इसका ऊपरी भाग जिसमें फूल भी होते हैं, तोड़ लिया जाता है और बाकी हिस्से को पतली टहनी के रूप में काटकर रख लिया जाता है, जो पूरे वर्ष सिक्की की वस्तुओं के निर्माण में काम आती है। सूखने के बाद घास अनन्य रंगों में रंगी जाती है। स्त्रियाँ सामान्यतः इसे कुछ विशेष रंगों में रंगती हैं, काला, लाल, नीला, हरा आदि। रंगने की प्रक्रिया में पानी और रंग के घोल को गरम करने के बाद इसमें सिक्की घास डाल दी जाती है। कुछ समय पश्चात् घास को निकालकर सूखने के लिए फैला दिया जाता है ।[1]

वस्तु बनाने की प्रक्रिया

सर्वप्रथम वस्तु का निचला भाग तैयार किया जाता है और फिर इसे कुंडलाकार बनाकर शेष पूरा किया जाता है। इस कार्य के लिए तकुआ और छूरी का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार सुन्दर और उपयोगी वस्तुओं का

---

1. दयाशंकर उपाध्याय : मिथिला की सिक्की लोक कला ; जे.बी.आर.एस., पटना 1968, पृ. 262-263.

निर्माण इस घास से किया जाता है ।[1]

सिक्की की वस्तुयें अधिकतर स्त्रियों की काल्पनिकता का साकार रूप होती हैं, जिसमें परम्परा और धर्म का सम्मिश्रण होता है। बड़ी ही कुशलता से स्त्रियाँ सिक्की की वस्तुओं पर देवी-देवता जैसे सूर्य, चन्द्र, शिव आदि का निर्माण करती हैं। कुछ सांकेतिक रचनायें भी मिलती हैं, जैसे - सप्तादल, स्वास्तिक, शंख, चक्र, त्रिरत्न आदि ।

इस कला के अनेकों आकार मिलते हैं, जिन्हें स्थानीय भाषा में कोढी, दरहिया, छणछिटको, पोढ़िया, लहेरिया, कतरलपान, छुड़िया, परमसिया, बरऊंआ, हौदिया-कोष, चितुवा-फूल, सिंघाड़ी फूल, चवन्नी फूल आदि नामों से जाना जाता है। उपर्युक्त सभी आकार की वस्तुयें पटना की लोककला संग्रहालय में उपलब्ध हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि - यह पुरातन कला पीढ़ी दर पीढ़ी चलती आ रही है। यह कला जनसमुदाय के दैनिक जीवन से अत्यधिक निकट होने के कारण अनेक युगों के बाद आज भी जीवित है । मैथिली लोक साहित्य में इस कला का मुख्य स्थान है ।[2]

इस लोककला में स्त्रियों की विचार शक्ति, भावनायें और सुन्दरता के प्रति प्रेम परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त सिक्की कला से बिहार के विशेषकर मिथिला अथवा तिरहुत, दरभंगा के सामाजिक परम्पराओं, आकांक्षाओं और धारणाओं का ज्ञान भी होता है । सिक्की लोक कला की सुन्दरता और सूक्ष्मता लोक कलाओं के क्षेत्र में बिहार की प्रमुख देन है ।

---

1. दयाशंकर उपाध्याय : मिथिला की सिक्की लोक कला, जे.बी.आर.एस. पटना, 1968, पृ. 262-63.
2. वही, पृ. 266.

कसीदाकारी की कला

भारतीय कसीदाकारी की कला किसी भी वस्तु की सुन्दरता बढ़ाने के लिए सुई धागों से की जाती है। भारतीय लोक कलाओं के इतिहास में इस कला का मुख्य स्थान है। यह केवल सुई धागों का प्रयोग ही नहीं है, बल्कि एक कलात्मक कार्य है । इस कला का आकार वस्तु विशेष की उपयोगिता के अनुसार होता है। इसके दो भाग हैं - रंग और आकृति । किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य अपनी भावनाओं को कला रूप प्रदान करना है ।[1]

कसीदाकारी कला का इतिहास प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक है। ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में विदेशों से जो व्यापार था, उनमें मुख्य वस्तुएँ थीं - महीन कपड़े, कसीदाकारी की हुयी वस्तुएँ, हाथी दाँत की वस्तुएँ इत्यादि ।[2]

मध्ययुग में विशेष रूप से मुगलकाल में कसीदाकारी की कला अत्यंत विकसित हुयी । मुस्लिम राजाओं ने बढ़ावा देकर इसको कलात्मकता प्रदान की । समाज में यह प्रथम अवसर था, जब सुई धागों का उपयोग कसीदाकारी की मजबूती के लिए किया गया । इससे उसकी सुन्दरता में निखार आया और सुन्दर कसीदाकारी का जन्म हुआ ।[3] बिहार के मैथिली, मगधी, और भोजपुरी भाषी क्षेत्रों में आज भी स्त्रियाँ कसीदाकारी पसन्द करती हैं । यह कला तीन भागों में विभाजित है - 1. कसीदा, 2. एपलीक, 3. सुजानी।

---

1. जे.बी.आर.एस., जिल्द 56, पटना 1970, पृ. 245.
2. आर्टस ऐण्ड क्राफ्ट्स ऑफ इण्डिया ऐण्ड सिलोन, पृ. 193.
3. जे.बी.आर.एस., जिल्द 56, पृ. 246.

कसीदा

सम्पूर्ण बिहार में कसीदा स्त्रियों द्वारा अपने स्वतः के उपयोगी वस्तुओं पर किया जाता है। दैनिक उपयोग के वस्त्र जैसे - ब्लाउज, साड़ी, ओढ़नी, टोपी, मसनद, तकिया, चोली आदि पर कसीदा का कार्य होता है। कसीदे की भिन्नता उसकी सिलाई के तरीके पर निर्भर है। जैसे - मिथिला प्रांतों में इसे तीन प्रकार से किया जाता है - 1. छुआ, 2. भरौता, 3. तगनुआ ।[1]

1. छुआ - भोजपुरी प्रांतों में इसे सिकरिया का नाम दिया गया है ।
2. भरौता - यह कसीदाकारी का एक रूप है, जिसमें ग्राम की स्त्रियाँ पूरे कपड़े को कलाकृति से भर देती हैं। भोजपुरी क्षेत्रों में इसे भरुआ कसीदा कहा जाता है। इसमें आड़े, खड़े और तिरछे धागे की सिलाई करके रेखाकृतियाँ तैयार की जाती हैं। प्रायः स्त्रियाँ यह कसीदा श्वेत, लाल और नीले वस्त्रों पर अनेक रंगों के धागों से करती हैं। पहले आकृति वस्त्र पर रेखांकित की जाती है। इसके पश्चात् काले धागे से सिलाई की जाती है। फिर इन आकृतियों के बीच अनेक रंगों के धागे भर दिये जाते हैं ।[2]
3. तगनुआ - इसका अर्थ है धागों की गणना करना। इसमें स्त्रियाँ वस्त्रों पर अनेक प्रकार की आकृतियाँ रेखांकित करती हैं और फिर उनको धागों से गिनती करते हुये भर दिया जाता है ।

---

1. जे.बी.आर.एस., जिल्द 56, पृ. 247.
2. वही.

बिहार के भोजपुरी क्षेत्रों में आज भी "बभन-बूटा" प्रचलित है। यह ब्राह्मण अथवा भूमिहार स्त्रियों द्वारा किया जाता है, इसलिए इस जाति के नाम पर इसका नाम "बभन बूटा" हुआ। इसके अनेक प्रकार हैं - जैसे - कंघी बूटी, फुलौरा बूटा, चन्दन बूटी, अढ़ बुटिया, सालह बुटिया, तारा-बुटिया, मन्दिरा बुटिया आदि। इनके किनारो को लहरिया कोर, अंग-रेजिया कोर, मचयिवा कोर, कछुरिया कोर, छणियवा कोर, बुलाको बूटी कोर, तारा बूटी कोर, मनोरियवा कोर, कनगोजरवा कोर, बबुलिया कोर की सहायता से विभिन्न रूपों में बनाया जाता है ।[1]

जहाँ तक कसीदे की विषयवस्तु का प्रश्न है, इसमें अनेकों प्रकार की रेखाकृतियाँ होती हैं, जो आड़ी-खड़ी और तिरछी रेखाओं पर धागों की सिलाई करने से बनती हैं। इनमें कुछ आकृतियाँ कोण और चौकोर होती हैं । बिहार की कसीदाकारी में पशु-पक्षी और मनुष्य का सांकेतिक उपयोग प्रमुख है। पशुओं में हाथी, घोड़े, शेर, मोर, तोता, मछली आदि। इसके अति-रिक्त पेड़ पौधों की आकृतियाँ भी बनायी जाती हैं, जैसे - तुलसी का पौधा, केले का पौधा इत्यादि। फूलों में कमल का फूल अधिक प्रचलित है ।

कसीदे की कला में अनेकों रंगों का मिश्रित रूप प्रयोग होता है । गार्डनर का कथन है कि - रंग भावना प्रदर्शन का सबसे सशक्त साधन है ।[2] स्त्रियाँ अधिकतर सिंदूरी, लाल, पीला, नीला, हरा, नारंगी रंग का प्रयोग करती हैं। इनका उपयोग प्रायः लाल वस्त्र पर श्वेत और पीले रंगों के धागे और नीले वस्त्रों पर लाल, नीला, काला, हरा, पीला और कत्थई रंग प्रमुख थे । भोजपुरी क्षेत्रों में कभी-कभी हरे रंग पर बैगनी रंग के प्रयोग का वर्णन है।[3]

---

1. जे.बी.आर.एस., जिल्द 56, पृ. 247-48.
2. आर्ट थ्रू द एजेस, पृ. 6.
3. जे.बी.आर.एस., जिल्द 56, पृ. 250.

एप्लीक

कसीदाकारी की यह कला अत्यन्त प्राचीन है। युद्ध या आखेट के समय तंबुओं पर अनेक प्रकार के कसीदों का प्रयोग होता था। उस काल में शामियाना जोड़ लगाकर बनाया जाता था, जिसे एप्लीक नाम दिया गया। शामियाने की कनातों पर रेखा चित्रण, पशु पक्षी, पेड़ पौधे आदि बने होते थे। इस कला की कार्यप्रणाली अत्यन्त सरल है। पहले इच्छित रंग के वस्त्र को लिया जाता है और फिर उसे आकृति रूप दिया जाता है। इसके पश्चात् स्त्रियाँ इन छोटी-बड़ी आकृतियों को वस्त्रों के ऊपर सिल देती हैं। जब सभी आकृतियाँ वस्त्र पर सिल जाती हैं तो एक सुन्दर कलाकृति निर्मित हो जाती है, जिस वस्त्र पर सिलाई की जाती है, वह प्रायः गहरे रंग का होता है, जैसे - लाल, नारंगी आदि। इस कला के दो प्रकार पूरे बिहार में आज भी प्रचलित हैं। इनमें एक है कटाव और दूसरा लम्बी पट्टियों में कटे टुकड़े। कटाव में वस्त्र को अनेकों आकार और नाप में काटकर वस्त्र पर सिला जाता है।[1]

सुजानी

यह बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश की अनोखी कला है। सुजानी पुराने और फटे वस्त्रों से अत्यन्त सरलता से बनाया जाता है। पहले अनेक फटी साड़ियाँ और धोतियों को चारों किनारों से पकड़ कर सिल लिया जाता है। इसके बाद मध्यभाग को रूई भरकर तोशक की तरह बनाया जाता है और फिर सुजानी को अनेकों रंगीन धागों से सिला जाता है। स्त्रियाँ इसमें अनेकों प्रकार की रूपरेखायें तिरछी बनाती हैं। आकृतियों का विषय प्राकृतिक

---

1. जे.बी.आर.एस., जिल्द 56, पृ. 250.

और धर्म निरपेक्ष होता है, जैसे - कमल, बेला, गमले में पौधा, विभिन्न पक्षी {कबूतर, मोर आदि}, पशु {हाथी, घोड़ा, मछली, चीता आदि} तथा सर्प । विषय दैनिक जीवन से सम्बन्धित और अलंकार प्रधान होता है। यह अति प्राचीन परम्परा है ।[1]

इस प्रकार लोककला में बेल-बूटे कसीदाकारी, जनसामान्य की भावनाओं, इच्छाओं और अनुभवों को तथा कलाकार की कलात्मकता और सफलताओं को प्रदर्शित करती है। कसीदाकारी की कला बिहार के लोककला की विशिष्टता थी । यह कला धर्म-निरपेक्ष, अलंकारयुक्त, विषय और कलाकार के प्रेरणा पर आधारित थी। प्रायः यह यथार्थरूपी, अलंकारयुक्त कला है। कसीदाकारी वास्तव में इतिहास की एक अमूल्य देन है, जो हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग है ।

धार्मिक जीवन

हिन्दू धर्म

धर्म के सम्बन्ध में बिहारवासी सामान्यतया रूढ़िवादी थे । ब्राह्मणों पण्डितों और उच्चवर्गीय हिन्दुओं का समाज में प्रभाव था। शूद्रों के लिए कड़े नियम बनाये गये । धार्मिक क्रियाओं, मन्दिरों और श्राद्ध आदि के लिए विस्तृत रीतियों को जन्म दिया गया। भक्तिवाद की व्याख्या, उनके कर्तव्य बलि के नियम, शूद्रों और स्त्रियों के धार्मिक कर्तव्यों की व्याख्या की गयी ।[2]

---

1. जे.बी.आर.एस., जिल्द 56, पृ. 250.
2. मित्रा , नोटिसेस, IV ,1830-31, पृ. 31,39,41,56,74 इत्यादि उद्धृत - हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 370.

बिहार का हिन्दू समाज वर्णाश्रम धर्म में अधिक विश्वास रखता था और सभी हिन्दू देवी-देवताओं के पूजक थे । तीन मुख्य देवता, जिनका उनके जीवन में विशेष महत्व था वे थे - शिव, शक्ति और विष्णु । इनकी दैवीय-शक्ति में समान रूप से सबको विश्वास था ।

शिव पूजा जनसामान्य में और मुख्यतया ब्राह्मणों में सर्वाधिक प्रचलित थी । कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी पर लाक और मिट्टी से बने शिवलिंग का पूजन शिव स्तुति रूप में माहेश्वरी गान और अनेकों कवियों द्वारा शिव स्तुति में लिखे गये काव्यों का गान {विद्यापति से लेकर चन्द्र झा तक} प्रत्येक ग्राम और नगर में शिव मन्दिर की स्थापना इस बात की द्योतक है कि कृष्ण और शिव का बिहारवासियों के जीवन और अन्तरमन में एक विशेष स्थान था। भागलपुर में कालगण के निकट प्राप्त वटेश्वर स्थान के शिलालेख से ज्ञात होता है कि वटेश्वर {शिव} पूजन प्राचीन काल से प्रचलित रहा है और यह आज भी प्रचलित है ।[1]

शक्तिपूजन का प्रचलन भी कम नहीं था, यह विश्वास किया जाता था कि शक्तिपूजन से सिद्धि प्राप्त होती है, किन्तु मुक्ति केवल शिवराधना से ही प्राप्य है ।[2] इतना ही नहीं नवजात शिशु को सर्वप्रथम स्तुतिगान सुनाने की प्रथा भी थी । मिथिलावासियों के जीवन में शिव और शक्ति मुख्य आराध्य देव थे ।[3]

बिहार की विस्तृत हिन्दू जनसंख्या में एकेश्वरवाद का संचार हुआ। रामानन्द ने छल-कपट से दूर सच्चे मार्ग पर चलने की शिक्षा दी । इनकी शिक्षाओं

---

1. जे.बी.आर.एस., जिल्द 37, भाग 3-4, पृ. 4-6.
2. वही, जिल्द 37, पृ. 123-24.
3. हिस्ट्री ऑफ मैथली लिटरेचर, जिल्द 1, पृ. 20 एफ.एफ..

का अनुकरण कबीर, नानक, आरा के रैदास तथा अकबरकालीन तुलसीदास ने किया और जनता के सम्मुख एकेश्वरवाद का संदेश दिया। इसके अतिरिक्त इन संतों ने जाति प्रथा का विरोध किया।[1] उत्तर में तिरहुत, दक्षिण में गया तथा भोजपुर एवं डुमरांव भक्तों के सत्संग व प्रवचन के प्रमुख स्थल थे ।[2]

16वीं सदी में गया का विष्णुपद मन्दिर वैष्णव धर्म का एक महत्वपूर्ण स्थल था ।[3] भागलपुर का मन्दार भी वैष्णव धर्म का एक केन्द्र था। मधुसूदन के मन्दिर का यश भारत के कोने-कोने में फैला हुआ था। दूर-दूर से असंख्य तीर्थयात्री यहाँ आते थे ।[4] इसके अतिरिक्त गया के मठ, खुसरोपुर के मन्दिर, दरभंगा के मन्दिर, कुशेश्वर और सिंहेश्वर मन्दिर, शैव धर्म के प्रमुख स्थल थे । हाजीपुर और सोनपुरा में वैष्णव तथा शैव दोनों ही देवताओं की पूजा की जाती थी ।[5]

बिहार केवल शैव व वैष्णव धर्म का ही केन्द्र नहीं था, बल्कि सिख धर्म का भी केन्द्र रहा है। इसके अतिरिक्त यद्यपि बौद्ध धर्म का प्रभाव मुस्लिमों के आक्रमणों के कारण लुप्तप्राय हो गया था परन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनका प्रभाव अब भी था। इस धर्म का कोई न कोई रूप कबीर तथा उनके पीछे के काल में भी प्रचलित रहा, क्योंकि 1450 ई. चंगलराज नामक राजा द्वारा गया में बौद्ध मन्दिरों का निर्माण कराये जाने का उल्लेख

---

1. बिहार थ्रू द एजेस, पृ. 519.
2. जे.बी.आर.एस., जिल्द 56, पृ. 185.
3. आईन, भाग 2, पृ. 164 ; बिहारवासियों का जीवन और चिन्ताधारा, पृ. 15.
4. वही.
5. जे.बी.आर.एस., जिल्द 56, पृ. 185.

मिलता है। यह भी अनुमान किया जाता है कि उड़ीसा के उत्तरी भाग तथा छोटा नागपुर के जंगली इलाकों को छोड़कर वीरभूमि से राँची तक फैले भू-भाग में अनेक स्थलों पर धर्म देवता या निरंजन की पूजा प्रचलित थी । यह धर्म सम्प्रदाय बौद्ध धर्म का प्रच्छन्न या विस्मृत रूप था। बिहार के मानभूमि बंगाल के वीरभूमि आदि जिलों में इस प्रकार के धर्म सम्प्रदाय का पता हाल ही में लगा है और यह धर्म मत अभी भी जी रहा है ।[1]

मुस्लिम धर्म

13वीं और 14वीं शताब्दी के मध्य इस ब्राह्मण विशेष समाज में इस्लाम धर्म का प्रवेश हुआ, जो विजयी मुसलमानी सेनाओं के साथ आया।

भाषा में अरबी और फारसी शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग मुसलमानी त्योहारों के प्रति सद्भाव और मुसलमानों का हिन्दू त्योहारों के प्रति सम्मान, अकबर द्वारा मिथिला में फासली युग का प्रचलन, हिन्दू, मुस्लिम भक्त और फकीरों का राम और कृष्ण का भक्तिगान, इमाम और फिरदौसी रागों का मैथली गायक लोचन द्वारा मिथिला के गायन में समावेश आदि इस बात की पुष्टि करते हैं कि समाज में इस्लामियत ने पूर्णतया घर कर लिया ।[2]

16वीं सदी में अनेक स्थल इस्लाम धर्म के विख्यात थे, जिनमें मुँगेर

---

1. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर पंथ और उसके सिद्धान्त, विश्व-भारती पत्रिका, खण्ड 5, अंक 3, पृ. 450 ; परशुराम चतुर्वेदी : उत्तर भारत की संत परम्परा, प्रयाग, संवत् 2008 वि., पृ. 277.
2. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ. 372.

अधिक प्रसिद्ध हुआ। यह शाहनाफा की कब्र व खनकाह के लिए विशेष प्रसिद्ध था ।[1] रोहतास मुगलों से पूर्व हिन्दू सत्ता व अस्तित्व के लिए प्रसिद्ध था परन्तु शेरशाह के समय यह अनेक धार्मिक व अब्बासीय इमारतों के लिए प्रसिद्ध हुआ, जिनमें आलमगीर की कब्र जिसे हबशखान ने §1543-44 ई. में§ बनवायी थी, विशेष उल्लेखनीय है ।[2] मनेर प्रारम्भिक मुसलमानों के स्थापित होने से पूर्व यहाँ तक कि बिहार शेरिफ से भी पुराना नगर था। और बिहार के प्रमुख सूफी संत याहिया मनेरी की कब्र के लिए प्रसिद्ध था। यही कारण था कि इसकी समय-समय पर सिकन्दर लोदी, बाबर, हुमायूँ, अकबर द्वारा यात्रा की गयी ।[3]

सूफी संतों के दर्शित प्रेम और शांति के मार्ग पर चलने वाले अनेकों लोग यहाँ §बिहार§ आकर बसने लगे और कालान्तर में ये महत्वपूर्ण स्थलों के साथ-साथ इस्लामिक केन्द्र के रूप में प्रगट हो गये, जिनमें मनेरशेरिफ, फुलवारीशेरिफ, बिहार के बहुत से महान् मुस्लिम संतों से सम्बन्धित रहा है।[4]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि 16वीं सदी में बिहार दोनों ही धर्मों का प्रमुख केन्द्र था ।

---

1. ग्लिम्पसेस ऑफ मेडिवल बिहार इकोनामी, पृ. 57.
2. वही.
3. करपस ऑफ अरबिक ऐण्ड पर्शियन इन्सक्रिप्शंस ऑफ बिहार, जिल्द x, पृ. 184.
4. जे.बी.आर.एस., जिल्द 56, पृ. 180.

उपसंहार

उपसंहार

प्राचीन युग से आधुनिक युग तक भारतीय ऐतिहासिक परिवेश में बिहार राज्य का योगदान महत्वपूर्ण रहा है।

16वीं सदी में मध्ययुगीन इतिहास में यह न केवल राजनैतिक दृष्टि से बल्कि प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, एवं सांस्कृतिक दृष्टि से, तत्कालीन शासकों की गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र था। क्षेत्रीय इतिहास की इन्हीं आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर शोध-प्रबन्ध हेतु इस विषय का चयन किया गया है।

राजनैतिक दृष्टि से 16वीं सदी में बिहार संघर्षों एवं उथल-पुथल का राज्य था। मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये रखने हेतु शासकों की दुर्बलताओं का लाभ उठाकर यह एक विद्रोही स्थल के रूप में केन्द्रीय शासकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किये रहा, परन्तु 16वीं शताब्दी में मुगल शासकों की कड़ी व्यवस्था व निगरानी तथा अफगान विरोधी दमन-नीति अपनाये जाने के कारण यह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम न कर सका और 16वीं शताब्दी के अन्त तक अकबर के शासनकाल में मुगल साम्राज्य के प्रमुख अंग के रूप में मुगल साम्राज्य के विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की । इस प्रकार इस युग में बिहार की राजनैतिक गतिविधियाँ अधिकांशतः विद्रोहों और संघर्षों में उलझी रहीं ।

प्रशासनिक व्यवस्था की दृष्टि से प्रथम अफगान व मुगल काल में शासकों द्वारा लगातार संघर्षों में व्यस्त रहने के कारण बिहार के प्रान्तीय प्रशासन में उनका योगदान प्रायः नगण्य ही रहा है, परन्तु शेरशाह इस युग का प्रथम मुस्लिम शासक था, जिसने पहली बार गम्भीर रूप से प्राचीन परम्परा को क्रियान्वित करने का प्रयास किया और प्रान्तीय क्षेत्रों को सफलतापूर्वक व्यवस्थित कर सरकार जैसी

नियमित परम्परा को स्थापित किया। उसके समय में प्रांत {विलायत} सरकारों में और सरकारें परगनों में विभाजित की गयी थीं । परगना शासन की प्रमुख इकाई थी । इनमें से प्रत्येक के अलग-अलग अधिकारी थे । शेरशाह द्वारा बिहार विलायत को सात सरकारों में विभाजित किया जाना प्रान्तीय प्रशासनिक सुव्यवस्था की दृष्टि से महत्वपूर्ण कदम था, जिसका बाद के मुगल शासकों द्वारा भी अनुकरण किया गया ।

राजस्व व्यवस्था के क्षेत्र में प्राचीन काल में प्रचलित राजस्व व्यवस्था को अपनाने का प्रयास किया गया। इसके अतिरिक्त किसान को राज्य की समृद्धि का स्तम्भ मानते हुये, उनके साथ सौहार्दपूर्ण वातावरण बनाये रखने हेतु भूमि की माप के आधार पर राजस्व की वसूली निश्चित की गयी, परिणामस्वरूप कृषि के क्षेत्र में बिहार उन्नति के शिखर पर पहुँच गया ।

जहाँ तक विधि तथा न्यायिक प्रक्रिया का प्रश्न है, यह इस्लाम के सिद्धान्तों, इस्लामी ऐतिहासिक परम्पराओं पर आधारित थी, जिसका उद्देश्य निष्पक्ष न्याय प्रदान करना था, जिससे प्रजा के मन में न्याय के प्रति विश्वास हो। न्याय की निम्नतम इकाई ग्राम पंचायत थी, जिनका अस्तित्व प्राचीनकाल से ही था। इस युग में भी इसे कायम रखा गया। मुकदमों का निर्णय सामाजिक व पारिवारिक रीति-रिवाजों के आधार पर होता था। ये पंचायतें धार्मिक, दीवानी और फौजदारी के मामले निपटाती थी ।

सैनिक संगठन के क्षेत्र में भी इस क्षेत्र की महत्वपूर्ण भूमिका थी । शेरशाह के समय में रोहतास दुर्ग में अख्तियार खाँ पन्नी के अधीन 12 हजार बन्दूकचियों सहित एक सेना नियुक्त की गयी थी । इसके अतिरिक्त अकबर की मनसबदारी व्यवस्था को सफल बनाने में भी इसका महत्वपूर्ण योगदान था ।

सम्पन्नता की दृष्टि से यह समृद्धशाली राज्य था। असंख्य धन से परिपूर्ण

केन्द्रीय कोष, जिसकी कोई गणना नहीं थी, रोहतास दुर्ग में सदैव रहती थी ।

आन्तरिक शान्ति एवं सुव्यवस्था किसी भी सफल प्रशासन की कसौटी है। इस विशाल क्षेत्र में अशान्ति एवं विद्रोहों का लगभग जाल सा बिछा हुआ था परन्तु गुप्तचर विभाग की सूक्ष्मता और सतर्कता के कारण इन विद्रोहों को दबाने में विशेष सफलता प्राप्त हुयी, परिणामस्वरूप बिहार 16वीं शताब्दी के अन्त में मुगल साम्राज्य का एक प्रमुख अंग बन गया ।

आर्थिक दृष्टिकोण से भारत में इस युग में मुगल साम्राज्य सुदृढ़ हुआ और बिहार का विकास एक महत्वपूर्ण विश्वव्यापक आर्थिक केन्द्र के रूप में हुआ । यहाँ से वस्तुएँ और खाद्य सामग्री विदेशों में भेजी जाने लगी । बिहार की सामान्य जनता जैसे - उद्यमी कृषक, धैर्यवान कुम्हार, जुलाहा, निर्धन कलाकार आदि ने अप्रत्यक्ष रूप से मिलकर बिहार को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व सुदृढ़ बनाने में तथा विभिन्न देशों की आवश्यकताओं की पूर्ति में विशेष योगदान दिया, परिणामस्वरूप मध्ययुगीन बिहार {16वीं सदी से 18वीं सदी तक} एशिया, अफ्रीका और यूरोप के साथ आर्थिक सम्बन्ध की श्रृंखला में एक महत्वपूर्ण कड़ी था ।

इस क्षेत्र के अधिकांश भागों में कारखानों तथा लघु उद्योगों को विकसित करने में उस युग की जनता तथा शासकों का प्रयास प्रशंसनीय रहा है।

सामाजिक दृष्टिकोण से इस क्षेत्र की जनता का दृष्टिकोण अत्यधिक समन्वयवादी एवं सौहार्दपूर्ण रहा है। हिन्दू तथा मुस्लिम समाज ने एक-दूसरे के रीति-रिवाजों को अपनाकर समन्वयवाद का मार्ग प्रशस्त किया। मुस्लिमों के आगमन के पश्चात् यहाँ के उच्च कुलीन वर्ग ने पर्दा प्रथा, वस्त्राभूषण तथा सौन्दर्य प्रसाधन को अपनाया परन्तु सर्वसाधारण वर्ग आर्थिक रूप से सम्पन्न न होने के कारण इस क्षेत्र में लगभग पिछड़ा ही रहा ।

धार्मिक क्षेत्र में इस युग में यहाँ की जनता का दृष्टिकोण समन्वयवादी व सौहार्दपूर्ण रहा। यद्यपि इससे पूर्व धर्म के सम्बन्ध में बिहारवासी सामान्यतया रूढ़िवादी प्रवृत्ति के थे, परन्तु रामानन्द, चैतन्य, कबीर, रैदास, सूफी संतों के प्रभाव के फलस्वरूप बिहार की हिन्दू जनसंख्या में एकेश्वरवाद का संचार हुआ। इसके अतिरिक्त अकबर द्वारा स्थापित दीन-ए-इलाही जो सभी धर्मों का सार था, समन्वयवाद के विकास में एक महत्वपूर्ण कदम था।

शिक्षा एवं साहित्य के क्षेत्र में भी यह अग्रणी रहा है। प्राचीन काल से ही यहाँ मानव की आत्मा तथा मानव का मानस शतदल की भाँति अनगिनत सुन्दर पंखुड़ियों में विकसित हुआ, जिससे भारत की महान संस्कृति समृद्ध हुयी। जिस प्रकार प्राचीन काल में एथेन्स यूनान का शिक्षा-केन्द्र था, उसी प्रकार बिहार भी प्राचीन काल में कई सदियों तक सारे एशिया का शिक्षा-केन्द्र रहा। यही वह स्थल है, जहाँ ईसा से पूर्व छठीं शताब्दी में धर्म सुधार की उन भाव धाराओं के महान् स्रोत प्रवाहित हुये थे, जिन्हें महावीर तथा गौतम बुद्ध जैसे धर्म प्रचारकों ने सारे विश्व के साम्य, मैत्री, प्रेम, सेवा, सहिष्णुता और अहिंसा के रूप में प्रवाहित किया। 16वीं सदी में भी यह शिक्षा एवं साहित्य का प्रमुख केन्द्र रहा है। विद्यानुरागी होने के कारण लगभग सभी शासकों ने (सिकन्दर लोदी, बाबर, हुमायूँ, शेरशाह, इस्लामशाह, अकबर) शिक्षा के प्रसार के लिए आवश्यक प्रयास किये परन्तु मुगलकालीन भारत में राज्य की ओर से किसी शिक्षा विभाग का प्रबन्ध या संगठन नहीं किया गया था। शिक्षा वैयक्तिक चेष्टा और पेशकदमी पर आधारित थी। शिक्षा के प्रमुख केन्द्र मकतब एवं मदरसे जैसी धार्मिक संस्थायें थी। मकतब प्राइमरी पाठशालायें थीं और मदरसे उच्च शिक्षा के केन्द्र थे। शिक्षा का दृष्टिकोण पूर्णतया मजहबी था, जबकि पाठशालाओं में निरपेक्ष शिक्षा दी जाती थी। हिन्दू शिक्षा-पद्धति प्राचीन काल जैसी वेदों पर आधारित थी। इस समय बौद्ध-

शिक्षा प्रणाली का लगभग ह्रास हो चुका था और उनका स्थान ब्राह्मण शिक्षा ने ले लिया था। व्याकरण, न्यायशास्त्र, अध्यात्म और ज्योतिष अधिक प्रचलित विषय थे । स्त्री-शिक्षा की भी समुचित व्यवस्था थी, यद्यपि उच्च स्तर पर उनकी शिक्षा के लिए अलग से बालिका विद्यालयों अथवा संस्थाओं की स्थापना नहीं की गयी थी, वे घरों में ही उच्च शिक्षा ग्रहण कर सकती थीं ।

साहित्य के क्षेत्र में बिहार सदैव अग्रगामी रहा है। मध्यकाल में सम्पूर्ण भारत को भाँति बिहार में भी स्थानीय भाषाओं के साहित्य की विशेष प्रगति हुयी । बिहार में साहित्य सदैव सूफियों और पण्डितों की धरोहर रही है न कि राज्य सभाओं या दरबारों की । साहित्य का घर खनकाहों, पण्डितों या सूफियों का घर रहा है, यही कारण है कि हिन्दी, संस्कृत, फारसी साहित्य के साथ-साथ, मगधी, भोजपुरी, मैथली आदि लोक भाषाओं का भी साहित्य में समागम है ।

संगीत, नाटक तथा लोक कला के क्षेत्र में बिहार की परम्परा का इति-गौरवमय है। यद्यपि इस्लाम के अधिकांश रुढ़िवादी समर्थक संगीत के विरोधी थे, उनकी दृष्टिमें संगीत अधार्मिक व विलासमय जीवन का एक साधन था, परन्तु समय-समय पर मुस्लिम शासकों द्वारा राजकीय संरक्षण प्रदान किये जाते रहने के कारण संगीत-कला निरन्तर विकसित होती रही और संगीत के रूप में कीर्तनियाँ पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ।

भारत में नाट्यकला अनन्य रूप से हिन्दू धारणा थी, जो अति प्राचीन काल से ही प्रचलित थी । मध्ययुग में मिथिला की स्थानीय भाषा मैथिली के साहित्यिक विकास के साथ-साथ कीर्तनियाँ नाटकों का भी जन्म हुआ। वास्तव में स्थानीय भाषा के विकास और उसे लोकप्रिय बनाने की दिशा में यह एक प्रशंसनीय कदम था।

जहाँ तक भारतीय लोककला का प्रश्न है, बिहार की लोककला और शिल्पकला का इतिहास अति प्राचीन है। इन्हीं कलाओं से हमें आज भारतीय संस्कृति का ज्ञान हुआ है। इन कलाओं में भी, भीत चित्रकला, सिक्की लोककला, कसीदाकारी की कला आदि विशेष उल्लेखनीय हैं, जो जनसामान्य की भावनाओं, इच्छाओं और अनुभवों तथा कलाकार की कलात्मकता और सफलताओं को प्रदर्शित करती हैं ।

16वीं सदी के शासकों ने जनकल्याणकारी कार्य भी किये । इनमें शेरशाह का योगदान प्रमुख है। सार्वजनिक निर्माण कार्य शेरशाह की शासन व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग था। उसने वाणिज्य व्यापार के प्रसार और राष्ट्र निर्माण तथा साम्राज्य की प्रतिरक्षा और जनता की सुविधा की दृष्टि से अपने राज्य के महत्वपूर्ण स्थानों को सड़कों की एक श्रृंखला से जोड़ दिया ताकि राज्य के अनेक भागों का सम्बन्ध राजधानी से जुड़ सके । इसके अतिरिक्त यात्रियों एवं व्यापारियों की सुविधा की दृष्टि से सड़कों के दोनों किनारों पर छायादार वृक्षलगवाये और हिन्दू-मुसलमानों के अलग-अलग ठहरने हेतु सरायों का निर्माण भी किया ।

इतना ही नहीं शेरशाह तथा अकबर ने अकाल पीड़ितों की सहायता के लिए भू-राजस्व में विशेष छूट दी । उनके भोजन के लिए लंगरों की व्यवस्था की। कुएँ, तालाब, नहरों की व्यवस्था कर सिंचाई को प्रोत्साहित किया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 16वीं सदी के बिहार ने मुगल साम्राज्य के प्रसार में, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। बिहार की इन्हीं क्षेत्रीय महत्ता को ध्यान में रखकर मुगलकालीन बिहार को शोध-प्रबन्ध का विषय बनाने का प्रयास किया गया ।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

(फारसी)
(मौलिक एवम् अनुदित ग्रंथ)

अहमद यादगार : तारीख-ए-शाही, सम्पादन एम. हिदायत हुसैन, बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता 1939.

अब्बास खाँ सरवानी : तारीख-ए-शेरशाही, ढाका 1964.

अब्दुल्ला : तारीख-ए-दाऊदी, सम्पादन प्रो. शेखअब्दुर्र-रशीद, अलीगढ़ 1954.

अबुल फजल : अकबरनामा, अं.अनु. एच. बेवरीज, 3 भागों में, भाग 1 एवं भाग 2 दिल्ली 1979 एवं भाग 3 दिल्ली 1973.

: आईन-ए-अकबरी, अ.अनु., भाग 1, एच. ब्लोचमैन, दिल्ली 1977 ; भाग 2 एच.एस. जैरेट, पुनर्सम्पादित यदुनाथ सरकार, कलकत्ता 1978 ; भाग 3, जैरेट और सरकार, कलकत्ता 1978.

अब्दुल कादिर बदायूँनी : मुन्तखब-उत-तवारीख, अ.अनु. रैकिंग, भाग 1, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता 1884 ; भाग 2 , अ.अनु. डब्ल्यू.एच.लो, एकेडेमिका एशियाटिका, पटना 1973 ; भाग 3 अनु. टी. डब्ल्यू हेग, बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता 1925.

अली मुहम्मद खाँ : मीरात-ए-अहमदी, भाग 1-3, बड़ौदा 1927-30.

खवन्दमीर : कानून-ए-हुमायूँनी, अ.अनु. बेनी प्रसाद, लन्दन 1902.

गुलबदन बेगम : हुमायूँनामा, अ.अनु. बेवरीज, दिल्ली 1973.

गुलाम हुसैन सलीम : रियाजुस्सलातीन, अ.अनु. अब्दुस्सलीम, बिब्लियोथिका इण्डिया, कलकत्ता 1788.

जौहर आफ्ताबची : तजकिरात्-उल-वाकयात, नवाब शैफ्ता संकलन, अलीगढ़, मेनुस्कृप्ट, मेजर चार्ल्स स्टीवर्ट का अ.अनु., कलकत्ता 1904.

जियाउद्दीन बरनी : तारीख-ए-फिरोजशाही, सर सैय्यद अहमद खाँ द्वारा सम्पादित, कलकत्ता 1860.

: फतवा-ए-जहाँदारी, अनु. हबीब अफसर बेगम, पालिटिकल थ्योरी ऑफ दिल्ली सल्तनत, इलाहाबाद.

जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर : बाबरनामा, अ.अनु. ए.एस. बेवरीज, लन्दन 1979.

नियामत उल्लाह हरवी : तारीख-ए-खानेजहाँनी, डॉ. एस.एम. इमामुद्दीन द्वारा सम्पादित , एशियाटिक सोसाइटी पाकिस्तान, ढाका 1960.

निजामुद्दीन अहमद : तबकात-ए-अकबरी, बी.डे द्वारा अं.अनु., भाग 2 तथा 3, कलकत्ता 1936-40.

मिनहाजुसिराज : तबकात-ए-नासिरी, बिब्लो.इंडिका, कलकत्ता 1864, अ.अनु. एच.जी. रेवर्टी, कलकत्ता 1897.

मुहम्मद कासिम हिन्दूशाह फरिश्ता : तारीख-ए-फरिश्ता अथवा गुलशन -ए-इब्राहिमी नवल किशोर प्रेस लखनऊ, अ·अनु· जॉन ब्रिग्स हिस्ट्री आफ दि राइज ऑफ मुहम्डन पावर इन इण्डिया, भाग 1-2, कलकत्ता 1908 1966

मुश्ताकी : वाक्याते मुश्ताकी, ब्रिटिश म्युजियम मैनुस्क्रप्ट संख्या आर· 1929

शेख मुहम्मद कबीर-बिन-शेख इस्माइल : अफसानये शहान, ब्रिटिश म्युजियम मैनस्कृप्ट संख्या 24409

अरबी कृतियाँ

इब्नबतूता : "रेहला" पेरिस 1949

शिहाब-उलदीन-अल उमरी : मसालिक-उल अबसार फी ममालिक उल अमसार अनु· खुर्शीद अहमद तारीक, दिल्ली 1961

उर्दू कृतिया

अली मुहम्मद : कुरान शरीफ उर्दू अनु· लन्दन 1920

फरिश्ता : तारीख-ए-फरिश्ता, फिदा अली हैदराबाद दक्कन सन् 1932

हिन्दी ग्रंथ (मौलिक)

मलिक मुहम्मद जायसी : पद्मावत नागरी प्रचारिणी सभा काशी

गोस्वामी तुलसीदास : रामचरित मानस नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

विधापति ठाकुर : कीर्तिलता सम्पादक बाबूराम सक्सेना नागरी प्रचारिणी सभा, काशी 2010 सम्बत्

आधुनिक ग्रंथ

(क) (अंग्रेजी)

अहमद, क्यामुद्दीन : पटना थ्रू द एजेस, दिल्ली 1988

अर्सकीन, विलियम : हिस्ट्री आफ इण्डिया अण्डर दि टू फर्स्ट सावरेन्स आफ दि हाउस ऑफ तैमूर, बाबर एण्ड हुमायूँ भाग (1) तथा (2), लन्दन 1884

अहमद, मुहम्मद बशीर : दि एडमिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस इन मेडिवल इण्डिया अलीगढ़ 1941

अब्दुल्ल अजीज : दि मनसबदारी सिस्टम एण्ड दि मुगल आर्मी लाहौर 1945

अशरफ के एम. : लाइफ एण्ड कण्डीशन्स आफ दि पिपुल आफ हिन्दुस्तान द्वितीय संस्करण, दिल्ली 1959

अल्बरूनी : अल्बरूनीस इण्डिया, जिल्द I (अनु सचाऊ) दिल्ली 1964

इलियट एन्ड डाउसन : हिस्ट्री आफ इण्डिया एज टोल्ड वाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, भाग (1) लन्दन 1872 भाग 2, 1867 भाग 4. हि.अनु. आगरा 1979, भाग 5 लंदन 1873

इक्तदार आलमखान : पालिटिकल लाइफ आफ मुगल अमीर मुनीमखान खाना अलीगढ़ 1973

ईश्वरी प्रसाद : दि लाइफ एण्ड टाइम्स आफ हुमायूँ, इलाहाबाद 1976

ई. थामस : क्रानिकल्स आफ दि पठान किंग्स आफ देलही- दिल्ली- 1971

इब्नहसन : सेन्ट्रल स्ट्रक्चर आफ मुगल इम्पायर लन्दन 1936

इर्विन विलियम : आर्मी आफ द इण्डियन मुगल्स लन्दन 1903

उपेन्द्र ठाकुर : हिस्ट्री आफ मिथिला, दरभंगा 1956

एल्फिन्स्टन : हिस्ट्री आफ इण्डिया लंदन 1937

एडवर्ड एण्ड गैरेट : मुगल रूल इन इण्डिया, दिल्ली 1956

एलिजाबेथ कूपर : दि हरम एण्ड दि पर्दा, लन्दन 1915

कीन एच. जी : दि टर्क्स इन इण्डिया, दिल्ली 1977

कुरेशी, आई. एच : दि एडमिनिस्ट्रेशन आफ दि सल्तनत आफ देलही, लाहौर 1944

: दि एडमिनिस्ट्रेशन आफ दि मुगल एम्पायर पटना 1973

ग्रियर्सन, सर जी. एच. : बिहार पीजेन्ट लाइफ, कलकत्ता 1885

चोपड़ा पी. एन. : सोसाइटी एण्ड कल्चर ड्युरिंग मुगल एज आगरा 1955

घोषाल यू. एन. : दि एग्रेरियन सिस्टम इन एन्सिएन्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1930

: कन्ट्रीब्यूशन्स टू द हिस्ट्री आफ हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, कलकत्ता, 1929

जाफर, एस॰ एम॰ : सम कल्चरल आस्पेक्ट्स आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, दिल्ली 1970

ट्रेवेनियर : ट्रेवेल्स इन इण्डिया, लन्दन 1898

डे॰ यू॰ एन : मुगल गवर्नमेंट, दिल्ली 1970

त्रिपाठी, आर॰ पी॰ : सम आस्पेक्टस आफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन, इलाहाबाद, 1964

दिवाकर, आर॰ आर॰ : बिहार थ्रू द एजेज कलकत्ता 1958

दत्त कालीकिंकर : कॉम्प्रहेन्सिव हिस्ट्री आफ बिहार जिल्द 3 पटना 1976

निरोद भूषण राय : शेरशाह्स सक्सेसर्स, ढाका 1934

पाण्डेय अवध बिहारी : फर्स्ट अफगान एम्पायर कलकत्ता 1956

प्रसाद आर॰ एन॰ : मानसिंह आफ अम्बर कलकत्ता 1968

प्रभु पी॰ एन॰ : हिन्दू शोशल आर्गनाइजेशन बम्बई 1958

पेल्सार्ट : जहाँगीर्स इण्डिया, अनु॰ मोरलैण्ड और जी पीजिल, कैम्ब्रिज 1925

ब्रोडले ए॰ एम॰ : दि बुद्धिस्टिक रिमेन्स आफ बिहार, पुर्नमुद्रित भारतीय प्रकाशन, वाराणसी 1979

बेनी प्रसाद : हिस्ट्री आफ जहाँगीर; इलाहाबाद 1940

बाशम ए॰ एल॰ : दि वन्डर दैट वाज इण्डिया, लन्दन 1953

बर्न सर रिचर्ड : कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग-4 कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस 1937

भाटिया, एच॰ एस॰ : पालिटिकल लीगल एण्ड मिलिट्री हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग-5, दिल्ली 1984

मर्ची, एम॰ एल : मेडिवल इण्डियन कल्चर एण्ड थॉट अम्बाला 1965

मजुमदार आर॰ सी॰ : हिस्ट्री आफ मेडिवल बंगाल कल॰ 1973

मार्टिन मोंटगोमरी : दि हिस्ट्री एण्टीक्यूटिज टोपोग्राफी एण्ड स्टेटिस्टिकल एकाउन्ट आफ ईस्टर्न इण्डिया भाग-1 दिल्ली 1976

मेलिसन जे॰ बी॰ : अकबर आक्सफोर्ड 1908

मजुमदार आर॰ सी॰ : हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दि इण्डियन पिपुल भाग-7
: दि मुगल एम्पायर, भारतीय विद्याभवन बम्बई 1974
: दि एज आफ इम्पीरियल युनिटी भाग-2 बम्बई 1951
: दि क्लासिक एज, बम्बई 1954
: दि स्ट्रगल फार एम्पायर भाग-5 बम्बई 1956

मोरलैण्ड : [illegible] स्ट्रेरियन सिस्टम आफ मुस्लिम इण्डिया इलाहाबाद 1929

मिश्रा, रेखा : वीमेन इन मुगल इण्डिया दिल्ली

यासीन मुहम्मद : सोशल हिस्ट्री आफ इस्लामिक इण्डिया लखनऊ 1958

रशीद ए० : सोसाइटी एण्ड कल्चर इनमेडियल इण्डिया, कल० 1968

रावत पी० एल : हिस्ट्री आफ इण्डियन एजुकेशन, आगरा, 1956

लॉ नरेन्द्रनाथ : प्रमोशन आफ लर्निंग इन इण्डिया दिल्ली 1973

लेनपूल : रूलर्स आफ इण्डिया, बाबर 1899

लाल के० एस० : टवीलाइट आफ दि सल्तनत, एशिया पब्लिशिंग हाउस लंदन 1963

विलियम्स रशब्रुक : ऐन इम्पायर बिल्डर आफ दि सिक्सटींथ सेन्चुरी, लंदन, 1918

विलियम वार्ड : ए व्यू आफ दि हिंदूस, जिल्द टू मद्रास 1863

सरकार यदुनाथ : हिस्ट्री आफ बंगाल भाग-2 ढाका 1948

: मुगल एडमिनिस्ट्रेशन कल० 1934

: मिलेट्री हिस्ट्री आफ इण्डिया कलकत्ता 1960

स्टीवर्ट चार्ल्स : हिस्ट्री आफ दि बंगाल दिल्ली 1971

सरकार जगदीश नारायण : गिलम्पसेस आफ मेडिवेल बिहार इकोनामी, पटना 1978

स्मिथ वी० ए० : दि आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया एण्ड सिलोन आक्सफोर्ड 1939

: दि आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया आक्सफोर्ड 1914

सिद्दिकी, इक्तदार हुसैन : सम आस्पेक्ट्स आफ आफगान डिस्पोटिज्म इन इण्डिया, अलीगढ़ 1969

: हिस्ट्री आफ शेरशाह सूर, अलीगढ़ 1971

सर टामस रो और डॉ जॉन फ्रायर : ट्रेवेल्स इन इण्डिया इन दि सिक्सटींथ सेन्चुरी लंदन 1873

सिद्दिकी, मुहम्मद मजहरुद्दीन बीमेन इन इस्लाम, लाहौर 1959

सागर सत्य प्रकाश : क्राइम एण्ड पनिशमेंट इन मुगल इण्डिया दिल्ली 1967

हेग वुल्सले : कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग-3 कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस 1965

हुसैन आगामेंहदी : तुगलक डाइनेस्टी कल० 1963

हुसैन आ॰ यूसुफ : इण्डो मुस्लिम पालिटी, शिमला 1971

होदीवाला एस॰ एच॰ : स्टडीज इन इण्डो मुस्लिम हिस्ट्री (दोभागो में) बम्बई 1939 1957

डा॰ हलीम : हिस्ट्री आफ लोदी सल्तनत आफ देलही एण्ड आगरा दिल्ली 1974

हसन मुहीबुल : फाउण्डर आफ द मुगल एम्पायर इन इण्डिया दिल्ली 1985

हबीब, इरफान : एग्रेरियन सिस्टम आफ मुगल इण्डिया दिल्ली 1963

ह्यूग, टी॰ पी॰ : ए डिक्शनरी आफ इस्लाम, लन्दन 1885

(हिन्दी)

कानूनगो कालिकारंजन : शेरशाह और उसका समय लखनऊ 1964
: शेरशाह, लखनऊ 1921

चतुर्वेदी, परशुराम : उत्तरी भारत की संत परम्परा संवत 2008 वि॰ प्रयाग

चौबे एवं कन्हैया लाल श्रीवास्तव : मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति लखनऊ 1979

तारी, कृष्ण देव : मध्यकालीन कृष्ण काव्य, दिल्ली 1970

त्रिपाठी, आर॰ पी॰ : मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन इलाहाबाद 1963

द्विवेदी हजारी प्रसाद : हिन्दी साहित्य की भूमिका बम्बई 1903

दत्त कालिकिंकर : बिहारवासियों का जीवन और उनकी विचारधारा पटना 1970

निगम वी॰ पी॰ : तुर्कवंश का इतिहास भाग 1 दिल्ली 1973

मिश्रा जयशंकर : ग्यारहवी शताब्दी का भारत, वाराणसी 1970

रिजवी, अतहर अब्बास : मुगलकालीन भारत अलीगढ़ 1960
: उत्तर तैमूर कालीन भारत जिल्द 1, अलीगढ़ 1959
: तुगलक कालीन भारत भाग 1,2 अलीगढ़ 1956-57
: आदि तुर्ककालीन भारत, अलीगढ़ 1956

राधेश्याम : बाबर पटना 1974

लूनिया बी॰एन॰ : अकबर महान इन्दौर 1972

विद्यापति : कीर्तिलता सम्पादक बाबूराम सक्सेना नागरी प्रचारिणी सभा काशी 2010 सम्वत

शर्मा, आर॰ एस॰ : भारत में मुगल साम्राज्य आगरा 1965

शुक्ल रामचन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास,नागरी प्रचारिणी सभा काशी 1988

शरण, परमात्मा : मुगलो का प्रान्तीय शासन, लखनऊ 1970

स्मिथ वी॰ ए॰ : महान मुगल अकबर [हि॰ अनु॰] प्रयाग 1967

श्रीवास्तव हरिशंकर : मुगल शासन प्रणाली, इलाहाबाद 1978
: मुगल सम्राट हुमायू श्री राम मेहरा एण्ड कम्पनी आगरा

श्रीवास्तव आर्शीवादी लाल : अकबर महान, 2 भागो में, भाग-1 आगरा 1967, भाग-2 आगरा 1972
: मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, आगरा 1982

हबीबुल्ला : भारत में मुस्लिम राज्य की बुनियाद इलाहाबाद 1978

जर्नल्स

- जर्नल आफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना
- जर्नल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना
- जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता
- जर्नल आफ यूनाइटेड प्राविंस हिस्टारिकल सोसाइटी
- जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री
- प्रोसीडिंग्स ऑफ आल इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस
- मेडिवल इण्डिया क्वार्टर्ली, अलीगढ़
- इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता
- इन साइक्लोपीडिया आफ इस्लाम

गजेटियर्स

- बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर
- बिहार डि॰ गजेटियर
- शाहाबाद डि॰ गजेटियर
- होशियारपुर डि॰ गजेटियर
- मुंगेर डि॰ गजेटियर
- चम्पारन डि॰ गजेटियर
- इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया
- डि॰ गजेटियर यूनाइटेड प्राविंस, यू॰पी॰

इन्सक्रिप्शंस

क्यामुद्दीन अहमद : करपस आफ अरबिक एण्ड पर्शियन इन्सक्रिप्शंस आफ बिहार

एपिग्राफिया इन्डिका - एपिग्राफिया इण्डिका, अरेबीक एण्ड परशियन सप्लिमेंट, दिल्ली 1963

आर्टिकिल्स

एस· के बनर्जी	:	पोस्टबार सेटिलमेन्टस इन दोआब, मालवा एण्ड बिहार प्रोसीडिंग्स आफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, पटना 1946
एस· एम· अस्करी	:	बिहार अण्डर बाबर एण्ड हुमायूँ पटना कालेज 1956
डा· नुरुलहक	:	लतैफ-ए-कुधसी, ए कन्टेम्प्रेरी अफगान सोर्स मेडिवल इण्डिया क्वाटर्ली, जुलाई, अलीगढ़ 1950